द्वैमासिक

अप्रैल १९६८

# अनेकान्त

खजुराहो की १०वीं ११वीं शती की तीर्थंकर पारसनाथ सहित
धरणेन्द्र पद्मावती की एक सुन्दर मूर्ति
छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

## विषय-सूची


| विषय | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. | सुमति-जिन-स्तवन—समन्तभद्राचार्य | १ |
| २. | जैन-दर्शन में सर्वज्ञता की भावनाएं —पं० दरबारीलाल जैन कोठिया एम ए. | २ |
| ३. | शब्द-चिन्तन : शोध दिशाएँ—मुनि श्री नथमल | ८ |
| ४. | श्रावक प्रज्ञप्ति का रचयिता कौन ? —श्री बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री | १० |
| ५. | श्रीपुर, निर्वाण भक्ति और कुन्दकुन्द —डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, जावरा | १४ |
| ६. | प्रतिहार साम्राज्य में जैन धर्म —डा० दशरथ शर्मा एम. ए. डी लिट् | १७ |
| ७. | खजुराहो का जैन सग्रहालय—नीरज जैन | १६ |
| ८. | जैन-दर्शन मे सप्तभंगीवाद —उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द | २० |
| ९. | श्रीपुर पार्श्वनाथ मन्दिर के मूर्ति यत्र-लेख-सग्रह —प० नेमचन्द धन्नूसा जैन, देउलगांव | २५ |
| १०. | सोलहवी शताब्दी की दो प्रशस्तियां —परमानन्द शास्त्री | २९ |
| ११. | जैन तंत्र साहित्य—डा कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी. | ३३ |
| १२. | श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रथ —डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल एम. ए | ३७ |
| १३ | अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान —श्री काका कालेलकर | ३९ |
| १४ | आत्म-दमन—मुनि श्री नथमल | ४३ |
| १५ | महर्षि बाल्मीकि और श्रमण सस्कृति —मुनि विद्यानन्द | ४३ |
| १६. | साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री | ४५ |
| १७. | श्री सम्मेद शिखर तीर्थ रक्षा-प्रेमचन्द जैन | ४८ |


★



★

## अनेकान्त को सहायता

१०) श्री प्रकाशचन्द जी सेठी उज्जैन की सुपुत्री के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान मे से दस रुपया अनेकान्त को सहायतार्थ प० सत्यधर जी सेठी उज्जन के द्वारा सधन्यवाद प्राप्त हुए है। आशा है अन्य सहधर्मी-जन भी इसका अनुकरण करेगे।

—व्यवस्थापक
'अनेकान्त'

## सूचना

१७वे वर्ष की समाप्ति के साथ अनेकान्त के ग्राहको का वार्षिक शुल्क समाप्त हो जाता है। अत १८वे वर्ष के प्रारम्भ मे ग्राहको को बिना वी० पी० के ही प्रथम किरण भेजी जा रही है। कृपया ६) रुपया मनीआर्डर से भेज कर अनुगृहीत करे। अन्यथा अगला अक वी० पी० से भेजा जावेगा। जिसमे ग्राहको को ७५ पैसे का अतिरिक्त पोस्टेज खर्च भी देना होगा।

—व्यवस्थापक
**अनेकान्त**
**वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,**
**दिल्ली।**

**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**
**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैं०**

---

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १८ किरण-१ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९१. वि० सं० २०२२ | अप्रेल सन् १९६५

## सुमति-जिन-स्तवन

### (समुद्गक यमकः)

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमते ! हितः।
देहिनो जयिनः[१] श्रेयः स वातः सुमतेहितः ॥

—समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे सुमति ! जिनेन्द्र ! आप कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले प्राणियों के उपासनीय हैं—जो प्राणी अपने कर्मरूप शत्रुओं को जीतना चाहते हैं वे अवश्य ही आपकी उपासना करते हैं। (क्योंकि आपकी उपासना के बिना कर्मरूप शत्रु नहीं जीते जा सकते) आप सदा उनका हित करने वाले हैं, आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएँ उत्तम हैं। आप अज हैं—जन्म-मरणादिक व्यथा से रहित हैं, सबके स्वामी हैं, अर्थात् आपके द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग का अवलम्बन करने से संसार के समस्त प्राणियों का हित होता है। अतएव हे दानशील भगवन् ! मुझे भी मोक्षरूप कल्याण प्रदान कीजिए—मैं भी जन्म-मरणादि कष्टों से सदा के लिए छुटकारा पा जाऊँ।

---

१. नः+अजः+इनः इति पदच्छेदः। अज शब्दः स्वौज समौडिति सुप्रत्ययः। ससजुषोररितिरुत्वम्। 'भोभगो-अघो अपूर्वस्य योऽशि' इति रोयदिशः। लोपः शाकल्यस्येति विकल्पेन यकार लोपः। ततो नात्र विकल्पत्वाल्लोपः।

# जैन-दर्शन में सर्वज्ञता की संभावनाएँ*

पं० दरबारीलाल जैन कोठिया एम. ए. न्यायाचार्य

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥
—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय ।१।

**पृष्ठभूमि :**

भारतीय दर्शनों में चार्वाक और मीमांसक इन दो दर्शनों को छोड़कर शेष सभी (न्याय–वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन) दर्शन सर्वज्ञता की सम्भावना करते तथा युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना करते हैं। साथ ही उसके सद्भाव में आगम-प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में उपस्थित करते हैं।

**सर्वज्ञता के निषेध में चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण :**

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है कि 'यद्दृश्यते तदस्ति' यन्न दृश्यते तन्नस्ति'—इन्द्रियों से जो दिखे वह है और जो न दिखे वह नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से चार भूत-तत्त्व ही दिखाई देते हैं। अतः वे हैं। पर उनके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः वे नहीं हैं। सर्वज्ञता किसी भी पुरुष में इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नही है और अज्ञात पदार्थ का स्वीकार उचित नही है। स्मरण रहे कि चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा अनुमानादि कोई प्रमाण नहीं मानते। इसलिए इस दर्शन में अतीन्द्रिय सर्वज्ञ की सम्भावना नहीं है।

**मीमांसक दर्शन का मन्तव्य:**

*मीमांसकों का मन्तव्य है कि धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक, नारकी आदि अतीन्द्रिय पदार्थ है तो अवश्य,* पर उनका ज्ञान वेद द्वारा ही सम्भव है, किसी पुरुष के द्वारा नहीं[1]। पुरुष रागादि दोषों से युक्त है और रागादि दोष पुरुषमात्र का स्वभाव हैं तथा वे किसी भी पुरुष से सर्वथा दूर नहीं हो सकते। ऐसी हालत में रागी-द्वेषी-अज्ञानी पुरुषों के द्वारा उन धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है। शबर स्वामी अपने शाबर-भाष्य (१-१-५) में लिखते हैं:—

'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमलं, नान्यत् किंचनेन्द्रियम्।'

**इससे विदित है** कि मीमांसक दर्शन सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय **पदार्थों का ज्ञान चोदना (वेद)** द्वारा स्वीकार करता है किसी इन्द्रिय के द्वारा उनका ज्ञान सम्भव नहीं मानता। शबर स्वामी के परवर्ती प्रकाण्ड विद्वान् भट्ट कुमारिल भी किसी पुरुष में सर्वज्ञता की सम्भावना का अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में विस्तार के साथ पुरजोर खण्डन करते हैं[2]। पर वे इतना स्वीकार करते है कि हम

---

१. तथा वेदेतिहासादि ज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्ग-देवताऽपूर्व-प्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥
भट्ट कुमारिल, मीमासा श्लोक वा० ।

२. यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्ट सम्प्रतिलोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥११२-सू० २
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलघतात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥११४
येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोक स्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रिय दर्शनात् ॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टु क्षमोऽपि सन् ।
स्वजातीरनतिक्रमान्नतिशेते परान्नरान् ॥
एकशास्त्रविचारे तु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥
ज्ञात्वो व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
प्रकृष्यति न नक्षत्र-तिथि-ग्रहणनिर्णये ॥

---

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के दशम वार्षिक अधिवेशन में आयोजित गोष्ठी में पठित ।

केवल धर्मज्ञ का अथवा धर्मज्ञता का निषेध करते हैं। यदि कोई पुरुष धर्मातिरिक्त अन्य सबको जानता है तो जाने, हमें कोई विरोध नहीं है:-

धर्मज्ञत्व-निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥
सर्वप्रमातृ-संबंधि-प्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलाऽऽगम-गम्यत्वं लप्स्यते पुण्य-पापयोः३ ॥

किसी पुरुष को धर्मज्ञ न मानने में कुमारिल का तर्क यह है कि पुरुषों का अनुभव परस्पर विरुद्ध एवं बाधित देखा जाता है४। अतः वे उसके द्वारा धर्माधर्म का यथार्थ साक्षात्कार नहीं कर सकते। वेद नित्य, अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित होने से उसका ही धर्माधर्म के मामले में प्रवेश है (धर्मे चोदनैव प्रमाणम्)। ध्यान रहे कि बौद्ध-दर्शन में बुद्ध के अनुभव, योगि ज्ञान को और जैन दर्शन में अर्हन् के अनुभव, केवलज्ञानको धर्मधर्म का यथार्थ साक्षात्कारी बतलाया गया है। जान पड़ता है कि कुमारिल को इन दोनों की धर्माधर्मज्ञता का निषेध करना इष्ट है। उन्हे त्रयीवित् मन्वादि का धर्माधर्मादि विषयक उपदेश मान्य है, क्योंकि वे उसे वेद-प्रभव बतलाते है५। कुछ भी हो, वे किसी पुरुष को स्वयं धर्मज्ञ स्वीकार नहीं करते। वे मन्वादि को भी वेद द्वारा ही धर्माधर्मादि का ज्ञाता और उपदेष्टा मानते हैं।

**बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञताकी संभावना :**

बौद्ध दर्शन में अविद्या और तृष्णा के क्षय से प्राप्त योगी के परम प्रकर्षजन्य अनुभव पर बल दिया गया है और उसे समस्त पदार्थों का, जिनमें धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सम्मिलित हैं, साक्षात्कर्ता कहा गया है। दिङ्नाग आदि बौद्ध-चिन्तकों ने सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात्करण रूप अर्थ में सर्वज्ञता को निहित प्रतिपादन किया है। परन्तु बुद्ध ने स्वयं अपनी सर्वज्ञता पर बल नही दिया। उन्होंने कितने ही अतीन्द्रिय पदार्थों को अव्याकृत (न कहने योग्य) कहकर उनके विषय में मौन ही रखा६। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात्कार या अनुभव हो सकता है। उसके लिए किसी धर्म-पुस्तक की शरण में जाने की आवश्यकता नही है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने भी बुद्ध को धर्मज्ञ ही

---

ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्क-ग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥
दशहस्तान्तरे व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥
तस्मादतिशयज्ञानैरतिदूरगतैरपि ।
किंचिदेवाधिक ज्ञातु शक्यतं न त्वतीन्द्रियम् ॥
अनन्तकीर्ति द्वारा बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें उद्धृत ।

३ इन दो कारिकाओं में पहली कारकाको शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में (३१२८ का०) और दोनों को अनन्तकीर्ति ने *बृहत्सर्वज्ञसिद्धि* (पृ० १३७) में उद्धृत किया है।

४. सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
—अष्ट स. पृ. ३, उद्धृत

५. उपदेशो हि बुद्धादेधर्माधर्मादिगोचरः ।
अन्यथाच्चोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः ।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥
येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥
नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स च सर्वज्ञ इत्यपि ।
साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।
यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किंचिदस्ति प्रयोजनम् ॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतेष्यते ।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥
यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।
*यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥*
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।
सामानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिभावता भवेत् ॥

ये कारिकाएँ कुमारिल के नाम से अनन्तकीर्ति ने बृ. स. सि. में उद्धृत की हैं।

६. देखिये, *मज्झिम निकाय* २-२-३ के चूलमालुंक्य सूत्र का संवाद।

बतलाया है और सर्वज्ञता को मोक्षमार्ग में अनुपयोगी कहा है :

तस्मादनुष्ठावगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीट-संख्या परिज्ञान तस्य नः क्वोपयुच्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविस्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥
धर्मकीर्ति, प्रमाण वा० ३१,३२ ।

'मोक्षमार्ग में उपयोगी ज्ञान का ही विचार करना चाहिए। यदि कोई जगत् के कीड़े-मकोड़ों की संख्या को जानता है तो उससे हमें क्या लाभ ? अतः जो हेय और उपादेय तथा उनके उपायों को जानता है वही हमारे लिए प्रमाण (आप्त) है, सब का जानने वाला नहीं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि कुमारिल ने जहां धर्मज्ञ का निषेध करके सर्वज्ञ के सद्भाव को इष्ट प्रकट किया है वहाँ धर्मकीर्ति ने ठीक उसके विपरीत धर्मज्ञ को सिद्ध कर सर्वज्ञ का निषेध मान्य किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील बुद्ध में धर्मज्ञता के साथ ही सर्वज्ञता की भी सिद्धि करते हैं७। पर वे भी धर्मज्ञता को मुख्य और सर्वज्ञता को प्रासंगिक बतलाते हैं८। इस तरह हम बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता की सिद्धि देख कर भी, वस्तुतः उसका विशेष बल हेयोपादेय तत्वज्ञता पर ही है, ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

**न्याय-वैशेषिक दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावना :**

न्याय-वैशेषिक ईश्वर में सर्वज्ञत्व मानने के अतिरिक्त दूसरे योगी-आत्माओं में भी उसे स्वीकार करते हैं९। परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व अपवर्ग-प्राप्ति के बाद नष्ट हो जाता है, क्योंकि यह योग तथा आत्ममनः संयोग-जन्य गुण अथवा अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति मात्र है। मुक्तावस्था में न आत्मनः संयोग रहता है और न योग। अतः ज्ञानादि गुणों का उच्छेद हो जाने से वहां सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है। हाँ, वे ईश्वर की सर्वज्ञता अनादि-अनन्त अवश्य मानते हैं।

**सांख्य-योग दर्शन में सर्वज्ञता की संभावना :**

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति में और ईश्वरीवादी योग ईश्वर में सर्वज्ञता स्वीकार करते हैं। सांख्यों का मन्तव्य है कि ज्ञान बुद्धितत्त्व का परिणाम है और बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व प्रकृति का परिणाम है। अतः सर्वज्ञता प्रकृति में निहित है और वह अपवर्ग हो जाने पर समाप्त हो जाती है। योगदर्शन का दृष्टिकोण है कि पुरुषविशेष रूप ईश्वर१० में नित्य सर्वज्ञता है और योगियों की सर्वज्ञता, जो सर्व विषयक 'तारक' विवेकज्ञात रूप है, अपवर्ग के बाद नष्ट हो जाती है। अपवर्ग अवस्था में पुरुष चैतन्य मात्र में, जो ज्ञान से भिन्न है, अवस्थित रहता है११। यह भी आवश्यक नहीं कि हर योगी को वह सर्वज्ञता प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि इनके यहां सर्वज्ञता की संभावना तो की गई है पर वह योगज विभूतिजन्य होने से अनादि-अनन्त नहीं है, केवल सादि-सान्त है।

**वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता :**

वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता को अन्तःकरणनिष्ठ माना गया है और उसे जीवनमुक्त दशा तक स्वीकार किया गया है। उसके बाद वह छूट जाती है। उस समय अविद्या से मुक्त होकर विद्या रूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का रूप प्राप्त हो जाता है और सर्वज्ञता आत्मज्ञता में विलीन हो जाती है। अथवा उसका अभाव हो जाता है।

**जैन दर्शन में सर्वज्ञता की संभावनाएँ :**

जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है और स्व-पर प्रकाशक

---

७. स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते ।
साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥—
तत्त्व० सं० का० ३३० ।

८. 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थ परिज्ञातृत्व साधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।'—तत्त्व० सं० पृ० ८६३।

९. 'अस्मद्विशिष्टानां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेत गुण कर्म सामान्यविशेषसमवाये चावितथं स्वरूप दर्शनमुत्पद्यते, वियुक्तानां पुनः·········।'—प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १८७ ।

१० ['क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'—योगसूत्र ।

११ ['तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—योगसूत्र १-१-३

बतलाया गया है[12]। यदि आत्मा का स्वभाव ज्ञत्व (जानना) न हो तो वेद के द्वारा सूक्ष्मादि ज्ञेयों का ज्ञान नहीं हो सकता। भट्ट अकलंक ने लिखा है[13] कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, जो ज्ञस्वभाव आत्मा के द्वारा जाना न जाय। किसी विषय में अज्ञता का होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का कार्य है। जब ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का क्षय हो जाता है तो बिना रुकावट के साथ समस्त ज्ञेयों का ज्ञान हुए बिना ज्ञान नहीं रह सकता। इसको सर्वज्ञता कहा गया है। जैन मनीषियों ने प्रारम्भ से त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के अर्थ में इस सर्वज्ञता को पर्यवसित माना है। आगम-ग्रन्थों व तर्क ग्रन्थों मे हमें सर्वत्र सर्वज्ञता का प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागम सूत्रों में कहा गया है[14] कि 'केवली भगवान् समस्त लोकों, समस्त जीवों और अन्य समस्त पदार्थों को सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं[15]। आचारांग सूत्र में भी यही कथन किया गया है[16]। महान् चिन्तक और लेखक कुन्दकुन्द ने भी लिखा है[17] कि 'आवरणों के अभाव से उद्भूत केवलज्ञान, वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरह के ज्ञेयों को पूर्ण रूप में युगपत् जानता है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्य को भी पूर्णतया नहीं जान सकता और जो अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह समस्त द्रव्यों को कैसे एक साथ जान सकता है? प्रसिद्ध विचारक भगवती आराधनाकार शिवार्य[18] और आवश्यक निर्युक्तिकार भद्रबाहु बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दों में सर्वज्ञता का प्रबल समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'वीतराग भगवान् तीनों कालों, अनन्त पर्यायों से सहित समस्त ज्ञेयों और समस्त लोकों को युगपत् जानते व देखते हैं।'

आगम युग के बाद जब हम तार्किक युग में आते हैं तो हम स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, पात्रस्वामी, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभ चन्द्र, हेमचन्द्र प्रभृति जैन तार्किकों को भी सर्वज्ञता का प्रबल समर्थन एवं उपपादन करते हुए पाते हैं। इनमें अनेक लेखकों ने तो सर्वज्ञता की स्थापना में महत्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। उनमें समन्तभद्र (वि० स० दूसरी, तीसरी शती) की आप्तमीमांसा, जिसे 'सर्वज्ञ विशेष परीक्षा' कहा गया है,[19] अकलक देव की सिद्धिविनिश्चयगत 'सर्वज्ञसिद्धि' विद्यानन्द की 'आप्तपरीक्षा', अनन्तकीर्ति की लघु व बृहत्सर्वज्ञ सिद्धियाँ, वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धिगत 'सर्वज्ञ सिद्धि' आदि कितनी ही रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञता पर जैन दार्शनिकों ने सब से अधिक चिन्तन और साहित्य सृजन करके भारतीय दर्शन शास्त्र को समृद्ध बनाया है तो अत्युक्ति न होगी।

सर्वज्ञता की स्थापना में समन्तभद्र ने जो युक्ति दी है वह बड़े महत्व की है। वे कहते हैं कि सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी किसी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि

---

12 'उपयोगो लक्षणम्'—तत्त्वार्थ सू० २—८।

13 'णाणं सपरपयासयं'—कुन्दकुन्द' प्रवचन सा: १—

14 'न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्।'—अष्ट० श० अष्ट० सा पृ० ४७।

15 सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी......सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सादि विहरदित्ति' —षट् ख० पयदि०सू० ७८।

16 से भगवं अरिहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी......सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च ण विहरइ।' आचारांग सू० २—३।

17 'जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्त विसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो दव्वाणि जाणादि॥
प्रवचन सा० १—४७, ४८, ४९।

18 पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे,
त(अ)ह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो।
भ० आ० गा० २१४१।

19 संभिण्णं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
त णत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च॥
आवश्यक नि० गा० १२७।

वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि। उनकी वह युक्ति यह है :

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः॥

समन्तभद्र एक दूसरी युक्ति के द्वारा सर्वज्ञता के रोकने वाले अज्ञानादि दोषों और ज्ञानावरणादि आवरणों का किसी आत्म विशेष में अभाव सिद्ध करते हुए कहते है कि 'किसी पुरुष विशेष में ज्ञान के प्रतिबन्धकों का पूर्णतया क्षय हो जाता है क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है। जैसे स्वर्ग में बाह्य और अन्तरंग दोनो प्रकार के मेलों का अभाव दृष्टिगोचर होता है[२०]। प्रतिबन्धकों के हट जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए कोई ज्ञेय अज्ञेय नही रहता। ज्ञेयों का अज्ञान या तो आत्मा में उन सब ज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य न होने से होता है या ज्ञान के प्रतिबन्धकों के रहने से होता है। चूंकि आत्मा ज्ञ है और तप, संयमादि की आराधना द्वारा प्रतिबन्धकों का अभाव पूर्णतया सम्भव है, ऐसी स्थिति में उस वीतराग महायोगी को कोई कारण नहीं कि अशेष ज्ञेयों का ज्ञान न हो। अन्त में इस सर्वज्ञता को अर्हत् में सम्भाव्य बतलाया गया है। उसका यह प्रतिपादन इस प्रकार है :—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
आप्तमी० का० ५, ६।

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती सूक्ष्म चिन्तक अकलङ्कदेव ने सर्वज्ञता की सम्भावना में जो महत्वपूर्ण युक्तियाँ दी हैं। उनका भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। अकलंक की पहली युक्ति यह है कि आत्मा में समस्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य के होने से ही कोई पुरुष विशेष वेद के द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयों को जानने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। हां यह अवश्य है कि संसारी-अवस्था में ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण ज्ञान सब ज्ञेयों को नहीं जान पाता। जिस तरह हम लोगों का ज्ञान सब ज्ञेयों को नहीं जानता, कुछ सीमितों को ही जान पाता है, पर जब ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्मों (आवरणों) का पूर्ण क्षय हो जाता है तो उस विशिष्ट इन्द्रियानपेक्ष और आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान को, जो स्वयं अप्राप्यकारी भी है, समस्त ज्ञेयों को जानने मे क्या बाधा है[२१]?

उनकी दूसरी युक्ति यह है कि यदि पुरुषों को धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय ज्ञेयों का ज्ञान न हो तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होने वाला शुभाशुभ का अविसंवादी उपदेश कैसे हो सकेगा? इन्द्रियों की अपेक्षा किये बिना ही उनका अतीन्द्रियार्थ विषयक उपदेश सत्य और यथार्थ स्पष्ट देखा जाता है। अथवा जिस तरह सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भावी राज्यादि लाभ का यथार्थ बोध कराता है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी अतीन्द्रिय पदार्थों में संवादी और स्पष्ट होता है और उसमे इन्द्रियों की आंशिक भी सहायता नहीं होती। इन्द्रियाँ तो वास्तव में कम ज्ञान को ही कराती है। वे अधिक और सर्व

---

२०. यहाँ ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र ने आप्त के आवश्यक ही नही, अनिवार्य तीन गुणों एव विशेषताओं में सर्वज्ञता को आप्त की अनिवार्य विशेषता बतलाया है—उसके बिना वे उसमें आप्तता असम्भव बतलाते है :—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥
—रत्नक० श्लोक ५।

२१. कथञ्चित् स्वप्रदेशेपु स्यात्कर्म-पटलाच्छता।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः, कः सर्वथा वरणात्यये।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति॥
सर्वार्थग्रहणसामर्थ्याच्चैतन्यप्रतिबन्धिनाम्।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वान्नर्थान् न पश्यति॥
ग्रहादि गतयः सर्वाः सुख-दुःखादि हेतवः।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्॥
ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थविलोकनम्॥
न्यायविनिश्चय का० ३६१, ३६२, ४१०, ४१४, ४६५।

विषयक ज्ञान में उसी तरह बाधक हैं जिस तरह सुन्दर प्रासाद में बनी हुई खिड़कियां अधिक और पूर्ण प्रकाश को रोकती हैं।

अकलंक की तीसरी युक्ति यह है कि जिस प्रकार परिमाण, अणु परिमाण से बढता-बढता आकाश में महा परिमाण या विभुत्व का रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञान के प्रकर्ष में भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जहाँ वह ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था (निरतिशयपने) को प्राप्त हो जाय वहीं सर्वज्ञता आ जाती है। इस सर्वज्ञता का किसी व्यक्ति या समाज ने ठेका नहीं लिया। वह प्रत्येक योग्य साधक को प्राप्त हो सकती है।

उनकी चौथी युक्ति यह है कि सर्वज्ञता का कोई बाधक नही है। प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण तो इसलिए बाधक नही हो सकते क्योंकि वे विधि (अस्तित्व) को विषय बनाते हैं। यदि वे सर्वज्ञता के विषय में दखल दे तो उनसे उसका सद्भाव ही सिद्ध होगा। मीमासकों का अभाव-प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता। क्योंकि अभाव-प्रमाण के लिए यह आवश्यक है[22] कि जिसका अभाव करना है उसका स्मरण और जहाँ उसका अभाव करना है वहाँ उसका प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। जब हम भूतल मे घड़े का अभाव करते है तो वहाँ पहले देखे गये घड़े का स्मरण और भूतल का दर्शन होता है, तभी हम यह कहते है कि यहाँ घड़ा नही है। किन्तु तीनो (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) कालों तथा तीनो (उर्ध्व मध्य और अधो) लोकों के अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन अनन्त पुरुषो में सर्वज्ञता, 'नहीं थी, नहीं है और न होगी', इस प्रकार का ज्ञान उसी को हो सकता है जिसने उन तमाम पुरुषो का साक्षात्कार किया है। यदि किसी ने किया है तो वह सर्वज्ञ हो जायगा। साथ ही सर्वज्ञता का स्मरण सर्वज्ञता के प्रत्यक्ष अनुभव के बिना सम्भव नही और जिन त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती अनन्त पुरुषों (आधार) मे सर्वज्ञता का अभाव करना है उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञता का अभाव प्रमाण भी बाधक नहीं है। इस तरह जब कोई बाधक नहीं है तो कोई कारण नहीं कि सर्वज्ञता का सद्भाव सिद्ध न हो[23]।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा 'ज्ञ'–ज्ञाता है और उसके ज्ञान स्वभाव को ढँकने वाले आवरण दूर होते है। अतः आवरणों के विच्छिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए फिर शेष जानने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ विषयक ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियां और मन सकलार्थ परिज्ञान में साधक न होकर बाधक है। वे जहां नहीं हैं और आवरणो का पूर्णत. अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयों का साक्षात् ज्ञान होने में कोई बाधा नही है।

आ० वीरसेन[24] और आ० विद्यानन्द[25] ने भी इसी आशय का एक महत्वपूर्ण श्लोक प्रस्तुत करके उसके द्वारा ज्ञ स्वभाव आत्मा मे सर्वज्ञता की सम्भावना की है। वह श्लोक यह है :—

> ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
> दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥
>
> जयधवला पृ० ६६, अष्ट स० पृ० ५०।

अग्नि में दाहकता हो और दाह्य-ईंधन सामने हो तथा बीच मे रुकावट न हो तो अग्नि अपने दाह्य को क्यो नही जलावेगी? ठीक उसी तरह आत्मा ज्ञ (ज्ञाता) हो, और ज्ञेय सामने हों तथा उनके बीच मे कोई रुकावट न रहे तो ज्ञाता उन ज्ञेयों को क्यो नही जानेगा? आवरणो के अभाव मे ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए आसन्नता और दूरता ये दोनो भी निरर्थक हो जाती है। [शेष पृ० ६ पर]

---

२२. गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥

२३. 'अस्ति सर्वज्ञ. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत्।' सिद्धिवि० व० ८–६ तथा अष्ट० श० का० ५।

२४. विशेष के लिए वीरसेन की जयधवला (पृ० ६४ से ६६)।

२५. विद्यानन्द के आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ देखें।

# शब्द-चिन्तन : शोध-दिशाएँ

मुनिश्री नथमल

[यहाँ प्राकृत भाषा के शब्दों का भाषा वैज्ञानिक, व्याकरण-सम्मत और इतिहास-पुराण के आधार पर जैसा विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह मुनिश्री की विद्वत्ता और सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उससे विद्वान पाठक अत्यधिक लाभान्वित हो सकेंगे, ऐसा मैं समझ सका हूँ। ये शोध के दुर्गम पथ हैं, जिन पर साधारण अनुसन्धित्सु चलते हुए हिचकता है। मुनिश्री उन पर सहजगति से ही चले चलते हैं। —सम्पादक]

**(१) रायवेट्ठि :**

रायवेट्ठि का अर्थ है—राजा की बेगार१। राजस्थान में इसे 'बेठ' कहते है (विट्ठि वेट्ठि-बेठ), यह देशी शब्द है। देशीनाममाला मे इसका अर्थ प्रेषण' किया है२। उपदेश रत्नाकर (५ ६।११) में इसका अर्थ 'बेगार' किया है३। प्राचीन समय में यह परम्परा थी कि राजा या जमीदार गाँव के प्रत्येक व्यक्ति से बिना पारिश्रमिक दिए ही काम कराते थे। बारी-बारी से सबको कार्य करना पड़ता था। इसी की ओर यह शब्द संकेत करता है। जेकोबी 'विट्ठि' का अर्थ 'भाड़ा', 'किराया' करते हैं। किन्तु यहाँ यह उपयुक्त नहीं है४।

**(२) गग्ग :**

इसके दो सस्कृत रूप होते हैं—गर्ग और गार्ग्य। 'गर्ग' व्यक्तिवाची शब्द है और 'गार्ग्य' गोत्र-सम्बन्धी। शान्त्याचार्य ने इसका सस्कृत रूप 'गार्ग्य' देकर इसका अर्थ गर्गसगोत्र:' किया है। नेमिचन्द्र ने इसे 'गर्ग' शब्द मानकर 'गर्ग नामा' ऐसा अर्थ किया है५। स्थानांग सूत्र में गौतम-गोत्र के अन्तर्गत गर्ग गोत्र का उल्लेख हुआ है१। इसलिए शान्त्याचार्य वाला अर्थ ही संगत लगता है। सर पेन्टियर ने यह अनुमान किया है कि—गर्ग शब्द अति प्राचीन है और वैदिक साहित्य मे इसका प्रयोग हुआ है। इसके निकट के शब्द गार्गी और गार्ग्य भी ब्राह्मण-युग से सुविदित है। सम्भव है कि उस समय मे गर्ग नाम वाला कोई ब्राह्मण मुनि रहा हो और जैनों ने उस नाम का अनुकरण कर अपने साहित्य में उसका प्रयोग किया हो। उत्तराध्ययन में आए हुए 'कपिल' आदि शब्द के विषय में भी ऐसा ही हुआ है२। किन्तु ब्राह्मण लोग जैन-शासन में प्रव्रजित होते थे, इसलिए ब्राह्मण-मुनि नाम का अनुकरण कर यह अध्ययन लिखा गया, इस अनुमान के लिए कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं है।

**(३) खलुंक :**

'खलुंक और खुलुंक' ये दोनों रूप प्रचलित हैं। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'दुष्ट बैल' किया है३। स्थानांग वृत्ति में भी खलुक का अर्थ अविनीत किया गया है४। 'खलुक' का

---

१. बृहद् वृत्ति, पत्र ५५३।
"राजवेष्टिमिव' नृपतिहठप्रवर्तितकृत्यमिव।

२. २।४३, पृष्ठ ६६।

३. पाइयसद्दमहण्णव, पृष्ठ ६७१।

४. दि सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट वोलूम ६५५. उत्तराध्ययन पेज १५१, फुट नोट ३।

५. (क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० 'गार्ग्य' गर्गसगोत्रः।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१६ 'गर्ग:' गर्गनामा।

---

१. ७।५५१
"जे गोयमा ते सत्तविधा पं० नं० ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराया, ते उदत्ताभा।"

२. उत्तराध्ययन, पृ० ३७५।

३. सुखबोध, पत्र ३१६—'खलुङ्कान्' गलिवृषभान्।

४. स्थानांग वृत्ति ४।३।३२७, पत्र २४०—खलुङ्को-गलिरविनीतः।

अर्थ घोडा भी होता है[१]।

सरपेन्टियर ने लिखा है कि सम्भव है यह शब्द 'खल' से सम्बन्धित रहा हो। परन्तु इसकी प्रामाणिक व्युत्पत्ति अज्ञात ही है। अनुमानतः यह शब्द 'खलोक्ष' का निकटवर्ती रहा है। जैसे—खल-विहग का दुष्ट पक्षी के अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही खल-उक्ष का दुष्ट बैल के अर्थ में प्रयोग हुआ हो[२]।

'खलुक' शब्द के अनेक अर्थ निर्युक्ति की (४८९–४९४) गाथाओं में मिलते हैं—

जो बैल अपने जूए को तोड़ कर उत्पथगामी हो जाते हैं उन्हें खलुंक कहा जाता है—यह गाथा ४८९ का भावार्थ है।

४९०वी गाथा में खलुक का अर्थ वक्र, कुटिल, जो नमाया नहीं जा सकता आदि किया गया है।

४९१वीं गाथा में हाथी के अंकुश, करमंदी, गुल्म की लकड़ी और तालवृंत के टंके आदि को खलुका कहा गया है।

४९२वी गाथा मे दस, मशक, जौंक आदि को खलुंका कहा गया है। और अन्त में—

४९३-४९४ में गुरु के प्रत्यनीक, शबल, असमाधिकर, पिशुन, दूसरों को संतप्त करने वाले, अविश्वस्त आदि शिष्यों को खलुक कहा गया है[३]।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुष्ट, वक्र आदि के अर्थ में 'खलुंक' शब्द का प्रयोग होता है। जब यह मनुष्य या पशु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ—वक्र, लता या वृक्ष, ठूंठ गाठे वाली लकड़ी या वृक्ष होता है।

—

[७वे पृ० का शेष]

**उपसंहार :**

अन्त में यह कहते हुए अपना निबन्ध समाप्त करते है कि जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा में आवरणों और दोषो के अभाव मे सर्वज्ञता का होना अनिवार्य माना गया है। वेदान्त दर्शन मे मान्य आत्मा की सर्वज्ञता से जैन दर्शन की सर्वज्ञता में यह अन्तर है कि जैन दर्शन में सर्वज्ञता को आवृत करने वाले आवरण और दोष मिथ्या नहीं है, जबकि वेदान्त दर्शन मे अविद्या को मिथ्या कहा गया है। इसके अलावा जैन दर्शन की सर्वज्ञता जहाँ सादि-अनन्त है और प्रत्येक मुक्त आत्मा मे वह पृथक्-पृथक् विद्यमान रहती है अतएव अनन्त सर्वज्ञ है, वहाँ वेदान्त मे मुक्त-आत्माएँ अपने पृथक् अस्तित्व को न रख कर एक अद्वितीय सनातन ब्रह्म में विलीन हो जाते है और उनकी सर्वज्ञता अन्तःकरण सम्बन्ध तक रहती है, बाद को वह नष्ट हो जाती है या ब्रह्म में ही उसका समावेश हो जाता है।

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपने उद्घाटन भाषण मे जैनों की सर्वज्ञता का उल्लेख करते हुए उसे आत्मा का स्वभाव न होने की बात कही है। उसके सम्बन्ध में इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि जैन मान्यतानुसार सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है और वह अर्हत् (जीवन्मुक्त) अवस्था में पूर्णतया प्रकट हो जाती है तथा वह विदेह मुक्तावस्था में भी अनन्त काल तक विद्यमान रहती है। 'सत् का विनाश नही और असत् का उत्पादन नहीं' इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का कभी भी नाश न होने के कारण उसकी स्वभावभूत सर्वज्ञता का भी विनाश नहीं होता। अतएव अर्हन् अवस्था में प्राप्त अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) के अन्तर्गत अनन्त ज्ञान द्वारा इस सर्वज्ञता को जैन दर्शन मे शाश्वत-शक्ति की अपेक्षा अनादि अनन्त और व्यक्ति की अपेक्षा सादि-अनन्त स्वीकार किया गया है।

अन्त मे दर्शन परिषद् मे सम्मिलित हुए सभी सदस्यो का, विशेष कर उसके आयोजकों का, मैं हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे 'जैनों के अनुसार सर्वज्ञता की सभावनाएँ' विषय पर जैन दृष्टि से विचार प्रस्तुत करने का अवसर तथा समय दिया। एक बार मैं पुनः सब का धन्यवाद करता हूँ।

**हिन्दू विश्वविद्यालय,**
**वाराणसी।**

---

१. अभिधानप्पदीपिका ३७०–घोटको, (तु) खलुङ्को (थ)।
२. उत्तराध्ययन, पृ० ३७२।
३. बृहद् वृत्ति, पत्र ५४८-५५०

# श्रावकप्रज्ञप्ति का रचयिता कौन ?

श्री पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री

श्रावकप्रज्ञप्ति यह एक श्रावकाचार विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है जो प्राकृत में रचा गया है। उसमें समस्त गाथाएँ ४०१ है। यह बम्बई के ज्ञान-प्रसारक मण्डल द्वारा वि० सं० १९६१ में श्री आचार्य हरिभद्र विरचित संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हो चुका है। इस संस्करण में जो शीर्षक रूप से 'उमास्वातिवाचक कृत श्रावक प्रज्ञप्त्याख्य प्रकरण' ऐसा निर्देश किया गया है। वह सम्भवत. किसी हस्तलिखित प्रति के आधार से ही किया गया प्रतीत होता है। इस संस्करण के आमुख मे ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में आशंका प्रगट करते हुए उसके आचार्य हरिभद्र और उमास्वाति वाचक विरचित होने में पृथक्-पृथक् २-४ कारण भी प्रस्तुत किये गये है।

यहाँ हम उक्त ग्रन्थ के कर्ता के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं। उपर्युक्त संस्करण मे जो उसे उमास्वाति वाचक विरचित निर्दिष्ट किया गया है वह कुछ भ्रान्तिपूर्ण दीखता है। यथा—

श्री आचार्य प्रवर उमास्वातिवाचक विरचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र कुछ पाठ भेद के साथ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों मे सम्मान्य देखा जाता है। उसके ७वें अध्याय में आस्रव तत्त्व की प्ररूपणा करते हुए श्रावकाचार का विशद विवेचन किया गया है[1]। उसके साथ जब हम तुलनात्मक स्वरूप से प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति के विषय-विवेचन का विचार करते हैं तो दोनों में हमें कितने ही मतभेद दृष्टिगोचर होते है, जिनसे इन दोनों ग्रन्थों के एक कर्तृक होने मे बाधा उपस्थित होती है। वे कुछ मतभेद इस प्रकार है—

१ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में गुणव्रत और शिक्षाव्रत का विभाग न करके जिन सात शीलव्रतो का उल्लेख किया गया है[1]। उनका वह विभाग प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति मे स्पष्टरूप से देखा जाता है[2]। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ऊपर जो स्वोपज्ञ भाष्य उपलब्ध है उसमें भी वह विभाग नही देखा जाता है, प्रत्युत उसके वहाँ इन व्रतों को उत्तर व्रत कहा गया है[3]। इस प्रकार के उल्लेख से यदि भाष्यकार को उक्त सात व्रतो के पूर्ववर्ती पाँच अणुव्रत मूलव्रतो के रूप में अभीष्ट रहे हो तो यह आश्चयजनक नही होगा[4]। इसके अतिरिक्त जिस क्रम से उन व्रतो का निर्देश तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में किया गया है उससे उनका वह क्रम

---

१. पञ्चाशक टीका में जो नवांगीवृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि ने उसे वाचक तिलक उमास्वाति विरचित निर्दिष्ट किया है सम्भव है उनका उससे अभिप्राय तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के अन्तर्गत इस श्रावकाचार प्ररूपण का ही रहा हो। अन्यथा, वे ही अभयदेव सूरि आचार्य हरिभद्रविरचित पञ्चाशक की इसी टीका में अन्यत्र 'पूज्यैरेवोक्तम्' जैसे वाक्य के द्वारा उसे हरिभद्रविरचित कैसे सूचित कर सकते थे ?

१. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-परिभोगातिथिसंविभाग व्रतसम्पन्नश्च। त० सूत्र १६, व्रत– शीलेषु पञ्च– पञ्च यथाक्रमम् ॥ त० सू० १९।

२. पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुति तिन्नेव।
सिक्खावयाइ चउरो सावगधम्मो दुवालसहा ॥
इत्थ उ समणोवासगधम्मे अणुव्वयगुणव्वयाइ च।
आवकहियाइ सिक्खावयाइ पुण इत्तराइ ति ॥
श्रा० प्र० ६ व ३२८।

३. एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः संपन्नोऽगारी व्रती भवति। त० भाष्य ७ १६।

४. स्वामी समन्तभद्र ने मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ उन पांच अणुव्रतों को मूल गुण ही स्वीकार किया है। र० क० ६६।

श्रावकप्रज्ञप्ति में भिन्न ही देखा जाता है[१]।

२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में सत्याणुव्रत के अतिचारों में न्यासापहार और साकार मन्त्र भेद का ग्रहण किया गया है, परन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति में इन दो अतिचारों के स्थान में सहसा अभ्याख्यान और स्वदारमन्त्रभेद नाम के दो अन्य ही अतिचार ग्रहण किये गये है[२]।

३. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों में असमीक्ष्याधिकरण को ग्रहण किया गया है, परन्तु श्रावक प्रज्ञप्ति में उसके स्थान में संयुक्ताधिकरण नाम के अतिचार को ग्रहण किया गया है[३]।

४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में (७,२९) में पौषधोपवास व्रत के अतिचार इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये है—अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित सस्तारोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान।

परन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति में वे अतिचार कुछ भिन्न रूप से पाये जाते हैं—अप्रतिलेखित दुःप्रतिलेखित शय्या-सस्तारक, अप्रमार्जित-दुःप्रमार्जित शय्या-सस्तारक, अप्रतिलेखित-दुःप्रतिलेखित उच्चारादिभूमि, अप्रमार्जित दुःप्रमार्जित उच्चारादिभूमि और पौषधविषयक सम्यक् अननुपालन। (श्रा. प्र. ३२३–२४)।

५. उपभोग परिभोग व्रत के अतिचार भी दोनों ग्रंथों में कुछ भिन्न स्वरूप से पाये जाते हैं। यथा—सचित्ताहार, सचित्तसंबद्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार। (त० सू० ७, ३०)।

सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार और तुच्छौषधिभक्षण। (श्रा० प्र० २८६)।

६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (७, ३२) में संलेखना के अतिचार जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान; ये पाँच कहे गये है। परन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति में (३८५) वे इस प्रकार पाये जाते है—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग और भोगाशंसाप्रयोग।

७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (७, १८) के भाष्य में कांक्षा अतिचार का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—'ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा कांक्षा'।

परन्तु उसी का स्वरूप श्रावक प्रज्ञप्ति (गा०८७) में भिन्न रूप से इस प्रकार कहा गया है—कंखा अन्नन्नदसणग्गाहो। टीका—'कांक्षान्योन्यदर्शनग्राहः सुगतादिप्रणीतेषु दर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इति।'

८. श्रावकप्रज्ञप्ति में (३२१) पौषध के जो आहारपौषध, शरीरसत्कारपौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापारपौषध ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये है उनका उल्लेख तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (७, १६) के भाष्य में किया जा सकता था, परन्तु वह वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता[१]।

---

१. देखिये श्रा० प्र० गाथा २८०, २८४, २८६, २९२, ३१८, ३२१, और ३२५–२६।

२. मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान–कूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः त. सू. ७–२१.
सहसा अब्भक्खाणं रहसा य सदारमतभेयं च।
मोसोवएसय कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा॥
श्रा० प्र० २६३।

३. त० सू० ७–२७। असमीक्ष्याधिकरणं लोक प्रतीतम्। (भाष्य)।
श्रा० प्र० २९१. संयुक्ताधिकरणम्—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वस्युदूखल शिलार पुत्रकं गोधूमयन्त्रकादिषु संयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यम्, सयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः। (टीका)

१. श्रावक प्रज्ञप्ति में १२ व्रतों की प्ररूपणा कर चुकने के पश्चात् श्रावक को कैसे स्थान में रहना चाहिए (३३९) व वहाँ रहते हुए किस प्रकार का आचरण करना चाहिए (३४३) इत्यादि सामाचारीका (३७५) कथन करते हुए गाथा ३७६ में विशेष करणीय रूप से जिन प्रतिमादिकों का भी संकेत किया है उनका निर्देश तत्त्वार्थाधिगम सूत्र और उसके भाष्य में कहीं नहीं पाया जाता है। परन्तु उपासकदशांग (पृ० २६–२९), समवायांग (११, पृ० १७) आवश्यक सूत्र उ० (पृ० ११७-२०) चारित्र प्राभृत (२१) और रत्नकरण्ड श्रावकाचार (१३६–४७) आदि में उनका उल्लेख देखा जाता है।

इन मतभेदों से यह निश्चित प्रतीत होता है कि उपर्युक्त श्रावकप्रज्ञप्ति के रचयिता आचार्य उमास्वाति वाचक नहीं हो सकते, क्योंकि, किसी एक ही ग्रन्थकार के द्वारा रचे गये विविध ग्रंथों में परस्पर उक्त प्रकार के मतभेदों की सम्भावना नहीं होती।

तब फिर उस श्रावकप्रज्ञप्ति का रचयिता कौन है ? यह एक प्रश्न है जिसके समाधान स्वरूप यहाँ कुछ विचार किया जाता है—उक्त श्रावकप्रज्ञप्ति की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे पास रही है। उनमें एक प्रति भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना की थी जो संवत् १५६३ में लिखी गई है। उसके आदि व अन्त में कहीं भी मूल ग्रन्थकार के नाम का निर्देश नही किया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ वहाँ ॥६०॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ इस वाक्य के अनन्तर हुआ है। और अन्तिम पुष्पिका उसकी इस प्रकार है—॥ इति दिक्प्रदा नाम श्रावक प्रज्ञप्ति टीका ॥ समाप्ता ॥ कृतिः सितपटाचार्य जिनभद्रपादसेव-कस्याचार्य हरिभद्रस्य ॥छ॥ संवत् १५६३ वर्षे लिखित मिदं पुन (?) वाच्यमानं मुनिवरैश्चिरं जीयात् ॥३॥ श्रीस्तात् ॥श्री॥

दूसरी प्रति ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद की रही है। इस प्रति के भी प्रारम्भ में मूल ग्रन्थकार का नाम-निर्देश नहीं किया गया है। वहां ॥६०॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥ इस वाक्य को लिख कर ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है। उसका अन्तिम पत्र नष्ट हो गया है जो सम्भवतः पीछे मुद्रित प्रति के आधार से भिन्न कागज पर नीली स्याही में लिखाकर उसमें जोड़ दिया गया है। इससे उसके लेखनकाल आदि का परिज्ञान होना सम्भव नहीं रहा।

इनमें पूर्व प्रति से यह निश्चित ज्ञात हो जाता है कि इस श्रावक प्रज्ञप्ति के ऊपर आचार्य हरिभद्र के द्वारा दिक्प्रदा नाम की टीका लिखी गई है। ये हरिभद्र सूरि वे ही हैं जिन्होंने 'समराइच्चकहा' नामक प्रसिद्ध पौराणिक कथाग्रन्थ की रचना की है। इसमे उन्होंने उज्जैन के राजा समरादित्य के नौ पूर्वभवो के चरित्र का चित्रण अतिशय काव्य-कुशलता के साथ ललित भाषा में किया है। यह कथा बड़ी ही रोचक है।

उक्त समराइच्चकहा के अन्तर्गत प्रथम भव प्रकरण में कहा गया है कि एक दिन क्षितिप्रतिष्टनगर में विजयसेन नाम के आचार्य का शुभागमन हुआ। इस शुभ समाचार को सुन कर गुणसेन राजा (समरादित्य राजा के पूर्व प्रथम भव का जीव) उनकी वंदना के लिए गया। वंदना के पश्चात् उसने विजयसेनाचार्य की रूप-सम्पदा को देखकर उनसे अपने विरक्त होने का कारण पूछा। तदनुसार उन्होंने अपने विरक्त होने की कथा कह दी। इस कथा का प्रभाव राजा गुणसेन के हृदय-पट पर अंकित हुआ। तब उसने उनसे शाश्वत स्थान व उसके साधक उपाय के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसके उत्तर मे आचार्य ने परमपद (मोक्ष) को शाश्वत स्थान बतला कर उसका साधक उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप धर्म को बतलाया।

इस धर्म को उन्होंने गृहिधर्म और साधुधर्म के भेद से दो प्रकार का बतला कर उसकी मूल वस्तु सम्यक्त्व को निर्दिष्ट किया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वह सम्यक्त्व अनादि कर्म सन्तान से वेष्टित प्राणी के लिए दुर्लभ होता है। प्रसंगवश वहां ज्ञानावरणादि आठ कर्मों और उनकी उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति का भी वर्णन किया गया है। उक्त कर्म स्थिति के क्रमशः क्षीण होने पर जब वह एक कोड़ाकोड़ि मात्र शेष रह कर उसमे भी स्तोक मात्र—पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र—क्षीण हो जाती है तब कहीं प्राणी को उस सम्यक्त्व की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रसंग में समराइच्चकहा मे जो गाथाएँ (७२–७८) उद्धृत की गई हैं वे पूर्व निर्दिष्ट श्रावक-प्रज्ञप्ति में उसी क्रम से ५३–६० गाथा संख्या से अंकित पायी जाती हैं।

तत्पश्चात् वहाँ विजयसेनाचार्य के मुख से यह कहलाया गया है कि पूर्वोक्त उस सर्व स्थिति मे से जब पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थिति और भी क्षीण हो जाती है तब उस सम्यग्दृष्टि जीव को देशविरति की प्राप्ति होती है। इतना निर्देश करने के पश्चात् वहां अतिचारों के नामोल्लेख के साथ पाँच अणुव्रतों, तीन गुण-व्रतों और चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् वहाँ यह कहा गया है कि इस अनुरूप कल्प से

विहार करके परिणाम विशेष के आश्रय से जब पूर्वोक्त कर्मस्थिति में से उसी जन्म में अथवा अनेक जन्मों में भी भी संख्यात सागरोपम मात्र स्थिति और भी क्षीण हो जाती है। तब जीव सर्वविरतिरूप यति धर्म को—क्षमा-मार्दवादिरूप दस प्रकार के धर्म को—प्राप्त करता है। इस प्रसंग में जो वहाँ दो गाथाएँ (८०–८१) उद्धृत की गई हैं वे श्रावक प्रज्ञप्ति में ३९०–९१ गाथा संख्या में उपलब्ध होती हैं।

अब यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि प्रकृत श्रावक प्रज्ञप्ति में जिस क्रम से और जिस रूप से श्रावक धर्म की विस्तार से प्ररूपणा की गई है ठीक उसी क्रम से और उसी रूप में उसका विवेचन समराइच्चकहा मे गुणसेन राजा के उस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य विजयसेन के श्रीमुख से सक्षेप मे कराया गया है। समराइच्चकहा का प्रमुख विषय न होने से वहाँ जो उस श्रावक धर्म की सक्षेप मे प्ररूपणा की गई वह प्रसंगोचित होने से सर्वथा योग्य है। फिर भी वहाँ जिस पद्धति से उसकी प्ररूपणा की गई है वह श्रावक प्रज्ञप्ति की विषय विवेचन पद्धति मे सर्वथा समान है—दोनों मे कुछ भी भेद नही पाया जाता है। इस समानता को स्पष्ट करने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१. श्रावक प्रज्ञप्ति की गाथा ६ 'पचेव अणुव्वयाई' आदि मे जिस प्रकार श्रावक धर्म को पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो के भेद से बारह प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है उसी प्रकार समराइच्चकहा मे भी उसे बारह प्रकार का इस प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है[१] —

तत्थ गिहिधम्मो दुवालसविहो। त जहा पच अणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइ चत्तारि सिक्खावयाइ ति।

२. आगे श्रावक प्रज्ञप्ति की गाथा ७ मे श्रावक धर्म की मूल वस्तु सम्यक्त्व को बतलाया है। यथा—

एयस्स मूलवत्थू सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि।
खयउवसमाइ तिविहं सुहायपरिणामरूवं तु॥

समराइच्चकहा में भी ठीक उसी प्रकार से 'एयस्स पुण दुविहस्स वि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं' इस वाक्य के द्वारा उस सम्यक्त्व को श्रावक धर्म की मूल वस्तु निर्दिष्ट किया गया है।

३ जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होने पर चूंकि कर्म के क्षयोपशमादि स्वरूप उस सम्यक्त्व की संगति बनती है, अतएव जिस प्रकार श्रावक प्रज्ञप्ति में २३ (८ से ३०) गाथाओं के द्वारा उन ज्ञानावरणादि कर्मों की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार समराइच्चकहा में भी आगे संक्षेप में उन कर्मों की प्ररूपणा की गई है। यथा—

जं जीव-कम्मजोए जुज्जइ एयं अओ तयं पुव्वं।
वोच्छं तओ कमेणं पच्छा तिविहं पि सम्मत्त॥
वेयणियस्स य बारस णामग्गोयाण अट्ठ उ मुहुत्तं।
सेसाण जहन्नठिई भिन्नमुहुत्तं विणिद्दिट्ठा॥
श्रा० प्र० गाथा ८ व ३०।

तं पुणो अणाइकम्मसंताणवेढियस्स जंतुणो दुल्लहं हवइ ति। त च कम्म अट्ठहा। तं जहा—णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्ज……………। सेसाणं भिण्णमुहुत्तं ति। (समराइच्चकहा)

४ आगे श्रावकप्रज्ञप्ति मे २ गाथाओ के द्वारा घर्षण-घोलन के निमित्त मे उस उत्कृष्ट कर्मस्थिति के किसी प्रकार से क्षीण होने पर अभिन्न पूर्व ग्रन्थि के होने का निर्देश किया गया है। यथा—

एव ठियस्स जया घसणघोलणणिमित्तओ कहवि।
खविया कोडाकोडी सव्वा इक्क पमुत्तूणं॥३१॥
तीइ वि य थोवमित्ते खविए इत्थतरम्मि जीवस्स।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो गंठी एव जिणा विंति॥३२॥

ठीक इसी प्रकार से समराइच्चकहा में भी प्रकृत प्ररूपणा इस प्रकार की गई है—

एव ठियस्स य इमस्स कम्मस्स अहपवत्त करणेण जया घसणघोलणाए कहवि एग सागरोवम कोडाकोडि मोत्तूण सेसाओ खवियाओ हवन्ति तीसे वियण थोवमित्ते खविए तया घणराय-दोसपरिणाम………………कम्मगठि हवइ। (स० कहा)

१. हमे समराइच्चकहा का छात्रोपयोगी जो प्रथम दो भवात्मक संस्करण प्राप्त हुआ है उसमे पृ० ४३–४४ मे उस श्रावक धर्म की प्ररूपणा पाई जाती है पुस्तक के प्रारम्भ के कुछ पृष्ठो के फट जाने से उसके प्रकाशन स्थान आदि का परिज्ञान नही हो सका।

# श्रीपुर, निर्वाण भक्ति और कुन्दकुन्द

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा

अनेकान्त के पिछले (फरवरी ६५) के अंक में श्रीपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ के विषय में श्रीमान् नेमचंद जी न्यायतीर्थ का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें जो बाते इतिहास की दृष्टि से एकदम विरुद्ध हैं उन्हें स्पष्ट करने के लिए यह लेख लिखा जा रहा है।

(१) श्रीपुर में खरदूषण के समय में ही श्री पार्श्वनाथ की स्थापना हुई थी तथा एल राजा के कुछ पहले उस मन्दिर का विध्वंस हुआ होगा यह श्रीमान् नेमचन्द जी की कल्पना श्रीपुर के सम्बन्ध में पुराने लेखकों की जो भी कथाएँ मिलती है उन सब के विरुद्ध हैं। इन सब कथाओं में यह कहा गया है कि खरदूषण ने (या माली सुमाली के सेवक ने) स्वय प्रतिमा का अविनय न हो इसलिए उसे कूप में (या सरोवर में) डाल दिया था। तथा एल राजा ने कूप से ही वह प्रतिमा पाई। खरदूषण के समय से एलराज के समय तक यदि प्रतिमा कूप में ही रही तो उसकी स्थापना एलराज से पहले किस प्रकार हो सकती थी? यह कूप या पोखर जिस में यह प्रतिमा थी एक वन में था तथा राजा एल वहाँ क्रीडा करने गया था और प्रतिमा मिलने पर राजा ने वहाँ अपने नाम से श्रीपुर नगर बसाया। इस विषय में भी पुराने कथाकारों में एकमत है। जिनप्रभ सूरि के शब्दों में (विविधतीर्थकल्प पृ० १०३)—रन्ना पडिमा अदट्ठूण अधिईए गतं तत्थेव सिरिपुरं नाम नयरं निअनामोवलक्खिअं निवेसिअं। अतः इस श्रीपुर का अस्तित्व राजा एल अपरनाम श्रीपाल से पहले का बतलाना पुराने सभी कथा लेखकों के विरुद्ध है। फिर प्रश्न होता है कि क्या ये कथालेखक गलती कर रहे थे। यदि नहीं तो श्रीमान् नेमचन्द जी ने श्रीपुर के जो पुराने उल्लेख बतलाये हैं उनका क्या स्पष्टीकरण है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमने इन उल्लेखों की छानबीन की तो पता चला कि इनमें से कुछ उल्लेख इस (विदर्भ स्थित) श्रीपुर के न होकर कर्णाटक के धारवाड जिले में स्थित श्रीपुर (वर्तमान नाम शिरूर, सिरियूर) के हैं।

(२) श्रीमान नेमचन्द जी ने जैन शिलालेखसंग्रह भा० २ पृ० ८५ के एक लेख में राजा जयसिंह चालुक्य द्वारा इस क्षेत्र को सन् ४८८ में कुछ भूमि दान देने की बात लिखी है। मूल लेख तथा उसका सारांश देखने पर पता चला कि यहाँ श्रीपुर का सम्बन्ध नहीं के बराबर है। यह दान कुहुण्डी प्रदेश के अलक्तक नगर में बने हुए जिनमन्दिर के लिए था। यहाँ श्रीपुर का सम्बन्ध इतना ही है कि दान दी हुई भूमि श्रीपुर के मार्ग पर पड़ती थी।

---

५. श्रावक प्रज्ञप्ति मे ३२वी गाथा की टीका में प्रसंग पाकर जो "गंठित्ति सुदुब्भेओ१" आदि गाथा उद्धृत की गई है वह समराइच्चकहा मे भी इसी प्रसग मे उद्धृत की गई है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है। बीसों गाथायें दोनों ग्रन्थों मे यथास्थान समान रूप में उपलब्ध होती हैं२। व्रतातिचारो की प्ररूपणा भी दोनो ग्रन्थो में समान रूप से की गई है—उसमें कहीं कुछ भी मतभेद नही है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की एकरूपता को देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्र ने ही स्वोपज्ञ टीका के साथ उसके मूल भाग की भी रचना की है।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य ११६५।

२. यह व्रताति चारों की प्ररूपणा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उससे कुछ भिन्न रूप में पाई जाती है, परन्तु उक्त दोनों ग्रन्थों में सर्वथा समान होकर उपासक दशांग (अध्ययन १) का अनुसरण करती है।

वह श्रीपुर क्षेत्र को दी गई थी ऐसा लेख में कहीं नहीं कहा है। दूसरी बात यह है कि यह श्रीपुर चालुक्य राज्य में था और उस समय चालुक्यो का राज्य सिर्फ उत्तर कर्णाटक में था। विदर्भ में तो उस समय वाकाटक वंश के राजाओं का शासन था। जिनकी एक राजधानी वाशिम में ही थी१। वाकाटक राजाओं के प्रदेश की कोई भूमि चालुक्य राजा किस प्रकार दान कर सकते थे? अतः उक्त लेख मे जिस श्रीपुर का थोड़ा सा सम्बन्ध है वह भी कर्णाटक के धारवाड़ जिले का श्रीपुर है, विदर्भ के अकोला जिले का नही।

(३) यही बात जैन शिलालेखसंग्रह भा० २ पृ० १०६ के उल्लेख के सम्बन्ध मे भी है। इसमे कहा है कि पृथिवीनिर्गुन्दराज की पत्नी कुन्दाच्चि ने श्रीपुर के उत्तर में लोकतिलक मन्दिर बनवाया तथा उसके लिए विमल-चन्द्र आचार्य को सन् ७७६ में कुछ दान दिया। इस लेख का भी विदर्भ के श्रीपुर से सम्बन्ध होना सम्भव नही है। क्योंकि दानदाता राजा पृथिवीनिर्गुन्द गग महाराज श्रीपुरुष के सामन्त थे जिनका राज्य कर्णाटक मे ही था। विदर्भ और महाराष्ट्र मे उस समय राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था और गग और राष्ट्रकूटो मे उस समय शत्रुता थी। श्रीपुरुष का पुत्र शिवमार युद्ध में राष्ट्रकूटों द्वारा बन्दी बनाया गया था२। ऐसी स्थिति मे श्रीपुरुष का एक सामन्त राष्ट्रकूटों के प्रदेश मे कोई मन्दिर बनवा कर भूमि कैसे दान दे सकता था?

अतः उक्त लेख में जिस श्रीपुर का उल्लेख है वह भी कर्णाटक का ही है, विदर्भ का नही। इस लेख मे जिन विमलचन्द्र आचार्य का उल्लेख है उनके गुरु कीर्तिणन्दि आचार्य एरेगित्तूर गण के पुलिकल गच्छ के थे। श्रीमान नेमचन्दजी लिखते हैं कि इनके कुछ लेख सिरपुर की धातु-मूर्तियों पर हैं। अच्छा हो यदि वे उक्त लेख प्रकाशित करें और बताये कि उनमें एरेगित्तूर गण, पुलिकल गच्छ या कीर्तिणन्दिगुरु का सम्बन्ध कहां तक है। किन्तु यह संभव नही है क्योंकि उपर्युक्त विमलचन्द्र आठवी सदी के है और आठवीं सदी की लिपि पढ़ने के लिए विशेषज्ञ विद्वान की जरूरत होती है। उक्त धातुमूर्तियों के लेख आठवीं सदी के हैं या नहीं यह तो उनकी लिपि से ही जाना जा सकता है। अतः सिर्फ विमलचन्द्र नाम देखकर इन मूर्तियों का सम्बध उपर्युक्त लेख से नहीं जोड़ना चाहिए। जैन आचार्यों में बहुधा एक-एक नाम के कई आचार्य हुए हैं यह ध्यान में रखना होगा।

(४) ऊपर कर्णाटक के जिस श्रीपुर की चर्चा की है उसकी जानकारी हमें स्व. प० प्रेमीजी के एक लेख में मिली [जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४६४]।३ उनका कहना है कि विद्यानन्द का श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र भी इसी कर्णाटक के श्रीपुर का है। यही हमारा भी मत है: यह स्तोत्र ३० श्लोकों का है लेकिन उसमें पार्श्वनाथ के अन्तरिक्ष होने का कही उल्लेख नही है। विदर्भ के श्रीपुर पार्श्वनाथ का यह अन्तरिक्ष होने का अतिशय इतना विलक्षण है कि प्रायः सभी स्तोत्र लेखकों ने उसका बराबर उल्लेख किया है। उसका उल्लेख न होना यही सूचित करता है कि विद्यानन्द वर्णित श्रीपुर विदर्भ का न होकर कर्णाटक का है। यह स्वाभाविक है क्योंकि विद्यानन्द ने जिस गग राजा सत्यवाक्य के लिए तीन ग्रन्थ लिखे थे उस का राज्य विदर्भ में न होकर कर्णाटक में था।

(५) अब निर्वाणकाण्ड के उल्लेख को देखिए। पं० प्रेमीजी ने तो इस उल्लेख को भी उपर्युक्त कन्नड़ श्रीपुर का ही माना है। किन्तु इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है। वह यह कि निर्वाणकाण्ड न तो श्री कुन्द-कुन्द की रचना है और न ही उसका समय ईसवी सन् की पहली शताब्दी है। दशभक्ति की पुस्तकों में निर्वाण काण्ड भी छपा होता है और टीकाकार प्रभाचन्द्र के कथनानुसार प्राकृत दशभक्ति कुन्दकुन्द की और संस्कृत दशभक्ति पूज्यपाद की रचना बतलाई गई है। इसी पर से श्रीमान नेमचन्द जी ने तर्क किया होगा कि निर्वाणकाण्ड कुन्दकुन्दकृत है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान नहीं

१. दि क्लासिकल एज पृ० १८५-८७।

२. दि एज आफ इम्पीरियल कनोज पृ० १५६।

३. प० दरबारीलाल जी ने अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का सम्बन्ध भी गलती से इसी श्रीपुर के साथ जोड़ दिया है (शासनचतुस्त्रिंशिका पृ० ४२)

दिया कि संस्कृत निर्वाणभक्ति पर तो प्रभाचन्द्र की टीका है किन्तु निर्वाणकाण्ड पर नहीं है इससे स्पष्ट होता है कि प्रभाचन्द्र के समय या तो निर्वाणकाण्ड था ही नहीं अथवा हो भी तो वे उसे दशभक्ति संग्रह की रचना नहीं मानते थे। टीकाकार प्रभाचन्द्र का समय कुछ विद्वान तेरहवी सदी में और कुछ दसवीं सदी में मानते हैं। इनमें से दूसरा मत भी मानें तो कहना होगा कि निर्वाणकाण्ड दसवीं सदी में निर्वाणभक्ति के रूप में प्रतिष्ठित नही हुआ था। एक और प्रमाण है जिसमे निर्वाणकाण्ड की रचना आठवीं सदी से बाद की निश्चित होती है। निर्वाणकाण्ड में वरदत्त और वरांग का निर्वाणस्थान तारापुर के निकट बतलाया है। यह तारापुर राजा वत्सराज ने बसाया था और इसका नाम बौद्ध देवी तारा के मन्दिर के कारण तारापुर था ऐसी जानकारी सोमप्रभकृत कुमारपाल–प्रतिबोध मे मिलती है (प० प्रेमीजी–जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४२५–६)। इस प्रदेश के इतिहास मे वत्सराज नाम का जो राजा हुआ था उसका समय आठवीं शताब्दी है।[४] अतः उसके द्वारा बसाये गये तारापुर का उल्लेख करने वाला निर्वाणकाण्ड आठवी सदी के बाद का है। इस समय के पहले सातवीं सदी मे जटासिहनन्दि आचार्य ने वरदत्त का निर्वाणस्थान और वरांग का स्वर्गवास स्थान मणिमान पर्वत बतलाया है, उन्हें तारापुर नाम की जानकारी नही थी, इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। जब निर्वाणकाण्ड आठवीं सदी के बाद का है तब न वह पहली सदी का हो सकता है और न ही कुन्दकुन्दकृत हो सकता है। प्रभाचन्द्र के समय (दसवी सदी) में भी वह प्रसिद्ध नहीं था। अतः बहुत सभव है कि राजा एल श्रीपाल (दसवीं सदी) के बाद की ही रचना हो। जटासिहनन्दि, रविषेण, गुणभद्र, पुष्पदन्त आदि पुरातन ग्रन्थकारों के विरुद्ध निर्वाणकाण्ड के जो बहुत से कथन है उनकी विस्तार से समीक्षा पं० प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास (पृ० ४२२–५१) में की गई है। उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह रचना किसी साधारण लेखक की उत्तरकालीन रचना है। यह बात और है कि तीर्थ सम्बन्धी दूसरी व्यवस्थित रचना उपलब्ध न होने से उसी को दिगम्बर जैन समाज में बहुत अधिक आदर मिला है।

(६) श्रीपुर के सम्बन्ध में ऊपर जो चर्चा की है उससे स्पष्ट होगा कि पुरातन समय में श्रीपुर नाम के दो नगर थे एक कर्णाटक मे और दूसरा विदर्भ मे (इसके अतिरिक्त एक श्रीपुर मध्य प्रदेश मे रायपुर के पास था और एक और श्रीपुर आन्ध्र में था जहा इस समय कागजनगर नामक नया औद्योगिक शहर बसा हुआ है) इस में श्रीपुर का जो कोई पुराना उल्लेख मिले उसका संदर्भ देखकर ही निर्णय करना चाहिए कि वह किस श्रीपुर का है। हरिभद्र और जिनसेन के जो उल्लेख श्रीमान नेमचन्दजी ने बताये हैं उनमें विशिष्ट सन्दर्भ का अभाव होने से विदर्भ स्थित श्रीपुर के ही वे उल्लेख है यह कहना सभव नही है। हरिभद्र का जो उद्धरण उन्होंने दिया है वह मौलिक न होकर किसी आधुनिक लेखक का है जिसने गलती से उसका सबध अतरिक्ष पार्श्वनाथ के श्रीपुर से जोड़ दिया है। ऐसी स्थिति मे हमारा मत है कि अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का श्रीपुर राजा एल श्रीपाल द्वारा स्थापित है यह पुराने कथालेखकों का वर्णन सही है, उसे गलत सिद्ध करने वाले प्रमाण अभी उपलब्ध नही है।

(७) प्रसंगवश यह भी नोट करना चाहिए कि पद्मप्रभ के लक्ष्मीर्महस्तुल्य आदि स्तोत्र के प्रत्येक पद्य में रामगिरि का स्पष्ट उल्लेख है। अतः उसका श्रीपुर से जो सम्बन्ध श्री नेमचन्द जी ने बताया है वह भी निराधार है।

४ दि एज आफ इम्पीरियल कनोज पृ० २१–२३।

# प्रतिहार साम्राज्य में जैन-धर्म

डा० दशरथ शर्मा एम. ए. डी. लिट्

प्रतिहार साम्राज्य में अनेक धर्म फले और फूले। बौद्धधर्म भी कुछ समय तक कोटा प्रदेश में अवस्थित रहा; किन्तु विशेष समय तक नहीं। प्रायः सर्वत्र ही अहिंसावादी जैनधर्म या वैष्णव धर्म दसवीं शती तक उसका स्थान ग्रहण कर चुका था। जैन विद्वानों में बप्पभट्टसूरि आमराज नागभट द्वितीय के मित्र और अध्यात्म-दृष्टि से गुरु भी थे। उनकी पारस्परिक मैत्री का बप्पभट्टसूरि चरित में बहुत अच्छा वर्णन है।

कुछ समय तक राजस्थान में जैन धर्म भी पतनोन्मुख हुआ। सतत विहार को छोड़ कर अनेक साधुओं ने चैत्यों में रहना; लवंग, ताम्बूल आदि का सेवन करना और बढ़िया वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। धर्म विषयक प्रश्न पूछने पर ये प्रायः श्रावकों को टालते, उनसे कहते कि धर्म की गुत्थियाँ और रहस्य उनकी समझ से कुछ दूर की वस्तु हैं। प्रतिहार साम्राज्य के उदय से पूर्व ही श्री हरिभद्रसूरि ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से इस उन्मार्गगामिनी आचारधारा को रोकने का प्रयत्न किया था। उनके बाद कुवलयमालाकार उद्योतनसूरि और उपमितिभवप्रपञ्चाकार श्री सिद्धर्षिसूरि ने भी यह कार्य अग्रसर किया। हरिभद्र सूरि ने अत्यन्त संक्षेप में जिस धर्म विषय का धर्मबिन्दु में प्रतिपादन किया था, वही उनकी समराइच्च कथा एवं अन्य आचार्यों की कथाओं में विशद रूप प्राप्त कर चुका है।

प्रतिहार साम्राज्य में जैनधर्म ने अच्छी प्रगति की। विशेष रूप से राजपूतों को जैनधर्म में दिक्षित कर जैन आचार्यों ने यह प्रवाद निर्मूल सिद्ध कर दिया कि राजपूतों द्वारा शासित राज्यों में अहिंसावादी धर्म नहीं पनप सकते। जैन धर्म में तो हर एक के लिए स्थान है। उसमें आचार का क्रम ही ऐसा रखा गया है कि हर एक मनुष्य अपनी सामर्थ्य और बुद्धि के अनुसार स्वतः आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त करता है।

राजपूत राजाओं ने जैनों से सदा अच्छा व्यवहार किया। परम्परा से प्रसिद्ध है कि प्रथम प्रतिहार सम्राट् नागभट प्रथम को जैनाचार्य यक्षदेव की कृपा से ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति हुई थी। सम्राट् वत्सराज के समय समस्त पश्चिमी राजस्थान जैन मन्दिरों से परिपूर्ण था। ओसियां के भव्य जैन मन्दिर का भी उसी के समय में निर्माण हुआ। प्रतिहार राजा कक्कुल ने सं० ९१८ में रोहिंसकूप में जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और उसे आम्रक, भालुक आदि जैन गोष्ठिकों के हाथ में सौंप दिया। उसी प्रकार चौहान राजा पृथ्वीराज प्रथम अर्णोराज विग्रहराज चतुर्थ, सोमेश्वर आदि ने भी जैनधर्म की अच्छी सेवा की। इन राजाओं का समय प्रतिहार साम्राज्य के बाद का है। इससे सिद्ध है कि जैन धर्म तब तक इस प्रदेश में इतना दृढमूल हो चुका था कि राज्यों के अनेक उत्थान और पतन होने पर भी उसका उत्थान ही होता रहा।

अनेकान्त के किसी अग्रिम अङ्क में हम इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

---

# खजुराहो का जैन संग्रहालय

**नीरज जैन**

खजुराहो का पुरातत्त्व विशिष्ट कलात्मक और विश्व-विख्यात है, बहुत कम लोग जानते हैं कि सौन्दर्य के इन प्रतीकों में जैन स्थापत्य का बहुत बड़ा योगदान है। खजुराहो के जैन शिल्प का क्रमशः वर्णन करते हुए पारसनाथ मन्दिर और आदिनाथ मन्दिर पर सामग्री पाठकों के समक्ष गत अंकों में प्रस्तुत की जा चुकी है। इस अंक में यहाँ के जैन शिल्प संग्रहालय पर दृष्टिपात करेंगे।

पारसनाथ मन्दिर के पश्चिमी पार्श्व में एक गहरी बावली है; उसी बावली से लगा हुआ—जैनग्रुप का अंतिम कोना—अभी एक खुले हुए संग्रहालय के रूप में सजा हुआ है। इसे संग्रहालय भी क्या कहें, मन्दिरों की पुनर्निर्माण-व्यवस्था करते समय यहाँ फैली हुई शतशः जैन-प्रतिमाओं को परकोटे की दीवाल में चुन दिया गया है और बाद में एकत्र की गई कुछ मूर्तियाँ चबूतरे पर सजा दी गई हैं। यह हर्ष की बात है कि समाज ने धीरे धीरे अपनी इन कलानिधियों का मूल्य पहिचाना है और यहाँ एक संग्रहालय-भवन बनाने का निश्चय कर लिया है। इस वर्ष मेले पर इस प्रस्तावित भवन का शिलान्यास भी हो चुका है। इसी बीच केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग ने इन प्रतिमाओं को प्राप्त करने का प्रयास किया था परन्तु श्रीमान् बाबू छोटेलालजी कलकत्ता के प्रयास से वह स्थिति टल गई है तथा इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि यदि समय पर संग्रहालय भवन तैयार हो सका तो यहाँ की समस्त उपलब्ध सामग्री तो उसमें सजाई ही जायगी, खजुराहो के केन्द्रीय संग्रहालय में स्थित अनेक जैन प्रतिमाओं को भी इस संग्रहालय के लिए प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो जायगी, और तब यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संग्रहालय हो जाएगा।

वर्तमान में यहाँ पर लगभग एक-सौ से अधिक मूर्ति खण्ड पड़े हैं जिनमें अधिकांश तीर्थंकर प्रतिमाएँ है, किन्तु द्वार तोरण, सिंहासन, शासन देवियाँ, द्वारपाल, नवग्रह, शार्दूल आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, इन सबका अंकन अनेक वैविध्य और वैचित्र्य से पूर्ण है, एक लम्बे तोरण में एक दिगम्बर आचार्य को एक ऊँची शिला पर विराजमान दिखाया गया हैं जिनके सामने पीछी लिए हुए दो दिगम्बर मुनि नमन करते हुए अंकित हैं और श्रावक श्राविकाएँ तथा सेना खड़ी हुई है, हाथी घोड़े तथा भाला बरछी से सज्जित सेना यह सिद्ध करती है कि कहीं दूर की यात्रा का यह दृश्य है, ऊपर विद्याधरों की पंक्ति भी है, इसी पट्ट के नीचे की ओर बांसुरी बजाते हुए एक गंधर्व युगल का सुन्दर अंकन है।

द्वार तोरणों में मध्य कालीन परम्परा के अनुसार गंगा-यमुना, द्वारपाल यक्ष, मिथुन युगल तथा नवग्रहों का अंकन एक से एक बढ़कर यहाँ दिखाया गया है, जैन शासन देवियों की कुछ स्वतन्त्र बड़ी प्रतिमाएँ भी इस संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है जिनमें धरणेन्द्र पद्मावती और अम्बिका प्रमुख हैं, चन्द्रेश्वरी, ज्वालामालिनी तथा सरस्वती आदि का अकन भी यथा स्थान दिखाई देता है, अनेक विशाल जिन बिम्बों के ऊपरी भाग यहां पाये जाते है, जिनमे जल अभिषेक करते हुए गज तथा छत्र आदि बने हैं, और उन्हें देखकर लगता है कि यहां बड़ी-बड़ी मूर्तिया भी प्रचुर मात्रा में रही है, तीर्थंकर प्रतिमाएँ यहां सर्वाधिक हैं, जिनमें पद्मासन और खड्गासन दोनों प्रकार की मूर्तियां हैं, इन मूर्तियों का सुकर परिकर, निर्विकार-सौम्य मुख मुद्रा, तथा सिंहासन से लेकर छत्र तक का कलात्मक गठन और सुन्दर सज्जा खजुराहो के तक्षक की गौरव गरिमा के अनुरूप है और दर्शकों को आकर्षित करते हुए उच्चतर स्वर में घोषित करती है कि सौन्दर्य की अनुभूति कामुकता या शृंगार के अनुपात में ही होती हो यह आवश्यक नहीं है अपरिग्रह के परिवेश में और

विकार मुद्रा के सर्वथा प्रभाव में भी अनन्त सौंदर्य की धारा प्रवाहित होती रह सकती है, चार छह मूर्तियों का सिर खंडित हो गया है उनके सम्पूर्ण भामण्डल को देखकर यह समझना कठिन हो जाता है कि सिर की उपस्थिति में यह समूचा भामण्डल बनाया कैसे गया होगा, दो तीन मूर्तियों के शरीर की चिकनाहट भी आश्चर्यकारी है। यहां की मूर्तियों पर पालिश का सर्वथा प्रभाव है, इसलिए विशेष चिकनाहट वाली प्रतिमाओं को देखकर विश्वास करना पड़ता है कि अवश्य ही सैकड़ों वर्षों तक इन प्रतिमाओं पर प्रतिदिन प्रक्षाल और अभिषेक हुआ है जिसके बिना उन पर इतनी मनमोहक चिकनाहट आ ही नही सकती थी '

यहां की सभी प्रतिमाएँ और मन्दिर भूरे अथवा लाल देशी बलुआ पत्थर से निर्मित हैं, तथा उनमें तक्षण कला के जैसे चमत्कार अंकित किए गए हैं वास्तव में वैसा अंकन संगमरमर जैसे नरम पाषाण में भी सहज संभव नहीं होता, मूर्तियों के छत्र पर अंकित की गई क्षुद्र घंटिकाएँ, पुष्प वेलि तथा रत्नमयी झालर अत्यन्त शोभनीय दिखाई देती है, इसी प्रकार भामण्डल में भी अनेक अभिप्रायों का अंकन है, रत्नवलय, पुष्प वेलि तथा सूर्य किरण तो भामण्डल का साधारण क्रम है ही पर यहां के कलाकार ने कमल दल, नाग वेल और अग्नि ज्वाल को भी भामण्डल मे अंकित करके अपनी सविशेष कल्पना को साकार किया है।

इस संग्रहालय की वर्तमान दीवाल के बाहरी ओर तथा बीच में भी पर्याप्त सामग्री का उपयोग हुआ मालूम होता है। नये संग्रहालय भवन के निमाण के समय निकट भविष्य में ही उस विलुप्त प्राय सामग्री के उद्घाटन की आशा है और यह विश्वास किया जा सकता है कि तब चंदेल कला में जैन मूर्ति शास्त्र के कुछ नए मान प्रकाश में आवेंगे।

जैन पुरातत्त्व के वर्णन के अन्त में शार्दूल अथवा अष्टापद के अंकन का थोड़ा सा विवरण दे देना आवश्यक है। खजुराहो में सिंह की आकृति से मिलते-जुलते इस जानवर का अंकन प्रतीकरूप में बहुतायत से हुआ है। जैन ग्रुप में भी वह सैकड़ों की संख्या में अंकित है। इस पशु आकृति के इस प्रकार अकन के अनेक रूप और अनेक अर्थ विद्वानों द्वारा दिए जाते हैं। कोई इन्हें असुर बिम्ब मानकर मन्दिरों पर देवासुर अंकन की सिद्धि करते हैं और किसी किसी ने इन्हें अभिलाषा और ज्ञान का प्रतीक माना है। इनका धड़ सिंह के शरीर से मिलता जुलता है, पर मुखाकृति अनेक तरह की बनाई गई है। मुझे इन जैन मन्दिरों में ही शार्दूलों की जो मुखाकृतियां प्राप्त हुई हैं उनमें सिंह, बाघ, गज, अश्व, मेढ़ा, तोता, हिरण, बैल और मनुष्य आदि लगभग बारह भिन्न भिन्न आकृतियां हैं इन सभी में प्रायः एक ही अभिप्राय अंकित हुआ है कि शार्दूल क्रुद्ध और आक्रामक मुद्रा में खड़ा है। उसने अपने पैर के नीचे एक मानवाकृति को दबा रखा है। कहीं कहीं इस मानवाकृति की जगह भी गज, अश्व, ऊँट आदि दिखाए गए हैं। यह आकृति किसी न किसी अस्त्र द्वारा आक्रमण का प्रतिकार करती दिखाई जाती है और शार्दूल की पीठ पर आसीन एक छोटी सी मानवाकृति मूर्ति दिखाई गई है जो अपने दुर्दमनीय किन्तु सौम्य पौरुष से उस विशाल आक्रामक दुर्दान्त पशु पर नियंत्रण करती दिखाई देती है।

मैं शार्दूल के इस अभिप्राय को जहाँ तक समझ पाया हूँ मुझे यह मनुष्य की अपनी पाशविक आकांक्षाओं अथवा अमानुषिक वृत्तियों का प्रतिबिम्ब लगता है जो अपनी भाँति भाँति की इच्छाओं के कारण उसी रूप के चेहरे लेकर अंकित किया गया है और जिसने स्वय अपनी मानवता को ही दबोच रखा है। इस आसुरी भावना को संयत करने में समर्थ हमारा संयम या विवेक ही है जो छोटा होकर भी हमारी पाशविक अभिलाषाओं पर विजय पाने में समर्थ होता है। जैन दृष्टिकोण से इसे बारह व्रतों के अतिचार रूप मे भी समझा जा सकता है। इन शार्दूलों की विभिन्न आकृतियों को देखकर मेरी बात आसानी से समझी जा सकती है।

---

# जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद

उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द

**अभेदावच्छेदक कालादि का निरूपण**

जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्तिरूप है, उक्त एक अस्तित्व-कथन में अभेदावच्छेदक काल आदि की घटन पद्धति इस प्रकार है :—

१. वस्तु में जो अस्तित्व धर्म का समय है, काल है, वही शेष अनन्त धर्मो का भी है, क्योंकि उसकी समय वस्तु में अन्य भी अनन्तधर्म-उपलब्ध होते है। अतः एक अस्तित्व के साथ काल की अपेक्षा अस्तित्व आदि सब धर्म एक हैं।

२. जिस प्रकार वस्तु का अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार अन्य धर्म भी वस्तु के आत्मीय-रूप है, स्वभाव है। अतः आत्म-रूप की अपेक्षा से अस्तित्व आदि सब धर्म अभिन्न हैं।

३. जिस प्रकार वस्तु अस्तित्व का अर्थ है, उसी प्रकार अन्य धर्मों का भी वह आधार है। अतः अर्थ अर्थात् आधार की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं।

४. जिस प्रकार पृथक्-पृथक् न होने वाले कथंचित् अविष्वग् भावरूप तादात्म्य सम्बन्ध से अस्तित्व धर्म वस्तु में रहता है, उसी प्रकार अन्य धर्म भी रहते हैं। अतः सम्बन्ध की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं।

५. अस्तित्व धर्म के द्वारा जो स्वानुरक्तत्व करण रूप उपकार वस्तु का होता है, वही उपकार अन्य धर्मों के द्वारा भी होता। अतः उपकार की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है।

६. जो क्षेत्र द्रव्य में अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है। अतः अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है। इसी को गुणि-देश[१] कहते हैं।

७. जो एक वस्तु-स्वरूप से वस्तु में अस्तित्व धर्म का संसर्ग है, वही अन्य धर्मो का भी है। अतः संसर्ग[२] की अपेक्षा से भी सभी धर्मों में अभेद है।

८. जिस प्रकार 'अस्ति' शब्द अस्तित्व धर्म-युक्त वस्तु का वाचक है, उसी प्रकार 'अस्ति' शब्द अन्य अनन्त धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'। अतः शब्द की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं।

कालादि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। प्रमाण का मूल प्राण— अभेद है। अभेद के बिना प्रमाण की कुछ भी स्वरूप-स्थिति नही है।

**नय-सप्तभंगी :**

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूपों में ग्रहण करता है. वस्तुगत शेष धर्मों के प्रति वह तटस्थ रहता है। न वह उन्हें ग्रहण करता है और न उनका निषेध ही करता है। न हाँ और न ना, एक मात्र उदासीनता। इसको 'सुनय' कहते हैं। इसके विपरीत, जो नय अपने विषय का प्रतिपादन करता हुआ दूसरे नयों का खण्डन करता है, उसे 'दुर्नय' कहा जाता है। नय सप्तभंगी सुनय में होती है, दुर्नय में नहीं। वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदकों द्वारा भेद की प्रधानता अथवा भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। इसी को 'नय-सप्तभंगी' कहते है। नय-सप्तभंगी वस्तु के स्वरूप का

---

१. अर्थ पद से लम्बी-चौड़ी अखण्ड वस्तु को पूर्णरूप से ग्रहण की जाती है और गुणि-देश से अखण्ड वस्तु के बुद्धि-परिकल्पित देशांश ग्रहण किये जाते हैं।

२. पूर्वोक्त सम्बन्ध और प्रस्तुत संसर्ग में यह अन्तर है कि तादात्म्य सम्बन्ध धर्मों की परस्पर योजना करने वाला है और संसर्ग एक वस्तु में अशेष धर्मों को ठहराने वाला है।

प्रतिपादन भेद-मुखेन किया जाता है।

**नय-सम्बन्धित भेदावच्छेदक कालादि :**

नय सप्तभंगी में गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को गौण और पर्याय स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है। अतः नय सप्तभंगी भेद-प्रधान है। उक्त भेद भी कालादि के द्वारा ही प्रमाणित होता है।

१. वस्तुगत-गुण प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होते है। अतः जो अस्तित्व का काल है, वह नास्तित्व आदि का काल नहीं है। भिन्न-भिन्न धर्मों का भिन्न-भिन्न काल होता है, एक नहीं। यदि बलात् अनेक गुणों का एक ही काल माना जाए, तो जितने गुण हैं, उतने ही आश्रयभेद से वस्तु भी होनी चाहिए। इस प्रकार एक वस्तु में अनेक वस्तु होने का दोष उपस्थित होता है। अतः काल की अपेक्षा वस्तुगत धर्मों में भेद है, अभेद नहीं।

२. पर्याय-दृष्टि से वस्तुगत गुणों का आत्मरूप भी भिन्न-भिन्न है। यदि अनेक गुणो का आत्मस्वरूप भिन्न न माना जाए, तो गुणों में भेद की बुद्धि कैसे होती है? एक आत्मस्वरूप वाले तो एक-एक ही होंगे, अनेक नहीं। आत्म-स्वरूप से भी अभेद नहीं, भेद ही सिद्ध होता है।

३. नाना धर्मों का अपना-अपना आश्रय अर्थ भी नाना भी होता है। यदि नाना गुणो का आधारभूत पदार्थ अनेक न हो, तो एक को ही अनेक गुणों का आश्रय मानना पड़ेगा, जो कि तर्क-संगत नहीं है। एक का आधार एक ही होता है। अत अर्थ-भेद से भी सब धर्मों मे भेद है।

४. सम्बन्धियों के भेद से सम्बन्ध में भी भेद होता है। अनेक सम्बन्धियों का एक वस्तु में सम्बन्ध घटित नहीं होता। देवदत्त का अपने पुत्र से जो सम्बन्ध है, वही पिता, भ्राता आदि के साथ नही है। अतः भिन्न धर्मो में सम्बन्ध की अपेक्षा से भी भेद ही सिद्ध होता है अभेद नहीं।

५. धर्मों के द्वारा होने वाला उपकार भी वस्तु पृथक्-पृथक् होने से अनेक रूप है, एक रूप नहीं। अत. उपकार की अपेक्षा से भी अनेक गुणों में अभेद (एकत्व) घटित नहीं होता।

६. प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी का देश भी भिन्न-भिन्न ही होता है। यदि गुण के भेद से गुणी में देश भेद न माना जाए, तो सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थों के गुणों का गुणी देश भी अभिन्न ही मानना होगा। इस स्थिति में एक व्यक्ति के दुःख, सुख और ज्ञानादि दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट हो जायेंगे, जो कि कथमपि इष्ट नहीं है। अत गुणी-देश से भी धर्मों का अभेद नहीं, किन्तु भेद ही सिद्ध होता है।

७. संसर्ग भी प्रत्येक ससर्ग वाले भेद से भिन्न ही माना जाता है। यदि सम्बन्धियो के भेद के होते हुए भी उनके संसर्ग का अभेद माना जाए, तो फिर ससर्गियो (सम्बन्धियों) का भेद कैसे घटित होगा? लोक व्यवहार मे भी दान्तों का मिश्री, पान, सुपारी और जिह्वा के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का ससर्ग होता है, एक नहीं। अतः ससर्ग से भी अभेद नही, भेद ही सिद्ध होता है।

८. प्रत्येक वाच्य (विषय) की अपेक्षा से वाचक शब्द भिन्न-भिन्न होते है। यदि वस्तुगत सम्पूर्ण गुणों को एक शब्द के द्वारा ही वाच्य माना जाए, तब तो विश्व के सम्पूर्ण पदार्थो को भी एक शब्द के द्वारा वाच्य क्यों न माना जाए? यदि एक शब्द द्वारा भिन्न-भिन्न समस्त पदार्थों की वाच्यता स्वीकार कर ली जाए, तो विभिन्न पदार्थों के लिए विभिन्न शब्दो का प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः वाचक शब्द की अपेक्षा से भी अभेद वृत्ति नही, भेदवृत्ति ही प्रमाणित होती है।

प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्याय स्वरूप है। गुण और पर्यायों में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। जब प्रमाण-सप्तभंगी मे पदार्थ का अधिगम किया जाता है, तब गुण-पर्यायो मे कालादि के द्वारा अभेद वृत्ति या अभेद का उपचार होता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द के द्वारा ही अनन्त गुण पर्यायों के पिण्डस्वरूप अखण्ड पदार्थ का, अर्थात् अनन्त धर्मों का युगपत् परिबोध होता है और जब नय-सप्तभंगी से पदार्थ का अधिगम किया जाता है, तब गुण पर्यायों मे कालादि के

द्वारा भेदवृत्ति अथवा भेदोपचार१ होता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण-पर्याय का क्रमशः मुख्य रूप से निरूपण होता है। विकलादेश (नय) वस्तु के अनेक धर्मों का क्रमशः निरूपण करता है और सकलादेश (प्रमाण) सम्पूर्ण धर्मों का युगपत् निरूपण करता है। संक्षेप में इतना ही विकलादेश और सकलादेश में, अर्थात् नय और प्रमाण में अन्तर है। प्रमाण सप्तभगी में अभेदवृत्ति या अभेदोपचार का और नय सप्तभंगी में भेद वृत्ति या भेदोपचार का जो कथन है उसका अन्तर्मर्म यह है कि प्रमाण सप्तभंगी में जहां द्रव्यार्थिक भाव है, वहां तो अनेक धर्मों में अभेदवृत्ति स्वतः है और जहां पर्यायार्थिक भाव है वहां अभेद का उपचार—आरोप करके अनेक धर्मों में एक अखण्ड अभेद प्रस्थापित किया जाता है। और नय सप्तभंगी में जहां द्रव्यार्थिकता है, वहां अभेद में भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्यत्वेन निरूपण होता है, और जहां पर्यायार्थिकता हैं, वहां तो भेदवृत्ति स्वयं सिद्ध होने से उपचार की आवश्यकता नहीं होती।

**व्याप्य-व्यापक-भाव**

स्याद्वाद और सप्तभंगी में परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह भी एक प्रश्न हैं। दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध माना जाता है। स्याद्वाद 'व्याप्य' है और सप्तभंगी 'व्यापक'। क्योंकि जो स्याद्वाद है, वह सप्तभंगी होता ही है, यह तो सत्य है। परन्तु जो सप्तभंगी है, वह स्याद्वाद है भी और नहीं भी। नय स्याद्वाद नहीं है, फिर भी उसमें सप्तभंगीत्व एक व्यापक धर्म है। जो स्याद्वाद और नय—दोनों में रहता है। "अधिक देशवृत्तित्वं व्यापकत्वम् अल्पदेश वृत्तित्वं व्याप्यत्वम्।"

१. सकलादेशो हि यौगपद्येन अशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्या प्रतिपादयति, अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्। विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण, भेद-प्राधान्येन वा तस्य नयायत्तत्वात्।
—तत्वार्थश्लोक वा० १, ६, ५४।

**अनन्त भंगी क्यों नहीं?**

सप्तभंगी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है और वह यह है कि जब जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है, तब सप्तभंगी के स्थान पर अनन्तभंगी स्वीकार करनी चाहिये, सप्तभंगी नहीं? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं, और उसके एक-एक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभंगी बनती है। इस दृष्टि से अनन्त सप्तभंगी स्वीकार करने में जैन दर्शन का कोई विरोध नहीं है, वह इसको स्वीकार करता है। किन्तु वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर, एक ही सप्तभंगी बन सकती हैं, अनन्त भंगी नहीं। इस प्रकार जैन-दर्शन को अनन्त सप्त भंगी का होना, तो स्वीकार है,१ परन्तु अनन्तभंगी स्वीकार नहीं है।

**सकलता-विकलता का विचार भेद**

आचार्य सिद्धसेन और अभयदेव सूरि ने 'सत् असत् और अवक्तव्य' इन तीन भंगों को सकलादेशी और शेष चार भंगों को विकलादेशी माना है२। न्यायावतार सूत्र वार्तिक वृत्ति में३ आचार्य शान्तिसूरि ने भी "अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य" को सकलादेश और शेष चार को विकलादेश कहा है। उपाध्याय यशोविजय ने जैनतर्क भाषा और गुरुतत्त्व-विनिश्चय में उक्त परम्परा का अनुगमन न करके सातों भंगों को सकलादेशी और विकलादेशी माना है। परन्तु अपने अष्टसहस्री विवरणों४ में उन्होंने तीन भंगों को सकलादेशी और शेष चार को विकलादेशी स्वीकार किया है। अकलंक और विद्यानन्द आदि प्राय. सभी जैनाचार्य सातों ही भंगों को सकलादेश और विकलादेश के रूप में स्वीकार करते हैं।

सत् असत् और अवक्तव्य भंगों को सकलादेशी और

१. प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनि—इति वचनात् तथाऽनन्ता, सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम्।
तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १, ६, ५२
२. पं० सुखलाल जी और प० बेचरदास जी द्वारा सम्पादित—सन्मति तर्क, सटीक पृ० ४४६
३. पं० दलसुख मालवणिया सम्पादित, पृ० ६४
४. पृ० २०८

शेष चार भंगों को विकलादेशी मानने वालों का यह अभिप्राय है कि प्रथम भंग में द्रव्यार्थिक दृष्टि के द्वारा 'सत्' रूप से अभेद होता है, और उसमें सम्पूर्ण द्रव्य का परिबोध हो जाता है। दूसरे भंग में पर्यायार्थिक दृष्टि के द्वारा समस्त पर्यायों में भेदोपचार से अभेद मानकर असत्रूप से भी समस्त द्रव्य का ग्रहण किया जा सकता है, और तीसरे अवक्तव्य भंग में तो सामान्यतः भेद अविवक्षित ही है। अतः सम्पूर्ण द्रव्य के ग्रहण में कोई कठिनाई नहीं है।

उक्त तीनो भंग अभेद रूपेण समग्र द्रव्यगाही होने से सकलादेशी हैं। इसके विपरीत अन्य शेष भग स्पष्ट ही सावयव या अंशग्राही होने से विकलादेशी हैं। सातवें भङ्ग में अस्ति आदि तीन अंश हैं और शेष में दो-दो अंश। इस सन्दर्भ में आचार्य शान्ति सूरि ने लिखा है—'ते च स्वावयवा पेक्षया विकलादेशाः"१।

परन्तु आज के कतिपय विचारक उक्त मतभेद को कोई विशिष्ट महत्व नही देते। उनकी दृष्टि में यह एक विवक्षा भेद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जबकि एक सत्व या असत्व के द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण हो सकता है, तब सत्वासत्वादि रूप से मिश्रित दो या तीन धर्मों के द्वारा भी अखण्ड वस्तु बोध क्यों नहीं हो सकता? अतः सातों ही भंगों को सकलादेशी और विकलादेशी मानना तर्क-सिद्ध राजमार्ग है।

### सप्तभंगी का इतिहास

भारतीय दर्शनों में विश्व के सम्बन्ध के सत्-असत् उभय और अनुभय—ये चार पक्ष बहुत प्राचीनकाल से ही विचार-चर्चा के विषय रहे हैं। वैदिककाल में२ जगत के सम्बन्ध में सत् और असत् रूप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं का स्पष्ट उल्लेख है। जगत् सत् है या असत्? इस विषय में उपनिषदों में भी३ विचार उपलब्ध होते है। वहीं पर सत् और असत् की उभयरूपता और अनुभयरूपता के, अर्थात् वचनागोचरता४ के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। अवक्तव्य तो उपनिषत्साहित्य का एक मुख्य सूत्र है, यह निर्विवाद ही है। बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद में भी उक्त चार पक्षों का उल्लेख मिलता है। महावीर-कालीन तत्त्व-चिन्तक संजय के अज्ञानवाद में भी उक्त चारों पक्षों की उपलब्धि होती है। भगवान महावीर ने अपनी विशाल एवं तत्त्व-स्पर्शिणी दृष्टि से वस्तु के विराट रूप को देखकर कहा—वस्तु में उक्त चार पक्ष ही नहीं, अपितु एक-एक वस्तु में अनन्त पक्ष हैं। अनन्त विकल्प हैं, अनन्त धर्म हैं। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतएव भगवान महावीर ने उक्त चतुष्कोटि से विलक्षण वस्तुगत प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभंगी का और प्रतिपादन करके वस्तुबोध का सर्वग्राही एवं वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया।

भगवान महावीर से पूर्व उपनिषदों में वस्तुतत्त्व के सद-सद्वाद को लेकर विचारणा प्रारम्भ हो चुकी थी, परन्तु उसका वास्तविक निर्णय नहीं हो सका। संजय ने उसे अज्ञात कहकर टालने का प्रयत्न किया। बुद्ध ने कुछ बातों में विभज्यवाद का कथन करके शेष बातों में अव्याकृत कहकर मौन स्वीकार किया। परन्तु भगवान महावीर ने वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन में उपनिषद के अनिश्चयवाद को, संजय के अज्ञानवाद को और बुद्ध के एकान्त एवं सीमित अव्याकृतवाद को स्वीकार नही किया। क्योंकि तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र में किसी वस्तु को केवल अव्याकृत अथवा अज्ञात कह देने भर से समाधान नहीं होता। अतएव उन्होंने अपनी तात्त्विक दृष्टि और तर्क-मूलक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और स्पष्ट निर्णय किया। उनकी उक्त निर्णय-शक्ति के प्रतिफल है—अनेकान्तवाद, नयवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद।

### विभज्यवाद

एक बार बुद्ध के शिष्य शुभमाणवक ने बुद्ध से पूछा—"भंते! सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। आपका क्या अभिप्राय है?" बुद्ध

---

१. न्यायवार्तिक सूत्र वृत्ति पृ० ९४
२. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,—ऋग्वेद १,१६४,४६ सद् सत् दोनों के लिए देखिए ऋग्वेद १०,१२९
३. सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—छान्दोग्योपनिषद् ६-२ असदेवेदमग्र आसीत्। वही ३,१९,१
४. यतो वाचो निवर्तन्ते—तैत्तिरीय २-४

ने जो उत्तर दिया, वह मज्झिम निकाय (सुत्त ६, ९) में उपलब्ध है। उन्होंने कहा—"माणवक ! मैं विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं हूँ।" इस प्रसंग पर बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी स्वीकार किया है। विभज्यवाद का अभिप्राय है—प्रश्न का उत्तर एकांशवाद में नहीं, परन्तु विभाग करके अनेकांशवाद में देना। इस वर्णन पर से विभज्यवाद और एकांशवाद का विरोध स्पष्ट हो जाता है। परन्तु बुद्ध सभी प्रश्नों के उत्तर में विभज्यवादी नहीं थे। अधिकतर वे अपने प्रसिद्ध अव्याकृतवाद का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

जैन आगमों में भी 'विभज्यवाद' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। भिक्षु कैसी भाषा प्रयोग करे? इसके उत्तर में[1] सूत्र कृतांग मे कहा गया है कि उसे विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। मूल सूत्रगत 'विभज्यवाद' शब्द का अर्थ, टीकाकार शीलांक 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' करते है। बुद्ध का विभज्यवाद सीमित क्षेत्र में था, अतः वह व्याप्य था। परन्तु महावीर का विभज्यवाद समग्र तत्त्व दर्शन पर लागू होता था, अतः व्यापक था और तो क्या, स्वयं अनेकान्त पर भी अनेकान्त का सार्वभौम सिद्धान्त घटाया गया है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं[2],—"अनेकान्त भी अनेकान्त है प्रमाण अनेकान्त और नय एकान्त।" इतना ही नहीं, यह अनेकान्त और एकान्त सम्यग् हैं या मिथ्या—इस प्रश्न का उत्तर भी विभज्यवाद में दिया गया है। आचार्य अकलंक की वाणी है[3]—अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध पस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यग् अनेकान्त है, तथा वस्तु में तद वस्तु स्वरूप से भिन्न अनेक धर्मो की मिथ्या कल्पना करना केवल अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। इसी प्रकार हेतु-विशेष सामर्थ्य से प्रमाण-निरूपित वस्तु एक देश को ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और वस्तु के किसी एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य अशेष धर्मो का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है; अर्थात् नय सम्यग् एकान्त है और दुर्नय मिथ्या एकान्त है।

जैन दर्शन का यह अनेकान्तरूप ज्योतिर्मय नक्षत्र मात्र दार्शनिक चर्चा के क्षितिज पर ही चमकता नहीं रहा है। उसके दिव्य आलोक से मानव जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी साधना प्रकाशमान है। छेद सूत्र, मूल, उनकी चूर्णियाँ और उनके भाष्यों में उत्सर्ग और अपवाद के माध्यम से साध्वाचार का जो सूक्ष्म तत्त्व स्पर्शी चिन्तन किया गया है, उसके मूल में सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद का ही स्वर मुखर है। किं बहुना, जैन दर्शन में वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद के माध्यम से ही हुआ है, जो अपने आप में सदा सर्वथा परिपूर्ण है। यह वाद व्यक्ति देश और काल से अबाधित है, अतएव अनेकान्त विश्व का अजर, अमर शाश्वत और सर्व व्यापी सिद्धान्त है।

१ विभाज्यवाय च वियागरेज्जा—सूत्र कृतांग १, १४,२२.

२. अनेकान्तोप्यनेकान्तः, प्रमाण नयसाधनः—स्वयम्भूस्तोत्र।

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक १—६—७।

---

# श्रीपुरपार्श्वनाथ मन्दिर के मूर्ति-यंत्र-लेख-संग्रह

पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन देउलगांव

ई०—स० १९६१ के पर्यूषण पर्व के निमित्त मैं श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपूर में गया था। वहां मैं प्राचीन धर्मशाला में ठहरता था और खाना श्री आनंदराव मनाटकर मुकर्जी के यहां खाता था। उस धर्मशाला में आज सुव्यवस्था के नाम पर श्वेताम्बरों ने लकड़ी आदि भर कर ताला लगा दिया है। न मालूम हमारा यह आपसी द्वेष हमें कहां तक ले जायगा। अस्तु।

वैसा तो उसके पहले कई बार इस क्षेत्र के दर्शन मैंने किये थे, मगर खास मुक्काम नहीं होता था। इस (वक्त) काफी समय होने से मैंने वहां के मूर्ति तथा यंत्र लेख लिये थे, जो आज यथाक्रम पाठकों के सामने प्रगट कर रहा हूँ। इस कार्य में श्री आनंदराव जी का तथा पौली दिगम्बर जैन मन्दिर के पुजारी श्री मुर्लीधर जी और अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर के दिगम्बर पुजारी लीलाधर जी इन्होंने सहायता दी, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

**श्रीपुर पार्श्वनाथ पौली मन्दिर में स्थित मूर्तिलेख—**

(१) मूल नायक श्री पार्श्वनाथ-सफेद पाषाण, ऊँची अंदाजन १'—संवत १५४० शके १४०५ सुभान सं (वत्सरे) मिती माघ सुद ७ चांदुरमध्ये कुंद (कुंद) आ (म्नाये) मू० (लसंघे) स० (गच्छे) ब० (गणे) भ० रत्नकीर्ति स्वामी जी हस्तेन पासो बाजी काले जात बदनोरे प्रतिष्ठा कारापितं।

(२) पार्श्वनाथ—काला पा०, ऊंची १०"—शके १५४५ द्वरोहारी नाम संवत्सरे जेष्ठ मासे—शुक्ल पक्षे—तत्पट्टे श्री सोमसेन—भ० गुण (भद्र)··· (सोम) सेन उपदेशात् धाकड ज्ञातीय···देशभूषण···तत्पुत्रौ···भवनासा मानिकमा।

(३) पीतली पद्मावती देवी—ऊँची ४"—शके ॥१७५९॥ मा० सु ८ श्री० स० ब० ॥ कुंदकुंदाचार्याम्नाये देवेंद्रकीरती उपदेशात् ॥

(४) फणारहित, दोनों भुजाओं पर नागचिन्ह, काला पा०, ऊंची ७" ॥ शके १५३७ फागुन सुध १३—बघेरवाल खटवड गोत्रे संघवी पीलासाह ॥

(५) दगडी पाषाण की पंचपरमेष्ठी—ऊंची १'—लेख नहीं, मगर शिल्प है—बीच में पद्मासनी वृषभ, कान से कांधे तक सुन्दर केशकलाप, आस्कंध कर्ण तीन छत्रयुक्त सुन्दर भामण्डल, इनके दोनों बाजू दो पद्मासनी मूर्ति तथा इनके नीचे दो कायोत्सर्ग स्थित सप्तफणी मूर्ति हैं। आसन के मध्य भाग में नंदी बताया है। तथा बाम बाजू चमर व दण्डधारी २ यक्ष खड़े हैं और दाहिने बाजू आम्र वृक्ष के नीचे सिंह पर सवार होकर दाहिना पग नीचे डाली हुई चक्रेश्वरी देवी है। उसके दाएं मांडी पर एक मूल बैठा है तथा पास में एक मूल खड़ा है। इस मूर्ति-का काल अनिश्चित है। इसी तरह एक अति प्राचीन भग्न मूर्ति अं० १३' ऊँची वहां के कुएँ से निकली है। जो हजार बारा सौ साल पुरानी है।

इसके सिवाय १०–११ मूर्ति संवत १५४८ की जीवराज पापडीवाल द्वारा प्रतिष्ठित हैं। और ३, ४ मूर्ति पर लेख नहीं है। इस पौली मन्दिर के द्वार के ऊपर एक शिला पर लेख अंकित है—"श्री दिगम्बर-जैन मन्दिर श्री मन्नेमिचंद्राचार्य प्रतिष्ठितं" तथा इसी द्वार के छावनी के पत्थर पर ३ पंक्ति का लेख अस्पष्ट हुआ है। जिसमें से पहली पंक्ति का में···'वसुंधरो मल्लपद्मः' तथा दूसरी में 'अंतरिक्ष श्री पार्श्वनाथ' का उल्लेख है।

इस लेख के बारे में ई० सन् १९०७ तथा १९११ के गॅजेटीयर में खुलासा आया है कि यह मन्दिर दिगम्बर आम्नायका है तथा यहां जगसिंह (जयसिंह) चालुक्य राजा का उल्लेख है। और यह भी स्पष्ट किया है आज जहाँ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है उसी भोयरे में वह मूर्ति संवत् ५५५ में स्थापित की गई थी।

इस पौली मन्दिर पर तीनों बाजू तीन द्वार पर दो-दो नग्न मूर्ति खड़ी हैं तथा पद्मासनी ६–७ मूर्ति खुदी हुई है। अन्दर के एक स्तम्भ पर एक परम वीतरागी दिगंबर

जैन मुनि की प्रतिमा कायोत्सर्ग उत्कीर्णित है, जिसके एक हाथ में कमंडलू तथा दूसरे हाथ में मोर पिच्छिका है। गर्भागार में एक अपूर्व मान स्तंभ गढ़ा दिया है उस पर लिखा है—'ग्वाल गोत्री श्री रामसेनु (पदेशात्)'।

इस मन्दिर के बारे में पुरातत्त्व विभाग, अन्य पुरातत्त्वज्ञ तथा यादव माधव काले व य० खु० देशपांडे आदि इतिहासकार लिखते हैं कि यह मन्दिर दिगम्बर जैन संप्रदाय का ही है। लेकिन हमारे श्वेताम्बर भाई उसको श्वेताम्बर संप्रदाय का होना और श्वेताम्बर राजा के द्वारा निर्माण करना बताते हैं। तथा पूरी मालकी का दावा करते हैं।

लेकिन हाल ही में कोर्ट से जो फैसला हुआ—उसमें बताया है कि 'यह मन्दिर दिगम्बर जैन संप्रदाय का है' वहां पौली मन्दिर के सामने ४ दिगम्बर संत की समाधि है। क्रम से उत्तर से दक्षिण (१) भ० श्री १०७ शांतिसेन महाराज। (२) पं० गोबिंदबापु जी। (३) भ० श्री १०७ जिनसेन (कुबडे स्वामी)। (४) जितभवजी पंडित जी तथा और एक है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के (प्रमुख) मन्दिर में दो गर्भागार है। एक ऊपर का, कि जिसमें सम्पूर्ण मूर्ति तथा गुरुपीठ दिगम्बर आम्नाय की ही है। दूसरा उसके नीचे भोयरे में, जहाँ श्री अंतरिक्ष भगवान विराजमान हैं, और अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के नजदीक चार श्वेताम्बर पीतल की छोटी प्रतिमा तथा ३ चांदी के+१ पीतल के यंत्र है। बाकी पूरी वेदी दोनों बाजू दिगम्बर मूर्तियों से भरी है।

**अं० पार्श्वनाथ गर्भगृह के दि० जैन मूर्तियों के लेख—**

१. नंदीश्वर-पीतल की छोटी, ऊंची ३"—सरस्वती (गच्छे) बलात्कारगणे स० भ० नागषेण पीठ मन्त्र उपदेशात् जिनेद्रसागर प्रणमति।

२. नंदीश्वर-काला पाषाण, ऊंची २"—लेख नहीं।

३, „ „ „ ३"—लेख नहीं, मगर मूर्तियों के नीचे चंद्र, बैल, शंख आदि चिह्न हैं।

४. आदिनाथ-काला पाषाण, ऊंची ७"—स्वस्ति श्री श्रीपुर सुभस्थाने श्री ब्रह्मभव कार्तिक शुद्धे १४ रोज मंगलवार नक्षत्रे भरणी रोहिनी॥

तीर्थंकर मूलसंघ बलात्कारगण संवत १६४८ शके १८१३ प्रीतीकार जी।

५. पार्श्वनाथ-स० पाषाण, ६ फणा, ऊंची १३"—सं० १५४८ जीवराज पापडीवाल प्रतिष्ठितं।

इसी संवत् की महावीर स्वामी, शांतिनाथ पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मुनि सुव्रत जी, अरहनाथ, आदिनाथ तथा ३ और पार्श्व-नाथ की प्रतिमा, सभी सफेद पाषाण की हैं।

६. एक पादुका—के समोवार-शके १८०८ व्ययनाम संवत्सरे सवत १६४२ तथा १६४३—मूल संघ बालात्कार (गण) अंतरीक्ष स्वामी (इसके नीचे)—यती श्री नेमसागर स्वामी।

७. जोड पादुका—चंद्रनाथ स्वामी + पार्श्वनाथ स्वामी संवत १६४८ गच्छे सरस्वती बलात्कार मिती कारती सुदी १४।

८. पार्श्वनाथ-सहस्रफणायुक्त-सफेद पाषाण ऊंची अं० ११"—संवत १ ३० श्री (पिंग) ल नाम संवत्सरे शके १७६५ श्री मिती कारतिक शुद्ध १३ बालासा कासार प्रतिमा कारापिती।

९. नेमिनाथ—स० पाषाण ऊंची १०"—संवत १६६४ माघ व॥ ८ मंगल वासरे श्री वीरसेन स्वामीनां (स्थाप) पिता।

१०. —(?)—काला पिंगट पाषाण ऊँची अं० १०"—मध्य भाग में एक अर्ध पद्मासनी प्रतिमा है। उसके नीचे सिंह लांछण है। तथा इस मूर्ति के आजू-बाजू और ऊपर छोटी १३ मूर्ति है। वह सभी भी अर्ध पद्मासनी हैं। मूर्तियां आकर्षक हैं। इसके जाडी के भाग पर एक अति प्राचीन लिपी में (अंदाजा ईस्वी की पहली सदी) का एक लेख खुदा है इसके संबंध में अन्वेषण होना चाहिए। इतनी प्राचीन मूर्ति मैंने पूरे विदर्भ में नहीं पायी है। अतः प्राचीनत्व की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। इस मूर्ति को अनंत की मूर्ति कहते हैं।

११. आदिनाथ—स० पाषाण—शके १५६१ प्रमाथी नाम संवत्सरे फाल्गुन सुद द्वितीया गुरुवारे श्री मूलसंघे वृषभसेनान्वये पुष्कर गच्छे सेनगणे भट्टारक श्री गुणभद्र तत्पट्टे भ० श्री सोमसेन उपदेशात् श्रीपुर ग्रामे श्री अंतरिक्ष चैत्यालये······शेठी भार्या कमलाई···सेठी··· आह्य सेठी भार्या जीनाई तत्पुत्र सांतुसेठी, तत्पुत्र कमल

सेठी (स्थान) सेठी······भार्या जिनाइ······कर सेठी—रखल सेठी, भार्या मालाई ।

(१२) पद्मावती देवी—स. पाषाण उंची अ. २—स्वस्ती श्री सिरपुर ग्राम संवत् १९३० शाके १७९५ मिती कार्तिक शुदी १३ पार्श्वनाथ सामी सह हि छत्र प्रतिष्ठा झाली.

इस पद्मावती देवी के मस्तक पर पार्श्व प्रभु की एक एक मूर्ति हैं। तथा उसके दोनों बाजू दो-दो ऐसी चार पद्मासनी दि. मूर्ति है। इन मूर्तियों के नीचे चमर और दण्डधारी एक यक्ष है, तथा उनके नीचे भी किसी वाहन पर बैठी हुई एकेक व्यक्ति (यक्षिणी) हैं।

१३. पार्श्वनाथ—काला पाषाण उंची ७"–लेख नही।

१४. पार्श्वनाथ—काला पिंगट पाषाण—उंची ८"—अर्ध पद्मासन सप्तफणायुक्त, ध्यान मुद्रा (हाथ पावो से उठाकर नाभी कमल तक तक उठाये) है' इसका और लेख नं० १० के अनन्त के मूर्ति का पाषाण एक ही है। यह दोनों प्रतिमा जड़याने धातु मिश्रित मालूम पड़ती हैं। दिगम्बरी पूजा समय यह मूर्ति भगवान श्री अ० पार्श्वनाथ के सामने ही रखी जाती हैं।

१५. चांदी के सोलाकारण यंत्र—लेख नहीं—(यह यंत्र सौ. जानकाबाई अ. मोती सा ब्राह्मण वाडीकर मु० अकोला इन्होंने यहां (श्रीपुर में) सोलाकारण व्रतोद्यापन करके दान दिया है।)

१६. रत्नत्रय यंत्र—तावे का—सं. १६३६ वर्षे बैशाख बदी ११ सोमे श्रीमूल संघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाम्नाये भ. श्री लक्ष्मीचन्द्र भ. ज्ञान-भूषण भ. श्री प्रभाचन्द्र भ. श्री वादीचन्द्र उपदेशात्······प्रणमति।

१७. दशलक्षणी यंत्र २—पीतल के—साके १७२८ माघ सुदी ३ श्री मूलसंघ भ. आगमिक श्री विशालकीर्ति गुरुपदेशात् श्रीपुर मध्ये भगवंतजी मकराजी काले सइन वाल अनंतव्रतोद्यापन प्रणमति।

१६. दश. यंत्र—पीतल का—सं० १६०७ फाल्गुन वदी १० मूल सरस्वती गच्छ (च्छे) बलात्कारगन (णे) कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. धर्मचन्द्रोपदेशात् सकाइ नी (नि)त्य (प्रणमति)।

इसी तरह अं. पार्श्वनाथ के सीधे बाजू श्वे. पीतल की ४ मूर्ति तथा पंचपरमेष्ठी के २ मोठे, १ छोटे चांदी के यंत्र हैं, और अष्ट मंगल के एक चांदी के और पीतल का यंत्र है।

ऊपर के गर्भगृह में :—

१. पीतल का यंत्र—शाके १७३७—बाकी लेख नहीं। इस यंत्र में नन्दीश्वर द्वीप के द्वापंचाशत जिन बिम्बों को नमस्कार किया है।

२. तावे का यंत्र— एक वर्तुल में—ओं ह्रीं दर्श विशुध्याय नमः। ओं ह्रीं सोडशभावनाय नमः। सोला अंगाय नम.। (वर्तुल के बाह्य बाजू में) विवाह नाम संवत्सरे पौष वदी पचमी शुक्रवारे प्रतिष्ठा सीरपुर अंतरीक्ष पार्श्वनाथ चैत्याल्ये दीक्षाग्रहण प्रतीसन पर)

३. पीतल का यंत्र— शाके १६०७ क्रोधनाम संवत्सरे मार्गशीर्ष सुदी १० गुरे सेनगणे वृषभसेनान्वये भ. सोमसेनदेवास्तत्पट्टे भ. जिनसेन गुरुपदेशात् जांबगाव वास्तव्य धाकड (ज्ञातीय) जससा भार्या गौराई पुत्र कोंडामंधवी भा. चिगाई भ्रात नेमासंगवी भा. सोयराई, भ्रात मेथामा भार्या द्वारकाई एते प्रणमती।

४. दश. यंत्र तांबे का—सवत १८४५ शालि शाके १७१० किलक नाम संवत फाल्गुण मासे शुक्ल ११ रवी सेनगणे पुष्कर गच्छे सी मूलसघे श्री वृषभसेनान्वये श्री सिद्धसे (न)······भट्टारक तुकसा प्रतीष्ठी ?

५. अष्टाग सम्यग्दर्शन पीतल का यत्र—शके १६७६ मार्गशीर्ष सुदी १० दसमी मूलसघे वृभसेनगण वृषभसेनगणान्वये भट्टारक श्री गुणभद्रदेवाः तत्पट्टे भ. सोमसेन तत्पट्टे भ. श्री जिनसेनोपदेशात् जाबग्राम धाकड ज्ञातौ कोंडासा भार्या चिगाई एते——भार्या गौराई तयो पुत्राः त्रयः प्रथम कोंडामा भा. चिगाई तयो पुत्रौ प्रथम रतनमा भार्या तुकाई द्वितीय लालमा, पुत्रः नेमामा भार्या सोइराई पुत्र. तु० मेथामा भार्या द्वारकाई एते नित्यं प्रणमती।

६. नन्दीश्वर पीतल की छोटी—भा विमल।

७. पार्श्वनाथ पीतल की ऊंची ४"—संवत १७१० मूल० ब० वैशाख सुद ३।

८. वृषभनाथ—स-पापाण ऊंची १८"—श्री संवत १६३८ वृष नाम संवत्सरे मार्ग शीर्ष मास शुक्ल पक्ष तृतीयायां तिथौ गुरुवासरे श्री मूलसंघे पुष्कर गच्छे सेनगणे वृषभसेन गणधरान्वये भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन देवास्तत्पट्टे भ० श्री वीरसेन गुरूपदेशात् धाकड ज्ञातीयै रिति प्रतिष्ठितम् ॥

९. अजितनाथ-स० पा०—लेख वरील प्रमाणे।

१०. पार्श्वनाथ स० पा० मूर्ति २ „

११. पार्श्वनाथ का० पा०— „

१२. नेमिनाथ-लाल पा० ऊंची २"—संवत १६१५ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे ॥ (यह मूर्ति काष्ठ के समान हलकी है।)

१३. पार्श्वनाथ की ४, पद्मप्रभ, अरहनाथ, पद्मप्रभ यह मूर्तियां सं० १५४८ की जीवराज पापडीवाल द्वारा प्रतिष्ठित हैं।

१४. चौबीसी पीतल की ऊंची १०"—संवत १५२८ वर्ष माघ वदी ५ सोम० श्रीमूलसंघे श्री विद्यानन्द स्वामी तत्पट्टे श्रीमदमरकीर्ति तथा सिंहकीर्ति······कालेजी —॥रतनत्रय व्रत॥ वुलसानी अनन्तव्रत निमित्यर्थं कारापितं ॥

१५. चौबीसी पीतल की छोटी—ऊंची ४"—ऊपर कानडी लेख है। नीचे शके १६२६ माघ सुदी ३ श्री मूल संघे बलात्कारगणे भ० हेमकीर्ति उपदेशात् शीतल संघईन रमा नर पंडित।

१६. चांदी की चंद्रप्रभ ऊंची १"—लेख नहीं। } यह दोनों मूर्ति पूजन समयी नीचे जाती हैं। बाकी तिजोरी में रहती है।

१७. पद्मावती देवी पीतल की ऊंची ९"—संवत १७३६······पदवंदिते श्री मूलसंघ ब० गणे भ० देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० श्रीभूषण गुरूपदेशात् इयं प्रतिष्ठिता चिमणाजी जैन श्रीपुर मध्ये संप्रणमेत [नित्यं प्रणमति]॥

१८. जलवट पीतल का—श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ चैत्याले सीरपुर ६६ पदासाः भोसा चवरे सके १७८० मिती जे० सु० २।

१९. घण्टा—पीतल का—कोठारी यंकोबा वलद कासीबा बोगार नीरमलकर सन १८९७ फसली मिती फाल्गुन वद ७। यह घण्टा द्वार के पास आंगन में है।

२०. नीचे के भोयरे में स्थित घण्टा—॥श्री अंतरिक्ष महाराज हारबाजी हुमाल॥ सईतवाल कनेरगावकर संवत १६३८ मिती माघ शुद्धे ६ आमना (य) बालातक(का)र॥

इसके सिवाय नीचे के गर्भागार में बलात्कारगण, ऊपर में सेनगण तथा बाहर चौक के पास दिगम्बर शास्त्र भंडार और बलात्कारगण के भट्टारकों की गादी है। उसके ऊपर उन-उन पीठों के भट्टारकों के फोटो हैं।

(क्रमशः)

## आत्म-बोधक-पद

### कविवर दौलतराम

हमतो कबहूं न हित उपजाये।
सुकल-सुदेव-सुगुरु-सुसंगहित, कारन पाय गमाये ॥टेक॥
ज्यों शिशु नाचत आप न माचत, लखनहार बौराये।
त्यों श्रुत बांचत आप न राचत, औरन को समुझाये ॥१॥
सुजस लाह की चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरखाये।
विषय तजे न रचे निजपद में, पर पद अपद लुभाये ॥२॥
पाप त्याग जिन-जाप न कीन्हों, सुमन-चाप तपताये।
चेतन तन को कहत भिन्न पर, देह सनेही थाये ॥३॥
यह चिर भूल भई हमरी अब, कहा होत पछताये।
दौल अजौं भवभोग रचौ मत, यों गुरु वचन सुनाये ॥३॥

# सोलहवीं शताब्दी की दो प्रशस्तियाँ

परमानन्द शास्त्री

इतिहास के अनुसन्धाताओं को प्रशस्तियां उतनी ही उपयोगी हैं जितने कि शिलालेख और ताम्र-पत्रादि हैं। कभी-कभी इनमें महत्व की सामग्री मिल जाती है, जो किसी तथ्य के निर्णय में सहायक हो जाती है। पुरातन लिखित साहित्य में दो प्रकार की प्रशस्तियां उपलब्ध होती हैं। एक ग्रंथ प्रशस्तियां, जिनमें ग्रंथकार एवं ग्रंथ का रचना काल और ग्रन्थ-निर्माण में प्रेरक श्रावक आदि का वर्णन निहित रहता है। दूसरी लिपि प्रशस्तियां हैं, जिन्हें कोई दानी महानुभाव अपनी ओर से उन ग्रन्थों की प्रतिलिपि करवा कर साधुओं, भट्टारकों, आचार्यों या व्रती श्रावकों तथा मन्दिर जी को भेंट करते हैं। इन दोनों प्रकार की प्रशस्तियों से सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक इति-वृत्तों के साथ तात्कालिक रीति-रिवाजों पर भी प्रकाश पड़ता है। यहाँ इस लेख द्वारा १६वीं शताब्दी की दो संस्कृत पद्यबद्ध प्रशस्तियों का परिचय देना उपयुक्त समझता हूँ। जो ऐतिहासिक और सामाजिक अनुसन्धान योग्य सामग्री प्रदान कर सकें।

**संवत १५२१ की प्रथम लिपि प्रशस्ति :**

दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा के शास्त्र भण्डार में श्वेताम्बरीय विद्वान सिद्धसेनगणी की तत्त्वार्थ भाष्य टीका की एक प्रति मौजूद है, जिस पर सं० १५२१ की उक्तप्रशस्ति अंकित है। यद्यपि वह प्रति इतनी पुरानी नहीं है—लग-भग सौ वर्ष के भीतर की लिखी हुई जान पड़ती है, किन्तु वह प्रति पुरानी होगी, जिस पर से इसकी प्रतिलिपि की गई है। उक्त प्रशस्ति भट्टारक जिनचन्द्र के प्रधान शिष्य पं० मेधावी द्वारा लिखी गई है।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में दिल्ली गद्दी के भट्टारक जिनचन्द्र बड़े विद्वान और प्रभावशाली सन्त थे। प्राकृत और संस्कृत भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। भट्टारक जिनचन्द्र उस समय के सामर्थ्यवान वक्ता और कर्मठ कार्यकर्ता थे। वे मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ के बला-त्कार गण और सरस्वतीगच्छ के विद्वान थे। उनके अनेक शिष्य थे। भट्टारक जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भारत के कोने कोने में पाई जाती हैं। संवत् १५४७, १५४८ की मुडासा नगर में प्रतिष्ठित सहस्रों मूर्तियाँ विविध स्थानों के मन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं, सं० १५०४ और सं० १५०७ की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भी मिलती हैं। इनकी दो कृतियां उपलब्ध है। सिद्धान्तसार प्राकृत और संस्कृत भाषा का चतुर्विंशतिस्तव जो अनेकान्त वर्ष ११ कि० ३ में प्रकाशित हो चुका है। इनके समय के अथवा जिनकी लिपि प्रशस्तियों में इनका गुरुरूप से उल्लेख किया गया है उनकी शिष्य परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान मेधावी थे, जो संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान कवि थे। इनका वंश अग्रवाल था, पिता का नाम उद्धरण और माता का नाम भीपुही था वे आप्त आगम के श्रद्धानी और जिन चरणों के भ्रमर थे। पं० मेधावी अधिक समय तक हिसार में रहे थे। नागौर में भी रहे, और वहां रहकर उन्होंने सं० १५४१ में मेधावी संग्रह श्रावकाचार पूरा किया था। किन्तु उनका मुख्य स्थान हिसार था[1]। हिसार की भट्टारकीय गद्दी उस समय सक्रिय थी, वहां ग्रंथ लेखन का कार्य भी सुचारु रूप से चलता था।

---

१. हिसार दिल्ली से पश्चिम दिशा में बसा हुआ है। यह प्राचीन प्रसिद्ध नगर है। अग्रवालों का इस नगर के साथ खास सम्बन्ध रहा है, क्योंकि अग्रोहा हिसार के पास ही है, जो अग्रवालो की उत्पत्ति का जनक तथा ऐतिहासिक स्थान है। हिसार किसी समय जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है और आज भी वहां जैनियों की अच्छी बस्ती है। १५वी शताब्दी में तो वहा के सूबेदारों के अनेक जैन मंत्री रहे हैं। उस समय वहां जैनियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। पं० मेधावी के समय अनेक ग्रन्थ लिखे गये, उनमें

प्रस्तुत प्रति लिपि प्रशस्ति बड़ी ही महत्व पूर्ण है। यह उस समय लिखी गई जब योगिनीपुर (दिल्ली) में बहलोल लोदी का राज्य चल रहा था। बहलोल लोदी ने सं० १५०८ से ई० सं० १४५१ से १४८६ वि० सं० १५०८ से १५४६ तक राज्य किया है। उस समय सिंहनन्दीपुरी में भगवान शान्तिनाथ का सुन्दर मन्दिर बना हुआ था। जिसमें प्रतिदिन देवार्चन होता था, चैत्र, भाद्र और माघ महीने में तथा आष्टान्हिक पर्व में विधिवत अभिषेक पूजा गीत नृत्यादिक मंगल कार्य सम्पन्न किये जाते

अधिकांश की लिपि प्रशस्तियां उन्हीं के द्वारा पद्यों में लिखी गई हैं। उनमें सं० १५१६, १५१८, १५१६, १५२१, १५२७, १५३३, १५४१ और सं० १५४२ में लिखी गई हैं। ये ग्रन्थ दात्री प्रशस्तियां बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। जब सं० १५१६ में तिलोयपण्णत्ती की प्रशस्ति लिखी गई उस समय हिसार का नवाव क्याम खां का बेटा कद्दन खा था, जिसे कुतुबखान भी कहते थे। सं० १५३३ मे आध्यात्म तरगिणी के हिसार में लिखते समय भी उक्त कुतुबखान का ही राज्य था।

संवत् १५१४ में हेम शब्दानुशासन की एक प्रति मेधावी को बहलोल लोदी के राज्यकाल में हिसार में भेंट दी गई है। इससे इतना और भी ज्ञात हो जाता है कि वहां भट्टारकीय गद्दी स० १५१४ से पूर्ववर्ती है। कितनी पूर्ववर्ती है यह अभी विचारणीय है। इस गद्दी का सम्बन्घ भी दिल्ली से था, और नागौर, आमेर, ग्वालियर और आरा आदि स्थानों की गद्दियों का सम्बन्ध भी दिल्ली से ही रहा है। शिष्य परम्परा बढ़ जाने के कारण दिल्ली के अतिरिक्त स्थानों पर गद्दिया कायम की गईं, और उनमें प्रमुख शिष्यों को भट्टारक बनाकर गद्दीधारी बना दिया जाता था। ऐसा भी संकेत मिलता है, कि पहले आचार्य पद, फिर मडलाचार्य और बाद मे भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किया जाना था।

महाकवि रइधू ने अपने सन्मति जिनचरित्र की प्रशस्ति मे हिसार को फिरोजशाहतुगलक द्वारा बसाया हुआ वतलाया है। और उसे कोट खाई, वन और उपवन आदि से शोभित प्रकट किया है

(जोयणिपुराउ पच्छिम दिसाहि, सुपसिद्ध णयर बहु सुय जुयाहि।
णामें हिसार फिरोज अत्थि, काराविउ पेरोज साहिजि अत्थि।

हिसार के अग्रवालवंशी साहु नरपति के पुत्र, साहु बील्हा, जो जैन धर्मी और पाप रहित थे, दिल्ली के बादशाह तुगलक द्वारा सम्मानित हुए। और सहदेव के पुत्र सहजपाल ने जिनेन्द्र मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी, और उक्त सहजपाल के पुत्र ने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था और उसका कुल भार स्वयं वहन किया था। ये सब ऐतिहासिक उल्लेख हिसार के अग्रवालों के लिये महत्वपूर्ण हैं। हिसार के खेल्हा ब्रह्मचारी ने ग्वालियर के दुर्ग में चन्द्रप्रभ की विशाल मूर्ती का निर्माण कराया था। और इसी खेल्हा की प्रेरणा से ही साहू तोसउ के लिये रइधू कवि ने सन्मति जिन चरित्र की रचना की थी। सम्वत् १५४६ में चैत वदी ११ शुक्रवार के दिन सुलतान सिकन्दर के राज्यकाल में रइधू कवि का पार्श्व पुराण लिखा गया था, उस समय कोट में महावीर जिन चैत्यालय मौजूद था—श्री हिसारे फेरोजाकोटे श्रीमहावीर चैत्यालये सुलितानसाहि सिकन्दर राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे"—कोट का वह मन्दिर जैनियों की उपासना का केन्द्र बना हुआ था। सम्वत् १५४२ मे कार्तिक सुदि ५ गुरु दिने श्री वर्द्धमान चैत्यालये विराजमाने श्री हिसार पिरोजापत्तने सुलितान बहलोल साहि राज्य प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे आदि दिया है।

सम्वत् १७०० में दिल्ली गद्दी के भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य भगवतीदास ने हिसार में कोट के उक्त महावीर चैत्यालय में 'मृगाक लेखा चरित' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

रइयो कोट हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थ ठियो वयधारी जोईदासो वि बंभयारीओ॥
भागवई महुरीया वत्तिगवर विति साहुणा विण्णि।
मइ बिबुध सु गंगारामो तत्थ ठियो जिणहरे मइवंतो॥
ससिलेहा सुय बंधु जे अहिउ कढिए जो आसि।
महुरि भासउ देसकरि वणिक भगोतिदासि॥

इन सब उल्लेखों पर से हिसार में जैन धर्म के गौरव की झलक अनायास मिल जाती है।

थे। और मुनिजन उपदेश देते थे। वहां पर मूलसंघान्त-र्गत नन्दिसंघ बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ में दर्शन ज्ञान चारित्र, तप और वीर्य से समन्वित प्रभाचन्द्र नाम के आचार्य थे। उनके पट्ट पर पद्मनन्दी हुए, जो प्राकृत संस्कृत भाषा के विद्वान, मंत्र-तंत्र शक्ति सम्पन्न थे। बड़े प्रभाविक एवं तपस्वी थे। इनके पट्ट धर शुभचन्द्र हुए, और शुभचन्द्र के पट्टधर जिनचन्द्र हुए, जिनका सक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। उक्त पद्मनन्दि के प्रभावशाली शिष्यों में सकलकीर्ति भी हुए, जिन का समय सं० १४४३ से १४९९ है। अपने समय के तपस्वी और प्रभाव शाली विद्वान थे। इनके शिष्यो से राजस्थान मे अनेक गद्दियां कायम हुई थी। सकलकीर्ति के जयकीर्ति नाम के मुनि उत्पन्न हुए, जो उत्तम क्षमादि दश धर्मो के धारक थे और जिन्होंने दक्षिण तथा उत्तर देशों मे जाकर जैन धर्म का उद्योत किया था वे उसी सिहतरंगिणीपुरी मे आये, उनके उपदेश से भव्य जीवो ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और कुछ ने अणुव्रत महाव्रत ग्रहण किये। उनके शिष्य कामजयी उग्र तपस्वी हरिभूषण हुए और हरि-भूषण के भवभीरू शिष्य सहस्त्रकीर्ति। जिसने भ्रातृ पुत्रादि का मोह छोड़कर दीक्षा गहण की थी। वहा क्षात्यादि गुण विशिष्ट गंधर्वश्री नामकी आर्यिका भी थी।

इसी आम्नाय मे खण्डेलवाल वंश और गोधा गोत्र मे साहु कुमारपाल नाम के श्रेष्ठी हुए, जो श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते थे। उनके पुत्र पद्मसिह थे उनकी पत्नी का नाम मेहिनी था, उससे तीन पुत्र हुए थे, घेरू, सीहा और चाहड। इनमे घेरू तिलोयपण्णत्ती की प्रशस्ति के अनुसार वहलोल लोदी से सम्मानित था। (मानितः सुरितानेन बहलोलाभिधेन यः)। इस तरह चतुर्विध संघसिहनन्दिपुरी के सुशर्मनगर में जाकर और उन्नत जिन मन्दिर में जहां सुसरिता बहती थी, और मनोहर वृक्ष समूहों से अलंकृत स्थान मे निर्मित मण्डप शास्त्रोक्त विधि से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न हुआ, और ऋषभादि तीर्थकरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई, और नवनिर्मित मन्दिर में उन ऋषभादि तीर्थकरों की मूर्तियां विराजमान की गई, और उन्ही की वित्त सहायता से उक्त तत्त्वार्थाधिगम भाष्य टीका को लिखाकर प्रदान किया गया। इस तरह यह प्रशस्ति अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डालती है और देव पूजा के साथ ज्ञान दान की प्रवृत्ति को प्रकट करती है।

**प्रथम लिपि प्रशस्ति :**

स्याद्वाद केतुर्जित मीनकेतुर्भवाब्धिसेतुज्जनि सौख्यहेतुः।
जिनेन्द्रचन्द्रः प्रणमत्सुरेन्द्रः, कुर्यात्प्रभाव. प्रकट प्रभावः॥
यदा जना यान्ति पारं संसार वारिधेः।
अनन्त महिमाढ्यंतज्जैन जयति शासनम्॥२
जयन्तु गौतम स्वामि प्रमुख्या गणनायकाः।
सूरिणो जिनचन्द्राता श्रीमन्तः क्रमदेशकाः॥३
वर्षे चन्द्राक्षिवाणैक १५२१ पूरणे विक्रमेनतः।
शुक्ले भाद्र पदे मासे नवम्वा शनिवासरे॥४
श्री जम्बूपपदेद्वीपे क्षेत्रे भरतमंज्ञके।
कुरुजागलदेशोस्ति यो देशाः सुख-सम्पदा॥५
तत्रास्ति हस्तिना नामा नगरी सा गरीयसी।
शांति कुंथ्वर नीर्थेशाः यत्रा सन्निद्र वदिता॥६
विद्यते तत्समीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी।
यां पाति साहि श्री बहलोलामिधो नृपः॥७
यच्छाशनातपत्रेण भूषिता जनता हिता।
सिंहनंद्यभिधानेन पुरी देव मनोहरी॥८
तत्र श्री शान्तिनाथस्य मन्दिरं भूति सुन्दरं।
रत्न कांचन सत्स्तभ कलशध्वज राजित॥९
यत्र श्रद्धा पराश्राद्धस्त्रिकाल देवतार्चनं।
कुर्व्वन्ति सोत्सवं भक्त्या विधिवत्स्नानपूर्वक॥१०
चैत्रे भाद्रपदे माघेऽष्टान्हिक पर्वणि।
अभिपेकाश्च जायंते यत्र मण्डल पूर्वकं॥११
गायंनि यत्र मन्नार्यो मागल्यानि जिनेशिना।
वादयंति च वाद्यानि नृत्यंति पुरुषोत्तमा॥१२
सच्छाया पात्र संयुक्तं, सुमनोभिसमंचितं।
फलदायक भृच्चैस्यं नानाश्रवण सेवितं॥१३
यदुद्दिश्य समागत्य चतुर्दिग्भ्यो मुनीश्वरा.।
विश्राम्यति च वंदित्वा महाद्रुममिवाध्वगाः॥१४ (युग्म)
पूर्वजन्मज पापौघो गाशि मंदयषु भिक्षुकैः।
भव्यैर्लक्षकर्पूर कृष्णागुरुज धूपजं॥ १५
मण्डलीभूत मालोक्य धूमं स्तमेघ शंकिनः।
अकाण्डे तांडवं टोपं यत्र तन्वंनि वर्हिणः॥१६

अथ श्रीमूलसंघेस्मिन्नन्दिसंघेऽनघेऽजनि ।
बलात्कारगणस्तत्र गच्छस्सारस्वतोऽभवत् ॥१७
तत्राजनि प्रभाचन्द्रःसूरिचन्द्रो जितांगजः ।
दर्शनज्ञानचारित्र तपोवीर्य समन्वितः ॥१८
श्रीमान् बभूव मार्तण्डस्तत्पट्टोदय भूधरे ।
पद्मनन्दी बुधानन्दीतमश्छेदी मुनि प्रभुः ॥१६
तत्पट्टाम्बुधि सच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतां वरः ।
पंचाक्ष वन दावाग्निः कषायाक्ष्माधराशनिः ॥२०

तदीय पट्टाम्बर भानुमाली,
क्षमादि नानागुणरत्नशाली ।
भटारक श्री जिनचन्द्र नामा,
सैद्धान्तिकानां भुवियोऽस्ति सीमा ॥२१

स्याद्वादामृतपानतृप्तमनसो, यस्यातनोत्सर्वतः ।
कीर्ति भूमितले शशांक धवला, नज्ञान दानात्सतः ॥२२
चार्वाकादिमत प्रवादितिमिरोष्णांशोर्मुनीन्द्र प्रभोः
सूरि श्री जिनचन्द्रकस्य जयतात्संघोहि तस्यानघः ॥२३
बभूव मंडलाचार्याःसूरेः श्री पद्मनंदिनः ॥२३
शिष्यः सकलकीर्त्याख्यो लसत्कीर्तिर्महातपः ॥२४
मुनि श्री जयकीर्त्याह्वस्तच्छिष्यो मुनि कुंजरः ।
उत्तमक्षांतिमुख्यानि धर्म्मांगानि दधाति यः ॥२५
दक्षिणाद्यउदगदेशे समागत्य मुनिप्रभुः ।
जैनमुद्योतियामास शासनं धर्मदेशनात् ॥२६
पुर्यां सिंहतरंगिण्यां यस्मिन् जाते मुनीश्वरे ।
भव्यैः सम्यक्त्वमग्राहि कैश्चिच्चाणु महाव्रतम् ॥२७
हरिभूषणसंज्ञोऽस्ति तस्य शिष्योस्ति मन्मथः ।
एकांतराद्यजस्त्रं यः करोत्युग्रं तपो मुनिः ॥२८
परः सहस्त्र कीर्त्याख्यस्तिच्छिष्यो भव-भीरुकः ।
दाक्षां जग्राह यस्यत्क्त्वा भ्रातृपुत्र परिग्रहम् ॥२६
क्षांति का क्षांति शांत्यादि गुणरत्नखनिः सती ।
गंधर्व श्री रितिख्याता शीलालंकार विग्रहा ॥३०
अणु व्रत्यस्ति मेधाख्यो* जिनदिष्टार्थ्य सद्रुचिः ।
शंकाकांक्षादिनिर्म्मुक्त सम्यक्त्वादि गुणान्वितः ॥३१
अग्रोत वंशजः साधुर्लवदेवाभिधानकः ।
तत्त्वगुद्धरणः संज्ञा तत्पत्नी भीषुहीप्सुभिः ॥३२

तयो पुत्रोऽस्ति मेघावी नामा पंडित कुंजरः ।
आप्तागमविचारज्ञो जिनपादाब्ज षट् पदः ॥३३
तथान्योपि सुधीरस्ति गुणराजि विराजितः ।
गुणिराजो भिधानेन साधु छेतू शरीरजः ॥३४
एतदाम्नाय संजातो वंशः खंडेल संज्ञकः ।
गोत्रो गोधाभिधास्तत्र नानागोधाकरोऽजनि ॥६५
साधु कुमारपालाख्यः श्रावकः व्रतभावकः ।
तत्सुतः पद्मसिंहाह्वो भार्या मेहणि संज्ञकः ॥३६
तयोस्तनूरुहास्सूंति तयोः पूर्णेन्दु कीर्त्तयः ।
संघाधिपति घेरूकः सीहा चाहड नामकाः ॥३७
अथ संघेश पद्मादि सिंहस्य तनु संभवैः ।
त्रिभिश्चर्तुविधादत्ति प्रदाने सुरभूरुहैः ॥३८
चतुर्विधेन संघेन श्रीमर्त्सिहनंदीपुरः ।
सुशर्म्म न्गरे गत्वा प्रोत्तुंग जिनमंदिरे ॥३६
स्थित्वा सुरसरित्तीरे क्रीडितानेक किन्नरे ।
चंचच्चंपकचूतादि तरुराजि मनोहरे ॥४०
आहूय शिल्पेनस्तुष्टयां मंडपं विरचय्य च ।
स्तंभलोचनसतर्कुंभ मुक्तालंबू बभूषितं ॥४१
अष्टोत्तरशतं नारी-रणन्नूपुर सुंदरी ।
संतोष्य बहुदानेन जलयात्रां विधाय च ॥४२
आचार्यं जयकीर्त्याख्या देशदम्यर्थ्य पंडितान् ।
पंडिताचार्य मेधावि गुणि राजादि संज्ञकान् ॥४३
पंच वर्णेन चूर्णेन वेदी शोभां वितीर्य्य च ।
अर्हन्मंडलपूजादि यागमंडलपूजनम् ॥४४
गर्भादौ पंचकल्याणं कारयित्वा जिनेशिनां ।
श्री ऋषभाद्यभिधेयानां प्रतिष्ठा कारिता हिता ॥४५
जिनबिम्ब प्रतिष्ठोत्थ यशसा पूरितं जगत् ।
वाग्देविहा ससत्कारं शशांककर पांडुना ॥४६
तीर्थकृन्नाम गोत्रत्वं यत्फलालभ्यतेगिभिः ।
नंदंतु कारकास्तस्याः सुखसंस्सृति वृद्धिभिः ॥४७
तत्र श्री ज्ञानकल्याणे ज्ञानोद्धाराय कस्मरं ।
ज्ञायेतोपार्जितं भूयः सर्व संघोप्यमी मिलत् ॥४८
अन्येद्युः सोत्सवं तस्मैश्च सुशर्म्मापुर संज्ञके ।
कारिते वृषभेशस्य मन्दिरे चोपमन्दिरे ॥४६
अर्हंद्बिंबानि संस्थाप्य कारयित्वा मखंपुरः ।

* बोधाख्यो इत्यपि पाठः दृश्यते, तिलोयपण्णत्ती प्रशस्त्यां ।

# जैन तन्त्र साहित्य

**डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी.**

जैन आचार्यों सन्तों एवं विद्वानो ने प्रत्येक भारतीय भाषा में एवं साहित्य के प्रत्येक अंग पर विशाल साहित्य की सर्जना की है। भाषा विवाद एवं भाषा विशेष के मोह मे न पड कर उन्होंने सभी भारतीय भाषाओं को अपनाया और उनमे सभी विषयों पर साहित्य लिख कर माँ भारती की अपूर्व सेवा की। यद्यपि जैन आगमो की मुख्य भाषा प्राकृत रही है। लेकिन संस्कृत मे भी उन्होने कम साहित्य नहीं लिखा। इसी तरह दक्षिण भारत की भाषाओं मे भी उन्होंने अनगिनत ग्रन्थ लिख कर तमिल, कन्नड, तेलगु आदि भाषाओं के प्रति अपना अपूर्व प्रेम प्रदर्शित किया। काव्य, पुराण, कथा चरित्र, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन, पूजा एवं स्तोत्र आदि विषयों के समान उन्होने तन्त्र साहित्य पर भी कितने ही ग्रन्थ लिखे और अपनी असीमित तन्त्र ज्ञान एव साधना का परिचय दिया। प्रस्तुत निबन्ध मे, मैं जैन तन्त्र साहित्य पर प्रकाश डाल रहा हूँ।

वैदों के समान जैन धर्म मे अगों की मान्यता है। उनकी संख्या बारह होने मे उन्हें द्वादशांग भी कहा जाता है। अगो को आगम भी कहते है। ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वो के ग्रहण से द्वादशाग का ग्रहण होता है। जैन आगम के एक ग्रन्थ विद्यानुप्रवाद में सर्व प्रथम हमे तन्त्र विद्या का उल्लेख मिलता है। उसमें आठ महानिमित्तो एव पाच सौ महाविद्याओ व उनके साधनों की विधि और सिद्ध हुई विद्याओं के फल को बतलाया गया है। कल्पसूत्र में चौदह पूर्वो की महत्वता वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि पूर्व प्रथम रचे जाने के कारण महा प्रमाण होने के कारण तथा अनेक विद्या और मन्त्रों का भन्डार होने के कारण पूर्वो का प्राधान्य है। इसी तरह दिगम्बर सम्प्रदाय में उपलब्ध आगम ग्रन्थों के रचयिता भूतबलि और पुष्पदन्त के गुरू के सम्बन्ध में कथा प्रचलित है कि धरसेनाचार्य ने अपने दो शिष्यो की परीक्षा लेने के लिए दो विद्याएँ दीं। एक मे अल्प अक्षर थे और दूसरी मे अधिक अक्षर थे। विद्या साधन के विषय मे आचार्य श्री ने कहा कि इन विद्याओ की दो उपवास के साथ सिद्धि करो। अशुद्ध मन्त्र की साधना करने के कारण अल्पाक्षर युक्त मन्त्र साधक के सामने कानी देवी आई तो अधिक अक्षर वाले साधक के सामने लम्बे दांत वाली देवी आई। देवताओं का रूप सुन्दर होना है। यह विकृत आकृति त्रुटि को बतलाती है। इससे दोनों साधको को मन्त्र की अशुद्धता ज्ञात हुई। उन्होंने मन्त्र शास्त्र के अनुसार मन्त्रों को शुद्ध कर साधना प्रारम्भ की तो देवताओं ने अपने दिव्य रूप में दर्शन दिये। उक्त कथा से यह जानकारी मिलती है कि जैन साहित्य मे तन्त्र साहित्य को काफी अच्छा स्थान प्राप्त था और मन्त्रों की सिद्धि आदि

---

मनिरे नर जन्मागः फलितः सत्फलैरिमैः ॥५० (युग्मम)

तस्मात्दुर्गान्मिमानीतात्पुस्तकाच्चैरकालिकात्।

साधुचारुभटाख्यस्य साहाय्येन च सन्मतः ॥५१

तेन वित्तेन साधेन मेहाख्येन सुधीमता।
पुर्यां सिहतरंगिण्यां शास्त्रमेतत्सुलेखितं ॥५२

आत्मनः पठनार्थं वै भव्यानां पठनाय च।
श्रुतज्ञान प्रवृत्त्यै च ज्ञानावरणहानये ॥५३

इत्थं सप्तक्षेत्र्यां वपते यो दानमात्मनोभक्त्या।
लभते तदनन्तगुणं परत्र सोऽत्रापि पूज्यः स्यात् ॥५४

यो दत्ते ज्ञानदानं भवति हि स नरो निर्जरायां प्रपूज्यो।
भुक्त्वा देवांगनाभि विषयसुखमनुप्राप्य मानुष्य जन्मा।
भुक्त्वा राज्यस्य सौख्यं भवतनुसुखा निस्पृहीं कृत्यचित्तं,
लात्वा दीक्षां न बुध श्रुतमपि सकलं ज्ञान मन्त्यम् प्रशस्त।
ज्ञानदानात्भवेत् ज्ञानी सुखीस्याद भोजनादिह।
निर्भयो भयतोजीवों नीरुमौषधि दानतः ॥

में आचार्यों को विश्वास था। जैन पुराण कथा एवं चरित्र साहित्य का यदि हम अध्ययन करे तो पता चलेगा कि इस प्रकार की कृतियों में मन्त्र एवं तन्त्र साहित्य को उचित स्थान मिला है। क्योंकि तत्कालीन समाज का ज्ञान की इस शाखा पर पूरा विश्वास था। इस विषय पर सुन्दर प्रतिपादन, आचार्य एव विद्वानों द्वारा उस विषय को स्वीकार किये जाने आदि तत्कालीन समाज में उसकी लोक प्रियता की ओर संकेत करता है। कविवर सधारु ने प्रद्युम्न चरित्र में सोलह विद्याओं के नाम गिनाये हैं, और श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न को ये विद्याएँ सिद्ध थी, ऐसा उल्लेख किया है। इन विद्याओं के नाम इस प्रकार हैं— हृदयावलोकनी, मोहनी, जलशोखिनी, रत्नदर्शिनी, आकाशगामिनी वायुगामिनी, पातालगामिनी, शुभदर्शिनी, सुधाकारिणी, अग्निस्थम्भिणी, विद्यातारिणी, बहुरूपिणी, जलबन्धिनी, गुटका, सिद्धिप्रकाशिका, एवं धाराबन्धिणी है।

भट्टारक एवं यति, पांडे तथा उनकी शिष्य परम्परा की जो समाज ने अधिक मान्यता की उसका मूलकारण उनकी ज्ञान शक्ति के अतिरिक्त उनकी तन्त्र एवं मन्त्र सिद्धि थी। जब फिरोजशाह तुगलक ने भट्टारक प्रभाचन्द्र का अध्यात्मिक चमत्कार देख कर उनका भव्य स्वागत किया तो इस स्वागत से बादशाह के एक विद्वान राघव को बड़ी ईर्ष्या हुई। और उसने अपने मन्त्र बल से भट्टारक की पालकी को कीलित कर दिया। लेकिन भट्टारक प्रभाचन्द्र तन्त्र विद्या मे उस से अधिक बलिशाली थे इसलिए अपनी विद्या बल से पालकी को चला दिया। इसके अतिरिक्त यमुना नदी में घड़ों की नाव से अधर ही अधर राघव को पार कर दिया तथा अमावस्या को पूर्णिमा बना कर बादशाह को अत्यधिक प्रभावित किया। भट्टारकों के तन्त्र बल के सम्बन्ध में और भी कितनी ही किंवदन्तियां सुनने को मिलती है। जैनों का णमोकार मन्त्र अनादि निधन मन्त्र माना गया है। और उसके स्मरण मात्र से रोगों और व्याधियो का शान्त होना स्वीकार किया गया है। भक्तामरस्तोत्र जैनों का सबसे अधिक लोकप्रिय स्तोत्र है जो अधिकांश जैनों को कण्ठस्थ है और जिसका प्रतिदिन पाठ करने की परम्परा है। इस स्तोत्र में ४८ छन्द है और सभी छन्दों पर एक-एक यन्त्र हैं जिनमे विभिन्न प्रकार की रिद्धियां, वैभव एवं सुख सम्पत्ति प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है।

तन्त्र साहित्य सबसे अधिक संस्कृत भाषा में लिखा हुआ मिलता है। विद्यानुशासन सम्भवतः सबसे प्रसिद्ध एवं विशाल ग्रन्थ है जो तन्त्र साहित्य पर आधारित है। जिनरत्नकोश में इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण दिया हुआ है जो दसवीं शताब्दी के विद्वान थे। इसमें २४ अध्याय है तथा ५००० मन्त्रों का संग्रह है। लेकिन राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में एक और विद्यानुशासन नाम के ग्रन्थ की उपलब्धि हुई है जिसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के दा ग्रन्थ-संग्रहालयो में संग्रहीत हैं। जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर तेरह पंथियों के शास्त्र भण्डार में इसकी अत्यधिक प्राचीन प्रति सुरक्षित है। जो संवत १४३२ की लिखी हुई हैं। इस ग्रन्थ के संकलनकर्त्ता हैमन्ति सागर है, जिन्होंने विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। तथा मन्त्रों का संग्रह किया है। इस ग्रन्थ में भी २४ समुद्देश हैं और पूरा ग्रन्थ मन्त्रशास्त्र पर आधारित है। इसलिए जिनरत्नकोश में जिस विद्यानुशासन का उल्लेख है वह यही विद्यानुशासन है। और इसके संग्रहकर्त्ता मल्लिषेण के स्थान पर मतिसागर है। ग्रन्थ में मल्लिषेण द्वारा रचित ज्वालामालिनी देवी का स्तोत्र है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मतिसागर ने मन्त्र यन्त्र साहित्य से सम्बन्धित विद्यानुवाद नामक १०वें पूर्व का उल्लेख किया है। और लिखा है कि उसी विद्यानुवाद के अंगों को लेकर पहिले कितने विद्वान ग्रंथों की रचना कर चुके हैं। इसलिए उन्हीं कृतियों के सारभाग को लेकर यह विद्यानुशासन नामक ग्रंथ की रचना कर रहा हूँ।

तेषु विद्यानुवादाख्यो यः पूर्व्वो दशमो महान्।
मंत्रयंत्रादि विषयः प्रथते विदुषां मतः ॥९॥
तस्यांशा एव कतिचित् पूर्व्वाचार्यैरनेकधा।
स्वा स्वां कृतिं समालंव्य कृताः परहितैषिभि ॥१०॥
उद्धृत्य विप्रकीर्णेभ्यः तेभ्यः सारं विरच्यते।
एद युगीनानुद्दिश्य मंदान् विद्यानुशासनं ॥११॥

ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में विद्यानुशासन में वर्णित विषय का निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

गर्भोत्पत्ति विधानं बालचिकित्साग्रहोऽथसंग्रहणं ।
विषहरणं फणि तंत्र मड 'न्यायाद्यपनपो रूजा समन ।।१३।।
कृतरुग्नधोनध: प्रति विधानमुच्चाटनं च विद्वेष: ।
स्तभन: शांति: पुष्टिर्वश्यंस्त्र्याकर्षण नर्म्य ।।१४।।

जैन धर्म में पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सच्चियमाता, सरस्वती एवं कुरूकुल्ला आदि आराध्यदेविया है। जो जिनशासन की देवियां कहलाती है। विद्यानुशासन में ज्वालामालिनी पद्मावती, अम्बिका देवियों के अतिरिक्त आम्र कुष्माड देवी का स्तोत्र एवं मन्त्र आदि है। अम्बिका देवी के लिए ग्रंथकार ने निम्न पद्य लिखा है।

पुत्ररत्नवती पुत्रवर्द्धनी पुत्ररक्षिणी।
जैनाधिदेवता जैनमाता शासनदेवता ।।

ग्रंथ में २४ समुद्देश है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। प्रारम्भ मे ग्रथकार ने परिच्छेदो की सज्ञा दी है तथा फिर उसे समुद्देश के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रथम परिच्छेद में विषय प्रतिपादन के अतिरिक्त मन्त्र साधन का कौन सा व्यक्ति अधिकारी होता है। इसका उल्लेख किया है मन्त्र साधक को निर्भयी, निराभिमानी, धैर्यवान, अल्पाहारी, स्वच्छ हृदयवान, पापभीरु, दृढवृत्ति, धर्म एवं दान मे तत्पर, मत्राराधन में चतुर, मेधावी, प्रशस्तचित्त, वाग्पटु आदि लक्षणों से युक्त होना चाहिए।

निर्भयो निर्म्मदो मंत्रजपहोमरत: सदा।
धीर: परमिताहार: कषायरहित: सुधी ।।७।।
सद्दृष्टिर्विगतालस्य: पापभीरुदृढव्रत:।
शीलेन बास सयुक्त: धर्म्मदानादि तत्पर: ।।८।।
मंत्राराधनशूरो धर्म्मदयास्वगुरुविनय शीलयुत:।
मेधावीगतनिद्र: प्रशस्तचित्तोभिमानरत: ।।६।।
देवजिनसमयभक्त: सविकल्प: सत्य वाग्विदग्धश्च।
वाक्पटुरपगत शक: शुचिरार्द्रमना विगतकाय: ।।१०।।

दूसरे परिच्छेद में अक्षरों की शक्ति का वर्णन किया गया है। बीजाक्षरों में कितना सामर्थ्य है इसका ग्रथ कर्त्ता ने विस्तृत वर्णन किया है।

पफकार। शांतिपौष्टिकरं वभकारस्तो भस्तंभन करोति।
मकार: सर्व्वकर्म्म विकल्पेन सर्व्वसिद्धि:।
यकार: सर्वाभिचार कर्म्म विकल्पेनाकृष्टि ।।
ह्री ऊ ह्री मृत्युनाशन ह्रीं आं ह्रीं आकर्षणं।
ह्री इ ह्रीं पुष्टिकर ह्री ई ह्रीं आकर्षणं।
ह्रीं उ ह्रीं बलकर ह्री ऊं ह्रीं उच्चाटनं ।।आदि।।

तीसरे परिच्छेद में मन्त्र साधन की विधि दी हुई है। मन्त्र साधक की क्रिया के प्रारम्भ में स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर, मौन रह कर तथा गुरू वन्दना करके मन्त्र साधन करना चाहिए। मन्त्र साधन जिन मन्दिर में अथवा नदी के किनारे, पर्वत पर, वन में अथवा शून्य भवन में करना चाहिए।

शिष्यो मत्र क्रियारम्भे स्नान: शुद्धांवर दधत्।
समाहितमना मौनी प्रयुक्तगुरु वंदन ।।१।।
जिनालये सरित्तीरे पुलिनेपर्वने वने।
भवनेऽन्यत्र वा देशे शुभे जतु विवर्ज्जिते ।।२।।

विद्यानुशासन का चतुर्थ परिच्छेद सबसे बड़ा है और इसमे सकलीकरण, रक्षा, स्तम्भ, निर्विष, आवेश, परविद्या छेदन, शाकिनी निग्रह, विषहर, स्त्री आकर्षण, राजपुरुपादिवशीकरण, शिरोरोग, कर्णरोग, खासोनासक, कवित्व पडित वृद्धिकारक आदि के कितने ही मन्त्र दिये हुए है। विषहरमत्र इस प्रकार है :—

ॐ नमो भगवते पार्श्वनाथाय धरणेंद्र पद्मावती महिताय फणामणिमंडिलाय कमठविध्वसनाय सर्वग्रहोच्चाटनाय सर्व विषहराय सर्व शातिकाति च कुरु: कुरु. ऊ ह्रा ह्रीं ह्रू ह्रौं ह्र: असिआउसा मय सर्वशांति कुरु २ स्वधा स्वाहा ।।

इसी परिच्छेद में ह्रींकार, ज्वालामालिनी, पद्मावती, स्त्रीवशीकरण, कर्णपिशाचिनी मन्त्र, शाकिनीभयोपशांति, पार्श्वनाथ मन्त्र, गणधरवलय, कलिकुण्डकल्प, आदि के मण्डल दिये हुए है जो बहुत ही सुन्दर लिखे हुए है तथा मन्त्र साधन में जिनका प्रयोग किया जाता है।

पांचवे समुद्देश में मन्त्र साधनविधान का वर्णन किया गया है। छठे और सातवं परिच्छेद में गर्भधारण से लेकर जन्म तक और उसके पश्चात् भी बालक की रक्षा के मन्त्र दिये हुये हैं। गर्भरक्षामन्त्र देखिए :—

ऊं नमो भगवति गर्भाविधारिणी गर्भविधृते इमं रक्ष रक्ष स्वाहा।

बाल चिकित्सा का भी अच्छा वर्णन है। तथा अन्य आयुर्वेदिक ग्रंथों से बालचिकित्सा वाले पद्यों का सभी संकलन किया गया है। आठवें अध्याय में विभिन्न ग्रहों के निग्रह के विधान एवं मन्त्र दिए हुए है। १०वें से लेकर १२वें समुद्देश तक विभिन्न जीव जन्तुओं के विष दूर करने के मन्त्रो का समावेश है। इसी तरह सोलहवें समुद्देश तक विभिन्न रोगो का उपचार किया हुआ है। ग्रंथ के शेष अध्यायो में उच्चाटन, विद्वेषण स्तम्भन, शान्तिविधान, पुष्टिविधान, वश्यविधान, आकर्षणविधान एवं नर्म्म विधान आदि का विस्तृत वर्णन है। कवि ने अन्त में ग्रंथ समाप्ति इस प्रकार की है।

तावत्स रचि शास्त्ररत्न ममलं स्थेयादिद मन्त्रिणां।
गंभीरे मतिसागरे पृथुतरे विद्यासरित्संगतम् ।।१३८।।

**भैरव पद्मावती कल्प** :—यह मल्लिषेण सूरी की कृति है। इसमें १० अध्याय है और उनमें कवि के शब्दो में निम्न विषयों का वर्णन है।

आदौ साधकलक्षणं सुसकल देव्यर्च्चनामा कृत।
पश्चात् द्वादश पंचभेदकथन स्तभाऽनाकर्षणम् ।।
यन्त्रं वश्यकरं नि मेत्तमपरं वश्यौषधं गारुड।
वक्ष्येऽहं क्रमशो यथा निगदिता कल्पेऽधिकरास्तथा ।।५।।

देवी पदमावती का जैन तन्त्र मन्त्र साहित्य मे विशेष स्थान है। वह चार हाथों वाली देवी है। इन चारो हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में उठा रहता है। और दूसरे में अकुश रहता है। वायु और एक हाथ में दिव्य फल और दूसरे में पाशय रहता है। पद्मावती देवी के तीन नेत्र होते है और तीसरा नेत्र क्रोध के समय ही खुलता है। मल्लिषेण ने प्रारम्भ में देवी का निम्न प्रकार स्तवन किया है।

पाशफल वरदगजवशकरणा करापमविष्टरापद्मा।
सा मा रक्षतु देवी त्रिलोचनारक्तपुष्पाभा ।।३।।

प्रस्तुत कल्प में पद्मावती देवी को सिद्ध करने के लिए विविध मन्त्रों की रचना की है।

ॐ ह्रीं ह्रों क्लीं पद्मकरिनि नमः।

को लाल कमल अथवा लाल केसर के फूलों पर तीन लाख बार जपने से देवी सिद्ध हो जाती हैं। इसमें ॐ ह्रीं आदि के विभिन्न मन्त्र दिये हुए हैं और विभिन्न प्रयोगों द्वारा एक ही मन्त्र की सिद्धि करने से विभिन्न संकटों का नाश होता है ऐसा वर्णन मिलता है। अन्त मे त्रिपुर-सुन्दरी यत्र दिया है जिसकी सिद्धि का फल निम्न प्रकार दिया हुआ है।

इदं त्रिपुरं सुन्दरी यन्त्र यस्य कस्यापि दीयते।

तस्य नाम लिखित्वा कंठे वा सिरसि अथवा बाहौ वा धारयेत् सर्वेषा प्रियो भवति।

दुर्भगा शुभगा भवति भर्त्तरि वशमानयतिराज्यवश्य भवतिषट्वार मंत्र लिखनीयं यंत्रमध्ये। त्रिपुरसुन्दरा यत्र देवानामपि दुर्लभं भवति।

मन्त्र इस प्रकार है:—

ए क्ली ह्रौ त्रिपुरमर्च्यै नमः।

णमोकार मन्त्र के विभिन्न फल इस प्रकार दिये हुए है।

ॐ नमो अरहंताणं धणु धणु महाधणु स्वाहा एनं मंमं स्वललाटे ध्यायेत् चौरस्तंभो भवति। तथैनं यंत्र खटिकाया लिखित्वा वामहस्तेन भक्तामुष्टिर्वध्यते वामहस्ते धनुरस्तीति ध्येय चौरा मंत्रिणं न पश्यति स तु चौरान् पश्यति।

**वर्द्धमान विद्याकल्प** :—यह सिंह तिलक सूरी की रचना है यद्यपि श्री सूरी ने कितने ही अध्याय लिखे है लेकिन जयपुर के महावीर भवन में संग्रहीत प्रति मे तीन ही अधिकार है। यह प्रति सवत् १४८६ को अणिहल्ल-पाटण प्रदेश में श्रीपत्तन में लिखी गई थी कल्प में विभिन्न प्रकार के मन्त्र दिये हुए हैं और उनके जाप करने की विधि एवं उनका फल भी दिया हुआ है। कुछ उदाहरण देखिये :—

(१) ॐ ह्रीं बाहुबलि महाबाहुबलि प्रचण्डबाहुबलि शुभाशुभं कयय कयय स्वाहा। पिंड शुद्धि उपवास कीजइ रात्रिह वार १०८ कीजइं स्मरणस्वप्ने शुभाशुभं कथयति सही भोगम्मु जंपीइं।

(२) ॐ नमो श्रीपार्श्वनाथाय कामरूपिणी कामाक्षी-देवी जनरंजनी राजाप्रजा अमुइ वशमानय २ स्वाहा। अनेक वार १०८ कर्माफलादि अभिमंत्र्य पश्य दीपते स वशीभवति।

# श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ

**सम्पादक मण्डल**

डा० कालीदास नाग, पण्डित चैनसुखदास न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री टी. एन. रामचन्द्रन, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० सत्य-रंजन बनर्जी।

आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि सुप्रसिद्ध समाजसेवी, इतिहास एव पुरातत्त्ववेत्ता श्री छोटेलाल जी जैन कलकत्ता के ७०वे वर्ष की समाप्ति पर उनका सार्व-जनिक अभिनन्दन करने का निश्चय किया गया है। इस अवसर पर उन्हे एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जावेगा।

अभिनन्दन ग्रन्थ में देश के प्रख्यात लेखकों, विचारकों एवम् विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख होंगे। ग्रन्थ हिन्दी, अंग्रेजी एव बगला तीनो भाषाओं में प्रकाशित होगा। कृपया आप अपना मौलिक लेख किसी एक भाषा मे सूची के विषय या अन्य विषय पर ३१ मई ६५ तक भेज कर अनुगृहीत करे। अभिनन्दन ग्रन्थ मे लेख प्रकाशित होने पर आपको लेख की २० प्रतियाँ अतिरिक्त भेज दी जावेगी।

कृपया आप जिस विषय को चुने उसकी स्वीकृति शीघ्र ही भिजवाने का कष्ट करे।

**श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ**

**विषय-सूची**

**खण्ड क**

१—

१. जन्म, परिवार, मातापिता, शिक्षा, विवाह एवं व्यसन।

२. धर्मपत्नी का संक्षिप्त परिचय (सचित्र)।

३. बाबू सा० का व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

४. समाज सेवा के कुछ अनुभव।

५. सामाजिक संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में उनका जीवन।

६. समाज की सस्थाओ के विकास मे योगदान।

७. बाबू सा० द्वारा सस्थापित एव संरक्षित सस्थान।

८. वीर सेवामन्दिर के विकास में उनका योगदान।

९. भारत भ्रमण।

**२. साहित्य एवं पुरातत्त्व सेवा :**

१. बाबू सा० की कृतियो का मूल्यांकन।

२. हृदय से सच्चे साहित्य सेवी।

३. प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य।

४. पुरातत्व की खोज मे।

---

(३) ॐ ह्रीं श्री क्लीं ब्लूं ह्रीं ह्र: कलिकुडास्वामिने अमति चक्रे जय विजये अर्थ सिद्धि कुरु ३ स्वाहा। नित्य प्रभाते १०८ स्मरण लाभे।

(४) ॐ नमो भगवते श्री पार्श्वनाथाय क्षुद्रोपद्रव नाशाय नागराजोपशमनाय क्षेत्रपालाधिष्टिताय ॐ ह्रा ह्रीं ह्यूं ह्र: सर्वकल्याण दुष्ट हृदयपापाण जीवरक्षाकारको द्रारिद्रद्राविको आभाक भवसि स्वाहा। अनेन मंत्रेण वांछितफलं लभ्यते आखडभोजन वस्त्र रुप्य सौभाग्य संपद श्री पारिकति।

उक्त ग्रथों के अतिरिक्त इन्द्रनंदियोगीन्द्रकृत ज्वाला-मालिनी कल्प भी इस विषय का अच्छा ग्रंथ है इसकी हिन्दी अनुवाद सहित एक प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपथी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। भट्टारक सिंहनन्दी कृत णमोकारकल्प की भी एक प्रति उसी भण्डार में संग्रहीत है। इसकी रचना संवत् १६६७ में की गई थी। घण्टाकरणकल्प, घण्टाकर्णमन्त्र, चिन्ता-मणियंत्र, चौसठयोगिनी कल्प, पद्मावतीकल्प, विजययन्त्र-विधान आदि पचासों रचनाएँ है जो जैन भण्डारो में संग्रहीत है जिनके अध्ययन की अत्यावश्यकता है[1]।

---

१. संस्कृत विश्वविद्याल वाराणसी की ओर से आयोजित तन्त्र सम्मेलन में पढ़े गये निबन्ध का एक भाग।

**३—संस्मरण :**

**४—शुभकामनाएँ :**

**खण्ड ख—**

१. जैनसमाज : एक परिचय।

२. भारतीय समाज और जैनसमाज।

३. भारतीय समाज गत ५० वर्षों में।

४. जैन समाज का स्वातन्त्र्य संग्राम में योगदान।

५. उत्तरी भारत की प्रमुख जैन शिक्षण संस्थाएँ।

६. जैनों के विविध सामाजिक आन्दोलन।

७. बंगाल में जैन धर्म एवं उसका विकास।

८. कलकत्ता जैनसमाज।

९. कलकत्ता नगर की जैन संस्थायें।

१०. कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव एक सास्कृतिक पर्व।

११. नगर के दर्शनीय मन्दिर।

१२. राजस्थान प्रवासियों का बंगाल प्रदेश के विकास में योगदान।

१३. महात्मा गाँधी और जैन-धर्म।

१४. अग्रवाल जैनों द्वारा साहित्य सेवा में योग।

१५. २०वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख जैन सन्त, आचार्य सूर्यसागर जी, वर्णी जी, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद आदि।

१६. वर्तमान के प्रतिनिधि जैन विद्वान प्रेमी जी, उपाध्याय जी, सी० आर० जैन, हीरालालजी, जिनविजय जी, सुखलालजी, कैलाशचन्दजी आदि।

१७. देश के औद्योगीकरण में जैन उद्योगपतियों का स्थान।

१८. भारत के प्रमुख जैन उद्योग पति।

१९. भारत की प्रमुख जैन बस्तियाँ।

२०. भारत के प्रमुख जैन तीर्थ एवं उनका परिचय।

२१. शिल्प एवं वस्तुकला मे जैनों का योगदान।

**खण्ड ग**

**'साहित्य और दर्शन'–साहित्य**

**१—प्राकृत साहित्य :**

१. प्राकृत साहित्य के विकास में जैन आचार्यों का योगदान।

२. प्राकृत भाषा में विविध जैनागम।

३. प्राकृत के प्रमुख महाकाव्य।

४. जैनेतर विद्वानों द्वारा प्राकृत भाषा की सेवा।

५. आ० कुन्दकुन्द एवं उनकी प्राकृत रचनायें।

६. आचार्य नेमिचन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

७. प्राकृत का धर्मकालीन साहित्य।

**२—संस्कृत साहित्य :**

१. संस्कृत भाषा के जैन महाकाव्य।

२. संस्कृत भाषा के जैन पुराण साहित्य।

३. संस्कृत भाषा के जैन काव्य साहित्य।

४. संस्कृत भाषा के जैन अमर कवि।

५. जैन स्तोत्र साहित्य।

६. आचार्य सोमदेव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

७. संस्कृत साहित्य के विकास में जैनों का योगदान।

**३—अपभ्रंश साहित्य :**

१. अपभ्रंश के प्रमुख प्रवक्ता।

२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान।

३. राजस्थान में अपभ्रंश ग्रन्थों की खोज।

४. अपभ्रंश के सूर्य और चन्द्रमा स्वयभू और पुष्पदन्त।

५. अपभ्रंश साहित्य में खोज की आवश्यकता।

६. अपभ्रंश का प्रकाशित साहित्य।

७. अपभ्रंश के प्रमुख महाकाव्य।

**४—हिन्दी साहित्य :**

१. हिन्दी के आदिकाल के जैन प्रबन्ध काव्य।

२. हिन्दी जैन साहित्य के प्रमुख कवि।

३. हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में जैन विद्वानों का योगदान।

४. राजस्थान के जैन ग्रन्थ संग्रहालयो में उपलब्ध हिन्दी साहित्य।

५. हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएँ।

६. हिन्दी साहित्य की सुरक्षा मे जैनों का योगदान।

७. हिन्दी के वर्तमान जैन लेखक।

८. जैनों का हिन्दी गद्य साहित्य।

**५—अन्य साहित्य :**

१. जैन गुजराती साहित्य :

# अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

**श्री काका कालेलकर**

जैन-दृष्टि की जीवन-साधना में, अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमें अहिंसा का एक पहलू है—जीवों की करुणा और दूसरा है, स्वयं अहिंसा से बचने की उत्कट भावना। दोनों मे फर्क है। करुणा मे प्राणों के दु:ख-निवारण करने की शुभभावना होती है। प्राणों का दु:ख दूर हो, वे सुखी रहें, उनके जीवनानुभव में बाधा न पड़े। जिस इच्छा के कारण मनुष्य जीवों के प्रति अपना प्रेम बढ़ाता है, सहानुभुति बढ़ाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौड़ता है।

इसके विपरीत दूसरी दृष्टि वाला कहलाता है, कि सृष्टि मे असंख प्राणी पैदा होते है, जीते हैं, मरते है, एक-दूसरे को मारते हैं, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनियाँ में चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु:ख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियों को दु:ख से बचा सकते है ? दु:ख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहंकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान ने मनुष्य को दिया नही है। मनुष्य स्वयं अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, मरवावे और न मारने मे अनुमोदन देवे। अपने आपको हिंसा के पाप से बचाना यही है—अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि में यह भी विचार आ जाता है, कि हम ऐसा कोई काम न करें कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पड़े। अगर हमने आस-पास की जमीन अविवेक से गीली कर दी, कीचड़ इकट्ठा होने दिया, तो वहाँ कीट-सृष्टि पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिए हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले, उतना तो हमें देखना ही चाहिए। यह भी अहिंसा की साधना है।

इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन भी अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नहीं होने दिया, तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जायेंगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढ़ती है। उसमें कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियों को दु:ख से बचाना, उनके भले के लिए स्वयं कष्ट उठाना, त्याग करना, समय का पालन करना। यह सब क्रियात्मक बातें अहिंसा में आ जाती है।

आजकल जैन समाज में चिन्ता नहीं चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे बचे। जो कुछ जैनों के लिए आचार बताया गया है उसका पालन करके लोग सन्तोष मानते हैं। धर्म-बुद्धि जाग्रत है। लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है। तो साधक अणुव्रत का पालन करेगे।

अब जिन लोगों ने जीव दया के हिंसक आधार का विस्तार किया, उन लोगों ने अपने जमाने के ज्ञान के

---

२. मराठी भाषा का जैन साहित्य।

३. दक्षिण भारतीय भाषाओं का जैनसाहित्य।

६—दर्शन :

१. जैनदर्शन के सर्वव्यापी सिद्धांत।

२. जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता समन्तभद्र अकलङ्क, विद्यानन्दि, हरिभद्र सूरि आदि।

३. जैन दर्शन मे अध्यात्मवाद।

४. जैन दर्शन का भारतीय दर्शनों में स्थान।

५. जैन दर्शन में ईश्वर की परिकल्पना।

लेखादि भेजने का पता—<br>डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल<br>महावीर भवन,<br>मानसिंह हाईवे, सवाई<br>जयपुर।

अनुसार बताया कि पानी गरम करके एक दम ठंडा करके पीना चाहिए। आलू, बैगन जैसे पदार्थ नहीं खाने चाहियें। क्योंकि हर एक बीज के साथ और हर एक अकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अंकुर उतने जीवों की हत्या का पाप लगेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हत्या से बचने के लिए इतना सतर्क रहना पड़ता है, कि वही जीव व्यापी साधना बन जाती है। पानी गरम करके एकदम ठडा करना मुंहपत्ति लगाना है, शाम के बाद भोजन नहीं करना आदि रीति-धर्म का विकास हुआ।

शुरु-शुरु में यह वैज्ञानिक शोध-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढ़ेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा-धर्म भी। कपिल ने जब साम्य-दृष्टि और आत्मौपम्य भावना के रूप में धर्म-व्यवस्था कायम की, तब उसका नाम तक जैन धर्म नहीं था। यह कहा जा सकता है, कि इस धर्म व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ, उस साम्य भावना से जिसका सम्बन्ध था, मानव के पारस्परिक बाहरी व्यवहार के साथ। आत्मतत्त्व की जीव मात्र में अनुभूति होने पर आत्मौपम्य भावना जागृत हुई। इस दृष्टि और भावना में से ही अहिंसा तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। तब तक जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। भगवान नेमिनाथ और भगवान पार्श्वनाथ ने उसमें अपरिग्रह भावना का समावेश किया, क्योंकि इसके बिना सामान्य जन के लिए अहिंसा धर्म का पूर्ण रूपेण पालन कर सकना सम्भव न था। भगवान पार्श्वनाथ के बाद वे 'जिन' प्रकट होते है, जो वीतरागता पर जोर देते हैं। उनकी दृष्टि यह होती है कि कठोर इन्द्रिय के निग्रह बिना राग-द्वेष कलह, वैमनस्य तथा विरोध भाव पैदा करने वाली दुर्वासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसा विचार करने वाले जिनों में भगवान महावीर का स्थान सर्वोपरि है 'जिन' का अभिप्राय है जितेन्द्रियता। इन्द्रिय निग्रह की की कठोर साधना को जीवन-व्यवहार में पूरा उतारने वाले "जिन" कहे गये हैं और उन्ही के नाम पर 'जिन' शब्द से 'जैन' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान महावीर ने ३०–३१ वर्ष की आयु में साढ़े बारह वर्ष में लोकोत्तर तपस्या की, कठोरतम साधना मे वीतराग स्थिति का जो उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया, उसी के कारण उन्हें उच्चतम पद व प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और जन सामान्य के लिए वे उपास्य बन गए। इस साधना को ब्रह्मचर्य नाम दिया गया और अणुव्रतों तथा महाव्रतों में उसका भी पांचवे व्रत के रूप मे समावेश किया गया। वैसे तो अपरिग्रह में भी इन्द्रिय निग्रह की भावना निहित थी। परन्तु उसका सम्बन्ध सामान्य जनो के लिए जैसा चाहिए, वैसा आन्तरिक निग्रह के साथ नही था। आन्तरिक निग्रह के बिना इन्द्रिय निग्रह पूर्णता पर नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार वीतराग भावना का समावेश होने पर जैनधर्म की परिकल्पना को पूर्णता प्राप्त हुई और जन सामान्य ने महावीर को ही लोकोत्तर साधना से जैनधर्म को जो नाम व रूप प्राप्त हुआ, वह अवश्य ही भगवान महावीर की विरासत है।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक जैनधर्म मे निरन्तर जो उत्क्रान्ति हुई, उसको क्रमशः साम्य, आत्मौपम्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। इन्हीं को अणुव्रत तथा महाव्रत का रूप मिला। साम्य का ही नाम सत्य और आत्मौपम्य का अस्तेय हो गया। क्योंकि सत्य के बिना साम्य और अस्तेय के बिना आत्मौपम्य तत्त्वों का पालन नही किया जा सकता। विकास का यह क्रम भगवान महावीर के बाद भी जारी रहा। ऐतिहासिक आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जैनधर्म मे मन्दिर मूर्तिमार्ग का समावेश कब और कैसे हुआ, परन्तु यह स्पष्ट है कि इस मार्ग मे विकार पैदा होने के कारण जो पाखण्ड, आडम्बर तथा प्रपंच उत्पन्न होते है, उससे जैनधर्म भी नही बच सका। मध्यकाल मे मन्दिर मूर्तिमार्ग के विरोध में एक जबरदस्त लहर पैदा हुई। जैनधर्म में वह लहर स्थानकवासी शाखा के रूप में प्रकट हुई। उसके प्रवर्त्तक वीर लोका शाह ने अपने गम्भीर अध्ययन के आधार पर यह मत व्यक्त किया, कि जैन आगमों में मन्दिर-मूर्तिमार्ग का विधान नहीं है। उनको यह मत प्रकट करने पर बड़े विरोध का सामना करना पडा और अन्य अनेक क्रान्तिकारी सुधारकों की तरह धोखे से आहार में दिए गए विष से उनका प्राणान्त हुआ। वे जैनधर्म मे बहुत बड़ी क्रान्ति

करने में सफल हुए। उसके रूप को वे ऐसा पखार गए कि वह उस समय की एक जबरदस्त लहर को झेल गया। इसी प्रकार वर्तमान युग में पश्चिम में वैसी ही एक और लहर उठी। सनातन हिन्दूधर्म को उस लहर से बचाने के लिए जो काम ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज आदि ने किया, वही काम जैनधर्म में प्रस्फुटित स्थानकवासी धर्म ने किया। इस प्रकार जैनधर्म को प्रपंच व आडम्बर से और अधिक बचा लिया गया। उसको विशुद्ध रूप में जीवन व्यवहार का धर्म बनाने का एक और सफल प्रयत्न किया गया। दुख यह है कि इस उत्क्रान्ति मूलक विकास क्रम को संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि से देखा गया और उसके महत्व को ठीक-ठीक आंका नहीं गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। कि जैनधर्म उस भीषणकाल में इस उत्क्रान्तिमूलक विकास क्रम के ही कारण अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हो सका। जिसमें श्रमण संस्कृति की बौद्ध धर्म सरीखी अनेक शाखाएं प्राय नाम शेष हो गई और सनातन वैदिक संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शाखाएं भी लुप्त होने से बच न सकीं। जैनधर्म के विकास के इतिहास का एक बड़ा ही सुन्दर रोचक और महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसका अध्ययन क्रान्तिकारी दृष्टि से किया जाना चाहिए और प्रकाश में विविध धर्मों के उत्थान व पतन के मर्म को समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

भगवान महावीर की विरासत का जो लाभ सामान्य भारतीय जनता को प्राप्त हुआ, वह भी उल्लेखनीय है। उनकी लोकोत्तर साधनामयी तपस्या का जैसा लाभ श्रमण सस्कृति को प्राप्त हुआ, वैसा ही उनके धर्म प्रचार का सनातन वैदिक-संस्कृति को पखारने के रूप में सामान्य भारतीय जनता को प्राप्त हुआ। धर्म-कर्म पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। धर्मशास्त्र सामान्य जनता के लिए अगम्य तथा दुर्बोध वैदिक संस्कृत भाषा में होने के कारण उन पर भी ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। उनकी मनमानी व्यवस्था धर्म के नाम पर जनता के सिर बलात् थोप दी जाती है। दान-दक्षिणा और पुरोहितार्थ पर निर्भर ब्राह्मण वर्ग समस्त धर्म-कर्म के लिए 'दलाल' बन गया था। स्वयं निठल्ला बनकर उसने सारे समाज को भी धर्म-कर्म की दृष्टि से निठल्ला बना दिया था। धर्म की इस ठेकेदारी और दलाली के विरुद्ध भगवान महावीर ने विद्रोह कर दिया। धार्मिक कर्म काण्ड के भोगेश्वर्य का निमित्त बन जाने के कारण उसका रूप नितांत निवृत्त हो गया था। इस हिंसा का समावेश यहां तक हो गया कि नरबलि भी उनमें दी जाने लगी। इस हिंसा काण्ड का भी भगवान महावीर ने तीव्र प्रतिवाद किया। वर्ण धर्म को जड़ता व मूढ़ता के कारण अन्यगत जाति-पांत के ऊंच-नीच तथा भेद-भाव का ही रूप मिल गया था। भगवान महावीर ने इस रूढ़िगत सामाजिक व्यवस्था को भी जड़मूल से झकझोर दिया। "स्त्री शूद्रो ना धीयताम" अर्थात् स्त्री और शूद्र को पढ़ने पढ़ाने का अधिकार नहीं हैं, इस ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध भी क्रांति का शंख फूंक दिया। आध्यात्मिक साधना का मार्ग उनके लिये प्रशस्त बना दिया। इसी कारण सन्त विनोबा ने बुद्ध की अपेक्षा महावीर को कहीं अधिक महान सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्तिकारी कहा है। उनका मत यह है कि भगवान श्री कृष्ण के बाद स्त्रियों के लिये आध्यात्मिक पथ को प्रशस्त बनाने वाले भगवान महावीर ही थे। यह कहा जाता है कि उनके संघ में पचास हजार में चौदह हजार भिक्षुणियां थीं। इस प्रकार भगवान महावीर ने भारतीय जीवन की प्रमुख श्रमण तथा ब्राह्मण दोनों ही सांस्कृतिक धाराओं को निखारने का सफल क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। वह उनकी भारतीय जीवन के लिए सबसे बड़ी विरासत है। भारतीय जीवन के प्रवाह को नियंत्रित रखने वाली ये दोनों धाराएं नदी के दो किनारों के समान है। उन दोनों को निखारकर सुधारने और सुदृढ़ बनाने वाले भगवान महावीर को हमारे शत-शत प्रणाम हैं।

---

# आत्म-दमन

**मुनिश्री नथमल**

भारतीय दर्शन आत्म-दमन पर विशेष बल देते रहे हैं। आज के मनोविज्ञान से प्रभावित मानव को यह अप्रिय लगता है। मैं औरों की बात क्या कहूँ। मैं अपने मन की बात आपको बताऊँ। मैंने जब-जब उत्तराध्ययन के निम्न दो श्लोक पढ़े तब-तब मेरा मन आहत-सा हुआ। वे श्लोक ये हैं—

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अाइसं लोए परत्थ य ॥१।१५॥
वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो बन्धणेहि वहेहि य ॥१।१६॥

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

मेरे साथी और भी बहुत होंगे? दमन शब्द मेरी तरह उनके मन को भी आहत करता होगा? आचार्य रजनीश जी का मन भी इसी शब्द से आहत हुआ है। उन्होंने लिखा है—"एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था : आत्म-दमन। प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है पर अपने से—अपने से घृणा करनी है, स्वयं अपने से शत्रुता करनी है, तब कहीं आत्म जय होती है। पर यह विचार जितना प्रचलित है उतना ही गलत भी है। इस मार्ग से व्यक्तित्व द्वैन में टूट जाता है और आत्महिंसा की शुरुआत होती है और हिंसा सब कुरूप कर देती है।

मनुष्य को वासनाएँ इस तरह दमन नहीं करनी हैं न की जा सकती हैं। यह हिंसा का मार्ग धर्म का मार्ग नहीं है। इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने ᐧ ा विकसित हो गए हैं। उनमें दीखती है तपश्चर्या, पर है वस्तुतः हिंसा का रस-दमन और प्रतिरोध का सुख। यह तप नहीं, आत्मवंचना है।" (क्रान्तिबीज पृष्ठ १०९)

आज दमन का अर्थ बदल गया है, इसलिए यह प्रयोग चुभता सा लगता है। किन्तु इसका मूल अर्थ मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। दमन शब्द दम धातु से निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है उपशम—शमु-दमु उपशमे। शान्त्याचार्य ने आत्मदमन का अर्थ किया है—आत्मिक-उपशमन।

महाभारत (आपद्धर्म पर्व, अध्याय १६०) में दमन की बहुत सुन्दर परिभाषा मिलती है। वहाँ लिखा है—

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं च मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१५॥
अकार्पण्य संरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता।
अविहिंसावसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥१६॥

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोध-हीनता, सन्तोष, प्रियवचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरो के दोष न देखना—इन सद्गुणों का उदय होना ही दम है।

दान्त का अर्थ है उपशान्त। जो उपशान्त होता है वह निम्न दोषों से अपना बचाव करता है। महाभारत (आपद्धर्म पर्व, अध्याय १६०) में लिखा है—

गुरुपूजा च कौरव्यं दया भूतेष्व पैशुनम्।
जनवादं मृषावादं स्तुति निंदा विसर्जनम् ॥१७॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
सेषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥१८॥

कुरुनन्दन! जिसने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनों के प्रति आदर का भाव, समस्त

# महर्षि वाल्मीकि और श्रमण-संस्कृति

**मुनि श्री विद्यानन्द**

आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव के विषय में जैनेतर साहित्य के शोध विद्वानों को हिन्दू पुराणों, उपनिषदों और उनके मूल उद्गमस्रोत वेदों में पुष्कल सामग्री उपलब्ध हुई है। यह विपुल सामग्री इस बात का मुखर साक्ष्य उपस्थित करती है कि प्राचीन समय में श्रमण संस्कृति की अभिज्ञता आज की अपेक्षा अधिक थी और वैदिक उसे श्लाघा की दृष्टि से देखते थे। राष्ट्र में एक उत्साह था और मनीषी एक राष्ट्र में प्राणवन्त होकर बहती हुई अन्य संस्कृति का परिज्ञान अपनी पूर्णता के लिए आवश्यक समझते थे। महर्षि बाल्मीकि के योगवासिष्ठ तथा रामायण का हिन्दू जगत् में बहुत समादर है और इन आर्षग्रन्थों को आप्त वाक्यता प्राप्त है। जिस भावप्रवणता के साथ उन्होंने अपने ग्रन्थों मे श्रमण संस्कृति के पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार किया है उससे निस्सन्देह यह प्रमाणित होता है कि उनके मानस मे श्रमणों की विचारधारा के प्रति पर्याप्त सम्मान था और विस्तृत जानकारी तो थी ही। सहस्रातिसहस्र वर्ष प्राचीन इन ग्रन्थो में उल्लिखित सामग्री का यह चयन देश की दो विशाल संस्कृतियों की भावात्मक एकता के लिए शृंखला समान हो और श्रमणधारा की व्यापक गतिविधि की अभिन्नता का निर्देश करे इस दृष्टि से उपर्युक्त दोनों ग्रथो का संक्षिप्त सकलन नीचे की पक्तियों मे प्रस्तुत किया जा रहा है—

योगवासिष्ठ से उद्धृत अंश उसके निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित प्रथम-द्वितीय भाग, सन् १९३७ से संकलित हैं तथा रामायण के उद्धरण गीता प्रेस, गोरखपुर के प्रकाशित मूल संस्करण से लिये गये हैं।

श्रीरामचन्द्र ने ससार से अपना वैराग्य व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं जिनेन्द्र के समान अपने आत्मा में ही लीन रहना चाहता हूँ।

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मन:।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ॥१।१५।८

जिन नामक किसी जनपद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

जिननामैप तत्रास्ति श्रीमान् जनपदो महान्।
वल्मीकोपरि तत्रास्ति विहारी जनसंश्रय: ॥६।६६।८॥

वीतराग शब्द अपने मूल अर्थ मे अनक बार प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण है—

विगतेच्छाभयक्रोधो वीतरागो निरामय: ।१।६।४७
यदनेन किलोदारमुक्त रघुकुलेन्दुना।
वीतरागतया तद्धि वाक्पतेरप्यगोचरम् ॥१।३२।२५
वीतरागो निरायासो विमलो वीतकल्मष: ॥५।५।४७
सम: शान्तमन: मौनी वीतरागो विमत्सर. ॥६।६७।१०
चित्वाद् दृष्टात्मना नून संत्यक्तमननौजसा।
मनसा वीतरागेण स्वयं स्वस्थेन भूयते ॥५।५३।५८

---

प्राणियों के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निंदा स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जड़ता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरो का अपमान—इन दुर्गुणों का कभी सेवन नही करता।

दमन की परिभाषा शकराचार्य ने बहुत ही मूल स्पर्शी की है। उनके मतानुसार—

विषयेभ्य: परावर्त्य, स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां, स दम: परिकीर्तित: ॥

इसका अर्थ है इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने-अपने गोलक में स्थापित कर देना दम है।

मैं अनुभव करता हूँ कि दमन का मूल अर्थ समझने के पश्चात् अब मेरा मन आत्म-दमन का प्रयोग सुन कर आहत नहीं होता है। आत्म-दमन की प्रक्रिया मनोविज्ञान के प्रतिकूल है—इस मान्यता मे भी मैंने संशोधन कर लिया है।

जैनों दीक्षामुपादत्त यस्यां काये पि हेयता, जैनों ने काय को भी हेय तथा परपदार्थ माना है। इसे स्व मानना मिथ्याज्ञान है। योगवासिष्ठ की उक्ति है कि—

मिथ्याज्ञानविकारेस्मिन् स्वप्नसम्भ्रम—पत्तने।
काये स्फुटतरापाये क्षणमास्था न मे द्विज ॥१।१८।६०

अर्थात् यह शरीर स्वप्न में देखे गये पत्तन के समान हैं। इसका अपाय वियोग अवश्यम्भावी है। श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि इस पर मेरी क्षणिक आस्था भी नहीं है।

सम्यग्ज्ञान से ही मनुष्य ज्ञातज्ञेय होता है और भोगासक्ति का क्षय करता है। इस आशय को बड़े हृद्यरूप में महर्षि ने प्रस्तुत किया है—

सम्यक् पश्यति यस्तज्ज्ञो ज्ञातज्ञेयः स पण्डितः।
न स्वदन्ते बलादेव तस्मै भोगा महात्मने ॥२।२।७

सम्यग्दर्शनविषयक निरूपण अनेक स्थलों में करते हुए बाल्मीकि लिखते हैं—

किं कुर्वन्तीह विषया मानस्यो वृत्तयस्तथा।
आधयो व्याधयो वापि सम्यग्दर्शन-सन्मतेः ॥५।६३।५
सम्यग्दर्शनमायान्ति नापदो न च सम्पदः ॥५।१२।६८
असम्यग्ज्ञानसम्भूता कल्पना मृगतृष्णिका ॥५।१३।६६
असम्यग्दर्शनं त्यक्त्वा सम्यक् पश्य सुलोचन।
न क्वचिन् मुह्यति प्रौढः सम्यग्दर्शनवानिह ॥५।८२।३२
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः।
संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥६।८२।१८

ऊपर के पद्यों में श्रमणसंस्कृति का पारिभाषिकपद प्रयोग ही नहीं किया गया है अपितु उसका सजीव चित्रण भी हुआ है। भगवान महावीर की विषय पराङ्मुखता तथा उन पर आये उपसर्ग, परीषहसहिष्णुता इत्यादि का उल्लेख ५।६३।५ वें पद्य में समासोक्ति से किया गया प्रतीत होता है। सम्यग्दर्शन और सन्मतेः दोनों पद सामान्य अर्थ से ऊपर सन्मति भगवान् महावीर के जानबूझ कर किए गए नामोल्लेख से प्रतीत होते हैं।

सम्यग्ज्ञानपरक पद्यों में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः सूत्र का ही जैसे विवेचन किया गया है। सम्यग्ज्ञान से प्रबुद्ध किया हुआ चेतन का निर्मलभाव ही मोक्ष है और हे श्रीराम, सम्यग्ज्ञान के बिना मनुष्य सिद्धि को प्राप्त नहीं होता तथा सम्यग्ज्ञानवान् शान्त एवं शुद्ध मुनि मनसे परिचालित विषयों के अधीन नहीं होता इत्यादि निरूपण पूर्ण वीतराग धर्म का प्रतिपादन करते हुए-से हैं—

सम्यग्विज्ञानवान् शुद्धो योन्तः शान्तिमना मुनिः।
न बाध्यते स मनसा करिणेव गजाधिपः ॥५।६४।८
सम्यग्ज्ञानं विना राम सिद्धिमेत्ति न कांचन ॥२।२०।३०
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम् ॥५।७३।३५

दिगम्बरत्व का प्रतिपादन करनेवाले निम्न दो पद्यों में दिगम्बरत्व को महात्याग कहा है। वीतराग और निर्ग्रन्थ मुनियों के उपस्थित रहते तीर्थतपसंग्रहों की चरितार्थता स्वयंसिद्ध है, इस आशय का निरूपण पठनीय है—

दिगम्बरो दिक्सदनो दिक्समो य महं स्थितः।
देवपुत्र, महात्यागात् किमन्यदवशिष्यते ॥६।६३।११
नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोनघ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थ-संग्रहैः ॥२।१६।११

केवलीभाव के निरूपण करने वाले तीन श्लोक इस प्रकार है—

अनपायि निराशंकं स्वास्थ्यं वि-तविभ्रमम्।
न विना केवलीभावाद् विद्यते भुवनत्रये ॥२।१३।३७
यद् द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद् बलात्।
तत् विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः ॥३।४।५३
त्रिजगत् त्वमहं चेति दृश्ये सत्तामुपागते।
द्रष्टुः स्यात् केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥३।४।५६

मिथिला के राजा जनक जो उपनिषदों के महान् विद्वान् तथा ऋषि-महर्षियों के साथ तत्त्वचर्चा करने वालों में प्रमुख हुए हैं उनके यहाँ श्रमण मुनि आहार लेते थे इसका उल्लेख करते हुए बाल्मीकि ने रामायण में लिखा है कि—

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणश्चैव भुञ्जते ॥१।१४।१२

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि 'भावस्य णत्थिणासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो तथा एवं सदो विणासो असदो जीवस्य णत्थि उप्पादो।' इसी आशय को व्यक्त करने वाला योगवासिष्ठ का श्लोक इस प्रकार है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

# साहित्य-समीक्षा

**१. करकण्डु चरिउ**—(हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद सहित) मुनिकनकामर सम्पादक अनुवादक डा० हीरालाल जैन एम. ए. डी. लिट्। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ ३६४ मूल्य सजिल्द प्रति का १०) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। इसमें १९९ कडवकों में राजा करकंडु का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। ग्रन्थ में अनेक आवान्तर कथानक दिए हुए हैं, जिससे मूल कथानक को समझने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। पर गौर से दृष्टि पात करने पर विषय सुलभ हो जाता है। ग्रन्थ में करकण्डु का जीवन-परिचय, जीवन-घटनाएँ तथा पूर्व जन्म-सम्बन्धी वृत्तान्त भी दिया हुआ है। डा० साहब ने पहले इस ग्रंथ को सम्पादित कर कारंजा सीरीज में प्रकाशित किया था, उस सस्करण में हिन्दी अनुवाद नहीं था। अब इस संस्करण में हिन्दी अनुवाद भी साथ में दे दिया गया है और अंग्रेजी प्रस्तावना में जहां-तहां संशोधन-परिवर्तन तथा परिवर्धन भी किया है। परिशिष्ट में नोट्स और शब्दकोष भी दिया है। जिससे पाठकों को वस्तु स्वरूप समझने में अत्यन्त सुविधा हो गई है। इससे अपभ्रंश साहित्य के प्रचार में सुविधा मिलेगी। प्राकृत और अपभ्रंश के क्षेत्र में डा० साहब की साहित्य-सेवाएँ महत्व-पूर्ण हैं। अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों का उन्होंने सम्पादन किया है और भविष्य में भी उनसे अन्य अनेक ग्रथों के सम्पादन की आशा है। इस सुन्दर संस्करण के प्रकाशन के लिए सम्पादक महानुभाव और ज्ञान पीठ के संचालक गण धन्यवाद के पात्र हैं।

**२. कर्म प्रकृति**—(संस्कृत हिन्दी टीका सहित) नेमचन्द्राचार्य, सम्पादक अनुवादक पं० हीरालाल शास्त्री प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य छह रुपया।

भारतीय विचारधारा में कर्म सिद्धान्त का महत्व-पूर्ण स्थान है, जैनधर्म का तो वह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है ही। इस सिद्धान्त का प्रतिपादक विपुल जैन साहित्य उप-लब्ध है। षट् खण्डागम आदि ग्रन्थों में इसका व्यवस्थित और सुविस्तृत सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड लब्धिसार क्षपणासार आदि मे इस विषय के शास्त्रों का सार लेकर सागर को गागर में समाविष्ट करने की कहा-वत को चरितार्थ किया है।

प्रस्तुत कर्म प्रकृति नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त एवं सरल रूप से कर्म सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। हिन्दी अनुवाद के साथ परिशिष्टों में विभिन्न प्रकृतियों के रेखा चित्र देकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण कर्म प्रकृति का यह संस्करण जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बन गया है।

कुछ वर्ष पूर्व मैंने इस संग्रह की गाथाओं से गोम्मट-सारकर्मकाण्ड की त्रुटि पूर्ति करने के लिए लेख लिखा था। उस सम्बन्ध में डा० हीरालाल जी से उत्तर प्रत्युत्तर भी हुए। परन्तु उन्होंने उसकी त्रुटि को स्वीकार नहीं किया,

---

यत्तु नास्ति स्वभावेन कः क्लेशस्तस्य मार्जने ॥३।७।३८
यही श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता में है जिसकी द्वितीय पंक्ति परिवर्तित रूप में इस प्रकार है—
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥'

ब्रह्म का निरूपण अपने-अपने ढंग से सभी ने किया है। बाल्मीकि ने उन अलग-अलग सम्प्रदायों का नाम निर्देश करते हुए लिखा है—

वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुत्र्यक्षादि सूक्तादृशो
ब्रह्मैव स्फुरितं तदात्मकलया तादात्म्यनित्यं यतः।
तेषां चात्मविदोनुरूपमखिलं स्वर्गम् फलं तद्भवे-
दस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा सर्वात्म यत्तद् वपुः॥
(उत्तरार्द्ध ६।१७३।३४)

उस अपने युग के तत्वचिन्तक मनीषी और राष्ट्र-कवि महर्षि बाल्मीकि द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का अवलोकन करने वालों को सम्भवतः इससे भी अधिक जैन-वाङ्मय-विषयक जानकारी मिल सकेगी। इत्यलम्

जब कि अन्य विद्वानों ने स्वीकार किया था परन्तु श्रीजुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'गोम्मटसार और नेमिचन्द्र' नाम के अपने लेख में (अनेकान्त वर्ष ८ किरण ८-९) में मूडबिद्री की पुरानी ताडपत्रीय प्रति से कर्मकाण्ड के उन त्रुटित अंशों में प्राकृत के गद्य सूत्र यथा स्थान निबद्ध दिखलाये थे, जिनका अनुवाद संस्कृत टीकाकार ने दिया है। उससे कर्मकाण्ड की त्रुटि की पूर्ति हो जाती है। अस्तु। ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर हुआ है, इसके लिए ज्ञान पीठ के संचालक धन्यवाद के पात्र हैं।

३. **समयसार कलश** (सटीक)—मूल-आचार्य *अमृतचन्द्र अनुवादक पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री,* प्रकाशक दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) कागज छपाई सफाई उत्तम मूल्य सजिल्द प्रति का २) रुपया।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयसार पर आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत गद्य में आत्मख्याति नाम की टीका बनाई है उसमें बीच बीच में संस्कृत पद्य भी हैं जिनमें मूलगाथा का पूरा भाव समाविष्ट है। और वे पद्य समयसार कलश के नाम से अलग लिए गये है। उनकी ढुढारी भाषा मे टीका पाडे राजमल ने बनाई थी। उस टीका पर से पं० बनारसीदास ने नाटक समयसार की हिन्दी पद्यों में रचना की थी। यह टीका अपने मूलरूप से ब्र० शीतल प्रसाद जी के हिन्दी सार के साथ सूरत से प्रकाशित हो चुकी है। और उसमें नाटक समयसार के पद्य भी मुद्रित हुए हैं। परन्तु प्रस्तुत संस्करण उस ढुढारी भाषा का आज की भाषा मे परिवर्तित रूप है। मूल भाषा के साथ उसके रूपान्तर का मिलान बहुत सावधानी से किया गया है, जिससे अभिप्राय में अन्तर न पड़े।

इस टीका के कर्त्ता वही राजमल है जो पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों के कर्त्ता हैं, चूंकि उनकी इस भाषा की पहली टीका थी, इसलिये इसमें कुछ कमी हो सकती है। हम प्रत्येक विद्वान की कृति को उसके परिपक्व अनुभव की कृति के साथ मापने का प्रयत्न करते हैं। इसी से हमें उसके एक कर्तृत्व पर सन्देह होने लगता है। पर गहरी दृष्टि से छान-बीन करने पर वह दूर हो जाता है। टीका में खण्डान्वय के साथ एक-एक शब्द का अलग-अलग अर्थ देते हुए साथ में भावार्थ द्वारा पद्य के हार्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री का नाम सम्पादक में देना चाहिए था अनुवादक में नहीं।

ग्रन्थ का प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर हुआ है। मोटा पुष्ट कागज और भक्ति के साथ पद्य लाल और सुनहरी स्याही मे छपाए गए हैं। इससे ग्रन्थ की लागत ५) रुपया आई है। परन्तु दातारों द्वारा घाटे की पूर्ति कर २) रुपया मात्र मूल्य में दिया जा रहा है। दिगम्बर जैन समाज में इतना सस्ता और सुन्दर प्रकाशन भक्ति भाव से शायद ही किया गया हो।

४. **प्रवचनसार** :—(संस्कृत हिन्दी टीका सहित) मूलकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द, संस्कृत टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, हिन्दी अनुवादक पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, ललितपुर। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) पृष्ठ ४३५ सजिल्द प्रति का ४) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है, ग्रन्थ तीन अधिकारों मे विभक्त है। ज्ञान, ज्ञेय और चरित्र इन तीनों ही अधिकारों मे वस्तुतत्त्व का स्पष्ट विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की मूल गाथाए कुन्दकुन्दाचार्य के परिपक्व अनुभव की सूचक है और इसीसे वे गम्भीर अर्थ की प्रूपक हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने गाथाओं की विशद व्याख्या की है। उसीका अविकल हिन्दी अनुवाद संस्कृत टीका के साथ दिया गया है। प्रवचन सार के पठन-पाठन की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है, आगरा, जयपुर, सागानेर, कामा आदि प्रसिद्ध नगरों की आध्यात्म शैलियों में वाचन- चिन्तन होता रहा है। इसके तीन हिन्दी पद्यानुवाद भी कवियों द्वारा लिखे गये हैं, जिनमे कविवर वृन्दावन का पद्यानुवाद तो 'प्रवचन परमागम' के नाम से छप चुका है, परन्तु शेष दो अनुवाद अभी तक प्रकाशित नही हो सके, उनको प्रकाश में लाने की जरूरत है। इस ग्रन्थ की प्राकृत भाषा प्रौढ़ और महत्वपूर्ण है, और उसकी प्राचीनता श्वेताम्बरीय आगमसूत्रों की भाषा से भी अधिक है। इस विषय पर डा० सत्यरंजन बनर्जी ने अपने लेख में पर्याप्त प्रकाश डाला

है, जो बीकानेर की दर्शन परिषद में पढ़ा गया था।

ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर हुआ है, और वह भक्तिवश दो स्याही में छापा गया है। और प्रचार की दृष्टि से उसका मूल्य भी कम रक्खा गया है। इस सुन्दर सस्करण के लिए दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट धन्यवादार्ह हैं। वास्तव में सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रकाशन इसी तरह होना चाहिये।

**५. सिलवर जुबली स्मारिका एवं हू इज हू** :—सम्पादक चक्रेश कुमार बी. काम एल. एल-बी. और मुनीन्द्रकुमार एम. ए. बी. एस-सी. एल. एल. बी.। प्रकाशक, मत्री जैन सभा नई दिल्ली, मूल्य ५० नया पैसा।

प्रस्तुत पुस्तिका जैन सभा नई दिल्ली के सिल्वर जुबली उत्सव के अवसर पर प्रकाशित हुई है। इसके प्रारम्भ में नए मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली की मूलवेदी में विराजमान सं० १६६१ की प्रतिष्ठित भगवान आदिनाथ की मूर्ति का चित्र अंकित है। बाद में राष्ट्रपति राधा कृष्णन का चित्र दिया है, और पश्चात् अन्य पदाधिकारियों के चित्रों के साथ उनकी सभा के प्रति शुभ कामनाएं दी हुई हैं। उसके बाद डा० ए. एन उपाध्ये एम- ए. डी. लिट् का भगवान महावीर के जीवन और शासन पर प्रकाश डालने वाला महत्वपूर्ण लेख दिया है, पश्चात् अन्य लेखकों के हिन्दी अंग्रेजी के संक्षिप्त सरल एवं पठनीय लेख दिये है। और अन्त मे जैन सभा नई दिल्ली के सदस्यो और पदाधिकारियों का परिचय दिया हुआ है . इन सबके कारण स्मारिका सुन्दर बन पड़ी है। छपाई सफाई सुन्दर और आकर्षक है। इसके लिए सम्पादको को अधिक परिश्रम करना पड़ा है जिसके वे धन्यवाद के पात्र हैं। प्रचार की दृष्टि से स्मारिका का मूल्य कम है। आशा है समाज उसे अपनाएगी।

**६. सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रन्थ** :—प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर पचायती मंदिर सार्द्ध शताब्दि महोत्सव समिति १३९, काटन स्ट्रीट कलकत्ता ७। पृष्ठ सख्या १४२ मूल्य सजिल्द प्रति का २) रुपया।

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ में कलकत्ता के श्वेताम्बर जैन पंचायती मन्दिर का इतिहास देते हुए वहां के अन्य श्वेताम्बर जैन मन्दिरों का सचित्र परिचय दिया है, साथ में दिगम्बर मंदिरों का यथा स्थान उल्लेख एवं संक्षिप्त परिचय अंकित है। कलकत्ता के कार्तिकी महोत्सव का भी परिचय दिया गया है।

स्मारिका में कई लेख महत्वपूर्ण और सुन्दर है। जैन सिद्धान्त मे पुद्गल द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त दुलीचन्द जैन मुंगावली का यह लेख पठनीय है। बिहार का ताम्र शासन बाबू छोटेलाल जी का लेख भी पठनीय है। हिन्दी के प्राचीन नीति-काव्य में जैन विद्वानों का योगदान डा० राम स्वरूप का लेख और जैन स्तोत्र साहित्य आदि के लेख भी महत्व पूर्ण है। इस तरह यह स्मृति ग्रन्थ सचित्र और आकर्षक भी है।

ग्रन्थ का चयन और प्रकाशन सुन्दर हुआ है इसके लिये सार्द्ध शताब्दी महोत्सव समिति के सदस्यगण धन्यवाद के पात्र हैं। **—परमानन्द शास्त्री**

---

# श्री सम्मेद शिखर तीर्थ रक्षा

तीन मई सन् १९६५ के ऐतिहासिक जलूस ने, जहां समाज में नई जागृति और क्रान्ति उत्पन्न की है। नया जोश, नया उत्साह और नया जीवन दिया है। वहां सरकार पर भी अपना प्रभाव अंकित किया है, किन्तु अभी तो समाज को आगे बहुत कुछ काम करना शेष है। दिगम्बर जैन समाज को अब पूर्णतया संगठित हो जाना चाहिए। और उस एक पक्षीय इकरारनामे को रद्द कराने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। उक्त पैक्ट एक पक्षीय और अत्यन्त साम्प्रदायिक है, उसमें दिगम्बरत्व को कोई स्थान नहीं है, किन्तु उसमें दिगम्बरत्व के प्राचीन अधिकारों को उखाड़ फेंकने का पूरा प्रयत्न किया गया है। करार के छठे नम्बर का सारा ही वाक्य विन्यास अत्यन्त आपत्तिजनक है। सम्मेद शिखर को श्वेताम्बरों से भी अधिक पूज्य मानने वाले तथा अर्चना पूजा करने वाले दिगम्बरों का उसमें कोई स्थान नहीं रहा, यह सब जान-बूझ कर किया गया है। फिर भावनगर से प्रकाशित 'श्वेताम्बर जैन' पत्र उल्टी वकालत करता है, जब कि उक्त पैक्ट स्पष्ट शब्दों में उसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय का बतला रहा है, और बिहार सरकार की स्वीकारिता वास्तविकता के बिल्कुल प्रतिकूल है।

प्रधान मंत्री ने जलूस में जैन जनता को जो आश्वासन दिया है, उससे बहुत सम्भव है कि उक्त पैक्ट रद्द हो जाय। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शास्त्री जी अपनी घोषणा के मूल्य को आंकते हुए उसे रद्द करने का पूरा प्रयत्न करेंगे। जिससे साम्प्रदायिक तनाव न बढ़े और एकता तथा सौहार्द्र बना रहे।

दिगम्बर जैन समाज का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकार की रक्षार्थ अपनी अमूल्य सेवाएँ प्रस्तुत करने के लिए तय्यार रहे। समाज अपने उत्साह को और भी संगठित तथा सुदृढ़ करने का प्रयत्न करे। और तीर्थ रक्षार्थ अर्थ का प्रबन्ध करे। क्योंकि श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों से तीर्थ क्षेत्रों को लेकर चलने वाले द्वन्द्व कभी समाप्त नहीं होंगे। अतः दिगम्बर समाज को भी आनन्द कल्याण की पीढ़ी की तरह 'तीर्थ रक्षा फन्ड ट्रस्ट' कायम करना होगा, उसके बिना सुरक्षा सम्भव नहीं हो सकती। आशा है समाज 'तीर्थ रक्षा फण्ड ट्रस्ट' को कायम करने के लिए पूरा प्रयत्न करेगी। 'यही दिगम्बर नारा है सम्मेद शिखर हमारा है' इस नारे के पीछे जो भक्ति का अमित स्रोत अंकित है, वह तीर्थ रक्षा के प्रभाव से सरावोर है। युवक-युवतियों को श्रद्धा के साथ उसकी भावना करनी चाहिए, और अपने कर्तव्य की ओर दृष्टि डालनी चाहिए।

सेठ कस्तूर भाई लाल भाई का वह भ्रामक वक्तव्य अब दिगम्बर समाज को अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता, और न उनकी मीठी बातों के भ्रमजाल में अपना सनातन हक ही छोड़ सकता है। सभी क्षेत्रों पर कब्जा करने की बात सभी को विदित है। अतः उस दृष्टि को बदल देनी चाहिए। दुनिया बदल गई, पर जैन समाज नहीं बदला, उल्टा उसमें विरोध उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

धर्म वीरो! जागो और सचेत हो जाओ! धर्म पर आने वाली आपदाओं को हटा कर धर्म रक्षा करना परम कर्तव्य है। आशा है समाज उक्त करार को रद्द कराने में अपने प्राणों का बलिदान करने से भी नहीं हिचकिचायेगा। और अपने संगठन के संतुलन को बनाये रक्खेगी।

—प्रेमचन्द जैन

# रा० ब० सेठ लालचन्द जी सेठी का स्वर्गवास

जैन समाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता और समाज सेवी सेठ लालचन्द जी सेठी का हृदय गति बन्द हो जाने से १७ अप्रेल को स्वर्गवास हो गया। आप अनेक जैन सस्थाओं के संचालक थे। और बड़े ही लोकप्रिय थे। अन्त समय मे आपने डाक्टरी उपचार भी नही कराया और भगवान महावीर का नाम लेते-लेते इस नश्वर शरीर का परित्याग किया। यद्यपि यह आपके पौत्र भूपेन्द्रकुमार जी और तेजकुमार जी पर गहरा वज्राघात है। पर विधि का विधान ही ऐसा है, इसमे किसी का वश नहीं चलता। भगवान से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा परलोक मे सुख-शान्ति प्राप्त करे और कुटुम्बी जनों को वियोग जन्य दु.ख सहने की क्षमता प्राप्त हो।

सेठ साहब के परिवार ने सेठ साहब की स्मृति में दो लाख रुपये के दान की घोषणा की है। आशा है उससे कोई ठोस कार्य सम्पन्न होगा।

—अनेकान्त परि॰

## वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५० ) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५ ) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) , प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१० ) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर
१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

## वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

### सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (१६) महावीर पूजा ।)

(१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स० पं० परमानन्द शास्त्री सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

---

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित

द्वै मासिक जून १९८

# अनेकान्त

श्री पार्श्वनाथ की एक खण्डित मूर्ति, बजरंग गढ़
छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १. सुमति-जिन-स्तुति—समन्तभद्राचार्य | ४६ |
| २. यशस्तिलक कालीन आर्थिक जीवन—गोकुलचन्द जी जैन एम. ए. आचार्य | ५० |
| ३. परीक्षामुख के सूत्रों और परिच्छेदों का विभाजन : एक समस्या—पं० गोपीलाल 'अमर', एम. ए. साहित्य शास्त्री | ५६ |
| ४. भूपाल चौबीसी की एक महत्वपूर्ण सचित्र प्रति—अगरचन्द नाहटा | ५६ |
| ५. जैन दर्शन में अर्थाधिगम-चिन्तन—पं० दरबारीलाल न्यायाचार्य कोठिया एम. ए. | ६१ |
| ६. बजरंग गढ का विशद् जिनालय—श्री नीरज जैन | ६५ |
| ७. क्षपणासार के कर्ता माधवचंद—श्री पं० मिलापचन्द कटारिया, केकड़ी | ६७ |
| ८. ३८वें ईसाई तथा ७वे बौद्ध विश्व-सम्मेलनो की श्री जैन सघ को प्रेरणा—श्री कनकविजय जी मामूरगंज, वाराणसी | ७० |
| ९. श्री बाबू छोटेलाल जी जैन का सक्षिप्त जीवन-परिचय | ७७ |
| १०. श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रथ—डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल एम. ए. | ७८ |
| ११. श्रीपुर पार्श्वनाथ मन्दिर के मूर्ति-यंत्र-लेख-सग्रह—पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन, देउलगांव | ८० |
| १२. ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ—परमानन्द जैन शास्त्री | ८२ |
| १३. दो ताड़-पत्रीय प्रतियों की ऐतिहासिक प्रशस्तियां—श्री भंवरलाल नाहटा | ८५ |
| १४. जयपुर की संस्कृत-साहित्य को देन 'श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण'—डा० श्री प्रभाकर शास्त्री एम. ए. पी-एच. डी | ८७ |
| १५. शोध-कण—परमानन्द जैन शास्त्री | ९० |
| १६. जैनधर्म और जातिवाद—कमलेश सक्सेना, मेरठ | ९३ |
| १७. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री | ९५ |


## अनेकान्त को सहायता

५) बा० देवकुमार जी जैन पानीपत ने अपने पिता पं० मुनि सुव्रतदास की मृत्यु समय निकाले हुए दान में से सधन्यवाद प्राप्त।

—व्यवस्थापक
'अनेकान्त'

## सूचना

जिन ग्राहकों ने १८वें वर्ष के 'अनेकान्त' का वार्षिक मूल्य अब तक भी नहीं भेजा है वे शीघ्र ही मनीआर्डर से अपना वार्षिक मूल्य ६) भेज दें, अन्यथा तीसरा अंक उन्हें ६—८० पैसे की वी० पी० से भेजा जावेगा।

—व्यवस्थापक
अनेकान्त
वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

**सम्पादक-मण्डल**

**डा० आ० ने० उपाध्ये**
**डा० प्रेमसागर जैन**
**श्री यशपाल जैन**


**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**
**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०**


---

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १८ किरण-२ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | जून
वीर निर्वाण संवत् २४९१, वि० सं० २०२२ | सन् १९६५

## सुपार्श्व-जिन-स्तुति

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।
भवाने कोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः ।।२६।।

—समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे भगवन् ! सुपार्श्वनाथ ! आप, स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले—दोनों के विषय में समान हैं—राग-द्वेष से रहित हैं ! सबको पवित्र करने वाले हैं। सबको हित का उपदेश देकर कर्म-बन्धन से छुटाने वाले हैं। अतः आप एक असहाय (दूसरे पक्ष में प्रधान) होने पर भी नेता की तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय हैं।

भावार्थ—जिस तरह एक ही नेता अनेक आदमियों को सम्यक् मार्ग का प्रदर्शन कर इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है उसी तरह आप भी अनेक जीवों को मोक्ष मार्ग बतला कर इष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं, स्वयं भी पहुँचे हैं। अतः आप हम सबकी श्रद्धा और भक्ति के भाजन हैं ॥२६॥

# यशस्तिलक कालीन आर्थिक जीवन

गोकुलचन्द जी जैन एम. ए. आचार्य

सोमदेव ने यशस्तिलक (६५९६०) में कृषि, वाणिज्य सार्थवाह, नौसन्तरण और विदेशी व्यापार, बिनिमय के साधन, न्यास इत्यादि के विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। संक्षेप में उसका परिचय निम्न प्रकार है -

**कृषि—**

कृषि के लिए अच्छी और उपजाऊ जमीन, सिंचाई के साधन, सहज प्राप्य श्रम और साधन आवश्यक हैं। सोमदेव ने यौधेय जनपद का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ की जमीन काली थी।१ सिंचाई के लिए केवल वर्षा के पानी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था।२ श्रमिक भी सहज रूप में उपलब्ध हो जाते थे। कुछ श्रमिक ऐसे होते थे जो अपने-अपने हल इत्यादि कृषि के औजार रखते थे तथा बुलाये जाने पर दूसरों के खेत जोत-बो आते थे। सोमदेव ने ऐसे श्रमिकों के लिए 'समाश्रित प्रकृति' पद का प्रयोग किया है।३ श्रुतसागर ने इसका अर्थ अठारह प्रकार के हलजीवि किया है। इस प्रकार के हलजीवियों की कमी नहीं थी४।

खेती करने में विशेषज्ञ व्यक्ति क्षेत्रज्ञ कहलाता था। उसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा भी होती थी।५ कृषि की समृद्धि का एक कारण यह भी था कि सरकारी लगान उतना ही लिया जाता था, जितना कृषिकार सहज रूप में दे सके६। यही सब कारण थे कि कृषि की उपज पर्याप्त होती थी और वसुन्धरा पृथिवी चिन्तामणि के समान शस्य सम्पत्ति लुटाती थी।७ इतनी उपज होती थी कि बोये हुए खेत की लुनाई करना, लुने धान की दौनी करना और दौनी किए धान को बटोरकर संग्रह करना मुश्किल हो जाता था८।

खेत में बीज डालने को वप्त कहा जाता था। पके खेत को काटने के लिए लवन कहते थे तथा काटी गयी धान की दौनी को विगाना कहा जाता था।

पर्याप्त धान से समृद्ध प्रजा के मन में ही यह विचार सम्भव था कि हमारी यह पृथ्वी मानो स्वर्ण के कल्पद्रुमों की शोभा को लूट रही है ६।

अनुपजाऊ जमीन ऊषर कहलाती थी। जैसे मूर्खों को तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है, उसी प्रकार ऊषर जमीन को जोतना-बोना और उसमें पानी देना व्यर्थ है१०।

**वाणिज्य—**

वाणिज्य की व्यवस्था प्रायः दो प्रकार की होती थी— स्थानीय तथा जहाँ दूर-दूर के व्यापारी जाकर धंधा करें।

स्थानीय व्यापार के लिए हर वस्तु का प्रायः अपना-अपना बाजार होता था। केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित वस्तुएँ जिस बाजार में बिकती थीं वह सौगन्धियों का बाजार कहलाता था११। वास्तव में यह बाजार का एक भाग होता था, इसलिए इसे विपणि कहते थे। इस बाजार

---

१. कृष्ण भूमयः, पृ० १३
२. अदेवमाष्टका, वही। सुलभजलः, वही
३. समाश्रित प्रकृतयः, वही
४. हलबहुलः, वही
५. क्षेत्रज्ञप्रतिष्ठाः, वही
६. भर्तृकरसंबाधसहाः, पृ० १४
७. वपत्रक्षेत्रसंजातसस्यसम्पत्ति वन्धराः।
चिन्तामणिसमारम्भाः सन्ति यत्र वसुन्धराः॥ पृ०१६
८. लवने यत्र नोप्तस्य लूनस्य न विगाहने।
विगाढस्य च धान्यस्य नालं संग्रहणे प्रजाः॥ पृ० १६
९. प्रजा प्रकामसस्याढ्या सर्वदा यत्र भूमयः।
मुष्णन्तीवामरावासकल्पद्रुमवनश्रियम्॥ पृ० १९८
१०. यद्भवेनमुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत्, पृ० २८२ उत्त०
११. सौगन्धिकानां विपणिविस्तारेषु, पृ० १८ उत्त०

में केसर, चन्दन, अगुरु आदि सुगन्धित वस्तुओं का ही लेन-देन होता था१२।

जिस बाजार में माली पुष्पहार बेचते थे, उसे सोमदेव ने श्रमजीवियों का आपण कहा है१३। श्रमजीवी मालाएँ हाथों में लटका-लटका कर ग्राहकों को अपनी ओर आकृष्ट करते थे१४।

बाजार प्रायः आम रास्तों पर ही होते थे। सोमदेव ने लिखा है कि सायंकाल होते ही राजमार्ग खचाखच भर जाते थे१५। भीड़ में कुछ तो ऐसे नागरिक होते थे, जो रात्रि के लिए सम्भोगोपकरणों का इन्तजाम करने उत्साहपूर्वक इधर-उधर घूम रहे होते१६। कुछ रूप का सौदा करने वाली वार-विलासिनियाँ घमण्डपूर्वक अपने हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई कामुकों के प्रश्नों की उपेक्षा करती टहल रही होतीं१७। कुछ ऐसी दूतियाँ जिनके हृदय अपने पतियों द्वारा सुनाई गयी किसी अन्य स्त्री के प्रेम की घटना से दुःखी होते, अपनी सखियों की बातों का उत्तर दिए बिना ही चहलकदमी कर रही होतीं१८।

**पेण्ठा स्थान**—

व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियाँ पेण्ठा स्थान कहलाती थीं। पेण्ठा स्थानों में व्यापारियों को सब प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध रहता था। यहाँ दूर-दूर तक के व्यापारी आकर अपना धन्धा करते थे। सोमदेव ने एक पेण्ठास्थान का सुन्दर वर्णन किया है। उस पेण्ठास्थान में कनातें तानकर अलग-अलग दुकानें बनाई गई थीं। सामान की सुरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी खोड़ियाँ या स्टोर हाउस थे। पोखरों के किनारे पशुधन की व्यवस्था थी। पानी, अन्न, ईन्धन तथा यातायात के साधन सरलता से उपलब्ध हो जाते थे। सारा पेण्ठास्थान चार मील के घेरे में फैला था। चोरों आदि से सुरक्षा के लिए अहाता और खाई थे। आने-जाने के लिए निश्चित दरवाजे और मुख्य द्वार थे। सैनिक सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध था। हर गली में प्याऊ, भोजनालय, सभाभवन पर्याप्त थे। जुआड़ी, चोर-चपाटों और बदमाशों पर खास निगाह थी कि वे भीतर न आने पावें। शुल्क भी यथोचित लिया जाता था। नाना देशों के व्यापारी वहाँ व्यापार के लिए आते थे१९।

यह पेण्ठास्थान श्रीभूति नामक एक पुरोहित द्वारा संचालित था और उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रतीत होता है। किन्तु प्राचीन भारत में राज्य द्वारा इस प्रकार के पेण्ठास्थानों का संचालन होता था। स्वयं सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि न्यायपूर्वक रक्षित पिण्ठा या पेण्ठास्थान राजाओं के लिए कामधेनु के समान है२०। नीतिवाक्यामृत के टीकाकार ने पिण्ठा का अर्थ 'शुल्क-स्थान' किया है तथा शुक्राचार्य का एक पद्य उद्धृत किया है कि व्यापारियों से अधिक शुल्क नहीं लेना चाहिए और यदि पिण्ठा से किसी व्यापारी का कोई माल चोरी चला

१२. परिवर्तमानकाश्मीरमलयजागुरुपरिमलोद्‌गारसारेषु, वही

१३. स्रगाजीविनामापणरंगभागेसु, पृ० १८ उत्त०

१४. करविलम्बितकुसुमसरसौरभसुमनेपु. वही

१५. समाकुलेपु समन्ततो राजवीथिमण्डलेषु, वही

१६. ससंभ्रममितस्ततः परिसर्पता संभोगोपकरणाहितादरेण पौरनिकरेण, वही

१७. निजविलासदर्शनाहंकारिमनोरथाभिरवधीरितविटमुधाप्रश्नसंकयाभिः पण्यांगनासमितिभिः, पृ० १९ उत्त०

१८. आत्मपतिसंदिष्टघटनाकुपितहृदयेनावधीरितसखीजनसंभाषणोत्तरदानसमयेनसंचरितसंचारिकानिकायेन, वही

१९. स किल श्रीभूतिर्विश्वासरसनिघ्नतया परोपकारनिघ्नतया च विभक्तानेकापवरकरचनाशालिनीभिर्महामाण्डवाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः कुल्याभिः समन्वितम्, अतिसुलभजलयवसेन्धनप्रचारम्, भण्डनारम्भोद्भटभरीरपेटकपक्षरक्षासारम्, गोरुतप्रमाण वप्रप्राकारप्रतोलिपरिखासूत्रितत्राणं प्रपासत्रसमासनाथवीथिनिवेशनं पण्यपुटभेदनं विदूरितकितवविटविदूषकपीठमर्दावस्थानं पेण्ठास्थानं विनिर्माप्य नानादिग्देशोपसर्पणयुजां वणिजां प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत्। पृ० ३४५ उत्त०

२०. न्यायेनरक्षिता पण्यपुटभेदिनिपिण्ठा राज्ञां कामधेनुः। नीति० १९।२१

जाए तो उसे राजकीय कोष से भरना चाहिए२१।

सोमदेव ने पिण्ठा को पण्यपुटभेदिनी कहा है। टीकाकार ने इसका अर्थ वणिकों की कुंकुम, हिंगु वस्त्र आदि वस्तुओं को संग्रह करने का स्थान किया है२२। यशस्तिलक के विवरण से ज्ञात होता है कि पेण्ठा स्थान व्यापार के बहुत बड़े साधन थे और व्यापारिक समृद्धि में इनका महत्वपूर्ण योगदान था।

**सार्थवाह :**

यशस्तिलक में सार्थवाह के लिए सार्थ (१६) सार्थपार्थिव (२२५ उत्त०) तथा सार्थानीक (२६३ उत्त०) शब्द आये हैं। समान या सहयुक्त अर्थ (पूंजी) वाले व्यापारी जो बाहरी मण्डियों से व्यापार करने के लिए टांडा बांध कर चलते थे, सार्थ कहलाते थे। उनका नेता ज्येष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था२३। इसका निकटतम अंगरेजी पर्याय कारवान लीडर है। हिन्दी का साथ शब्द संस्कृत के सार्थ से ही निकला है, किन्तु उसका वह प्राचीन अर्थ लुप्त हो गया है। प्राचीनकाल में यात्रा करना उतना निरापद नहीं था, जितना अब हो गया है। डाकुओं और जंगली जानवरों से घनघोर जंगल भरे पड़े थे, इसलिए अकेले-दुकेले यात्रा करना कठिन था। मनुष्य ने इस कठिनाई से पार पाने के लिए एक साथ यात्रा करने का निश्चय किया, और इस तरह किसी सुदूर भूत में सार्थ की नींव पड़ी। बाद में तो यह दूर के व्यापार का एक साधन बन गया२४।

सार्थवाह का कर्त्तव्य होता था कि वह सार्थ की सुरक्षा करते हुए उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचाये। सार्थवाह कुशल व्यापारी होने के साथ-साथ अच्छा पथ-प्रदर्शक भी होता था। आज भी जहाँ वैज्ञानिक साधन नहीं पहुँच सके हैं, वहाँ सार्थवाह अपने कारवाँ वैसे ही चलाते हैं, जैसे हजार वर्ष पहले। कुछ ही दिनों पहले शिकारपुर के साथ (सार्थ के लिए सिंधी शब्द) चीनी तुर्किस्तान पहुँचने के लिए काराकोरम को पार करते थे। आज दिन भी तिब्बत का व्यापार साथों द्वारा होता है२५।

प्राचीनकाल में कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बनाकर व्यापार के लिए उठता था। उसके सार्थ में और भी लोग सम्मिलित हो जाते थे। इसके निश्चित नियम थे। सार्थ का उठना व्यापारिक क्षेत्र की बड़ी घटना होती थी। धार्मिक यात्रा के लिए जिस प्रकार संघ निकलते थे और उनका नेता संघपति (संघवई, संघवी) होता था, वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र में सार्थवाह की स्थिति थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि भारतीय व्यापारिक जगत में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुनने वाले सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान्, साहस के भण्डार, व्यापारिक सूझ-बूझ में पगे, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखने वाले, नई स्थिति का स्वागत करने वाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पल्लव, रोमक, ऋषिक, हूण आदि विदेशियों के साथ कन्धा रगड़ने वाले, उनकी भाषा और रीति-नीति के पारखी भारतीय सार्थवाह महोदधि के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से सीरिया की अन्ताखी नगरी तक यव द्वीप-कटाहद्वीप (जावा और केडा) से चोलमण्डल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन, बर्बर देशों तक के विशाल जल, थल पर छा गये थे२६।

यशस्तिलक में सुवर्णद्वीप और ताम्रलिप्ति के व्यापार का उल्लेख है। पद्मिनी खेटपट्टन का निवासी भद्रमित्र अपने समान धन और चरित्र वाले वणिक् पुत्रों के साथ, सुवर्णद्वीप के लिए गया। वहाँ उसने बहुत धन कमाया और मन वांछित सामग्री लेकर लौट पड़ा। रास्ते में

---

२१. तथा च शुक्रः—ग्राह्यं नेवाधिकं शुल्कं चौरैर्यच्चाहृतं भवेत्। पिण्ठायां भुभुजा देयं वणिजां तत स्वकोशतः वही, टीका

२२. पण्यानि वणिग्जनानां कुंकुमहिंगुवस्त्रादीनि क्रयाणकानि तेषां पुटाः स्थानानि भिद्यन्ते यस्यां सा पण्यपुटभेदिनी। वही, टीका

२३. समानधनचारित्रैर्वणिकपुत्रैः। पृ० ३४५ उत्त०
तुलना—सार्थन् सधनान् सरतो वा पान्थान वहति सार्थवाहः, अमरकोष ।३।६।७८ सं० टी०।

२४. अग्रवाल—सार्थवाह, प्रस्तावना पृ० २।

२५. मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पृ० २६।

२६. अग्रवाल—वही पृ० २।

दुर्दैव से असमय में ही समुद्र में तूफान आ गया और उसका जहाज डूब गया। आयु शेष होने के कारण वह अकेला जिन्दा बच गया और एक फलक के सहारे जैसे तैसे पार लगा२७।

दूसरी कथा में पाटलिपुत्र के महाराज यशोध्वज के लड़के सुवीर ने घोषणा की कि जो कोई ताम्रलिप्ति पत्तन के सेठ जिनेन्द्र भक्त के सतखण्डा महल के ऊपर बने जिन-भवन में से छत्रत्रय के रूप में लगे अद्भुत वैडूर्य मणियों को ला देगा, उसे मनोभिलसित पारितोषक दिया जायेगा। सूर्य नाम का एक व्यक्ति साधु का वेष बना कर जिनदत्त के यहाँ पहुँचा और एक दिन वहाँ से रत्न चुरा कर भाग निकला२८।

इसी कथा के अन्तर्गत जिनभद्र की विदेश यात्रा का भी उल्लेख है। सोमदेव ने इसे वहित्र-यात्रा कहा है। जिनभद्र वहित्र-यात्रा के लिए जाना चाहता था। घर किसके भरोसे छोड़े, यह समस्या थी। अन्त मे वह उसी सूर्य नामक छद्म वेषधारी साधु पर विश्वास करके उसके जिम्मे सब छोड़कर विदेश यात्रा के लिए चल देता है२९।

अमृतमति का जीव एक भव में कलिंग देश में भैंसा हुआ। किसी सार्थवाह ने उसके सुन्दर और मजबूत शरीर को देखकर खरीद लिया और अपने काफले के साथ उज्जयिनी ले गया३०।

सोमदेव ने लिखा है कि यौधेय जनपद की कृषक वधुएँ अपनी नटखट चाल और नाना विलासों के द्वारा परदेशी सार्थी के नेत्रों को क्षण भर के लिए सुख देती हुई खेतों में काम करने चली जाती थीं३१।

चम्पापुर के प्रियदत्त श्रेष्ठी की रूपसी कन्या विपत्ति की मारी शंखपुर के निकट पर्वत की तलहटी में पहुँची। वहाँ पुष्पक नाम के वणिक-पति का सार्थ पड़ाव डाले था।

२७. पृ० ३४५ उत्त०।
२८. पृ० ३०२ उत्त०।
२९. वही।
३०. पृ० २२५ उत्त०।
३१. पृ० १६।

पुष्पक कन्या के रूप सौन्दर्य को देखकर मोहित हो गया। अनेक तरह के लोभ देकर उसे वश में करने लगा, किन्तु जब वश में नहीं हुई तो अयोध्या में लाकर एक वेश्या को दे दिया३२।

जिस तरह भारतीय सार्थ विदेशी व्यापार के लिए जाते थे, उसी तरह विदेशी सार्थ भारत में भी व्यापार करने के लिए आते थे। पहले लिखा जा चुका है कि सोमदेव ने एक अत्यन्त समृद्ध पेण्ठा स्थान (बाजार) का वर्णन किया है जहाँ पर अनेक देशों के व्यापारी व्यापार के लिए आते थे३३।

**विनिमय के साधन—**

सोमदेव ने विनिमय के दो प्रकार बताए है। वस्तु का मूल्य मुद्रा या सिक्के के रूप मे देकर खरीदना या वस्तु का वस्तु से विनिमय। मुद्रा या सिक्कों में सोमदेव ने निष्क, कार्षापण और सुवर्ण का उल्लेख किया है३४। ये उस युग के बहु प्रचलित सिक्के थे। इनके विषय में संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

**निष्क—**

निष्क के प्राचीनतम उल्लेख वेदों मे मिलते हैं। उस समय निष्क एक प्रकार के सुवर्ण के बने आभूषण को कहा जाता था, जो मुख्य रूप से गले में पहना जाता था और जिसे स्त्री पुरुष दोनों पहनते थे३५।

वैदिक युग के बाद निष्क एक नियत सुवर्ण मुद्रा बन गयी, ऐसा बाद के साहित्य से ज्ञात होता है। जातक, महाभारत तथा पाणिनी में निष्क के उल्लेख आये हैं३६।

मनुस्मृति में निष्क को चार सुवर्ण या तीन सौ बीस रत्ती के बराबर कहा है३७।

३२. पृ० २९३ उत्त०।
३३. पृ० ३४५ उत्त०।
३४. परं साशयिकायन्निष्कादसांशयिक: कार्षापण:।
पृ० ९२ उत्त०
पत्रव्यवहार : सुवर्णदक्षिणासु। पृ० २०२
३५. अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष। पृ० २५०
३६. वही, पृ० २५१–५२
३७. मनुस्मृति ८।१३७

**कार्षापण—**

कार्षापण प्राचीन भारत का सबसे प्रसिद्ध सिक्का था। यह चांदी का बनता था। मनुस्मृति में इसे ही धरण और राजत पुराण (चांदी का पुराण) भी कहा है[३८]। पाणिनि ने इन सिक्कों को आहत कहा है[३९]। उसी के अनुसार ये अंगरेजी में पंच मार्क्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सिक्के बुद्ध युग से भी पुराने हैं तथा भारतवर्ष में और से छोर तक पाये जाते हैं। अब तक लगभग पचास सहस्र से भी अधिक चांदी के कार्षापण मिल चुके हैं[४०]।

मनुस्मृति के अनुसार चांदी के कार्षापण या पुराण का वजन बत्तीस रत्ती था। सोने या तांबे के कर्ष का वजन अस्सी रत्ती था।

कार्षापण की फुटकर खरीज भी होती थी। अष्टाध्यायी, जातक तथा अर्थशास्त्र में इसकी सूचियाँ आई हैं। अष्टाध्यायी में कार्षापण को केवल पण कहा है। इसके अर्ध, पाद, त्रिमाष, द्विमाष, अध्यर्ध या डेढ़ माष, माष और अर्धमाष का उल्लेख है। कात्यायन ने इनमें काकणी और अर्धकाकड़ी नाम और जोड़े हैं, जातकों में कहा पण अड्ढ, पक्ष या चनारोमासका, तयोमासका, द्वेमासका, एकमासका और अड्ढमासका नाम आए हैं। अर्थशास्त्र में पण, अर्धपण, पाद, अष्टभाग, माणक, अर्धमाणक, काकणी तथा अर्धकाकडी नाम आये हैं[४१]।

**सुवर्ण—**

निष्क की तरह सुवर्ण एक सोने का सिक्का था। अनगढ़ सोने को हिरण्य कहते थे और उसी के जब सिक्के ढाल लेते तो वे सुवर्ण कहलाते थे[४२]।

सुवर्ण का वजन मनुस्मृति के अनुसार अस्सी रत्ती या सोलह माशा होता था। कौटिल्य ने एक कर्ष अर्थात् अस्सी गुंजा (लगभग १५० ग्राम) के बराबर सुवर्ण का वजन बताया है। बहुत प्राचीन सुवर्ण उपलब्ध नहीं होते फिर भी गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के मिले हैं उनका वजन प्रायः इतना ही है[४३]।

सुवर्ण के उल्लेख प्राचीन साहित्य और शिल्प समान रूप से पाये जाते हैं। श्रावस्ती के अनाथ पिंडक की कथा प्रसिद्ध है। अनाथपिंडक बौद्ध संघ के लिए एक विहार बनाना चाहता था। इसके लिये उसने जो जमीन पसन्द की वह जेत नामक एक राजकुमार की सम्पत्ति थी। अनाथपिंडक ने जब जेत से उस जमीन का दाम पूछा तो उसने उत्तर दिया कि आप जितनी जमीन लेना चाहें, उतनी जमीन पर मूल्य स्वरूप सुवर्ण बिछाकर ले लें। अनाथपिंडक ने अठारह करोड़ सुवर्ण बिछाकर उस जमीन को खरीद लिया।

भरहुत के बौद्ध स्तूप में इस कथा का अंकन हुआ है। एक परिचारक छकड़े पर से सिक्के उतार रहा है। एक दूसरा उन सिक्कों को किसी चीज में उठाकर ले जा रहा है। दूसरे दो परिचारक उन सिक्कों को जमीन पर बिछा रहे हैं[४४]। बौद्धगया के महाबोधि मन्दिर के स्तम्भों में भी इसी तरह के चित्र हैं[४५]।

सोमदेव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि दशमी शती तक सुवर्ण मुद्रा का प्रचार था। सोमदेव ने लिखा है कि पल का व्यवहार सुवर्ण दक्षिणा में था[४६]।

**वस्तु-विनिमय—**

वस्तु विनिमय में एक वस्तु देकर लगभग उसी मूल्य की दूसरी वस्तु ले ली जाती थी। भद्रमित्र सुवर्ण द्वीप के व्यापार के लिए गया तो वहाँ से अपनी पसन्द की अनेक वस्तुओं को वस्तु विनिमय में संगृहीत किया[४७]।

एक अन्य प्रसंग में आया है कि एक गड़रिया एक बकरा लिये था। यज्ञ करने के इच्छुक एक पंडित ने पूछा,

---

३८. द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक, ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजत। ८।१३५-३६

३९. अष्टाध्यायी, ५।२।१२०

४०, अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५६

४१. वही

४२. भण्डारकर–प्राचीन भारतीय मुद्रा शिल्प, पृ० ५१

४३. अग्रवाल–पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५३।

४४. कनिंघम–स्तूप ऑव भरहुत, पृ० ८४।

४५. कनिंघम–महाबोधि, पृ० १३।

४६. पलव्यवहारः सुवर्णदक्षिणासु, पृ० २०२।

४७. अगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतवस्तु-स्कन्धमादाय, पृ० ३४५ उत्त०।

अरे भाई, बेचना हो तो इधर लाओ। 'सरकार, बेचना ही तो है। आप अपनी अँगूठी बदले में मुझे दे दें, तो मैं इसे दे दूं। उसने उत्तर दिया और उस पंडित ने अँगूठी देकर बकरा ले लिया।

वस्तु विनिमय की सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि जो वस्तु आपके पास है उस वस्तु की आवश्यकता उस व्यक्ति को हो जिस व्यक्ति की वस्तु आप लेना चाहते हैं। इसी आवश्यकता की तीव्रता या मन्दता के आधार पर वस्तु विनिमय का आधार बनता था।

**न्यास :**

सोमदेव ने न्यास या धरोहर रखने का उल्लेख किया है। भद्रमित्र विदेश यात्रा के लिए गया तो आचार, व्यवहार और विश्वास के लिए विश्रुत श्रीभूति के पास उसकी पत्नी के समक्ष सात अमूल्य रत्न न्यास रख गया४९।

न्यास रखते समय यह अच्छी तरह विचार लिया जाता था कि जिस व्यक्ति के पास न्यास रखा जा रहा है वह पूर्ण प्रामाणिक और विश्वासपात्र व्यक्ति है। इतना होने पर भी न्यास रखते समय साक्षी अपेक्षित समझी जाती थी५०।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि जिस व्यक्ति के पास न्यास रखा गया है, उसकी नियत खराब हो जाए और वह यह भी समझ ले कि न्यासकर्ता के पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे वह कह सके कि उसने उसके पास अमुक वस्तु रखी है, तो वह न्यास को हड़प जाता था। भद्रमित्र सब सोच-समझ कर श्रीभूति के पास अपने सात बहुमूल्य रत्न रखकर विदेश यात्रा के लिए गया था; किन्तु दुर्भाग्य से लौटते में उसका जहाज समुद्र में डूब गया। संयोग से वह बच गया और आकर श्रीभूति से अपने रत्न मांगे। श्रीभूति ने न्यास को तो नकारा ही, साथ ही भद्रमित्र को बहुत ही बुरा-भला कहा और उल्टा ले जाकर राजा के पास पेश कर दिया५१।

**भृति :**

भृति या नौकरी के प्रति साधारणतया लोगों की धारणा अच्छी नहीं थी, प्रत्युत इसे निंद्य माना जाता था५२। इसका मुख्य कारण यह था कि भृत्य या सेवक कार्य करने के विषय में अपने मालिक के निर्देश पर अवलंबित रहता है और उसका अपना मन या विवेक वहाँ काम नहीं देता। अनेक प्रसग ऐसे भी आते हैं जब भृत्य को अपनी इच्छा के विपरीत भी कार्य करने पड़ते हैं। उसी समय यह धारणा बनती है कि नौकरी करने वाले का सत्य जाता रहता है। करुणा के साथ धर्म भी समाप्त हो जाता है, केवल नीच वृत्तियों के साथ पाप ही शाप की तरह चिपटा फिरता है५३।

वास्तव में बात यह है कि नौकरी तो एक प्रकार का सौदा है। नौकर अपने सौजन्य, मैत्री और करुणा-रूप मणियों को देता है, तो मालिक से उसके बदले में धन पाता है। यदि न दे तो उसे धन भी न मिले क्योंकि धन ही धन कमाता है५४।

---

४८. अरे मनुष्य, समानीयतामित इतोऽयं छागस्तव चेदस्ति विक्रेतुमिच्छा इति। पुरुषः भट्ट, विचिक्रीपुरवैन यदि भवानिद मे प्रसादी करोत्यगुलीयकम्।

पृ० १३१ उत्त०।

४९-५०. विचार्य चाति चिरमुपनिधिन्यासयोग्यमावासम् उदिताचारसेव्योऽवधारितेतिकर्तव्यस्तस्याखिललोकश्लाघ्यविश्वासप्रसूतेः श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमक्षमनर्घकक्षमनुगताप्तकं रत्नसप्तकं निधाय, पृ० ३४५ उत्त०।

५१. कल्प २७।

५२. आः कष्टा खलु शरीरिणां सेवया जीवनचेष्टा, पृ० १३९।

सेवावृत्तेः परमिहपरं पातक नास्ति किंचित्, वही

५३. सत्यं दूरे विहरति समं साधुभावेनपुंसां,
धर्मश्चित्तात्सहकरुणया याति देशान्तराणि।
पापं शापादिव च तनुते नीचवृत्तेन सार्धं,
सेवावृत्तेः परमिह परं पातक नास्ति किंचित्॥ वही

५४. सौजन्यमैत्रीकरुणामणीनां व्ययं न चेत् भृत्यजनः करोति।
फलं महीशादपि नैव तस्य यतोऽर्थमेवार्थनिमित्तमाहु॥
वही

# परीक्षामुखके सूत्रों और परिच्छेदोंका विभाजन : एक समस्या

पं० गोपीलाल 'अमर', एम. ए. साहित्य शास्त्री

जैन न्याय से तनिक भी परिचित व्यक्ति परीक्षामुख[1] को अवश्य जानता है। यह जैन न्याय का प्रथम सूत्रग्रन्थ है और आचार्य माणिक्यनन्दी[2] के यश को अक्षत रखने के लिए, उनकी एकमात्र कृति[3] होकर भी पर्याप्त है। इसकी तीन टीकाएँ हैं : आचार्य प्रभाचन्द्र[4] की प्रमेय-कमलमार्तण्ड[5], आचार्य लघु-अनन्तवीर्य[6] की प्रमेयरत्नमाला[7] और पण्डितार्य अभिनव-चारुकीर्ति[8] की, प्रमेयरत्नालंकार[9]। प्रमेयरत्नमाला पर आचार्य अजितसेन[10] ने न्यायमणिदीपिका[11] और न्यायमणिदीपिका पर उपर्युक्त पण्डिताचार्य जी ने न्यायमणिदीपिकाप्रकाश[12] नामक टीकाएँ लिखी हैं। परीक्षामुख की लघुतम इकाई है सूत्र[13] और तीन से सन्तानवे सूत्रों तक[14] के छह अध्याय हैं जिन्हें परिच्छेद नाम दिया गया है। प्रमेय-

---

१. इसका प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं से सटीक या सानुवाद लगभग पन्द्रह बार हो चुका है।

२. इनका समय ९९३ से १०३५ ई० तक माना जाता है। देखिये पं० दरबारीलाल जी कोठिया : आप्त परीक्षा, प्रस्ता., पृ० ३३।

३. इनकी कोई अन्य कृति हो या न हो, पर उपलब्ध नहीं है।

४. समय ९८० से १०६५ ई० तक। देखिये, स्व. पं. महेन्द्रकुमार जी : प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्तावना, पृ. ६७ और आगे।

५. इसके दो सस्करण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से निकले है : प्रथम स्व० पं० बंशीधर जी शास्त्री द्वारा संपादित होकर १९१२ ई० में और द्वितीय स्व. पं० महेन्द्रकुमार जी द्वारा संपादित होकर १९४१ ई० में।

६. समय ११वीं शताब्दी ई०। देखिए, सिद्धिविनिचश्य-टीका, प्रस्ता. पृ० ८०।

७. इसका प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं से लगभग पांच वार हो चुका है।

८. श्रवणवेलगुल के मठाधीशों का यह परम्परागत नाम है। प्रस्तुत टीकाकार का समय १८वीं शती ई० माना जाता है। देखिए, जैन सन्देश का शोधांक, १४ मार्च '६३, पृ० १९३।

९. इसे पहिले प्रमेयरत्नमालालंकार समझकर प्रमेयरत्नमाला की टीका माना जाता रहा है। विशेष विवरण के लिए देखिए, उपर्युक्त।

१०. इसका समय १३वीं शती ई० के आसपास होना चाहिए। देखिए, पं० के० भुजबली शास्त्री : प्रशस्ति-संग्रह, पृ. २।

११. यह अभी तक अप्रकाशित है और मैं स्वयं इसका सम्पादन कर रहा हूँ। विशेष परिचय के लिए देखिए, उपर्युक्त तथा जैन सन्देश के शोधांक (१४ मार्च '६३ के पृ० १९३) में मेरा लेख।

१२. इसके और प्रमेयरत्नालंकार के लेखक एक ही व्यक्ति हैं। उन्होंने अपनी, प्रमेयरत्नमाला की टीका अर्थ प्रकाशिका (जैन सिद्धान्त भवन, आरा की प्रति, के पत्र १०, पार्श्व १ पर लिखा है, 'न्याय-मणिदीपिकाप्रकाशे एतत्सूत्रव्याख्यायां च विस्तरेणा-स्माभिरभिहितो वेदितव्यः।' इसकी पाण्डुलिपि जिन विद्वान् महानुभावों की दृष्टि में हो वे कृपया मुझे सूचित करें ऐसी प्रार्थना है।

१३. विस्तृत अर्थ और संक्षिप्त शब्दों के कारण ये सूत्र महर्षि पाणिनि और आचार्य उमास्वामी के सूत्रों की कोटि में आते हैं।

१४. छहों परिच्छेदों में क्रमशः १३, १२, ९७, ९, ३ और ७६ तथा कुल मिलाकर २१० सूत्र हैं।

कमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालंकार में यही नाम स्वीकृत है जबकि प्रमेयरत्नमाला में समुद्देश ।

परिच्छेदों के विभाजन में प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालंकार एकमत हैं और वैज्ञानिक भी । परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में, कह नहीं सकते किस उद्देश्य से आचार्य प्रभाचन्द्र ने पंचम परिच्छेद के तीनों सूत्रों को चतुर्थ परिच्छेद में ही सम्मिलित किया है । और षष्ठ परिच्छेद को उसका अन्तिम सूत्र छोड़कर पंचम परिच्छेद माना है तथा षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र को षष्ठ परिच्छेद के अन्तर्गत रखा है । इस विभाजन में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, कदाचित् इसीलिए इस विषय में स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी१५ भी१६ मौन रहे हैं । यदि प्राचीन प्रतियों से छानबीन की जाय तो मेरा यह अनुमान पुष्ट हो सकता है कि लिपिकार ने किसी पान्डुलिपि में, परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्यों और पुष्पिका वाक्यों को तितर-बितर कर दिया हो और उसी प्रति या उसकी परम्परागत प्रतियों पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड के मुद्रित संस्करण निकाले गये हों । यदि हम पंचम परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्य१७ को षष्ठ परिच्छेद का समाप्तिसूचक मान लें और षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ सूचक पद्य१८ को पंचम परिच्छेद का समाप्तिसूचक१९ मान लें; और फिर यह विभाजन प्रमेयरत्नमाला आदि के अनुसार कर दें अर्थात् चतुर्थ परिच्छेद में सम्मिलित किये गये पंचम परिच्छेद के तीनों सूत्रों को पञ्चम परिच्छेद ही मान लें और षष्ठ परिच्छेद के सूत्रों को आत्मसात् करने वाले पञ्चम परिच्छेद तथा एक सूत्रीय षष्ठ परिच्छेद को मिलाकर षष्ठ परिच्छेद ही मान लें तो वह समस्या तुरन्त हल हो जाती है । ऐसा करने में ग्रन्थकार का एक भी शब्द बाधक नहीं बनता२०, बल्कि लिपिकार की ही त्रुटि और भी स्पष्टतर हो उठती है । परन्तु आश्चर्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के किसी भी संस्करण में इस, इतने महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार नहीं किया गया ।

परिच्छेदों के अनन्तर सूत्रों का विभाजन उल्लेखनीय है । तृतीय परिच्छेद का पांचवां सूत्र है 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।' और छठवां सूत्र, 'यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयो, गोविलक्षणो महिष, इदम् अस्माद् दूरं, वृक्षोऽयमित्यादि ।' प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के प्रायः सभी संस्करणों में, इस छठवें सूत्र को एक न मानकर पांच माना गया है अतः जहां मेरे मत से छठवां ही क्रमांक आना चाहिए वहां उक्त संस्करणों में दसवां क्रमांक आ जाता है२१ । इन तथाकथित पांच सूत्रों को एक ही माना जाना चाहिए, क्योंकि ये सभी (१) एक ही सूत्र के उदाहरण हैं, (२) एक ही निर्देशवाचक सर्वनाम 'यथा' और एक ही विशेषण 'इत्यादि' से संबद्ध है, (३) यदि एक ही माने जायं तो, जिसके ये उदाहरण हैं वह पांचवां सूत्र भी एक न माना जाकर पांच माना जाना चाहिए, (४) एक ही उत्था-

---

१५. प्रमेयकमल मार्तण्ड के सम्पादक के रूप में ।

१६. और स्व० पं० वंशीधर जी शास्त्री भी ।

१७. अभासं गदितं प्रमाणमखिलं संख्याफलस्वार्थतः
सुव्यक्तैः सकलार्थ सार्थविषयैः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
येनासौ निखिलप्रबोध जननो जीयाद् गुणाम्भोनिधिः
वाक्कीर्त्योः परमालयोऽत्र सततं माणिक्यनन्दिप्रभुः ॥
स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी न्याया० : प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७५ ।

१८. प्राचां वाचाममृततटिनीपूरकर्पूरकल्पान्
बन्धान्मन्दा नवकुकवयो नूतनीकुर्वतो ये ।
ते ऽयस्काराः सुभटमुकटोत्पाटिपाण्डित्यभाजं
भित्वा खड्गं विदधति नवं पश्य कुण्ठं कुठारम् ॥
वही, पृ० ६७६ ।

१९. प्रमेयकमलमार्तण्ड में षष्ठ परिच्छेद के अतिरिक्त किसी भी परिच्छेद में आरम्भसूचक पद्य नहीं है, यह उल्लेखनीय है ।

२०. टिप्पणियों के उपर्युक्त दोनों श्लोकों की शब्दावली द्रष्टव्य है ।

२१. यथा स एवायं देवदत्तः ॥६
गोसदृशो गवयः ॥७
गोविलक्षणो महिषः ॥८
इदम् अस्माद् दूरम् ॥९
वृक्षोऽयमित्यादि ॥१०

निका वाक्य२२ द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं और उस वाक्य में भी तीनों टीकाकारों, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य अनन्तवीर्य और आचार्य चारुकीर्ति द्वारा एक वचन का ही प्रयोग२३ किया गया है, यदि उनका पांचों को पृथक्-पृथक् मानने का भाव रहा होता तो बहुवचन का ही प्रयोग किया जाना चाहिए था, (५) तीनों टीकाकारों द्वारा अव्याख्यात छोड़ दिये गये हैं, इसलिए नहीं कि वे अन्यत्र भी ऐसा करते हैं बल्कि इसलिए कि वे इन्हें पृथक्-पृथक् मानते ही नहीं थे अतः उनकी पृथक्-पृथक व्याख्या करने का प्रश्न ही उनके सामने नहीं था।

षष्ठ परिच्छेद में भी दो स्थल ऐसे हैं जिन पर विचार होना चाहिए। दसवें और ग्यारहवें सूत्रों२४ को प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के अधिकांश संस्करणों में एक ही सूत्र माना गया है, कदाचित् इसलिए कि दसवें सूत्र के पश्चात्, दोनों ग्रन्थों में कोई व्याख्या नहीं है। दो या दो से अधिक सूत्रों के बीच व्याख्या न होने से उनमें एकता स्थापित नहीं हो जाती और फिर दो टीकाओं में न सही, एक टीका—प्रमेयरत्नालंकार—में तो दसवें सूत्र के पश्चात् भी व्याख्या है। अतः उसे पृथक् सूत्र माना ही जाना चाहिए। ठीक यही स्थिति इसी परिच्छेद के तीसवें और इकतीसवें सूत्र२५ के साथ भी है।

परीक्षामुख जैन न्याय का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। उसके विषय में ऐसी समस्याएँ कायम रहना उचित नहीं। यही सोचकर यह, अपना समाधान प्रस्तुत किया है। विद्वान् महानुभावों से प्रार्थना है कि वे इस विषय पर विचार करें और अपनी राय जाहिर करें तो बड़ी अच्छी बात होगी।

---

२२. (१) [तदेवोक्तप्रकारं प्रत्यभिज्ञानम्] उदाहरण द्वारेणाखिलजनावबोधार्थं स्फुटयति।
स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी : प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ० ३४०।
(२) एषां [क्रमेणोदाहरणं] दर्शयन्नाह।
श्रीमान् पं० बालचन्द्र जी शास्त्री : प्रमेयरत्नमाला पृ० ८३।
(३) [उक्त प्रत्यभिज्ञान] मखिलजनावबोधार्थ-मुदाहरणद्वारेण स्पष्टयति।
प्रमेररत्नालंकार : मेरे द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि, पृ० १२६।

२३. इससे पहले वाली टिप्पणी में कोष्ठांकित शब्द द्रष्टव्य हैं।

२४. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥१०
यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ॥११

२५. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः ॥३०
अपरिणामीशब्दः कृतकत्वात् ॥३१

---

## अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें।

# भूपाल चौबीसी की एक महत्वपूर्ण सचित्र प्रति

अगरचंद नाहटा

भक्ति-भावना मानव के हृदय की एक सहज और उदात्त भावना है। अपने से विशिष्ट गुणवान व्यक्ति के प्रति आदर की भावना होनी ही चाहिए। जिस व्यक्ति में उन गुणों का चरमोत्कर्ष होता है वह अवतार या भगवान के रूप में पूजा जाने लगता है। ऐसे व्यक्तियों की स्तुति या स्तवन रूप में बहुत बड़ा साहित्य रचा गया है। वेदों की ऋचाएं भी अधिकतर प्रकृति या विशिष्ट शक्तियाँ या देवताओं के स्तुति के रूप में ही रची गई है अर्थात् स्तुति या स्तोत्र साहित्य का प्रारम्भ प्राचीनतम ग्रंथ वेद जितना है ही। समय-समय पर देवी-देवताओं के नाम व रूप बदले। पुराने देवी-देवता भुला दिए गए और अनेकों नये देवी-देवताओं की पूजा और उपासना प्रारम्भ होती गई। इस तरह भारत में असंख्य देवी-देवताओं की अनेक प्रकार की उपासना देखने को मिलती है। देवी-देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ तो सामान्य रूढ़ सी हो गई। इन देवी-देवताओं के महात्म्य और उपासना विधियों के सम्बन्ध में सैकड़ों हजारों छोटी-मोटी रचनाएँ प्राप्त हैं। इतना बड़ा साहित्य देवी-देवताओं की इतनी बड़ी संख्या भारत के सिवाय विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी।

भारतीय साधना मार्ग में ज्ञान, भक्ति और योग को बहुत प्रधानता दी गई है। इनमें से भक्ति हृदय का एक भाव है अतः सर्वसुलभ और सहज है। भारत में भक्तिमार्ग को महत्ता लम्बे समय से ही दी जाती रही है। यद्यपि भक्ति का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा। जिस तरह देवी देवताओं के नाम व रूप बदलते गये उसी तरह भक्ति के प्रकार भी अनेक हैं और समय-समय पर भावों में विभिन्नता एवं परिवर्तन भी होता आया है। जिस प्रकार वेदों के समय में जिस उद्देश्य का दृष्टिकोण से जिस विधि या शब्दों द्वारा स्तुति की जाती थी आगे चलकर उसमें काफी परिवर्तन आया। उसी तरह अलग-अलग देवी-देवताओं की भक्ति व पूजा का उद्देश्य विधि-विधान भी अलग-अलग तरह का है। जैन और जैनेतर आराध्य उपास्य देव भिन्न-भिन्न हैं और उनकी उपासना के उद्देश्य में भी बहुत बड़ा अन्तर है।

जैन दर्शन के अनुसार देवलोक के देवी-देवताओं का इतना महत्व नहीं, जितना अरिहंत और सिद्ध महापुरुषों का है। तीर्थङ्कर आत्मा की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करते हैं और जगत् को कल्याण का मार्ग दिखाते हैं। उन वीतरागी पुरुषों की उपासना किसी ऐहिक कामना से करना व्यर्थ है। क्योंकि वे किसी को कुछ भी देते नहीं न वे स्तुति से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा से रुष्ट। जैनधर्म में तीर्थङ्करों को 'देवाधिदेव' की संज्ञा दी गई है क्योंकि स्वर्ग के इन्द्रादि देव भी उनकी सेवा करके अपने को धन्य मानते हैं। इसलिए जैन उपासना में देव के रूप में तीर्थङ्करों की उपासना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जैन सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर या परमात्मा कोई एक ही व्यक्ति नहीं है। अनन्त जीव अपनी उच्चतम अवस्था को प्राप्त करके अरिहंत व सिद्ध हो चुके हैं। वे सभी ईश्वर या परमात्मा हैं। उनमें कोई एक विशिष्ट या ज्येष्ठ नहीं। सिद्ध अवस्था में सब की अवस्था समान है। इसलिए सभी की उपासना की विधि व फल भी एक ही है। अनन्त काल की अपेक्षा तो जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थङ्कर भी अनेक हो गये हैं। भरतक्षेत्र में इस काल में चौबीस तीर्थङ्कर हो गये हैं। उनकी प्राचीनतम स्तुति प्राकृतभाषा में चौबीसत्थो [चतुर्विंशतिस्तव] के नाम से प्रसिद्ध है। ६ आवश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव का है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाज में 'लोगस्स उज्जो' आदि पद से प्रारम्भ होने वाला चतुर्विंशति स्तव प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर समाज में तो नित्य प्रतिक्रमण-देव वन्दन--चैत्य वन्दन आदि में इसका पाठ किया जाता है। इसके बाद तो चौबीस तीर्थंकरों के सैकड़ों स्तुति स्तोत्र स्वतन्त्र या सामूहिक स्तवना के रूप में रचे गये। जिनमें से

दिगम्बर समाज में सर्वाधिक प्रसिद्ध "भूपाल चौबीसी" नामक स्तोत्र है।

२७ श्लोकों के इस स्तोत्र पर संस्कृत में अचलकीर्ति की टीका और कई भाषानुवाद आदि समय-समय पर रचे गये हैं। प्रस्तुत स्तोत्र की एक विशिष्ट व सचित्र प्रति का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। यह प्रति कलकत्ते के पूर्णचन्द्र जी नाहर के संग्रह में हैं।

भूपाल चौबीसी की सचित्र प्रति पुस्तकाकार है। उसमें चौबीसी तीर्थंकरों के चौबीस चित्र उनके जन्मोत्सव आदि के पूरे पृष्ठ के चित्रों के साथ दिगम्बर विनयचन्द्राचार्य और राजा भूपाल आदि के चित्र भी उल्लेखनीय है। मूल स्तोत्र सुनहरी स्याही में लिखा हुआ है। प्रत्येक श्लोक के बाद अचलकीर्ति की संस्कृत टीका और तदनन्तर हिन्दी गद्य की भाषा टीका भी दी हुई है। यह प्रति बंगाल के सुप्रसिद्ध जगत सेठ के घराने के होने से विशेप रूप से उल्लेखनीय है। प्रति के अन्त में जगत सेठ के पूर्वजों की वंशावली दी गई है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सेठ माणकचन्द की धर्मनिष्ठा भार्या माणकदेवी ने अपने पूर्वजों के लिए यह प्रति लिखवाई है। प्रति इस प्रकार है :—

"साह श्री हीरानन्द जी तस्य भार्या सुजाणदेवजी तयो पुत्र सप्त—१. गुलालचन्द जी, २. गोवर्धन दास जी, ३. मलूकचन्द जी, ४. सदानन्द जी, ५. सेठ माणकचन्द जी, ६. अमीचन्द जी, ७. दीपचन्द जी।

(इन सात पुत्रों का परिवार इस प्रकार है—)

१. गुलालचन्द भार्या—तत् पुत्री भावंति।
२. गोवर्धनदास—पुत्र सेवादासजी, पुत्र रामजीवन, जगजीवन।
३. मलूकचन्द—पुत्र रूपचन्द भार्या देवकुरु पुत्र ज्ञानचन्द।
४. सदानन्द—पुत्र लालजीशाह, पुत्र महानन्द, पुत्र उदैभानजी, नन्दकिशोर जी, प्राणवल्लभजी।
५. सेठ माणकचन्द—भार्या माणकदेवी जी (सुहागदेवजी) तयो पुत्रः सेठ फतेहचन्द भार्या सुपारदेवी पुत्र आनन्दचन्द जी, दयाचन्द जी।
६. अमीचन्द—पुत्र सोमचन्द्र, पुत्र पूर्णचन्द्र, उदोतचन्द्र।
७. साह दीपचन्द पुत्र ४—धर्मचन्द, मेहरचन्द, अलपचन्द, कीर्तिचन्द्र।

एतेषां मध्ये सेठ माणकचन्दजी भार्या श्रीमती ज्ञानवती अनेक गुण मण्डित माणिकदेवी जी तेनेदं भूपालचतुर्विंशति लिखापितां स्वपठनाय किंवा परोपकाराय। सुभं भूयात् लेख(क) पाठकयो।

प्रस्तुत प्रति जिस माणकदेवी की लिखवाई हुई है उसके सम्बन्ध में मुनि निहालचन्द ने स० १७८८ में एक राजस्थानी काव्य बनाया है, उसका सक्षिप्त सार फिर कभी दिया जायगा। उससे मालूम होगा कि जगत सेठ की माता माणकदेवी कितनी धर्मनिष्ठा थीं।

भूपाल चौबीसी दिगम्बर सम्प्रदाय की रचना है—फिर भी उसे श्वेताम्बर माणकदेवी ने अपने पढ़ने के लिए टीका और भावार्थ सहित एक विशिष्ट सचित्र प्रति तैयार करवाई, यह विशेप रूप से उल्लेखनीय है। भूपाल चौबीसी की अन्य भी कोई सचित्र प्रति कही प्राप्त हो तो उसकी जानकारी प्रकाश में आनी चाहिए। प्रस्तुत प्रति सम्भव है किसी प्राचीन प्रति के अनुकरण में लिखाई व चित्रित की गई है।

दिगम्बर ग्रंथ श्वेताम्बरों की अपेक्षा चित्रित कम मिलते हैं और जो थोड़े से प्राप्त हैं उनके भी चित्रों के ब्लाक बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं। इसलिए सारा भाई प्रकाशित जैन चित्र कल्पद्रुम की तरह दिगम्बर सचित्र प्रतियों के चुने हुए चित्रों का एक अलबम प्रकाशित होना चाहिए।

—:०:—

# जैन दर्शन में अर्थाधिगम-चिन्तन

**पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य एम. ए.**

**भारतीय दर्शन में अर्थाधिगम का साधन : प्रमाण :**

अन्तः और बाह्य पदार्थों के ज्ञापक साधनों पर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में विचार किया जाता है और सब ने उनका ज्ञापक एकमात्र प्रमाण को स्वीकार किया है। 'प्रमाणाधीना हि प्रमेय व्यवस्था', 'मानाधीना मेयस्थितिः', 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः' जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण से प्रमेय की व्यवस्था, सिद्धि अथवा ज्ञान होता है, उसके ज्ञान का और कोई उपाय नहीं है।

**जैन दर्शन में अर्थाधिगम के साधनः प्रमाण और नय :**

पर जैन दर्शन में प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी पदार्थों के अधिगम का साधन माना गया है। दर्शन के क्षेत्र में अधिगम के इन दो उपायों का निर्देश हमें प्रथमतः 'तत्त्वार्थसूत्र' में मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने लिखा है[1] कि तत्त्वार्थ का अधिगम दो तरह से होता है :— १. प्रमाण से और २. नय से। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकों का[2] भी यही मत है। उन्हीं के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार किया जाता है,

**प्रमाण :**

अन्य दर्शनों में जहाँ इन्द्रिय व्यापार, ज्ञातृव्यापार, कारक साकल्य, सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ-प्रमिति बतलाई गई है वहाँ जैन दर्शन में स्वार्थ व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ परिच्छित्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय व्यापार आदि को प्रमाण न मानने तथा ज्ञान को प्रमाण मानने में जैन चिन्तकों ने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ-प्रमिति में अव्यवहित—साक्षात् करण है और इन्द्रिय व्यापार आदि व्यवहित—परम्परा करण हैं तथा अव्यवहित करण को ही प्रमाजनक मानना युक्त है, व्यवहित को नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान-निवृत्ति रूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञानरूप इन्द्रिय व्यापार आदि के द्वारा नहीं। प्रकाश द्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादि द्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैन दर्शन में प्रमाण ज्ञानरूप है और वही अर्थ परिच्छेदक है।

इस प्रमाण से दो प्रकार की परिच्छित्ति होती है— १ स्पष्ट (विशद) और २ अस्पष्ट (अविशद) जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है तथा असन्दिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होता है। जैन दर्शन मे ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किए गए हैं। वे है अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इन तीन ज्ञानों को मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है[1]। पर जिन ज्ञानों में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा रहती है वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अशों में वे व्यवहाराविसंवादी होते हैं उतने अशों में वे असन्दिग्ध, अविपरीत एव निर्णयात्मक होते हैं शेष अशों मे नही। ऐसे ज्ञान दो हैं—१ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानों में पर की अपेक्षा होने से उनकी परोक्ष संज्ञा है[2]। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान,

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—तत्त्वार्थ सू० १–६।

२. (क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वाद नय-संस्कृतम्॥
समन्तभद्र, आप्तमी० का० १०१।

(ख) 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते। तद् व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'
अभिनव धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ४।

१-२. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्', 'तत्प्रमाणे', आद्ये परोक्षम्।' 'प्रत्यक्षमन्यत्'—तत्त्वार्थ सू० १–६, १०, ११, १२।

आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानों का समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है१। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्षरूप इन मति, श्रुत, अवधि, और केवलज्ञान से अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादि की अपेक्षा से होने वाले चाक्षुस आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोक संव्यवहार के कारण होते हैं और उन्हें लोक में 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानों को लोक व्यवहार की दृष्टि से जैन चिन्तकों ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा है। वैसे वे हैं परोक्ष ही।

**अर्थाधिगम का हेतु नय और प्रमाण से उसका कथंचित् पार्थक्य:**

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगम का साधन है तो वह ज्ञान रूप है या नहीं? यदि ज्ञानरूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाण से पृथक् अर्थाधिगम का उपाय बताने की क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनों की भांति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्याज्ञानों से भी यथार्थ अर्थाधिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञान रूप नहीं है तो उसे सन्निकर्षादि की तरह ज्ञापक स्वीकार नहीं किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नय को अर्थाधिगमोपाय मानने वाले जैन दर्शन के सामने उठते हैं। जैन मनीषियों ने इन सभी प्रश्नों पर बड़े ऊहापोह के साथ विचार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नय को अर्थाधिगमोपाय के रूप में अन्य दर्शनों में स्वीकार नहीं किया गया है और जैनदर्शन में ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तव में 'नय' ज्ञान का एक अंश है२ और इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रकरण का एक देश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थ में अंश कल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन 'नय' कहा जाता है और जब पदार्थ में अंश कल्पना किये बिना उसे समग्ररूप में ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूप से व्यवहृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांच ज्ञानों को प्रमाण कहा गया है और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानों में विषय स्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमें विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिविम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानों में विषय स्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इसलिए उन्हें 'परोक्ष' कहा गया है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनः पर्यय और केवल) में विषय स्पस्ट एवं पूर्ण प्रति फलित होता है१ अतः उन्हें 'प्रत्यक्ष' प्रतिपादन किया है।

प्रतिपत्ति-भेद से भी प्रमाण-भेद का निरूपण किया गया है। यह निरूपण हमें पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध होता है। पूज्यपाद ने लिखा है२ कि प्रमाण दो प्रकार का है:—१ स्वार्थ और २ परार्थ। श्रुत ज्ञान को छोड़कर शेष चारों (मति, अवधि, मनः पर्यय और केवल। ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाता के लिए) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनों के लिए) नहीं। परार्थ प्रतिपत्ति के तो एकमात्र साधन वचन हैं और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं। किन्तु श्रुत प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। ज्ञानात्मक प्रमाण को परार्थ-प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः श्रुत-प्रमाण के द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ-प्रतिपत्ति दोनों होती हैं। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा

---

१. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तिरम्' तत्त्वार्थ सू० १-१३।

२. 'प्रमाणैक देशाश्च नयाः.........' पूज्यपाद, सर्वार्थ-१-३२।

१. 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।'
अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसि० का० १।

२. तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थ प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थ च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।'
—पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १—६।

स्वार्थ प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ प्रतिपत्ति होती है। ज्ञाता-वक्ता जब किसी वस्तु का दूसरे को ज्ञान कराने के लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तु में अंश कल्पना (घट, पट. काला, सफेद, छोटा, बड़ा आदि भेद) द्वारा उसका श्रोता या विनेयों को ज्ञान कराता है। ज्ञाता या वक्ता का यह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थ श्रुत-प्रमाण है और श्रोता को जो वक्ता के शब्दों से बोध होता है वह वास्तव में परार्थ प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ता का जो अभिप्राय रहता है और जो अंशग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुत-प्रमाण है। निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुत-प्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन-ग्रंथों में ज्ञान-नय और वचन-नय के भेद से दो प्रकार के नयों का भी विवेचन मिलता है[१]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नय श्रुत प्रमाण का अंश है, वह मति, अवधि तथा मनः पर्यय ज्ञान का अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञान सीमित अर्थ के अंश में नय की प्रवृत्ति नहीं होती, नय तो समस्त पदार्थों के अंशों का एकैकशः निश्चायक है, जब कि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते। यद्यपि केवलज्ञान उन समस्त पदार्थों के अंशों में प्रवृत्त होता है और इसलिए नय को केवलज्ञान का अंश माना जा सकता है किन्तु नय तो उन्हें परोक्ष (अस्पष्ट) रूप से जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूप से उनका साक्षात्कार करता है अतः नय केवल मूलक भी नहीं है। वह सिर्फ परोक्ष श्रुत प्रमाण मूलक ही है[२]।

१. 'ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्त्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः (प्रमाणनयैः) अन्यथा कार्त्स्न्येनैकदेशेन तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।'

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थ श्लोक वा० पृ० १४२।

२. 'मतेरवधितोवापि मनः पर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नाशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥
निःशेष देशकालार्थ गोचरत्व विनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥
न हि मत्यवधिमनः पर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नया प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेष देशकालार्थगोचरत्वात् मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः।
त्रिकालगोचराशेष पदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषा न युज्यते ॥२६॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥
यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमज सम्यग्दर्शनं निवन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनः पर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षकारतया वृत्तेः। केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्याम स्तद्वृत्तेपां स्पष्टत्व प्रसंगात्।'

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थ श्लो० १—६, पृ० १२४।

वह न अज्ञान रूप है, न प्रमाण रूप है और न अप्रमाण रूप। अपितु प्रमाण का एक देश है। इसीसे उसे प्रमाण से पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है। अंश प्रतिपत्तिका एक मात्र साधन वही है। अंशी वस्तु को प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अंश अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय कहा गया है[१]। प्रमाण और नय के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियों ने कहा है[२] कि प्रमाण समग्र को विषय करता है और नय असमगग्र को।

१. (क) एवं हि उक्तम्—'प्रगृह्य प्रमाणतः परिणति विशेपादर्थावधारणं नयः।'

—सर्वार्थ सि० १—६।

(ख) 'वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नयः।'

सर्वा० सि० १—३३।

२. (क) सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः।

—स० सि० १—६।

(ख) 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयोंधर्मान्तिरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥

प्रखर तार्किक विद्यानन्द ने तो उपर्युक्त प्रश्नों का युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नय पार्थक्य का बड़े अच्छे ढंग से विवेचन किया है। वे जैन दर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में में कहते हैं१ कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैक देश है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्र से लाया गया घड़ाभर पानी न समुद्र है न असमुद्र अपितु समुद्रैक देश है। यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा और यदि उसे समुद्र कहा जाय तो बहुत समुद्रों की कल्पना करना पड़ेगी। ऐसी स्थिति में किसी को 'समुद्र का ज्ञाता' नहीं कहा जाएगा अपितु उसे समुद्रों का ज्ञाता माना जायगा।

अतः नय को प्रमाणैकदेश मानकर उसे जैन दर्शन में प्रमाण से पृथक् अधिगमोपाय बताया गया है। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता, वक्ता और श्रोता की दृष्टि से उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसार के समस्त व्यवहारों और वचन प्रवृत्ति नयों के आधार पर ही चलते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंश को जानना या कह कर दूसरों को जनाना नय का काम है और उस पूरी वस्तु को जनाना प्रमाण का कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं बन सकता। स्वार्थ प्रमाण गूगा है। वह बोल नहीं सकता और न विविध वादों एवं प्रश्नों को सुलझा सकता है। वह शक्ति नय में ही है। अतः जैन दर्शन का नयवाद एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शन को अनुपम देन है।

**उपसंहार :**

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसका पूरा बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते। हां नयों के द्वारा एक-एक धर्म का बोध करते हुए अनगिनत धर्मों का ज्ञान कर सकते हैं। वस्तु को जब द्रव्य या पर्याय रूप, नित्य या अनित्य एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक अंश का ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकार का ग्रहण नय द्वारा ही सम्भव है, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेन ने नयवाद की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है१ कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नय हैं। अतएव मूल में दो नय स्वीकार किये गये हैं२ :— १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्य, सामान्य, अन्वय का ग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्याय विशेष, व्यतिरेका का ग्राही पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सब मिल कर प्रमाण का विषय। इस प्रकार विदित है कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु—अधिगम के साधन हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में वस्तु के ज्ञापक एवं व्यवस्थापक हैं।

---

१. (क) ना प्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाऽप्यविरोधतः॥
त० श्लो० पृ० १२३।

(ख) 'नायं वस्तु नचा वस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्ते॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांसस्या समुद्रता।
समुद्रवहुत्वं वास्यात्तच्चेत्कास्तु समुद्रवित्॥
ते० श्लो० पृ० ११८।

१. 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया'
—सन्मति तर्क गा०।

२. 'नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यासौ पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्। सर्वार्थसि० १-३३।

# बजरंग गढ़ का विशद् जिनालय

श्री नीरज जैन

मध्य प्रदेश के गुना नगर के समीप लगभग ५ मील पर बजरंग गढ़ नाम का छोटा सा ग्राम है। छोटी-छोटी सुन्दर पहाड़ियों से घिरा हुआ यह ग्राम पहले इस इलाके का प्रमुख नगर था। व्यापार की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व था और एक वैभवशाली केन्द्र के रूप में यह स्थान प्रसिद्ध था। कालान्तर में यहाँ की श्री विनष्ट होती गई, इस ग्राम के अधिकांश व्यवसायी कुटुम्बों ने गुना तथा अन्य समीपवर्ती नगरों में अपना निवास बना लिया और यह स्थान दिनों दिन छोटा और उपेक्षित होता गया।

इतना होते हुए भी यह स्थान इतिहास के पन्नों से सर्वथा लोप नहीं हुआ तथा आज भी अपनी अहमियत बनाये हुये है उसका श्रेय यहाँ के मध्य कालीन विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर को ही है। इसी मन्दिर का परिचय इस लेख में दिया जा रहा है।

यह मन्दिर मूलतः नागर शैली का पचायतन मन्दिर रहा होगा। खजुराहो, ऊमरी, देवगढ़, अहार, बानपुर आदि की तरह इसका निर्माण भी पाषाण से हुआ होगा और शिखर संयोजना कभी इसकी धवल कीर्ति पताका से अलंकृत रही होगी। बाद में इसका शिखर नष्ट हो जाने पर मन्दिर के उसी अधिष्ठान पर वर्तमान गुम्बद वाले शिखर सहित आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इस मन्दिर का जीर्णोद्धार या पुनर्निर्माण हुआ होगा।

धरातल से लगभग १५ फुट तक का मन्दिर का अधिष्ठान आज भी अपनी अपरिवर्तित अवस्था में देखा जा सकता है। मन्दिर की छत तथा द्वार का आगे तोरण भी मन्दिर का वही प्राचीन तोरण है जो मन्दिर के साथ बनाया गया था। इन अवशेषों की कला से और मूर्ति लेखों से इस मन्दिर का निर्माण काल तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

द्वार तोरण पर दोनों ओर दो-दो हाथ ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ अवस्थित हैं। इन पर कुछ लेख भी अंकित हैं जो अब अत्यन्त अस्पष्ट हो जाने से पढ़े नहीं जाते हैं। शासन देवियों के द्वारा ये तीर्थंकर पहिचाने जा सकते हैं। इस तोरण में आदि मंगल-स्वरूप भगवान आदिनाथ का भी मनोहर अंकन है। परिक्रमा में बाह्य भित्ति पर बायीं ओर एक खडा हुआ यक्ष तथा अर्द्ध पर्यक आसन बैठी हुई यक्षी मूर्ति है। पीछे की ओर एक चतुर्भुजी यक्षिणी है जिसके हाथों में कमल, नाग पाश, कमण्डलु और अभय मुद्रा हैं। इसी के ऊपर एक अस्पष्ट चक्र तथा नवग्रह बने हैं। दोनों ओर दो-दो हाथ ऊंची दो मूर्तियाँ देवी अम्बिका और उनके यक्ष की हैं। अम्बिका की गोद का बालक, सवारी का सिंह और उनके गले में बैजयंती माल स्पष्ट दृष्टव्य है। दाहिनी ओर आदिनाथ की देवी चक्रेश्वरी की ललितासन, चतुर्भुज, सुन्दर मूर्ति है। इसके हाथों के चक्र दर्शनीय बन पड़े हैं। पार्श्व में इनका यक्ष गोमुख भी अपने आयुध और वाहन के साथ अंकित है। इस यक्ष युगल के ऊपर एक अन्य यक्षिणी मूर्ति दो हाथ ऊँची, अष्टभुजी, खड़ी हुई बनी है जो अपने रूप, सज्जा और अनुपात के कारण अत्यन्त सुन्दर और मनोहारिणी लगती है। शरीर का त्रिभंग तो दर्शनीय है। हाथों में अक्षमाला, तूणीर, नागपाश, शख, अंकुश, धनुष, तथा श्रीफल धारण किये हुये इस प्रतिमा के अलंकरण में पग-पायल, कटिबन्ध, हार, कुण्डल, भुज-बन्ध, मणि वलय, मोहन माला, बैजयतीमाला तथा जटा-मुकुट आदि सब स्व स्थान पर अंकित है। मूर्ति का एक दाहिना हाथ खंडित है तथा दोनों ओर नारियल से ढके हुए कलश स्थापित हैं जो मंगल के प्रतीक है,

गर्भगृह में तीनों चक्रवर्ती तीर्थंकरों शांति कुंथु और अरहनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमाएँ स्थापित हैं। शांतिनाथ की पीठिका में "स० १२३६ फाल्गुन सुदि ५ प्रतिष्ठापितम्" यह लेख अंकित है। सिंहासन के बीच में धर्मचक्र तथा दोनों ओर क्रमशः गज, सिंह, अश्व आदि

का अंकन है। तीनोंप्रतिमाओं के सिंहासन पृथक्-पृथक् हैं बड़ी मूर्ति के नीचे शासन देवी की छवि भी अंकित है। पर उस पर पोते गये सिंदूर के कारण उसका स्वरूप अस्पष्ट हो गया है। इन प्रतिमाओं की एक विशेषता यह है कि इन तीनों में अपने-अपने चिह्नों के अतिरिक्त हिरण का अंकन भी पाया जाता है। मूर्तियों के गले की रेखाएँ तथा उदर भाग की त्रिबली का उभार साधारण से कुछ अधिक लगता है तथा श्रीवत्स का भी अंकन इसी अत्यधिक उभार के कारण अपनी उत्तर मध्यकालीन कला का सही प्रतिनिधित्व करता है।

प्रतिमाओं के दोनों ओर हाथी पर खड़े हुये चामर धारी इन्द्रों का अंकन है। ऊपर की ओर पुष्पमाल हाथ में लेकर उड़ते हुए विद्याधर दोनों मूर्तियों में हैं पर बड़ी प्रतिमा में इनका अभाव है। छत की पद्मशिला से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ तक यह मन्दिर अपनी आदि स्थिति में ही अवस्थित है।

इस मन्दिर की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता इसमें प्राप्त चौबीसी की वे कतिपय प्रतिमाएँ हैं जो अपनी पीठिका में अंकित शासन देवी मूर्तियों के कारण अपना अति विशिष्ट स्थान रखती हैं। ये मूर्तियाँ केवल छह हैं, शेष नष्ट हो गई प्रतीत होती हैं। एक हाथ ऊँची इन सभी प्रतिमाओं का आकार, प्रकार, गठन, सज्जा और परिकर प्राय: समान है और इनमें चिह्न भी अंकित नहीं किये गये हैं। पर शासन देवियों के कारण इनकी निश्चित पहिचान बहुत आसान है। सभी मूर्तियों में नीचे धर्मचक्र और सिंह बने हैं तथा उनके नीचे एक पृथक् कोष्ठक में वाहन और आयुध सहित इन शासन देवियों का स्पष्ट अंकन हुआ है। यदि यह चौबीसी पूरी उपलब्ध होती तो निश्चित ही मूर्ति शास्त्र की इस विधा का एक सबल और जीवन्त प्रमाण यहाँ उपलब्ध हुआ होता। इन छोटी प्रतिमाओं के पार्श्व में तथा ऊपर भी अन्य छोटी तीर्थंकर मूर्तियां अंकित हैं तथा छत्र के ऊपर गजाभिषेक और फिर शिखर का प्रतीक देकर हर मूर्तियों को एक स्वतन्त्र मन्दिर का प्रतीक बनाया गया है।

इस विशाल मन्दिर की अधिकांश सामग्री नष्ट हो गई है जो आस-पास दबी ही पड़ी हो सकती है। किसी शोधक के कुदाल से उद्धार और प्रकाश पाने तक तो हमें इस स्थान विषयक इतनी ही जानकारी पर सन्तोष करना होगा।

---

## आत्म-सम्बोधन

मिथ्यामति-रैनमांहि ग्यान-भान उदै नाहि आतम अनादि पंथी भूलो मोख घर है।
नरभौ सराय पाय भटकत वस्यो आय काम-क्रोध आदि तहां तसकर को थर है।
सोवेगो अचेत सोई खोवेगो धरम धन तहां गुरु पाहरू पुकारें दया कर है।
गाफिल न हूजे भ्रात ऐसी है अंधेरी रात, जाग-जागरे बटोही यहां चोरन को डर है।
नर भो सराय सार चारों गति चार द्वार, आतमा पथिक तहाँ सोवत अघोरी है।
तीनों पन जाय आव निकस वितीत भए अजौं परमाद-मद-निद्रा नाहि छोरी है।
तो भी उपगारी गुरु पाहरू पुकार करें हा! हा! रे निंदालू कैसी नींद जोरी है।
उठे क्यों न मोही दूरि देश के बटोही, अब जागि पंथ लागि भाई रही रैन थोरी है॥

—भूधरदास

# क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र

श्री पं० मिलापचन्द कटारिया, केकड़ी

किन्तु हमारी समझ इस विषय में कुछ और है। हम दोनों माधवचन्द्र को अभिन्न समझते हैं और दोनों के समय की संगति इस तरह बैठाते हैं कि क्षपणासार का जो समय शक सं० ११२५ दिया है उसे शालिवाहन संवत् न मानकर विक्रम स० ११२५ मानना चाहिए। चूंकि माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार गाथा ८५० की टीका में शकराज का अर्थ विक्रम किया है। इसलिए उनके मत के अनुसार क्षपणासार में दिए गए शक संवत् को भी विक्रम संवत् ही मानना चाहिए। सही भी यही है कि किसी भी ग्रन्थकार के कथन को उसी के मत के अनुसार माना जावे। इस तरह मानने से दोनों के समय में जो भारी अन्तर पड़ता है वह हलका-सा रह जाता है। इस हलके अन्तर को तो हम किसी तरह बैठा सकते हैं। इसके लिए हमें नेमिचन्द्र और चामुण्डराय के समय को कुछ आगे की ओर लाना पड़ेगा अर्थात् ये दोनों विक्रम की ११वीं शताब्दी के चौथे चरण में भी मौजूद थे ऐसा समझना होगा। वह इस तरह कि बाहुबलि चरित्र में गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सं० ६०० लिखा है। प्रोफेसर पं० हीरालाल जी ने जैन-शिलालेख संग्रह भाग १ की प्रस्तावना में इस कल्कि संवत् को विक्रम सं० १०८६ सिद्ध किया है। यह तो निश्चित ही है कि बाहुबलि मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने की थी। इसके अलावा चामुण्डराय कृत चारित्रसार खुले पत्र पृ० २२ में "उपेत्याक्षाणि सर्वाणि···" यह श्लोक उक्तं च रूप से उद्धृत हुआ है। यह श्लोक अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १२ का ११९वाँ है। इसमें उपवास का लक्षण बताया गया है। अमितगति का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तक है। इत्यादि हेतुओं से चामुण्डराय का समय संभवतः विक्रम की ११वीं शताब्दी के चौथे चरण तक पहुँच जाता है। और नेमिचन्द्र भी श्री बाहुबलि स्वामी की प्रतिष्ठा के वक्त मौजूद होंगे ही। इसके अतिरिक्त नेमिचन्द्र कृत द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव कृत टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि "यह ग्रन्थ पहिले नेमिचन्द्र ने राजा भोज से सम्बन्धित श्रीपाल मंडलेश्वर के राजसेठ सोम के निमित्त २६ गाथा प्रमाण लघु द्रव्यसंग्रह बनाया था। फिर विशेष तत्त्वज्ञान के लिए बड़ा द्रव्यसंग्रह बनाया।" इस कथन से भी सिद्ध होता है कि राजा भोज के समय श्री नेमिचन्द्र हुए हैं। राजा भोज का समय विक्रम की ११वीं सदी का चौथा चरण इतिहास से सिद्ध है। जो प्रमाण द्रव्य-संग्रह और गोम्मटसार के कर्ता को भिन्न सिद्ध करने के लिए दिए जाते हैं वे भी कुछ विशेष दृढ़ नहीं हैं जैसे कि—"गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र तो सिद्धान्त चक्रवर्ति थे और द्रव्यसंग्रह के खासतौर से कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव थे।" यह हेतु ऐसा कोई भिन्नता का द्योतक नहीं है। क्योंकि त्रिलोकसार की टीका में स्वयं माधवचन्द्र ने ग्रंथ के प्रारम्भ और अन्त में अपने गुरु नेमिचन्द्र का 'सैद्धांतदेव' नाम से उल्लेख किया है। और दूसरा हेतु भिन्नता के लिए यह दिया जाता है कि "द्रव्य संग्रह में आश्रव के भेदों में प्रमाद को गिना है जब कि गोम्मटसार में प्रमाद को नहीं लिया है।" यह हेतु भी जोरदार नहीं है। क्योंकि इस विषय में शास्त्रकारों की दो विवक्षा रही हैं। तत्त्वार्थ सूत्र और उनके भाष्यकार आदिकों ने आश्रव के भेदों में प्रमाद को लिया है, मूलाचार आदि में प्रमाद को नहीं लिया है। ये दोनों ही विवक्षाएँ नेमिचन्द्र के सामने थीं और दोनों ही उन्हें मान्य भी थीं इसीलिए उन्होंने जहाँ वृह० द्रव्य संग्रह में आश्रव-भेदों में प्रमाद को लिया है वहाँ लघु द्रव्यसंग्रह की १६वी गाथा में प्रमाद को नही भी लिया है। (देखो अनेकान्त वर्ष १२ किरण ५)

अलावा इसके उन्होंने द्रव्यसंग्रह को समाप्त करते हुए जिस ढंग से अपनी लघुता प्रदर्शित की है। वही ढंग उन्होंने त्रिलोकसार की समाप्ति के समय में भी अपनाया है। दोनों के वाक्यों को देखिए—

इदि णेमिचंद मुणिणा अप्पसुदेणाभयणंदिवच्छेण।

रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥
"त्रिलोकसारे"

अद्यावधि माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमें से एक त्रिलोकसार ग्रन्थ की संस्कृत टीका है जो छप चुकी है। और दूसरी संस्कृत में बना क्षपणासार ग्रन्थ जो अभी तक छपा नहीं है। उक्त त्रिलोकसार ग्रन्थ प्राकृत में गाथाबद्ध आचार्य नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है। उसी की संस्कृत टीका माधवचन्द्र ने लिखी है। इस टीका की प्रशस्ति में माधवचन्द्र ने इतना ही लिखा है कि—"मेरे गुरु नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्री के अभिप्रायानुसार इसमें कुछ गाथाएँ कहीं-कहीं मेरी रची हुई हैं वे भी आचार्यों द्वारा अनुसरणीय हैं।" इसके सिवा माधवचन्द्र ने यहाँ अपने विषय में और कुछ अपना विशेष परिचय नहीं दिया है किन्तु क्षपणासार की प्रशस्ति में उन्होने अपना परिचय कुछ विशेष तौर पर दिया है। वह प्रशस्ति वीर सेवा-मन्दिर देहली से प्रकाशित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह" के प्रथम भाग के पृ० १६६ पर छपी है। इस प्रशस्ति में प्रथम से लेकर पांचवें पद्य तक क्रमशः यति वृषभ, वीर-सेन, जिनसेन, मुनि चन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र और सकलचन्द्र भट्टारक को नमस्कार करने के बाद दो पद्य निम्न प्रकार हैं—

तपोनिधि महायशस्सकलचन्द्र भट्टारक—
प्रसारित तपोबलाद् विपुलबोधसच्चक्रतः।
श्रुतांबुनिधि नेमिचन्द्र मुनिपप्रसादा गतात्,
प्रसाधितमविघ्नतः सपदि येन षट्खंडकम् ॥
अमुना माधवचन्द्र दिव्यगणिना त्रैविद्यचक्रेशिना,
क्षपणासारमकारि बाहुबलिसन्मन्त्रीशसंज्ञप्तये।
शककाले शरसूर्यचन्द्रगणिते जाते पुरे क्षुल्लके,
शुभदे दुन्दुभिवत्सरे विजयतामाचन्द्रतारं भुवि ॥

इन पद्यों में कहा है कि—जिसने तपोनिधि, महा-यशस्वी सकलचन्द्र भट्टारक से दीक्षा लेकर तपस्या की उसके बल से तथा श्रुतसमुद्र पारगामी नेमिचन्द्र मुनि के प्रसाद से जिसे विशाल ज्ञानरूपी उत्तम चक्र मिला, उस चक्र से जिसने षट्खण्डमय सिद्धान्त को जल्दी ही निर्विघ्नता से साध लिया ऐसे त्रैविद्य, दिव्यगणि और सिद्धान्तचक्री इस माधवचन्द्र ने क्षुल्लकपुर में शक सं० ११२५ में दुन्दुभि नाम के शुभ संवत्सर में बाहुबलि मन्त्री की ज्ञप्ति के लिए यह क्षपणासार ग्रन्थ बनाया है वह पृथ्वी में चन्द तारे रहें तब तक जयवन्त रहे।

इस प्रशस्ति के साथ यहीं पर इस क्षपणासार का आद्य भाग मंगलाचरण का मय टीका के एक श्लोक भी छपा है। उसमें भी नेमिचन्द्र और चन्द्र (सकलचन्द्र) का उल्लेख करते हुए उन्हें माधवचन्द्र और भोजराज के मंत्री बाहुबलि द्वारा स्तुत बताए गये हैं।

इन उल्लेखों से पता लगता है कि ये माधवचन्द्र त्रिलोकसार की टीका की तरह क्षपणासार में भी अपने को त्रैविद्य और नेमिचन्द्र का शिष्य लिखते हैं अतः दोनों अभिन्न हैं। हाँ, क्षपणासार में उन्होने सकलचन्द्र को भी अपना गुरु लिखते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सकल-चन्द्र उनके दीक्षा-गुरु थे और नेमिचंद्र उनके विद्या-गुरु थे। किन्तु इसमें बड़ी बाधा यह आती है कि उक्त प्रशस्ति में क्षपणासार का रचनाकाल शक सं० ११२५ दिया है जिसमें १३५ जोड़ने से विक्रम सं० १२६० होता है। समय की की यह संगति त्रिलोकसार के कर्ता नेमिचन्द्र के समय के साथ नहीं बैठती है। नेमिचन्द्र का समय विक्रम सवत् १०५० के लगभग माना जा रहा है। इसीलिए प्रेमीजी आदि इतिहासज्ञ विद्वानों ने उक्त क्षपणासार के कर्ता माधव चन्द्र को त्रिलोकसार की टीका कर्ता माधवचन्द्र से भिन्न प्रतिपादन किया है।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंद मुणिणा भणियं जं ॥
"द्रव्यसंग्रह"

इनमे अप्पसुद-तणुसुत्तधर, सुदपुण्णा-बहुसुदा ये वाक्य अर्थ-साम्य को लिए हुए हैं। इससे दोनों को अभिन्न मानने की ओर हमारा मन जाता है। इस प्रकार जबकि नेमिचन्द्र का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के तीसरे चरण तक पहुँच जाता है तो उनके शिष्य माधवचन्द्र का समय भी विक्रम सं० ११२५ में जीवित रहना संभव हो सकता है। माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार की टीका गोम्मटसार की रचना के बाद बनाई है। क्योकि त्रिलोकसार गाथा २५० की टीका में एक गाथा "तिण्णसय जोयणाणं···" उद्धृत हुई है वह गोम्मटसार जीवकांड की है।

त्रिलोकसार टीका और क्षपणासार की शैली एवं तत्त्व विवेचन का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी दोनों के एक कर्तृत्व का निश्चय किया जा सकता है इस ओर साहित्यिक विद्वानों को ध्यान देना चाहिए।

क्षपणासार की प्रशस्ति में माधवचन्द्र ने अपना दीक्षा-गुरु सकलचन्द्र को बताया है। इस पर विचार उठता है कि उनके विद्यागुरु नेमिचन्द्र के होते हुए उन्होंने सकलचंद्र से दीक्षा क्यों ली? ऐसा लगता है कि दीक्षा के वक्त शायद नेमिचंद्र दिवंगत हो गए हों। इसी से उनको सकलचंद्र के पास से दीक्षा लेनी पड़ी हो। साथ ही ऐसा भी मालूम पड़ता है कि त्रिलोकसार की टीका की समाप्ति के समय तक वे दीक्षित ही नहीं हुए थे। क्योंकि टीका की प्रशस्ति या टीका में यत्र-तत्र ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता है जिससे उनका मुनि होना प्रगट होता हो। क्षपणासार में तो शुरू में ही वे अपने को मुनि लिखते हैं। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि नेमिचन्द्र स्वामी की जब वृद्धावस्था थी तब उनके शिष्य माधवचंद्र युवा थे और इससे माधवचंद्र का अस्तित्व वि० सं० ११२५ में माना जा सकता है। इस समय के साथ एक बाधा अगर यह उपस्थित की जावे कि क्षपणासार की प्रशस्ति में उसकी रचना राजा भोज के मन्त्री बाहुबली के निमित्त बताई है और इतिहास में राजा भोज का समय वि० सं० ११२५ से पहिले का है। इसका समाधान यह हो सकता है कि क्षपणासार की समाप्ति के समय तक राजा भोज नहीं भी रहे हो तब भी बाहुबली भूतपूर्व का अपेश मन्त्री तो उसी का कहला सकता है।

इस लेख मे मैंने जो विचार प्रगट किए है वे कहाँ तक ठीक है? इसका निर्णय मैं इतिहास के खोजी विद्वानों पर छोड़ते हुए उनसे निवेदन करता हूँ कि उन्होने इस सम्बन्ध मे अब तक जो निर्णय दिया है उस पर वे पुन: विचार करने की कृपा करे।

---

# उपदेशक पद

## कविवर जगतराम

औसर नीको बनि आयो रे ॥
नर भव उत्तम कुल शुभ सगति, जैन धरम तैं पायो रे ॥१॥
दीरघ आयु समझि हू पाई, गुरु निज मंत्र बतायो रे।
वानी सुनत सुनत सहजे ही, पुण्य पदारथ भायो रे ॥२॥
कमी नहीं कारण मिलिवे की, अब करि ज्यों सुख पायो रे।
विषय-कषाय त्यागि उर सेती, पूजा दान लुभायो रे ॥३॥
'जगतराम' मति है गति माफिक, पर उपदेश जतायो रे ॥४॥

# ३८वें ईसाई तथा ७वें बौद्ध विश्व-सम्मेलनों की श्री जैन संघ को प्रेरणा

**श्री कनकविजय जी मामूरगंज, वाराणसी**

बौद्ध सम्मेलन की कार्यवाही का निरीक्षण करने के पूर्व न केवल भारत में अपितु सम्पूर्ण विश्व में भी बुद्धदेव की महान ज्योति को पुनः प्रज्वलित करने में अनागारिक श्री धर्मपाल जी ने कितना महत्वपूर्ण पुरुषार्थ किया है? सर्वप्रथम उसे देखें:—क्योंकि इसी कारण से विश्व-बौद्ध सम्मेलन के संयोजकों ने २८–११–६४ को सर्वप्रथम श्री धर्मपाल जी की जन्म-शताब्दी मनाने के बाद ही १६-११ ६४ से ४-१२-६४ तक विश्व बौद्ध-सम्मेलन मनाया था।

**अनागारिक धर्मपाल—**

देवमित्र श्री धर्मपाल जी का वास्तविक इंग्लिश नाम डेविड हेवावितरण था। वे जन्म से क्रिश्चियन थे। उनकी जन्मभूमि सिलोन थी। वे अत्यन्त सम्पन्न परिवार के थे। आपके पूर्वज भी अत्यन्त बुद्धिमान, सेवाभावी, विद्वान् तथा धनाढ्य थे। भारत की वर्त्तमान राजनीति में जो गौरव पूर्ण स्थान नेहरू परिवार का है वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान न केवल लंका में अपितु विश्व में बौद्ध धर्म के संबन्धन तथा प्रचार में हेवावितरण परिवार का है। डेविड हेवा-वितरण बाल्यकाल में क्रिश्चियन स्कूल में दाखिल हुए। तब उन्होंने देखा कि ईसाई शिक्षक मदिरा पान तथा पशुपक्षियों का वध भी करते हैं। बाल्यकाल से उनके अन्तःकरण में करुणा, मैत्री, आदि अनेकों महत्व के गुण थे। वैसा होने के कारण उनके मन में ईसाइयों से संतोष नहीं होता था। और परिणामतः अनेक वर्षो तक संघर्ष करते करते अन्त में डेविड हेवावितरण बौद्ध अनागारिक धर्मपाल बन गये। २५ अक्टूबर सन् १८६१ के दिन कलकत्ते में आपने "हिन्दू धर्म के हाथ में बौद्ध धर्म का समन्वय" विषय पर सर्व प्रथम भाषण करते हुए कहा था कि—"हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में बहुत ही कम अन्तर है।" कलकत्ते में श्री शरत चन्द्रदास के साथ विस्तृत वार्तालाप करते हुए श्री धर्मपालजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "बौद्ध धर्म का निष्कासन भारत के हिन्दुओं से नहीं हुआ था बल्कि भारत में बौद्ध धर्म का नाश मुसलमान आक्रमणकारिओं के द्वारा हुआ था।

अनागारिक धर्मपाल स्वामी श्री विवेकानन्द जी के मित्र थे। वे श्री विवेकानन्द से केवल एक ही वर्ष छोटे थे जबकि महात्मागांधी जी से श्री धर्मपाल पांच वर्ष बड़े थे। शिकागो अमेरिका के विश्व मेले के भीतर विश्व धर्म सम्मेलन के लिए श्री धर्मपालजी को स्थविरवादी हीनयान बौद्धधर्म का प्रतिनिधित्व करने का सन् १८६३ में आमंत्रण मिला तब कर्नल ओलकाट जैसे अत्यन्त स्नेही बुद्धिमान व्यक्ति की सम्मति न होने पर भी आप विश्व धर्मसम्मेलन के लिए अमेरिका गये। उस विश्व धर्म सम्मेलन में श्री मती एनीबेसेन्ट तथा श्री चक्रवर्ती (थिजोसोफी),—प्रतापचन्द्र मजूमदार तथा श्री नागरकर (ब्रह्म समाज), श्री वीरचन्द्र राघवजी गान्धी तथा बैरिस्टर श्री चम्पतराय (जैन धर्म), स्वामी श्री विवेकानन्द जी (हिन्दू धर्म) आदि भारत से गये थे। स्वामी श्री विवेकानन्द जी के भाषण में ओज था तो श्री धर्मपाल जी का भाषण 'विश्व को श्री बुद्ध की देन' में दर्शन की ऊंची उड़ानों से रहित किन्तु सीधी सादी भाषा में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण परिचय था। स्वामी श्री विवेकानन्द के विचारों को सुनकर एक अमेरिकी सज्जन सभा में ही तत्काल हिन्दू बन गया था। तब श्री धर्मपालजी के भाषण का वह प्रभाव पड़ा था कि उसी सभा में न्यूयार्क के व्यापारी तथा दर्शन के विद्यार्थी श्री सी० टी० स्टाल ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। श्री विवेकानन्द की तुलना "शिष्ट किन्तु ओजस्वी ओथेलो' से करने में आयी। जब श्री धर्मपाल जी को "साक्षात् ईसा मसीह के समान कहने में आया था। स्वामी श्री

विवेकानन्द के द्वारा ६ जून १८६६ का लंदन से लिखे हुए पत्र में श्री धर्मपालजी को खास प्रेरणा थी कि 'अमेरिका में बौद्ध धर्म का अवश्य प्रचार करना चाहिए।' सचमुच यह बात उन दोनों धर्म प्रचारकों में कसा हार्दिक मिलन था वह दिखाने के लिए पूरता है। सन् १८६८ में श्री धर्मपाल जी ने केवल साम्प्रदायिक बौद्ध धर्म के प्रचार की अपेक्षा आर्य धर्म का वास्तविक प्रचार करना इष्ट माना। श्री धर्मपाल जी ने १८६६ के आसपास में ६ महीने तक लका के बौद्धों में मांस भक्षण का निषेध, जाति भेद की समाप्ति तथा विदेशी वेश भूषा के त्याग का विशिष्ट प्रचार किया। इसी उद्देश्य के प्रचार के लिए उन्होंने बंगाल से पेशावर तक की तीर्थ यात्रा भी की।

लन्दन की श्री मती मेरी एलिजाबेथ की श्री धर्मपाल जी के प्रति अत्यन्त घनिष्ठ श्रद्धा बढ़ती जा रही थी क्योंकि श्री धर्मपाल जी के उपदेशानुसार मेरी एलिजाबेथ ने साधना की थी। उस साधना के फलस्वरूप श्रीमती बेथ के स्वभाव का चिड़चिड़ापन दूर हुआ था। फलस्वरूप उसने अपने जीवन के अन्त तक अर्थात् सन् १६३० तक करीब दस लाख रुपये श्री धर्मपाल जी को धर्म के प्रचार, स्कूल हास्पिटल, पुस्तकालय, आदि के लिए दिए थे।

सन् १६०१ में अनागारिक श्री धर्मपाल जी ने अपनी माता श्रीमती मल्लिका हेवावितरण द्वारा प्राप्त ६००) रुपयों से सारनाथ में एक जमीन का टुकड़ा खरीदा था। वर्मा और लंका से प्राप्त चन्दे के द्वारा इस जमीन के ऊपर एक मकान बनाया गया। जिसमें छोटे बच्चों को शिक्षा देना शुरू की। जिसके द्वारा बालकों के व्यक्तित्व का विकास हो। यह संस्था चलाने का पूरा खर्च श्रीमती फोस्टर ने दिया। उसीने श्री बौद्ध मदिर के निर्माणार्थ चन्दे में १५००) रुपया दिया। उसके बाद मेनमा के राजा श्री उदय प्रतापसिह ने भी २०००) रुपये दिये। उसमें अन्य भी सहायताए हुई थी। इस तरह सारनाथ में दस बीघा जमीन खरीदने में आयी।

विदेशों के विस्तृत परिभ्रमण तथा वहां की अनेक संस्थाओं के सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् श्री धर्मपाल जी ने निर्णय किया कि पश्चिम के शिल्प, विज्ञान आदि को पूर्व के अध्यात्म के साथ में समन्वय हो तब ही विश्व का रक्षण एवं प्रगति संभव है। श्री विनोवाभावे आदि महानुभावों का कथन भी उस बात की ही प्रतीति कराते हैं कि "विज्ञान और धर्म का समन्वय जरूरी है इसके बिना मानव समाज का अस्तित्व भी टिकना मुश्किल है।"

सन् १६०२ में श्री धर्मपाल जी ने तीसरी बार अमेरिका यात्रा की और वहां दो वर्ष ठहरे। भारत वापस लौटते समय वे लन्दन में अराजकतावादी प्रिंस पीटर क्रोपोटनिक आदि समाजवादी विचारधारा वाले विचारकों के साथ खुले दिल से वार्तालाप किया। हालैण्ड में उन्होंने वहां के ही प्राइमरी स्कूलों का निरीक्षण किया। स्वीडेन जाकर वहां के गृह उद्योगों की जानकारी प्राप्त की। हालैण्ड के एक स्कूल मे श्री धर्मपाल जी का महापुरुषोचित स्वागत करने में आया। क्योंकि कुछ दिन पूर्व ही वहां के एक ज्योतिष शास्त्रीय ने भविष्य वाणी की थी कि इस स्कूल में "पूर्व का महान् व्यक्ति आएगा।"

कांगड़ा का एक तरुण सिक्ख सन् १६०४ में श्री धर्मपाल जी से मिलने के लिए खास काशी आया था। काशी कैण्ट स्टेशन से इक्का में सारनाथ की ओर जाते हुए उस युवक को इक्कावान् ने कहा कि—'जिस साधु को मिलने के लिए आप सारनाथ जा रहे हैं उस साधु को इस ओर के लोग पागल समझते हैं।' सारनाथ पहुँचते ही तरुण ने देखा कि सारनाथ बिल्कुल उजाड़ स्थान है। उसे देखते ही युवक के मन में बड़ी निराशा हुई। किन्तु अनागारिक श्री धर्मपाल जी के दर्शन होते ही वह सारी निराशा दूर हो गई। युवक ने धर्मपाल जी के उद्देश्य में उच्चता, संकल्प में शक्ति तथा उनकी आँखों में अन्तरतम की प्रबल आग का प्रत्यक्ष दर्शन किया। वह सिक्ख युवक अप्रतिम पत्रकार सन्त निहालसिह के नाम से आज ससार में प्रसिद्ध है। अतः यह अनुभव किया जा सकता है कि किस लगन और निष्ठा से अकेले हाथ से श्री धर्मपाल जी ने भारत तथा विश्व मे बौद्ध धर्म की सेवा की।

नवम्बर सन् १६०४ में अनागारिक श्री धर्मपाल जी ने लंका महाबोधि सोसाइटी के अनुरोध से लंकावासियों में पुनर्जागरण के निमित्त विशेष अभियान किया। लंका द्वीप के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक जिस मोटर गाड़ी में वे घूमे थे उस मोटर गाडी में लिखा हुआ था कि—'गो

मांस मत खाओ, मांस मदिरा के सम्पूर्ण त्याग के साथ ही उन्होंने पश्चिमी वेश भूषा एवं पश्चिमी नाम न रखने की भी जनता से अपील की।' श्री धर्मपाल जी की माता पहली सिंहली महिला थी। कि जिन्होंने गाउन छोड़कर साड़ी धारण की। श्री धर्मपाल जी के हृदयंगम भाषणों का प्रभाव लंकावासियों पर खूब पडा और परिणाम स्वरूप विदेशी पोशाक एवं इंग्लिश नाम त्यागने की जनता में लहर आ गई।

सन् १९०६ में पिता श्री जान केरोलिस हेवा वितरण के निधन से श्री धर्मपाल जी को काफी आघात लगा। क्योंकि अपने पिता द्वारा ही श्री धर्मपाल जी को धर्म-प्रचार की प्रवृत्तियों में पूर्ण सहायता प्राप्त होती थी। तीन बार के अमेरिका यात्रा पर हुए १८०००) का खर्च श्री धर्मपाल जी ने महाबोधि सभा में से नहीं लिया था। किन्तु श्री धर्मपाल जी के पिता जी ने स्वयं दिया था। प्राविधिक शिक्षा के लिए सिहली युवकों को जापान भेजने का व्यय भार भी श्री धर्मपाल जी के पिता ने ही किया था। पिता के निधन की सूचना श्री धर्मपाल जी ने श्रीमती एलिजावेथ फोस्टर को दी। तब श्रीमती फोस्टर ने उत्तर दिया कि—'आज से मैं आपकी फोस्टर तो हूँ ही साथ ही साथ जान केरोलिस हेवा वितरण अर्थात् पिता भी। श्रीमती फोस्टर ने पिता के अभाव से सम्भावित आर्थिक कठिनाई श्री धर्मपाल जी के सामने नहीं आने दी।

सन् १९२२ में श्री धर्मपाल जी का स्वास्थ्य काफी गिर गया था। सन् १९२५ में उनके अस्वास्थ्य ने भक्तों में पर्याप्त चिन्ता बढ़ाई। परिणामतः श्री धर्मपाल जी को स्वीड्जर लैण्ड ले जाया गया। जहाँ उनका साइटिका का सफल आपरेशन भी हुआ। लंका लौटने के साथ ही श्री धर्मपाल जी ने जीवन के कष्टमय चरण मे प्रवेश किया। तीन वर्ष तक पेट विकार के कारण बिस्तर में ही पड़े रहे। तीन वर्ष के बाद वे कुछ ठीक हुए और हृदय के रोग से भी मुक्त हुए। किन्तु उतने में ही उनके सबसे छोटे भाई डा० चार्ल्स अल्विस हेवावितरण की ट्रेन दुर्घटना में मृत्यु हो गई। उनके द्वारा श्री धर्मपाल जी को धर्मप्रचार में काफी सुविधाएँ मिलती थीं। सन् १९३० में श्रीमती मेरी एलिजावेथ फोस्टर का निधन भी श्री धर्मपाल जी के लिए वज्रपात के समान ही हुआ। घूमने फिरने में अशक्त श्री धर्मपाल जी ने धर्मप्रचार के निमित्त श्रीमती फोस्टर से प्राप्त धन एवं हिस्से की सम्पत्ति का भी ट्रस्ट किया। कुर्सी पर बैठा करके श्री धर्मपाल जी को स्टीमर पर पहुँचाया गया। श्री धर्मपाल जी कलकत्ता होते हुए सारनाथ आए। ११ नवम्बर १९३१ के मूलगंध कुटी विहार सारनाथ के उत्सव में श्री धर्मपाल जी को सचल कुर्सी पर बैठाकर लाया गया। आयोजन में पंडित जवाहरलाल नेहरू भी उपस्थित थे। श्री प्रकाश जी ने धर्मपाल जी का भाषण पढ़कर सुनाया। जीवन का अन्त नजदीक देखते हुए श्री धर्मपाल जी ने श्रामणोर दीक्षा ली। और दो साल बाद उपसम्पदा अर्थात् भिक्षु दीक्षा भी ली। अप्रैल सन् १९३३ में उनको ठंड लगी और ज्वर आया। भक्त लोग इकट्ठे हुए और दवाई देने लगे। किन्तु श्री धर्मपाल जी दवाई लेने से इन्कार करते गए। उन्होने कहा 'अब इस शरीर पर किसी प्रकार का खर्च मत करो।' सारा खर्च व्यर्थ है। २८ अप्रैल सन् १९३४ में उनका शरीर छूट गया।

पंडित जवाहर लाल नेहरू श्री धर्मपाल जी को सन् १८९६ से जानते थे। श्री मोतीलाल नेहरू के बड़े भाई पंडित वंशीधर नेहरू आदि नेहरू परिवार के साथ में श्री धर्मपाल जी का स्नेह बहुत पुराना था। गाधी जी के साथ में श्री धर्मपाल जी का परिचय सन् १९१७ से था। गांधी जी का धर्मराजिक महा विहार कलकत्ते मे भाषण हुआ था। सारनाथ जाकर गांधी जी ने बुद्धदेव के दर्शन भी किये थे। श्री प्रकाश जी का सम्बन्ध धर्मपाल जी के साथ अत्यन्त निकट का था। डा० भगवान दास तथा पंडित श्री मदन मोहन मालवीय जी श्री धर्मपाल जी के मित्रों के समान थे। राष्ट्र रत्न श्री शिवप्रसाद गुप्त के द्वारा श्री धर्मपाल जी को अनेकों प्रकार की सुविधाएँ मिलती थीं।

श्री धर्मपाल जी बडे भारी विचारक या विद्वान् नही थे किन्तु धर्म उनके चरित्र में उतर आया था। बाल्यकाल में उनको ईसाई धर्म के अत्याचारों का प्रत्यक्ष दर्शन तथा अनुभव हुआ था। *युवावस्था में गया के महन्त के द्वारा*

हुए अत्याचारों के प्रत्यक्ष अनुभव ने श्री धर्मपाल जी के जीवन में अशान्ति उत्पन्न कर दी थी। वृद्धावस्था में स्वास्थ्य जिस तरह गिरा था उसके कारण के रूप में निश्चित रूप से यही मन : स्थिति हेतु रूप थी। धर्म के कर्णधारों में उनकी तुलना मात्र स्वामी विवेकानन्द से ही हो सकती है।

गिनती के ही वर्षों पूर्व सम्पूर्ण भारत में एक भी बौद्ध नहीं था। जबकि वर्तमान में करोड़ों बौद्ध भारत में हैं। सैकड़ों की संख्या में बौद्ध भिक्षुएँ भी हैं। न केवल भारत में अपितु समग्र विश्व के कोने-कोने में बौद्ध प्रचार का सूत्रपात एकमात्र एकांकी अनागारिक श्री धर्मपाल जी ने ही किया था। श्री धर्मपाल जी ने घोषित किया था कि 'भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के बीच में सन्तुलन करने से ही संसार मे कुछ उपयोगी कार्य हो सकता है मैं धर्म की सेवा के लिए २५ बार जन्म लूंगा। मेरा जन्म वाराणसी के ही एक ब्राह्मण परिवार में ही होगा।' श्री शामा प्रसाद जी प्रदीप कहते हैं कि—श्री धर्मपाल जी ने भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुद्धार ही नहीं किया बल्कि विशुद्ध धर्म प्रचार करके उन्होंने विश्व में सबसे बड़े मिशनरी होने का गौरव भी प्राप्त किया।' डा० श्री कैलाशनाथ काटजू ने श्री धर्मपाल जी के लिए कहा कि—'जिस तरह आनन्द बुद्धदेव को कपिलवस्तु वापस ले गये थे उसी तरह श्री धर्मपाल जी भारत में बौद्ध धर्म को वापस ले आए।' महाबोधि सोसाइटी के जनरल सेक्रेटरी ब्रह्मचारी श्री देवप्रिय बलिसिंह जो श्री अनागारिक धर्मपाल जी के प्रधान शिष्य हैं उन्होंने १-१२-६४ को कहा था कि—'अनागारिक धर्मपाल बौद्ध धर्म के पुनरुद्धारक ही नहीं, अपितु सम्राट् अशोक के बाद सबसे बड़े बौद्ध धर्म के प्रचारक भी थे।'

इतनी प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अब अपने सातवें विश्व बौद्ध सम्मेलन की प्रेरक कार्यवाही की ओर आयें।

**सातवां विश्व बौद्ध सम्मेलन, सारनाथ, काशी :**

भगवान् महावीर तथा श्री बुद्धदेव दोनों समकालीन राजकुमार थे। दोनों महापुरुषों ने अन्तिम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण राज्यवैभव का त्याग किया, कष्टमय जीवन बिताया, परिणामतः ज्ञान की परम ज्योति प्राप्त की और मानव समाज को अपने-अपने ढंग से कल्याण के परम मार्ग का भी उपदेश दिया। इस तरह जैनों के लिए बौद्ध एक अत्यन्त आत्मीय भारतीय बन्धुधर्म ही है। प्रगति के पंथ पर चले हुए दोनो बन्धु धर्मों के हजारों वर्षों के भूतकाल के इतिहास पर सूक्ष्म दृष्टि डाल कर एक दूसरों की सफलता असफलता, त्रुटि, कमजोरी, आदि अनेक बातों का मूल्यांकन करें वह इच्छनीय है। बौद्धों के लिए हाल वर्तमान में खास कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मात्र श्री जैन संघ तथा समाज के लिए ही है। क्योंकि इस लेख का उद्देश्य ही 'श्री जैन संघ कुछ प्रेरणा लेगा ?' यही है। लेख के अन्त में उस पर भी विचार करेंगे।

वर्तमान विश्व में तीन धर्मों का अधिक प्रचार है। ईसाई, बौद्ध एवं इस्लाम। सबसे पहला व्यवस्थित संगठन ईसाइयों का था। जो आज तक बराबर बढ़ता ही जा रहा है। विभिन्न देश, परम्परा एवं स्थानों में मात्र मानव सेवा के लक्ष्य को लेकर ही वह व्यवस्थित रीति से आगे प्रगति कर रहा है। ईसाई विश्व सम्मेलनों के विभिन्न देशों में ३८ महान् अधिवेशन हुए हैं। करोड़ों की संख्या में ईसाई बढ़ गये हैं वह ईसाइयों की व्यवस्थित कार्य शक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। बम्बई में हुए ३८वें विश्व ईसाई सम्मेलन की व्यवस्थितता, स्पष्टता तथा अनुशासन आदि जगजाहिर है। विश्व ईसाई सम्मेलन की तुलना में विश्व बौद्ध सम्मेलन इतना सुन्दर, आकर्षक तथा प्रेरक नही था। वैसा प्रत्यक्ष दर्शियों का अनुभव है। फिर भी ईसाइयों के व्यवस्थित प्रचार से प्रेरित होकर श्री धर्मपाल जी के गृहस्थ शिष्य लंका के वर्तमान कालीन ब्रिटेन के हाई कमिश्नर श्री मलाल शेखर जी एवं इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री किस्मल हम्फे आदि बौद्ध महानुभावों ने मिलकर बौद्ध समाज की तत्कालीन सारी परिस्थितियों का विचार किया। और एकमात्र बौद्ध धर्म के प्रचार की मंगल कामना से स्वयं हीनयान परम्परा के उपासक होते हुए भी विश्व में फैले हुए बौद्धों के प्रमुख भेद महायान्, हीनयान् तथा वज्रयान रूप तीनों प्रधान परम्पराओं का समन्वय करते हुए सन् १९५० में सर्व

प्रथम विश्व भ्रातृत्व संघ की स्थापना की। प्रथम सम्मेलन भी लंका में ही किया उसके बाद प्रति दूसरे वर्ष विश्व बौद्ध सम्मेलन विभिन्न देशों में हुए हैं। क्रमशः जापान, वर्मा, नेपाल, थाईलैण्ड तथा कम्बोडिया में हुए हैं। सातवाँ ६ दिन का विश्व बौद्ध सम्मेलन सारनाथ में हुआ। इतना जानना जरूरी है कि धर्मपाल जी के अनेकों शिष्य भिक्षु होते हुए भी श्री धर्मपाल जी के अनुरागी भक्त गृहस्थ श्री मलाल शेखर जी ने श्री क्रिस्मस हुम्फे जैसे बहुश्रुत विद्वान का अमूल्य सहयोग लेकर आगे आए और विश्व बौद्ध सम्मेलन की स्थापना की। स्थापना से लेकर आज तक ब्रिटेन में लंका के हाई कमिश्नर आदि अनेक उत्तरदायित्व पूर्ण पदों की जिम्मेदारियों को निभाते हुए उन दोनों महानुभावों ने अनेक सहयोगियों के साथ मिलकर अश्रान्त गति से विश्व बौद्ध सम्मेलन की गाड़ी आगे खींचते ही जा रहे हैं। श्री जैन संघ के लिए सचमुच वह प्रेरणा लेने योग्य है।

विश्व बौद्ध सम्मेलन का उद्देश्य राज्यनीति में भाग लेने का नहीं है केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तक ही अपना कार्य क्षेत्र सम्मेलन ने सीमित रखा है। यद्यपि बौद्ध देशों में आपसी वैमनस्य तथा विरोध भी है। वियतनाम तथा लाओस और थाईलैण्ड एवं कम्बोडिया में आपसी विरोध है। वर्मा एक बौद्ध देश होते हुए भी वहाँ की सरकार के पहले बौद्ध अधिकारी इस समय जेल में हैं।

वियतनाम में अमेरिकन शासन के सामने बौद्धों ने जो विरोध व्यक्त किया था उसके फोटू स्लाइड चित्र और खून से तर वस्त्र आदि भी सारनाथ में दिखाने में आए थे। भारत ने गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसक सत्याग्रह तो देखा ही है किन्तु वियतनाम में अमेरिकनों के सामने भिक्षुओं का जीते जी अग्नि में जल जाने के अनेकों प्रसंग सचमुच मानव समाज के सामने महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। वियतनाम का वह विरोध अभी समाप्त नहीं है वर्तमान में भी चल रहा है। दो चार दिन ऊपर के पत्र में पढ़ने में आया था कि कोई बौद्ध भिक्षुणी सरकार के विरोध के निमित्त अग्नि में जल मरी है। यद्यपि वियतनाम में बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों का आत्म बलिदान प्रेरक प्रसंग तो समझ में आता है किन्तु २६ जनवरी १९६५ के दिन दक्षिण भारत में केवल हिन्दी राष्ट्र भाषा न होनी चाहिए इतने ही मात्र के लिए, हिन्दी के विरोध में, दो व्यक्तियों का जीते जी जल मरना वह समझ में नहीं आता। ऐसी ही एक विशाक्त हवा लंका से भी आई थी कि वहाँ के एक बौद्ध भिक्षु ने कहा है—'सरकार द्वारा यदि समाचार पत्र अपने अधिकार में ले लिए जायेंगे। तो वियतनाम के बौद्ध भिक्षुओं की तरह मैं भी जीवन कुर्बान करके अग्नि में जल मरूँगा।' प्रत्येक शुभ आदर्श का मानव समाज कितना भयंकर दुरुपयोग भी कर सकता है? लंका और दक्षिण भारत के दोनों उदाहरण इस बात के साक्षी हैं।

विश्व बौद्ध सम्मेलन में विश्व के ३२ देशों में से चीन, पाकिस्तान, हिन्देशिया एवं वर्मा को छोड़कर २८ राष्ट्रों के बौद्ध प्रतिनिधि इकट्ठे हुए थे। सम्मेलन के उद्घाटन के पूर्व डा० राधाकृष्णन् ने बुद्धदेव की मूर्ति की पूजा की थी। फूल चढ़ाए थे। धूप भी किया था। सम्मेलन में उपस्थित खास व्यक्तियों में तिब्बत के श्री दलाई लामा, लद्दाख के श्री पणछेन लामा, महाराज सिक्किम, सम्मेलन की अध्यक्षा थाइलैण्ड की राजकुमारी श्री मती पून पिस्मइ टिस्कुल, लाओस सरकार के सांस्कृतिक मन्त्री, काशी नरेश, राजमाता विजया नगरम्, उत्तर प्रदेश सरकार की प्रधान मन्त्रिणी श्रीमती सुचेता कृपलानी, भारत सरकार के परराष्ट्र मन्त्रालय की श्रीमती लक्ष्मी मेनन, लंका में भारत के राजदूत श्री भीमसेन सच्चर, ब्रिटेन में लंका के राजदूत श्री मलाल शेखर जी, इंग्लैण्ड के श्री क्रिस्मस हुम्फे आदि अनेकों विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। विश्व सम्मेलन के लिए ही सारनाथ में खास रिजर्व बैंक की शाखा खोलने में आई थी। विश्व और भारत में समाचार भेजने के लिए टेलीप्रिंटरों की खास व्यवस्था करने में आई थी।

विश्व बौद्ध सम्मेलन में बौद्ध भिक्षुओं एवं प्रतिनिधि गण अनेक प्रकार की वेश भूषाओं में उपस्थित था। कत्थई वस्त्र में तिब्बत, मंगोलिया तथा लद्दाखी भिक्षुओं के साथ रूसी उपासिकाएँ भी थीं। पीत वस्त्र में स्थविर वादी भिक्षु, काले पोशाक में जापानी धर्माचार्यों, श्वेत

वस्त्र में वियतनामी उपासिकाएँ रंग विरंगे पोशाकों में भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के प्रतिनिधि तो थे ही पश्चिमी सभ्य पोशाकों में आस्ट्रेलिया, योरोप तथा अमेरिका के प्रतिनिधि भी थे।

इस सारे प्रसंग पर सम्पादकीय लेख लिखते ३-११-६४ के 'आज' दैनिक में कहने में आया था कि इस सम्मेलन में ऐसे निर्णय (ठहराव) करने में आए जो बौद्ध धर्म के प्रचार में ही नहीं समस्त मानवता के कल्याण में भी सहायक हों। सचमुच सातवें बौद्ध सम्मेलन में जो भी निर्णय किए हैं वह बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। सम्मेलन ने विश्व के बौद्धों को प्रेरणा दी है कि:—(१) प्रत्येक धर्मों के साथ सद्भाव और मित्रता रखनी (२) प्रत्येक बौद्ध संगठन विश्व शान्ति की रक्षा के लिए हर एक धर्म तथा उसके धार्मिक संगठनों के साथ सहयोग पूर्वक कार्य करें (३) बौद्धों के दो प्रमुख भेद महायान तथा थेर (स्थविर) वादी शाखाओं में पारस्परिक सम्बन्ध और घनिष्ठता स्थापित हो (४) बौद्धों और हिन्दुओं में गहरा सद्भाव आवश्यक है (५) विश्व राष्ट्रसंघ को विश्व के निशस्त्रीकरण के लिए अपील की (६) परमाणु शस्त्रों का उपयोग कोई राष्ट्र न करे (७) परमाणु शक्ति का उपयोग निर्माण कार्य में ही होना चाहिए (८) निश्चित योजनाओं को चरितार्थ करने के लिए विशाल रूप से धन संग्रह करना आदि।

सारनाथ के सातवें विश्व बौद्ध सम्मेलन के लिए थाइलैण्ड के श्री सुद्धिमाणिक्य ने डेढ़ लाख रुपया दिया था। उसके बदले में सम्मेलन ने उनको खास धन्यवाद दिया था। १-२-६४ के दिन बौद्ध मन्दिर में तीन भारतीय बालकों को तथा ६ महाराष्ट्र के वयस्कों को श्रामणेर दीक्षा देने में आयी थी। सन् १९५४ में उत्तरप्रदेश राज्य तथा केन्द्रीय सरकार ने ३५ लाख रुपया तो केवल सारनाथ के ही विकास के लिए खर्चे थे। अन्य स्थानों के लिए तो अलग अलग रकमें भी थीं। सन् १९५६ के पहले तथा बाद में भी अनेकों सहायता बौद्ध केन्द्रों को सरकार के द्वारा मिली है। इतना होने पर भी मान्य भिक्षु श्री धर्मरक्षित जी प्राय: २५-११-६४ के 'आज' में लिखते हैं कि सरकार बौद्ध सम्मेलन के प्रति उपेक्षा रखती है। कोई सुविधा नहीं करती। सरकार ईसाई सम्मेलन को पूर्ण सुविधा देती है आदि।

थाइलैण्ड की प्रतिभाशालिनी राजकुमारी पुन पिस्मइ टिस्कुल सातवें विश्व बौद्ध सम्मेलन के प्रमुख पद पर पुन: प्रतिष्ठित हुई। उन्होंने विभिन्न प्रसंगों पर जो कुछ कहा वह सचमुच उल्लेखनीय है। २५ सो वर्षों से बौद्ध धर्म मानव समाज की सेवा समयानुसार कर रहा है।' सब धर्मों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है कि मानव को पशु के स्तर से ऊपर उठाना।" मानव समाज की तथाकथित नई पीढ़ी प्राय: सब धर्मों को हेय दृष्टि से देखती है। क्योंकि वे अन्ध विश्वास की विरोधिनी है इसीलिए हमको बौद्ध धर्म की बुद्धिग्राही ढंग से व्याख्या करनी पड़ेगी किन्तु वैसा करने के पूर्व सबसे पहले हमें स्वयं उसे अच्छी तरह समझ लेना होगा। हमें (बोद्ध) अन्य धर्मानुयायिओं से श्रेष्ठ हैं वैसा दावा या अभिमान न करना चाहिए। क्योंकि वैसा अभिमान प्रतिस्पर्धा का सर्जक हो जायगा। हमको आशा है कि सब धर्मों में सहयोग और एकता होगी और इस तरह साथ-साथ कार्य करते हुए शान्ति, सामाजिक दृढ़ता तथा प्रगति की उपलब्धि भी होगी। बौद्ध और हिन्दुओं में गहरे सद्भाव की आवश्यकता है। हम सब (बौद्ध) महान् हिन्दू प्रतिनिधित्व के सदस्य हैं। हिन्दू लोग दोनों एक ही हैं। हिन्दू धर्म प्राचीन है। बौद्ध धर्म का ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में जन्म हुआ। बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म का लक्ष्य समान है। वह लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करनी। (उनके विकास में) आपके जो कोई प्रयत्न होंगे उसमें हमारा (बौद्धों का) आपको सहयोग मिलेगा। (१-१२-६४ का काशी विद्यापीठ का भाषण) वाराणसी के साथ मेरा (राजकुमारी का) सम्बन्ध जन्म से है इत्यादि अनेक भाषणों से भी आगे बढ़कर राजकुमारी प्रमुख व्यक्तियों के समूह के साथ श्री तुलसी मानस मन्दिर में गई और वहाँ जाकर के हिन्दू विधि से पूजन भी किया। काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के श्री विश्वनाथ मन्दिर में भी प्रमुख व्यक्तियों के साथ श्री विश्वनाथ जी का वैदिक मन्त्रों से पूजन किया। लंका के ब्रिटेन में हाई कमिश्नर तथा विश्व बौद्ध सम्मेलन के सर्जक श्री मलाल शेखर जी

आदि भी उस पूजन में सम्मिलित थे। उन्होंने अपने एक भाषण में निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया था कि—'बुद्ध देव कहते हैं कि—बुद्धि के बल पर चलो। आप्त के बचन पर नहीं।' मलेशिया के प्रधान मन्त्री श्री तुर्कू रहमान ने अपने सन्देश में कहा था कि 'आज के संसार में भौतिकवाद ने अध्यात्मिकता को चुनौती दे रखी है। सम्मेलन उस चुनौती का उत्तर दे वैसी आशा रखता है।'

मूलगंध कुटीविहार के सामने दिखाए गए सिंहली चलचित्र 'लंका में बौद्ध धर्म' में एक आश्चर्यजनक कथा बताने में आई थीं। वह कथा ऐसी थी कुशीनगर में भगवान बुद्ध का जब महापरिनिर्वाण हो रहा था तब उन्होंने इन्द्र को बुलाया और आदेश दिया कि हमारे धर्म को लंका में ले जाओ और वहाँ उसकी रक्षा एवं व्यवस्था करो। इन्द्र ने लंका में जाकर विभीषण देव को बुलाया और कहा कि वे वहाँ बौद्ध धर्म की रक्षा करें। लंका-वासियों का विश्वास है कि भगवान बुद्धदेव तीन बार लंका में आए हैं और इन्द्र की आज्ञा से वहाँ विभीषणदेव बौद्ध धर्म की रक्षा करते हैं।

महाबोधि सोसाइटी के प्रधान भिक्षुओंका महाबोधि सोसाइटी को ही दान सचमुच एक महत्व का बिचारणीय प्रसंग है। महाबोधि सोसाइटी के संस्थापक भिक्षु श्री धर्मपाल जी के उल्लेखनीय शिष्य भिक्षु श्री संघरत्न जी नायक स्थविर जो वर्षो से महाबोधि सोसाइटी के सुयोग्य संचालक भिक्षु श्री धर्म-रक्षित जी और नालंदा के विद्वान भिक्षु श्री यू धर्मरत्न जी का क्रमशः १०१), १००), १००) रुपयों का दान और यह सारी बाल रिपोर्ट में भी छपी है। भिक्षुओं को कार्यसेवा के बदले में उचित पुरस्कार तथा मासिक भी मिलता है।

लेखांक पहले के अन्त में बम्बई के क्रिश्चियन में जिस तरह चोरों और बदमाशों को पकड़ने में आए थे उस पर हमने जैसी चिन्ता व्यक्त की थी वैसी चिन्ता यहाँ भी व्यक्त करनी ही पड़ेगी। कि अखिल भारतीय श्री महा-बोधि सोसाइटी के प्रधान मन्त्री, स्वर्गवासी भिक्षु श्री धर्मपाल जी के शिष्य, ब्रह्मचारी श्री देवप्रिय बलिसिंह जी का ८००) रुपयों का सामान चोरी हो गया। जिसमें विश्व बौद्ध सम्मेलन के कितनी ही फाइले भी थीं। यह चोरी कलकत्ता के हावड़ा स्टेशन पर हुई थी। सारनाथ के सम्मेलन स्थल पर भी कितनी ही चोरियाँ ऐसी हुई कि जिनका विचार करते हुए ऐसा लग रहा है कि जिस बुद्धि या कला का प्रयोग मनुष्य पतन के मार्ग पर करता हैं उसी बुद्धि या कला का शतांश नहीं, सहस्त्रांश भी उपयोग यदि उन्नति के मार्ग में करें तो ? न जाने इतना साधारण-सा शुभकर्म करने से मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है। परन्तु वैसा बने ही क्यों ? कलिकाल ही तो है।

जब अपने दोनों विश्व सम्मेलनों की समालोचना के साथ श्री जैन संघ को प्रेरणा वाले अत्यन्त उपयोगी अंश की ओर आवें।

---

# श्री बाबू छोटेलाल जी जैन का संक्षिप्त जीवन-परिचय

बाबू छोटेलाल जी जैन की गणना देश के प्रमुख समाज एवं साहित्य सेवियों में की जाती है। देश की विभिन्न संस्थाओं से उनका निकट सम्बन्ध रहा है और उनके माध्यम से वे गत ५० वर्षों से देश, समाज एवं साहित्य सेवा में अनुबद्ध हैं। सन् १९१७ में कलकत्ता में जब इन्फ्लुएंजा का भीषण प्रकोप हुआ तब उन्होंने पीडित व्यक्तियों के लिए भोजन, औषधि आदि की खूब सहायता की थी और यही उनका सर्वप्रथम सार्वजनिक सेवा में प्रवेश का अवसर था। सन् १९४३ में जब बंगाल में भीषण अकाल पड़ा और जिसने लाखों इन्सानों की जान ले ली थी उस समय बाबू जी ने तन मन धन से सारे बंगाल में घूम-घूम कर अकाल पीडितों की जो सेवा की थी वह अविस्मरणीय रहेगी। इसी तरह पूर्वी पाकिस्तान के नोआखाली क्षेत्र में जब भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और मनुष्य का मनुष्य दुश्मन बन गया उस समय भी आपने जीवन का खतरा मोल लेकर वहाँ रिलीफ कैम्प खोले और सैकड़ों हिन्दुओं के जीवन की रक्षा की। स्वयं कलकत्ता में हिन्दू मुस्लिम दंगों के समय बाबू जी ने पीडितों की प्रशंसनीय सेवा की। सरदार पटेल की अपील पर सोमनाथ मन्दिर के पुनरुद्धार के लिए कलकत्ता नगर के गनी एसोसिएशन द्वारा जो दो लाख की भारी रकम एकत्रित हुई थी उसमें बाबू जी का पूरा सहयोग था।

सन् १९१७ में आप कांग्रेस के सक्रिय सदस्य बने। और कांग्रेस के विशेष अधिवेशन पर आपने अखिल भारतीय जैन राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का कलकत्ते में अधिवेशन आमंत्रित किया। श्री बी० खापर्डे इसके अध्यक्ष थे तथा लोकमान्य तिलक जैसे उच्च नेताओं ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। बाबू जी सी० आर० दास के अनुयायियों में से थे और इस कारण उन्हें काफी परेशानियाँ उठानी पड़ीं पर आपने कभी भी दास बाबू का साथ नहीं छोड़ा।

कलकत्ते के सम्पन्न जैन परिवार में आपका ७० वर्ष पूर्व जन्म हुआ और शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् आपका कारवां जीवन यात्रा की ओर बढ़ने लगा। अपने व्यापार के पश्चात् जो भी आपको समय मिलता उसे आप समाज एवं देश सेवा में व्यतीत करने लगे। शनैः शनैः आप सेवा के क्षेत्र में अधिक तत्परता से बढ़ने लगे और कुछ समय पश्चात् आप पूरे समाज सेवी बन गये। इस प्रकार आपका सारा जीवन ही देश एवं समाज सेवा में समाप्त हो चला है। बाबू जी कितनी ही संस्थाओं के अध्यक्ष, मन्त्री एवं ट्रस्टी हैं। वर्तमान में आप कलकत्ता जैन मन्दिर के ट्रस्टी। कार्तिक महोत्सव कमेटी एवं अ० भा० तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सक्रिय सदस्य हैं तथा बंगाल, बिहार, उड़ीसा तीर्थक्षेत्र। कमेटी के मन्त्री रह चुके हैं। समाज के सभी सुधार का आन्दोलनों एवं सम्मेलनों में आपका प्रमुख हाथ रहा है आपके निर्देशन में समाज के बहुत से विकास के कार्य चलते रहते हैं।

साहित्य एवं पुरातत्व के आप विशेष प्रेमी हैं। देश की प्रमुख साहित्यिक संस्था वीर सेवा मन्दिर देहली के वर्षों से आप अध्यक्ष हैं। अनेकान्त पत्र के संचालन में आपका प्रमुख हाथ रहा है और उसके काफी समय तक सम्पादक भी रहे हैं। रायल एशियाटिक सोसाइटी के आप सन् १९२१ से सम्मानित सदस्य हैं खण्डगिरि के पुरातत्व के महत्व को प्रकाश में लाने में आपका विशेष हाथ रहा है। पुरातत्व की खोज में आपने दक्षिण भारत के अतिरिक्त विहार, उडीसा, बंगाल, राजस्थान आदि प्रदेशों में भ्रमण किया है और यहाँ से महत्वपूर्ण सामग्री को खोज निकाला है। सर्वप्रथम आपकी पुस्तक 'कलकत्ता जैन मूर्ति यंत्र संग्रह' सन् १९२३ में प्रकाशित हुई। फिर जैन बिबलियोग्राफी का प्रथम भाग सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ और दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने की स्थिति में है। पुरातत्व एवं शिलालेखों के सम्बन्ध में आपने एक महत्वपूर्ण पुस्तक का संग्रह किया है जिसका प्रकाशन आवश्यक है। देश विदेश के विद्वानों के जैन साहित्य पर शोध कार्य में आप बराबर सहयोग देते रहते हैं। डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्लासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, रायबहादुर आर०

पी० चन्द्रा, श्री एन० जी० मजूमदार, श्री के एन० दीक्षित अमूल्य चन्द्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषणदत्त, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० एस० आर० बनर्जी आदि सैंकड़ों विद्वानों ने आपसे जैन साहित्य एवं पुरातत्व में पूरा सहयोग लिया है।

बाबू जी सदैव सफल व्यापारी रहे हैं। एक लम्बे समय तक आप कलकत्ता की प्रसिद्ध ट्रेड एसोसियेसन के प्रमुख सदस्य रहे। इस संस्था के आप वर्षों तक मन्त्री एवं अध्यक्ष भी रहे हैं। आपकी व्यवसायिक योग्यता देख कर बंगाल चैम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज तथा इण्डियन चैम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज ने अपनी ओर से आपको पंच नियुक्त किया।

इन सब के अतिरिक्त आप दानी, परोपकारी, एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। अब तक आपने मिलाकर विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को लाखों रुपये का दान दिया होगा। आपको समाज के नवयुवकों का बड़ा ख्याल है। उन्हें मार्ग दर्शन देने तथा व्यवसाय धन्धे में लगाने में आप सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। कलकत्ते के बंगाली एवं जैनेतर समाज में भी आप विशेष प्रिय हैं तथा वहाँ के प्रतिष्ठित साहित्य सेवियों एवं समाज सेवियों से आपका विशेष सम्बन्ध है।

लेकिन दुःख है कि आपका स्वास्थ्य आपका साथ नहीं देता और बीमारी चाहे जब आपको परेशान करती रहती है। अस्वस्थ रहने पर भी उत्साह एवं लगन के साथ आप समाज एवं देश की सेवा में व्यस्त रहते हैं। हमारा कर्तव्य है कि ऐसे देश सेवी, समाज सेवी एवं साहित्य सेवी महानुभावों का समुचित सत्कार किया जाय। ऐसे साधक एवं संस्कृति के अनन्य सेवक के सत्कार का आयोजन वस्तुतः अपने आपको गौरवान्वित करना है और इसीलिए आपके अभिनन्दन का आयोजन किया जा रहा है।

—: ० :—

# श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ

### सम्पादक मण्डल

डा० कालीदासी नाग, पण्डित चैनसुखदास न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री टी. एन. रामचन्द्रन, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० सत्य-रंजन बनर्जी।

आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि सुप्रसिद्ध समाजसेवी, इतिहास एवं पुरातत्ववेत्ता श्री छोटेलाल जी जैन कलकत्ता के ७०वें वर्ष की समाप्ति पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का निश्चय किया गया है। इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जावेगा।

अभिनन्दन ग्रन्थ में देश के प्रख्यात लेखकों, विचारकों एवम् विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख होंगे। ग्रन्थ हिन्दी, अंग्रेजी एवं बंगला तीनों भाषाओं में प्रकाशित होगा। कृपया आप अपना मौलिक लेख किसी एक भाषा में सूची के विषय या अन्य विषय पर ३१ मई ६५ तक भेज कर अनुगृहीत करें। अभिनन्दन ग्रन्थ में लेख प्रकाशित होने पर आपको लेख की २० प्रतियाँ अतिरिक्त भेज दी जावेंगी।

कृपया आप जिस विषय को चुने उसकी स्वीकृति शीघ्र ही भिजवाने का कष्ट करें।

### श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ

#### विषय-सूची

#### खण्ड क

१—

१. जन्म, परिवार, मातापिता, शिक्षा, विवाह एवं व्यसन।

२. धर्मपत्नी का संक्षिप्त परिचय (सचित्र)।

३. बाबू सा० का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।

४. समाज सेवा के कुछ अनुभव ।

५. सामाजिक संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्त्ता के रूप में उनका जीवन ।

६. समाज की संस्थाओं के विकास में योगदान ।

७. बाबू सा० द्वारा संस्थापित एवं संरक्षित संस्थान ।

८. वीर सेवामन्दिर के विकास में उनका योगदान ।

९. भारत भ्रमण ।

**२—साहित्य एवं पुरातत्त्व सेवा :**

१. बाबू सा० की कृतियों का मूल्यांकन ।

२. हृदय से सच्चे साहित्य सेवी ।

३. प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य ।

४. पुरातत्त्व की खोज में ।

**३—संस्मरण :**

**४—शुभकामनाएँ :**

**खण्ड ख—**

१. जैनसमाज : एक परिचय ।

२. भारतीय समाज और जैनसमाज ।

३. भारतीय समाज गत ५० वर्षों में ।

४. जैन समाज का स्वातन्त्र्य संग्राम में योगदान ।

५. उत्तरी भारत की प्रमुख जैन शिक्षण संस्थाएँ ।

६. जैनों के विविध सामाजिक आन्दोलन ।

७. बंगला में जैन धर्म एवं उसका विकास ।

८. कलकत्ता जैनसमाज ।

९. कलकत्ता नगर की जैन संस्थाएँ ।

१०. कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव एक सांस्कृतिक पर्व ।

११. नगर के दर्शनीय मन्दिर ।

१२. राजस्थान प्रवासियों का बंगाल प्रदेश के विकास में योगदान ।

१३. महात्मा गाँधी और जैन धर्म ।

१४. अग्रवाल जैनों द्वारा साहित्य सेवा में योग ।

१५. २०वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख जैन सन्त, आचार्य सूर्यसागर जी, वर्णी जी, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद आदि ।

१६. वर्तमान के प्रतिनिधि जैन विद्वान प्रेमी जी, उपाध्याय जी, सी० आर० जैन, हीरालालजी, जिनविजय जी, सुखलालजी, कैलाशचन्दजी आदि ।

१७. देश के औद्योगीकरण में जैन उद्योगपतियों का स्थान ।

१८. भारत के प्रमुख जैन उद्योग पति ।

१९. भारत की प्रमुख जैन वस्तियाँ ।

२०. भारत के प्रमुख जैन तीर्थ एवं उनका परिचय ।

२१. शिल्प एवं वस्तुकला में जैनों का योगदान ।

**खण्ड ग**

**'साहित्य और दर्शन'—साहित्य**

**१—प्राकृत साहित्य :**

१. प्राकृत साहित्य के विकास में जैन आचार्यों का योगदान ।

२. प्राकृत भाषा में विविध जैनागम ।

३. प्राकृत के प्रमुख महाकाव्य ।

४. जैनेतर विद्वानों द्वारा प्राकृत भाषा की सेवा ।

५. आ० कुन्दकुन्द एवं उनकी प्राकृत रचनाएँ ।

६. आचार्य नेमिचन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।

७. प्राकृत का धर्मकालीन साहित्य ।

**२—संस्कृत साहित्य :**

१. संस्कृत भाषा के जैन महाकाव्य ।

२. संस्कृत भाषा के जैन पुराण साहित्य ।

३. संस्कृत भाषा के जैन काव्य साहित्य ।

४. संस्कृत भाषा के जैन अमर कवि ।

५. जैन स्तोत्र साहित्य ।

६. आचार्य सोमदेव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।

७. संस्कृत साहित्य के विकास में जैनों का योगदान ।

**३—अपभ्रंश साहित्य :**

१. अपभ्रंश के प्रमुख प्रवक्ता ।

२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान ।

३. राजस्थान में अपभ्रंश ग्रंथों की खोज ।

४. अपभ्रंश के सूर्य और चन्द्रमा स्वयम्भू और पुष्पदन्त ।

५. अपभ्रंश साहित्य में खोज की आवश्यकता ।

६. अपभ्रंश का प्रकाशित साहित्य ।

७. अपभ्रंश के प्रमुख महाकाव्य ।

**४—हिन्दी साहित्य :**

१. हिन्दी के आदिकाल के जैन प्रबन्ध काव्य।

२. हिन्दी जैन साहित्य के प्रमुख कवि।

३. हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में जैन विद्वानों का योगदान।

४. राजस्थान के जैन ग्रन्थ संग्रहालयों में उपलब्ध हिन्दी साहित्य।

५. हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएँ।

६. हिन्दी साहित्य की सुरक्षा में जैनों का योगदान।

७. हिन्दी के वर्तमान जैन लेखक।

८. जैनों का हिन्दी गद्य साहित्य।

**५—अन्य साहित्य :**

१. जैन गुजराती साहित्य।

२. मराठा भाषा का जैन साहित्य।

३. दक्षिण भारतीय भाषाओं का जैन साहित्य।

**६—दर्शन :**

१. जैनदर्शन के सर्वव्यापी सिद्धांत।

२. जैनदर्शन के प्रमुख प्रवक्ता समन्तभद्र अकलङ्क, विद्यानन्दि, हरिभद्र सूरि आदि।

३. जैनदर्शन में अध्यात्मवाद।

४. जैनदर्शन का भारतीय दर्शनों में स्थान।

५. जैन दर्शन में ईश्वर की परिकल्पना।

लेखादि भेजने का पता—
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे,
जयपुर

—:०:—

# श्रीपुर पार्श्वनाथ मंदिर के मूर्ति यंत्र लेख संग्रह

**पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन, देउलगाँव**

[गत किरण से आगे]

(१) **पवली मंदिर** जो प्रथम दर्शनी घन्टा है—दिगंबरी जैनमंदिर पवली संस्थान शिरपुर।

(२) उत्तर दिशा का घन्टा—'श्री अन्तरिक्ष पारिसनाथ मीति कातिक सुध पोरणीमा १४ सं० १९३६

(३) सभामण्डप में का बड़ा घण्टा—होनासा रामासा दिगंबर जैन धाकड यांनी प्रदान केला। ओं श्री दिगंबर जैन मन्दिर पवली शिरपुर॥

(४) गर्भगृह में वेदी के सामने पायथली फरसी के एक पत्थर पर—श्री० मिश्रीलाल दि० जैन झावरा पाटनवाला मु० निगबी (नांदेड) तरफ से रु० १५। शिरपुर के गृहचैत्यालय के कुछ निवडक मूर्ति लेख :—

(१) श्री० आत्माराम राघोजी बेलेकर के गृह में—

(क) पीतल पार्श्वनाथ ऊंची २"—विमलचन्द्र उपदेशात्।

(ख) पीतल पद्मावती ऊँची ५"—श्री० मू० सं० भट्टारक इशाल (विशाल) कीर्ति श्रीपुर (रे) भगवंग सइतपाल।

(२) श्री० सुन्दरसा देवमणसा के गृह में—

(क) पीतल पार्श्वनाथ ऊंची १॥"—१२२५ श्री मूलसंघे) सेनगन १२२५

(ख) पी० पार्श्वनाथ ऊंची ४"—श्री मूलसंघ सं० ११२४ (११३४)

(३) अण्णा रावजी बोरालकर के गृहमे—

(क) पीतल पार्श्वनाथ ऊंची ३"—१७१७ फाल्गुन सु० ३ श्रीपुर।

(४) आदिनाथ मल्हारजी बिटुडे के गृहमें—

(१) लक्ष्मी यंत्र—श्री मु० सं० भ० अ० श्री विशालकीर्ति तु पदे श्रीपुरे भगवंत का० सइ० अनंतव्रत द्या।

(५) मनोहर माधव संघई के गृहमें—

—१—मूर्ति हरा काला पाषाण ऊंची ४"— संम(वत)–७४७ रविवार कार्तिक……… श्रीपुर………।

(६) देवभणसा रामासाके गृहमें—

(क) पीतल नंदीश्वर ऊँची २"—श्री विमल।

(७) तुकाराम नारायण मनाटकर के गृहमें—

(क) आदिनाथ, हरा पाषाण ऊंची ७"—शके १५६६ श्रीमूल—स………श्रीपुर (रे)—(उ) पदेशात्।

श्री गंगाराम गोकुलसा महाजन रा० कारंजा के गृहमें—

**पीतल की पद्मावती देवी** ऊंची ७॥"—(पीछे से) सके १५६१ फाल्गुण वदी स(ष)ठी (ष्ठी) श्रीमूलसंघे सेनगणे भट्टारक सोमसेनः तुकगणासा वगोसा व वोपासा। उपदेशात् नित्यं प्रणमति ॥ कारंजा नगरे:

सामने के बाजु में बैठक पर—प्रतिष्ठा श्रीपुर नगरे विधान।

देउलगांव राजा के श्रीचन्द्रनाथ दिगम्बर जैन-मन्दिर में—

पीतल पार्श्वनाथ ऊंची १'—सामने के बाजू—श्रीपुरे।

श्रीमूलसंघे त्रिभुवनैक स्वामीभ्यो : श्री पार्श्वनाथेभ्यो नित्य नम :। प्रतिष्ठा।

पीछे से—सं(व)त १५७८ बैशाख सुदी द्वादशी गुरो मूल० सर० बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० विद्यानंदी पट्टे भट्टारक श्री मल्लीभूषण पट्टे भ० श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरुभ्रात सु(सू)रि श्रीश्रुतसागर पाठिताचार्य श्री सिंहनन्दी गुरुपदेशात् ब्रह्म महेन्द्रदत्त नेमीदत्तो श्री संघः प्रणमन्ति।

हाल ही में पता चला की, श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन 'यात्रा दर्पण' इ० सं० १९१३ और डिरेक्टरी इ० सं० १९१४ में मुम्बई से पानाचंद हिराचंद झवेरी ने प्रसिद्ध की है। उसमें 'अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ' इस अतिशय क्षेत्र का उल्लेख अनुक्रम से पान ३२ से ३७ और २४४ से २५० के ऊपर आया है। दोनों में मजकूर एक ही है। उसमें लिखा है की "शिरपुर ग्राम में दिगंबर जैनियों के ४२ गृह तथा १८८ आदमी है। और दो दिगंबर मंदिर जी शिखरबन्द है। उसीमें एक पुराणा मन्दिर है जिसके भोयरे में कुल २६ प्रतिमा है और ऊपर के मन्दिर में भी (कुछ), जो कुल ५१ प्रतिमा मौजूद है। वे सब दिगंबरी है जिनका संवत आदि आगे के कोष्टक में दिया हुआ है। (आगे कोष्टक है जिसमें मूर्ति, पादुका, यंत्र, देवी के लेख—काल का संक्षिप्त विवरण है।)

इनके सिवाय ४ नशियां है, जो सब दिगंबरी आम्नाय की हैं। इस प्रकार जो मूर्ति, पादुका, यंत्र, पद्मावती है वे सब प्रकाशित किये हैं।"

इस कोष्टक में एक ही सफेद पाषाण के पद्मावती देवी का उल्लेख है। उसके प्रतिष्ठा का संवत् १९३० स्पष्ट लिखा है तथा एक सफेद पाषाण के पार्श्वनाथ का संवत १९३० भी बताया है।

इस कोष्टक से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, आज जो ऊपर के मंदिर में पीतल की पद्मावती देवी है वह ई० सं० १९०७ में (क्योंकि यह कोष्टक १९०७ में लिखा गया है।) वहां नहीं थीं। बाद में किसी गृह चैत्यालय से वहां रखी गयी होगी। इस पीतल की पद्मावती मूर्ति का ही हर कार्तिक पूनम को यात्रा और जुलूस निकलता है। जो कि बड़े मन्दिर से निकल कर पवली मन्दिर में जाता है। वहां के पार्श्वप्रभु का अभिषेक पूजन-भजन कर वापिस लौटता है। नवरात्र में दोनों देवियां ऊपर चौक के काठ पर एक जगह विराजमान होती हैं।

अनेकांत के गतांक में पृष्ठ २७ पर लेख नं० २ तांबे का यंत्र—इसका लेख मैंने इस तरह दिया था—'विवाह नाम संवत्सरे पौष वदी पंचमी शुक्रवारे प्रतिष्ठा सीरपुर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ चैत्यालये दीक्षाग्रहण प्रतीसन पर(?) लेकिन यात्रा दर्पण तथा डिरेक्टरी में उसका वाचन इस तरह से किया है और यह कोष्टक का उतारा ही बराबर समझना वह इस प्रकार है—तांबे का यंत्र—'अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ चैत्यालय(ये) दीक्षा ग्रहण प्रतिष्ठा सं० १२२५

विवाह नाम संवत्सरे (पौष वदी पंचमी) शुक्रवासरे प्रतिष्ठा सिरपुर ।)

या प्रमाणे शिरपुर सम्बन्धित जो मूर्ति, देवी, यंत्र व पादुका लेख मुझे शिरपुर व इतरत्र मिले वह मैंने प्रसिद्ध किये है आशा है इन मूर्ति लेखों से कुछ इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ेगा ।

—:०:—

गत किरण में जो मूर्ति लेख प्रकाशित हुए थे, उनमें निम्न सुधार वांछनीय है—

पृष्ठ २५ के पहले कालम की ४थी पंक्ति में मुकर्जी की जगह गुरुजी । दूसरे कालम की पंक्ति १३ में १३' ऊंची के स्थान पर ११।' ऊँची ।

पृ० २६ के पहले कालम में भ० श्री १०७ के स्थान पर श्री १०८, तथा भ० श्री १०७ के स्थान पर १०८ जिनसेन (कुबड़े स्वामी) पढ़ें ।

पृ० २८ पर दूसरे कालम की पंक्ति १३ में सन् १८६७ के स्थान पर १२६७ फसली चाहिए ।

मराठी में लिखे अंकों के कारण छपने में अशुद्धि हुई है ।

---

# ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ

**परमानन्द जैन शास्त्री**

ब्रह्म नेमिदत्त मूल सघ सरस्वती गच्छ बलात्कार गण के विद्वान् भ० मल्लिभूषण के शिष्य थे । इनके दीक्षा गुरु भट्टारक विद्यानन्द थे, जो भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे । इन्हीं विद्यानन्द के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले मल्लिभूषण गुरू थे, जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप रत्न-त्रय से सुशोभित थे । और विद्यानन्द रूप पट्ट के प्रफुल्लित करने वाले भास्कर थे[१] । ब्रह्म नेमिदत्त के साथ मूर्ति लेख में ब्रह्म महेन्द्रदत्त नाम का और उल्लेख मिलता है, जो नेमिदत्त के सहपाठी हो सकते है । ब्रह्म नेमिदत्त संस्कृत हिन्दी और गुजराती भाषा के विद्वान थे । आपकी संस्कृत भाषा मे १० रचनाएँ उपलब्ध है, वे सब चरित पुराण और कथा सम्बन्धी है । पूजा सम्बन्धि साहित्य भी आपका रचा हुआ होगा, पर वह मेरी जानकारी मे नही है । आपकी ये सब रचनाएँ सं० १५७५ से १५८५ तक रची गई जान पड़ती है । इससे आप १६वी शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे । आपकी रचनाओं की भाषा अत्यन्त सरल और सुगम है । रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं.—

१. आराधना कथा कोष सं० १५७५, २. नेमिनाथ पुराण सं० १५८५ । ३. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार । ४. रात्रि भोजन त्याग कथा, ५. सुदर्शन चरित, ६. श्री-पाल चरित, ८. प्रीतिंकर महामुनि चरित, ८. धन्यकुमार

---

१. श्रीमज्जैनपदाब्ज सारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः ।
सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूडामणिः ।
विद्यानन्दि गुरु प्रपट्ट कमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥
—आराधना कथाकोष-प्रशस्ति

चरित, ६. नेमिनिर्वाण काव्य (ईडर) और १०. नागश्री कथा (जयपुर)।

इनके अतिरिक्त दो रचनाएँ हिन्दी भाषा की और प्राप्त हुई हैं। मालारोहिणी (फुल्लमाल) और आदित्य व्रतरास इन दोनों रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है। इनमें मालारोहिणी एक सुन्दर सरस रचना है, जो महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है, कविता सरल और प्रभावक है। यद्यपि कहीं-कहीं कुछ अंश त्रुटित मिला है, फिर भी वह भावपूर्ण और सुगम है। इसी से अनेकान्त के पाठकों के अवलोकनार्थ यहां दी जा रही है।

बुन्देलखण्ड वर्तमान (मध्य प्रदेश) में जहा कहीं भी जिनेन्द्रोत्सव, कलशाभिषेक, बृहत्पूजा पाठ और प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न होते हैं उस समय कविवर विनोदीलाल की फूलमाल पच्चीसी अवश्य पढ़ी जाती है और उसकी बोली भी बोली जाती है और जो अधिक से अधिक बोली लगा कर लेता है माल उसे ही प्राप्त होती है। कवि विनोदीलाल ने उसमें ८४ उपजातियों का समुल्लेख किया है। यह माल १८वीं शताब्दी की है। जब कि प्रस्तुत माला रोहिणी १६वीं शताब्दी की रचना है। इससे ज्ञात होता है कि गुजरात आदि देशों में उस समय भी यह प्रथा प्रचलित थी, इससे भी पुरातन अन्य आचार्यों की रचनाओं का अन्वेषण होना चाहिए।

इस 'माला रोहिणी' के प्रारम्भ में वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है उसके बाद मूलसंघ के रत्नाकर निर्ग्रन्थ गुरु श्रुतसागर को नमस्कार कर फूलमाल को कहने की प्रतिज्ञा की है। और उसे मनुष्य भव का सार फल बतलाया है। पश्चात् मोगरा, पारिजात, चपा, जुही, चमेली, मालती, मचकुद, कदब तथा रक्तकमल आदि सुगंधित पुष्प समूहों से गुंफित जिनेन्द्रमाल को स्वर्ग-मोक्ष-सुख कारिणी बतलाया है। साथ ही सकल सुरेन्द्रों के द्वारा पूजित धन-कण सम्पत्ति दायक और दुःखों का अन्त करने वाली बतलाया है। साथ में यह भी उद्घोपित किया है कि यह सुअवसर बार-बार नहीं मिलता, धन सम्पदा चंचल है, धन, यौवन, कंचन, रत्न, परिजन और भवन आदि सभी चीजें जल के बुदबुदे के समान अस्थिर एवं विनाशीक हैं। इनका कभी गर्व न करो और 'निर्मल माल लेकर अपनी कीर्ति को उज्ज्वल बनाओ।

रचना इस प्रकार है :—

**सकल जिणेसर पय-कमल, पणविवि जगि जयकार।**
**फुल्लमाल जिणवरतणी, पभणउं भवियण ताइ ॥१**
**वृषभ अजित संभव अभिनंदन,**
**सुमति जिणेसर पाप निकंदन।**
**पद्म प्रभु जिन नामें गज्जउं, श्री सुपास चंदप्पह पुज्जउं ।२**
**पुप्फयंतु सीयलु पुज्जिज्जइ,**
**जिणु सेयंसु मणहिं भाविज्जइ।**
**वासु पुज्ज जिण पुज्ज करेप्पिणु,**
**विमल अणंत धम्मु झाएप्पिणु ।३**
**सांति कुंथु अर मल्लि जिणेसर,**
**मुणिसुव्वउं पुज्जउं परमेसर।**
**नमि नेमीसर पय पूजेसउं,**
**भव-सायर हउं पाणिय देसउं ॥४**
**पासणाह भव-पास-निवारण,**
**वड्ढमाण जिण तिहुवण तारण।**
**ए चउवीस जिणेसर वंदि वि,**
**शिव गामिण सारद अभिनंदिवि ॥५**
**मूलसंघ महिमा रयणायर,**
**गुरु निग्गंथु नमउं सुय-सायर।**
**सिरि जिण फुल्लमाल वक्खाणउं,**
**नरभव तणउ सार फलु माणउं ॥६**
**भवियण भव-भय-हरण, तारण तरण समत्थु।**
**जाती कुसुम कांजलिही पुज्जहुँ जिण बोहत्थु ॥७**
**जाती सेवंती वर मालती, चंपय जुत्ती विकसंती।**
**विमला श्रीमाला गंध विसाला, कुज्जय धवला सोभंती ॥८**
**रत्तुप्पल फुल्लहिं कमल नवल्लहि जूही हुल्लहि जयवंती।**
**मचकुंद कयंबहि दमणय कुंदहि नाना फुल्लहि महकंती ॥९**
**सग्ग-मोक्ख-सुह-कारिणी माल जिणिंदह सार।**
**विणउ करेप्पिणु मग्गियइ जिम लब्भइ भव-पार ॥१०**
**सुमोगर फुल्ल महक्कइ माल, मधुकर ढुक्कइ गंध रसाल।**
**सुपाडल पारिय जाइ विचित्त,**
**जिणेसर पुज्जिय लेय पवित्त ॥११**

**सकल सुराधिप पुज्जियउ पुज्जहु सिरि जिणदेउ।**
**धण-कण-जण संपइ लहइ, दुक्ख तणउ होइ छेउ ॥१२**

सुरासुर किंनर खेयर भूरि,
जिणिंद पयच्चहिं णच्चहिं णारि।
सुरअच्छर गावहि सोक्खह धाम,
जिणिंदह सोहइ मोत्तिय दाम ॥१३

भो भवियण जिण-पय-कमल, माल महग्घिय लेहु।
णियलच्छि फलु करि करहु, दुक्ख जलंजलु देहु ॥१४

दुख देहु जलंजलि जिण,
कुसुमावलि पुज्जहु भवियण सुक्ख कर।
जिण भवण पवित्त णिम्मल,
चित्त लियउ चउविह संघुवर ॥१५

एह अवसर गुणह णविलब्भइं बहु पुण्य विण।
जिणवर पय कमल लिज्जइ चंचलु जाणि धण ॥१६

धणु जोव्वणु कंचणु रयणु परियणु भवणु वि सव्वु।
जल बुब्बुयकरि कण्ण जिय चंचलु म करहु गव्वु ॥१७

मा जाहु गव्वु देहु दव्वु लेहु माल णिम्मली।
तुषार हार चंद गोर कित्ति होइ णिम्मली ॥
सुरेन्द्र विन्द भूनरेन्द्र खेचरिंद पुज्जिया।
जिणिंद पाय पोममाल सव्व दोस वज्जिया ॥१८

नित नित भवियण जिण भवणि करहु महोच्छव सारु।
मन वांछित संपय लहिवि पुणु पावहु भव-पारु ॥१९

भवसेय पारं महादुक्खहारं त्रिलोकैकसारं जणाणंदकारं।
परं देव देवं सुरेंदेण सेवं, जिणिंदं अणिंदं जजो धम्मकंदं ॥२०

बलि बलि अवसरु णवि मिलइ णवि दीसइ थिरु काइ।
जिण धम्मंहि मणु दिढु करहु कालु गलंतहु जाइ ॥२१

गलंति झत्ति जाइ कालु मोह जालु वट्टए,
सु होहि जाणु भव्व भाणु अग्गि जेम कड्ढए।
जिणिंद चंद पाय पुज्ज धम्मकज्ज किज्जए,
सुपत्तदाणु पुण्णठाणु वयणिहाणु लिज्जए ॥२२

लिज्जइ फलु नियकुल तणउ लच्छिय चपल,
श्री जिण पुज्ज करे वि लहु मणिधरि णिम्मल,
मणि भाव धरेप्पिणु पुज्ज करेप्पिणु माल महोच्छव केरउ।
जिण भवणि करिज्जइ धणु देविज्जइ.........
......रहि सुरगंधी रहि भेरी भंभा सद्द सुहो—
कंसालहि-तालहिं मंगल धवलहि माल जिणिंदह लेहु लहु।
माल जिणिंदह तणिय लेहु तिहुवण तारइ।
रोग-सोग-दालिद्दु दुक्खु णवि णीहुउ आवइ।
जिणवर पाय पसाइ जीव वांछित फलु पावइ।
.........................................।

श्रीमूलसंघ मंगल करण मल्लिभूसण गुरु गुण विमल।
श्री सिंहनंदि अभिनंद करि नेमिदत्त पभणइ सकल ॥

कवि की दूसरी रचना 'आदित्यव्रतरास' (रविव्रत कथारास) है। जिसकी पद्य संख्या १०९ है। इस रास की भाषा में अनेक गुजराती भाषा के शब्दों का अंकन हुआ है, नमीएचंगनु, बखाणसु आदि। जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि रचना गुजरात प्रदेश में हुई है। इन रचनाओं में रचना काल दिया हुआ नहीं है। फिर भी ये दोनों रचनाएँ अपनी रचना पर से विक्रम की १६वीं शताब्दी की जान पड़ती हैं। और देव पल्ली में लिखी गई हैं। रचना का आदि-अन्त इस प्रकार है:—

आदि भाग—

पास जिनेसर पयकमल प्रणमिवि परमानंदनु,।
भव-सायर-सरण-तारण भवीयण सुहतरु कंदनु ॥१

श्री सारदा सहि गुरु नमीए निर्मल सौख्य निधाननु।
आदित्य व्रत बखाणसुं ए जिन शासन परधाननु ॥२

कथा वही है, जो अन्य रविव्रत कथा मे पाई जाती है। अन्त भाग—

श्री जिनवर चरण कमल नमीएब्रह्म नेमिदत्त भणिचंगनु।
ए व्रत जे भवियण करिए ते लहि सौख्य अभंगनु ॥
मन वांछित सम्पदा लहिये ते नर नारी सुजाननु।
इम जाणि पास जिण तणु ए रविव्रत करु भुवि जाणतु ॥

आपकी अन्य रचनाएं भी अभी ज्ञान-भण्डारों में अन्वेषणीय है।

—:o:—

# दो ताड़-पत्रीय प्रतियों की ऐतिहासिक प्रशस्तियां

श्री भंवरलाल नाहटा

ऐतिहासिक साधनों में शिलालेखों की तरह प्रशस्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि दोनों की उपयोगिता व महत्व द्वारा शिलालेख पत्थरों पर खोदे जाते हैं और प्रशस्तियां ताड पत्र या कागज की प्रतियों पर लिखी जाती हैं पर दोनों ही समकालीन लिखे जाने से समान रूप से प्रामाणिक ऐतिहासिक साधन हैं। मन्दिरों और प्रतिमा लेखों के संग्रह एवं महत्व की ओर जितना ध्यान दिया गया है उतना जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों और संग्रह की ओर नहीं दिया गया। प्रशस्तियां प्रधानतया दो प्रकार हैं—एक ग्रन्थ रचना संबंधी और दूसरी ग्रन्थ लिखने सम्बन्धी। ग्रंथ रचना प्रशस्ति तो एक ग्रंथ की एक ही होती है पर लेखन प्रशस्तियां एक ग्रन्थ की अनेकों मिलती हैं क्योंकि समय-समय पर एक ही ग्रथ की अनेकों प्रतिलिपियां होती रही हैं और लिखने की प्रशस्तियां भिन्न-भिन्न होंगी ही।

जैन ग्रंथों की रचना-प्रशस्तियां प्राचीन आगमादि ग्रंथों में तो नहीं मिलती पर चरित और प्रकरणादि ग्रंथों में परवर्ती ग्रंथ कारों ने लिखनी प्रारम्भ कर दी। ९वी शताब्दी के पहले की प्रशस्तियां थोड़ी सी है और वे बहुत संक्षिप्त है। पर ९वीं शताब्दी से. लम्बी-लम्बी और महत्वपूर्ण प्रशस्तियां ग्रंथ के अन्त में लिखी हुई पाई जाती हैं। यह तो ग्रंथकार की रुचि का प्रश्न है कि कोई तो केवल अपना नाम ही दे कर संतोप कर लेता हैं (प्राचीन लेखक तो वह भी नहीं देते थे) और कोई अपनी गच्छ-वंश-परम्परा, रचनाकाल, रचना स्थान, प्रेरक संशोधक, आदि की जानकारी भी विस्तार से दे देते हैं। दि० अपभ्रंश ग्रंथों की जितनी लम्बी प्रशस्तियां हैं उतनी दि० प्राकृत, संस्कृत ग्रंथों की कम ही मिलती हैं। पर श्वे० प्राकृत, संस्कृत ग्रंथों की प्रशस्तियां बहुत विस्तृत और महत्व की मिलती हैं।

जैन ग्रंथों की वर्तमान में जो भी प्रतियां उपलब्ध है उनमें सबसे प्राचीन प्रति जैसलमेर के बड़े ज्ञान भंडार में 'विशेषावश्यक भाष्य' की मानी जाती है जिसका समय १०वीं शताब्दी का है। संवतोल्लेख वाली प्रतियां प्रायः १२वीं शताब्दी से ही अधिक मिलने लगती है। दि० ताड़-पत्रीय प्रतियों में षट् खण्डागम की दक्षिण भारत की ताड़-पत्रीय प्रतियां ही सबसे प्राचीन हैं। कागज की प्रतियां १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ की जैसलमेर भण्डार में ही प्राप्त हुई हैं अन्यत्र १४वीं से ही मिलने लगती है।

ताड़-पत्रीय प्रतियों के श्वे० भण्डार जैसलमेर, पाटण, खम्भात, बड़ौदा, सूरत, आदि स्थानों में है पर प्रधानतया जैसलमेर, पाटण, खम्भात के भण्डारों की ही समझिये। इन तीनों भण्डारों की ताड़-पत्रीय प्रतियों का विवरणात्मक सूची-पत्र बड़ौदा से छपे है। खम्भात भण्डार की प्रतियों का दूसरा भाग अभी प्रेस में है। जैसलमेर भण्डार की नई व्यवस्था मुनि पुण्य विजयजी ने करके व्यवस्थित सूची ग्रथ तैयार किया है वह कई वर्षो से छपा पड़ा है पर अभी प्रकाशित नही हुआ।

मुनि जिन विजय जी ने ताड़-पत्रीय लेखन प्रशस्तियो का एक संग्रह प्रकाशित किया है। ताड़-पत्रीय और कागज की ग्रंथ प्रशस्तियो के दूसरे भाग के कुछ पृष्ठ ही छपे है। देश विरति धर्माराधक सभा, अहमदाबाद से कई वर्ष पूर्व एक "प्रशस्ति संग्रह प्रकाशित हुआ था।

एक दि० ग्रंथ प्रशस्ति सग्रह पहले आरा से निकला फिर वीर सेवा मन्दिर से भी दो भाग निकल चुके हैं। वैसे श्वेताम्बर दिगम्बर अन्य कई सूची पत्रों में भी प्रशस्तियां छपी हैं और कई अभिनन्दन और स्मृति ग्रंथों तथा पत्र-पत्रिकाओं में भी निकली है। पर अभी तक हजारों ग्रंथ-प्रशस्तियां अप्रकाशित हैं जिनके प्रकाशन से

जैन इतिहास के ही नहीं, भारतीय इतिहास के भी नये तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

कुछ महिने पूर्व भारत जैन महामण्डल, की ओर से कलकत्ता में जैन कला प्रदर्शिनी हुई थी उसमें दो ताड़-पत्रीय प्रतियों के अन्तिम पत्र भी प्रदर्शित किये गये थे। उनकी पूरी प्रतियां तो अब कहां है ? पता नहीं, पर प्राप्त पत्रों में जो प्रशस्तियां लिखी मिली हैं उन्हें यहां प्रकाशित की जा रही हैं। पहली प्रशस्ति सवत १४११ (दिल्ली) की है व छोटी-सी है। इस प्रति के अन्तिम पत्र में 'अंबिका के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दूसरी प्रशस्ति के प्रारम्भिक १७॥ श्लोक वाला पत्र प्राप्त न होने से उसके बाद के ही श्लोक दिये जा सके हैं। इस प्रति में भी एक देवी का चित्र है। इन दोनों चित्रों के फोटो प्रकाशित किये जाने चाहिये।

(१) ज्ञाता सूत्र वृत्ति—अभयदेव सूरि (अंतिम पत्र ताड़ पत्रीय) संवत् १४११ माघ सुदि १५ श्री योगिनीपुर वास्तव्य श्रीमालकुल संभव चंड गोत्रीय ठ० थिरदेव पुत्र सा० लोला सुश्रावक भगिन्या दानशील तपोभावना निरतया विवेकिन्या सुश्राविकया स्वपुण्यार्थ श्री ज्ञाता धर्म कथा सिद्धान्त पुस्तके मूल्येन गृहीतं। वाचनाय खरतर-गच्छ भृङ्गार श्रीमज्जिनचन्द्रसूरि पादग्ना सर्मपित।

अंबिका चित्र पत्रांक २६५

२. आदिनाथ चरित्र की ताड़पत्रीय प्रति का अन्तिम पत्र :—

(चित्र १—१८ भुजावाली देवी का लाल पृष्ठभूमि पर पीला चित्र काले वस्त्र)

..............................स्त्रगो गुणै : ।
आनन्द दायिनःपित्रो, रन्यान्यं प्रीति शालिन ॥१८॥

आद्यः सुतः संश्रित धर्म्म कर्म्मा, विवेकवेश्माजनिपार्श्वदेवः
अभ्यर्थन······निभीरु. प्रकल्पित श्री जिननाथ सेवः ॥१९
अन्योबभूवांबड नाम धेय कस्याप्य संपादितचित्तपीडः
स्वकीय सन्तान धुरा धुरीणः स्ववेश्म लक्ष्मी
हृदयैक हारः ॥ ०

सर्वौचित्या चरणनिपुणः प्रीतिपूर्वाभिलापी
सुस्वाजित्यार्जित गुरु गुणः सिद्धि वै···वेश्म
गोत्रा धारो जिन गुरु पदाभ्यर्चन प्रह्वचेता—
स्तात्तीयाकस्तदनु तनुजः पल्हणाख्योबभूव ॥२१
पार्श्वदेवस्य संजज्ञे पद्मश्री नामिका प्रिया
यस्याः पतिव्रतात्वेन स्वकुलं निर्मली कृतं ॥२२
अथांवड़स्योचितकृत्यदक्षा मंदोदरी नाम बभूव पत्नी
सु······द्विवेकोज्वल सार हारा स्वमन्दिरे मूर्तिमतीव
लक्ष्मीः ॥२३

हरेरिव भुजा दण्डाश्चत्वारस्तनयास्तयोः
अजायन्त सदाचार गृहभार धुरन्धराः ॥२४
प्रथमो जनिष्ट तेषां पार्श्वकुमाराभिधे गुणैः प्रथमः
विनय हमाल वाल पित्राज्ञा पालनप्रवण. ॥२५
बभूव प्रेय······पृथिवि देवीति नाम्ना
विनीत विनया नित्यऽनौचित्य प्रियकारिणी ॥२६
तदनु तनयो द्वितीयः समजनि धर्नसिंह नामको विनयी
निर्म्मलकलाकलापस्त्रैणक्रीडाद्रि रभिरामः ॥२७
नाम्ना धांधलदेवी सजज्ञे तस्य गेहिनी।
पुण्यार्जनार्जित श्लाघ···घ्य कर्म्माभि रंजिका ॥२८
ततस्तृतीयो जनि रत्नसिंहः सन्ताप कारिन्यसनेभसिंहः
दूरं परित्यक्त विरुद्धमंगः श्रीमज्जिनेन्द्रक्रम
पद्मभृंगः ॥२९

तस्या जनिष्ट दयिता नाम्ना राजलदेविका
पेथुका ख्यातयोः पुत्री समस्तानंददादिनी ॥३०
अनन्य सौजन्य जना···विवेकलीलोज्वलचित्तवृत्ति.
सर्व त्रिकौचित्य विधि प्रवीणो जज्ञे जगत्यिह
सुतश्चतुर्थ ॥३१
पत्नी जाल्हण देवीति नाम्ना तस्य समजनि।
कुत्राप्य तुम्मेकवती प्रधान विनयान्विता ॥३२।
सोलुकाख्यातत पुत्री बभूव प्रियवादिनी।
यस्या शीलजलै. शुद्धैः पुण्यवल्ली प्रवर्द्धिता ॥३३॥
पत्नी नतो जात···हणस्य
माणिक्यमाला स्फुरदंशुशीला।
जिनोपदेशश्रुतिकर्णपूरा कृपा प्रपा
माणिकि नामधेया ॥३४॥

समजनि तयोस्तनूजो धरणिग नामा समस्तगुणपात्रां
निखिल सुकुलैक धुरा धुरन्धरः स्मित मधुरभाषी ॥३५॥

# 'जयपुर' की संस्कृत-साहित्य को देन—"श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण"

डा० श्री प्रभाकर शास्त्री एम. ए. पी-एच. डी.

फर्जन्दे दौलत-मिर्जाराजा मानसिंह (प्रथम) का नाम न केवल 'आमेर' या 'जयपुर' के इतिहास में ही प्रसिद्ध है, अपितु भारतवर्ष के अथवा संसार के इतिहास में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। आप यवन सम्राट् श्री जलालुद्दीन खान 'अकबर' के प्रधान सेनापति एवं दक्षिण हस्त थे। वास्तव में यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो अकबर की विस्तृत ख्याति के मूल आप ही थे। आपकी वीरता की धाक भारत की सभी दिशाओं में व्याप्त थी।

मिर्जाराजा मानसिंह के एक भाई और भी थे, जिनका नाम 'माधवसिंह' था। ये वीरयोद्धा नहीं थे। मानसिंह के इतस्ततः युद्धों में व्यस्त रहने के कारण ये प्रायः अपनी राजधानी 'आमेर' (वर्तमान राजस्थान की राजधानी-'जयपुर' से ६ मील उत्तर मे स्थित एक लघु नगर) में ही रहते थे तथा वहाँ की रक्षा के अतिरिक्त अन्यान्य शासकीय कार्य सम्पन्न किया करते थे। आपका नाम इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है और आपकी वास्तविक ख्याति श्रीमान सिंह सरीखे 'सूर्य' की ज्योति में 'अमावस्या के चन्द्र के समान साथ रहने पर उसी में अन्तः प्रविष्ट हो गई है। यों श्री मानसिंह का दरबार न केवल योद्धाओं का ही आश्रय स्थान था, वहां सभी विषयों के कलाकार रहा करते थे और इसका पूर्ण श्रेय कला प्रेमी विद्वान् श्री माधवसिंह (प्रथम) को है। इनकी रसिकता एवं विद्या प्रेम ने भारत के प्रसिद्ध एवं प्रकाण्ड विद्वानों को सम्मान प्रदान किया था।—इन सम्मानित एवं सुप्रतिष्ठित विद्वानों में से श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण का नाम चिर-स्मरणीय है। यहां इनके विषय में कुछ सूचनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

संगीताचार्य श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण कर्णाटिक ब्राह्मण थे। आप 'खान देश' प्रान्त में 'सतनुर्व' नामक ग्राम के निवासी थे। इनका गोत्र 'जामदग्न्य' था। सर्व-

---

बभूव प्रेयसी तस्य धनदेवीति विश्रुता।
दाक्षिण्योज्वलशीलेन हृदयानन्ददायिनी ॥३६॥
अजायन्त ततस्तिस्रः शीलालङ्करणा. सुताः।
कर्पूरदेवी भौपलदेव्यौ वील्हण देव्यपि ॥३७॥
अभूद्देव कुमारस्य प्रेयसी छाडुकाभिधा।
पतिव्रता नमाचार चातुर्यार्जित सद् यशाः ॥३८॥
कुमारपाल सुतोभूत पितुराज्ञोद्यत स्तयो ।
जिनशास(ना)नुरागी विरागी दोष……॥३९॥
विवेकरवि रभ्येद्यु स्फुरतिस्मेति निर्म्मलः।
सन्तोसाया मानसाद्रौ विद्रावयन तमस्थति ॥४०॥
धातस्तत्रस्चतुरगमाग तरलाः सम्पन्नयोत्पूजिताः।
लुभ्यल्लुब्धक विभ्यदर्भक मृगीदृग् चचल यौवनम् ॥
बन्धु प्रेम तडिल्लताद्युतिचलं चैतत्तथा जीवितं
मत्वेव जिनमर्म कर्म्मणि मतिः कार्य…शाश्वते ॥४१॥
सानन्तसुखनिदानो धर्म्मोपि ज्ञायते श्रुतात्।
श्रुत च पुस्तकाधीनं तत्कार्यः पुस्तकोद्यमः ॥४२॥
पुस्तकं लेखयामास स्वसु श्रेयोर्थमाबड.।
सन्तोष नाम्न्या. स्नेहेन पल्हण भ्रातृ संयुतः ॥४३॥
प्रोद्यनियावदः सौविभर्त्ति नपनः प्राची पुरन्ध्री मुखे
कान्ति व्यक्तदिश सुवर्णतिलक श्री ग-विभ्रमे।
श्रीनाभेय जिनस्य चारु चरितं तावत्कथाश्चर्य कृत्
नंद्यादत्रे विचार्यमाणमनघप्रज्ञैः सदा कोविदैः ॥४४॥

[ताड़पत्रीय प्रति का पत्र २९९वां लम्बा इंच ३०।+२। चौड़ा]

प्रशस्ति महत्वपूर्ण है पर प्रारम्भ मे तथा आचार्य संवत् परम्परादि होनी चाहिये। सवत् वाला वह पत्र कहीं प्राप्त हो जाय, तब पूरा महत्व प्रगट हो सकेगा।

प्रथम ये दक्षिण भारत में विद्यमान—"पारूकिवंश" जिसे इतिहास 'फरत वंश' (Pharata Dynesty) बतलाता है, के बादशाह (राजा) 'अहमदखान' के वंशज 'बुरहानखान' के राज्याश्रय में रहे थे। 'दी हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (The History of Classical Sanskrit Literature) के लेखक श्री एम. कृष्णामाचारीयर 'संगीत शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते हुए (१०२८ क्रमांक, पृष्ठ ८६५) पुण्डरीक विट्ठल के विषय में संक्षिप्त उल्लेख करते हैं। इसके 'फुटनोट' में लिखते हैं कि—'फरत वंश' की सत्ता खानदेश के 'आनन्दल्ली' नामक ग्राम में १३७०–१६०० ई० के मध्य मानी जाती है। (This dynasty ruled at Anandwalli in Khandesh in 1370—1600 A.D.)

स्व० पं० श्री नन्दकिशोर शर्मा नामावल, जयपुर निवासी ने 'नृसिंह प्रसाद' नामक धर्मशास्त्रीय रचना के प्रायश्चित्तसार' भाग के प्रकाशन के साथ लिखे विद्वत्तापूर्ण लेख में उपर्युक्त अहमदशाह के वंश का कुछ उल्लेख प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि निजामशाही राज वंश का प्रतिष्ठापक, बहमनी नामक यवन राज्यवंश के मन्त्री बेहरी निजाम उल्मुक का ज्येष्ठ पुत्र और विजय नगर स्थित 'बहमनी' राज वंश में उत्पन्न अहमदशाह निजामशाह हुआ था। 'निजामशाह' इनका गोत्र माना गया है और इसीलिए इस शब्द का प्रयोग सभी राजाओं के साथ होता रहा है। इस निजामशाही राज परम्परा मे–१. निजाम उल्मुक (बहमनी राजवंश मन्त्री)। २. अहमदशाह या निजामशाह (निजामशाही राज्य का प्रतिष्ठापक १४६०–१५०८ ई०) ३. बुरहान निजाम (१५०८–१५५३) ४. हुशेन निजाम (१५५३–१५६५) ५. सलावत खां (१५६५–१५८६) ६. बुरहान निजाम द्वितीय (१५८६–१५६४) इन ६ राजाओं के नाम प्रसिद्ध है। इनमें अन्तिम राजा मुगल वंश के अधीन हो गया था। उस समय हिन्दुस्तान का बादशाह 'अकबर' था। जैसा कि हम अभी बता चुके हैं, मिर्जाराजा मानसिंह प्रथम अकबर के प्रधान सेनापति थे और उन्हीं के समय हमारे चरितनायक श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण निजाम वंशीय अन्तिम स्वाधीन राजा बुरहान खान द्वितीय के सभासद एवं सम्मानित संगीतज्ञ थे। इस विषय में एक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। श्री पुण्डरीक विट्ठल अपनी 'राग चन्द्रोदय' नामक रचना के प्रारम्भ में आश्रयदाता का वर्णन करते हैं—

"वंशः पारूकिभूपतेः सुसरलो भूभारधारक्षमः,
श्रीमद् सद्गुणि-दानि-शूर-विमल--क्षमापालशाखाभिभृत्।
विख्यातो भुवि यत्र काव्यरसिकाः सत्कीर्तिवल्ली श्रिता,
चित्रं संचरतीति विश्वमखिलं के वर्ण्ययन्तीह तत्॥"

तदनन्तर 'अहमदखान' शासक का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाता का वर्णन कर रहे हैं—

"श्रीमद् दक्षिणदिङ्मुखस्य तिलके श्री खानदेशे शुभे,
नित्यं भोगवतीव भोगिवसती रम्या सुपर्वादिभिः।
अस्ति स्वस्तिकरी नरेन्द्र नगरी त्वानन्दवल्लीति या,
तत्र श्री बुरहानखान नृपतिर्वासं करोति ध्रुवम्॥
तत्र श्री करणप्रयोग चतुरैः सल्लक्ष्मलक्ष्यान्वितैः,
देशीमार्गविवेकगायकवरैः साहित्य संकोविदैः।
नानावाद्यविधाननर्तनविधिप्राज्ञैः रसज्ञैः समं,
रंगे श्री बुरहानखान नृपतिः संगीतमाकर्णयत्॥" इत्यादि

यह 'रागचन्द्रोदय' नामक रचना अनूप संस्कृत पुस्तकालय, लालगढ़ पैलेस, बीकानेर में संगीत विषयक पुस्तकों मे ३४२४ क्रमांक पर उपलब्ध है यह २८ पत्रात्मक रचना है। प्रारम्भिक पद्यों मे अपने आश्रयदाता का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थ समाप्ति पर वे स्वयं का परिचय प्रस्तुत करते हैं—

"कर्णाटेशोवतांगाभिधनगनिकटे सा तनूवद् वियो यो,
ग्रामस्तत्राग्रजन्मप्रवरनिकरराट् जामदग्न्योऽस्तिवंशः।
तत्र श्री विट्ठलार्यो भवदमितयशा सद्गुणाख्यायुतस्य,
तत्सूनो 'रामचन्द्रोदय' इति मतिमत्वैरवाणां मुदेसु॥"

'इति श्री कर्णाटजातीय पुण्डरीक विट्ठल विरचिते राग चन्द्रोदये आलप्तिप्रसादस्तृतीयः।'—इससे स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इनके पिता का नाम 'विट्ठल' था और इनका नाम 'पुण्डरीक'। ये कुछ समय तक बुरहान खान के अधीन रह कर, उसके राज्य के अकबर के अधीन होने पर कुछ समय के लिए बादशाह अकबर की सभा में चले गये थे। वहां इन्होंने "रागनारायण" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। श्री एम. कृष्णामाचारियर लिखते हैं—

"After Khandesh was annexed by Akabar about 1599 A.D., He went to his Court at Delhi & there wrote 'Ragnarayan' at the instance of chief Madhavasinha." (Page 865 History).

यहां से ये 'आमेर' ही गये थे। मिर्जाराजा मानसिंह ने इनकी संगीतकला में प्रवीणता देखकर बादशाह से इन्हें अपने दरबार के लिए माग लिया था और इस प्रकार ये माधवसिंह के आधीन भी रहे। यहाँ इन्होंने 'रागमाला' नामक पुस्तक की रचना की, जिसकी प्रति तंजोर पुस्तकालय १६–७२४२, ७२४५ तथा अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में क्रमांक ५७५ (संगीत) पर उपलब्ध है। यह बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त 'राग मंजरी' नामक रचना की पाण्डुलिपि देखने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है। यह भी माधवसिंह (प्रथम) के आश्रय में लिखी गई रचना है। इसके प्रारम्भ मे लेखक अपने आश्रयदाता का उल्लेख करता है—

"श्रीमत्कच्छपवंशदीपकमहाराजाधिराजेश्वरः,
तेजः पुञ्जमहाप्रतापनिकरो भानुः क्षितौ राजते।
तस्यासीद् भगवानदासतनयो वीराधिवीरेश्वरः,
क्षोणीमंडलमंडनो विजयते भूमंडलाखण्डल ॥"

इसके पश्चात् कुछ पद्यों मे इस वंश का वर्णन कर अपने आश्रयदाता का उल्लेख करते हैं—

"तस्य द्वौ तनयौ सुशीलविनयौ शूरौ महाधार्मिकौ,
जातौ पंक्तिरथात्मजौ त्वकबरक्षोणीपतेः द्वौ भुजौ।
सिंहो माधवमानपूर्वपदकौ संग्रामदक्षानुभौ,
तेगत्यागसह सहस्रकलितौ श्रीसर्वभूमिश्वरौ ॥"
"अकबरनृपधर्मा राज्यतश्चातिधर्मा,
धरणिगगनमध्ये जगमो मध्यमेकः।
सकलनृपतितारास्चन्द्रसूर्याविभौ द्वौ,
जगति जयनशीलौ माधवामानसिंहौ ॥३॥
तत्र माधमसिंहोऽयं राजा परम वैष्णवः।
सर्वदा विष्णुभक्त्यर्थं नाद्यारम्भं करोति हि ॥४॥"

इस प्रकार वंश परिचय प्रस्तुत करते हुए पुण्डरीक कवि ने 'रागमञ्जरी' का उपक्रम वर्णित किया है। उसने लिखा है कि एक दिन महाराज माधवसिंह सभा मे बैठे थे। राजा ने अपनी सभा की प्रशंसा की। सभा ने बतलाया कि यहां सभी विषयों के विद्वान् विद्यमान हैं परन्तु संगीत शास्त्री नही है। इस पर पुण्डरीक (?) ने 'रागमंजरी' का निर्माण किया। देखिए—

"सभा—ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः परिचिता संपूर्णविद्या सभा,
श्रीमन्माधवसिंहराजरुचिरा शृंगारहारा सभा ॥
अगणितगणकविचिकित्सक-वेदान्त-न्याय-शब्दशास्त्रज्ञाः।
दृश्यन्ते बहवः संगीनी नात्र दृश्यतेप्येकः ॥
इत्युक्ते माधवसिंहे विट्ठलेन(?)द्विजन्मना।
नत्वा गणेश्वरं देव रच्यते रागमंजरी ॥"

यहाँ एक सन्देह उपस्थित होता है—'रागमंजरी' का लेखक पुण्डरीक है या विट्ठल ? क्योंकि 'पुण्डरीक' का ही माधवसिंह की सभा में होना माना गया है। परन्तु उपर्युक्त पद्यों में लेखक का नाम 'विट्ठल' मिलता है। इसकी पुष्टि ग्रन्थान्त की पुष्पिका द्वारा भी होती है।

दूसरा पद्य है—

"देमकजननी निजसुत 'विट्ठलकृत रागमञ्जरी केयम्।
सुन्दरशनिविचित्र-वागदेवी श्रवणमंडना भवतु ॥२॥
संगीतार्णवमन्दिरप्रतिदिनं साहित्यपद्माकर-
प्रोद्भूतप्रबलप्रबोधजनको भासां निधिः साम्प्रतम्।
विद्यावादविनोदिनामतितराम् अग्रेसरः केसरी,
सोयं माधवसिंह राजतिलको जीयाच्चिरं भूतले ॥३॥"

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यह रचना पुत्र 'पुण्डरीक' की नहीं है अपितु पिता 'विट्ठल' की है, परन्तु समाप्ति पर उल्लिखित पंक्ति पुनः संदेहान्वित करती है—

"इति श्री कर्णाटकजातीय पुण्डरीक विट्ठलकृत 'रागमञ्जरी' समाप्तेति शुभं भवतु।"

विचार विनिमय के उपरान्त यही कहा जा सकता है कि यह रचना 'विट्ठल' की है। यह संभव है कि पुत्र के साथ पिता भी राज्य सम्मानित हो। ग्रन्थान्त की पंक्ति को लिपिकार की भ्रान्ति भी मान सकते हैं परन्तु ग्रंथ मे उल्लिखित दोनों स्थानो के उपर्युक्त संकेतों को अशुद्ध नहीं मान सकते। इस विषय मे अन्यान्य प्रमाण भी शोध्य है।

श्री पुण्डरीक विट्ठल की अन्यान्य संगीतशास्त्री रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु उसके आदि या अन्त में

# शोध-कण

**परमानन्द जैन शास्त्री**

पं० श्री मिलापचन्द जी कटारिया केकड़ी का 'क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र' नाम का एक लेख अनेकान्त के १८वें वर्ष की इसी किरण दो में अन्यत्र छपा है। जिसमें क्षपणासार गद्य के कर्ता माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव और त्रिलोकसार टीका के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव दोनों को अभिन्न [एक] ठहराने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही क्षपणासार गद्य की आद्य प्रशस्ति में उल्लिखित भोजराज को, जो शिलाहार कुल के है प्रसिद्ध परमारवशी भोजदेव के साथ अभिन्नता व्यक्त करने का उपक्रम किया है। और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के समय को भी आगे लाने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं किन्तु त्रिलोकसार की ८५० नम्बर की गाथा की टीका मे लिखित 'शक' शब्द का अर्थ [विक्रमांक शकराज] विक्रम देखकर शक दुंदुभि संवत्सर ११२५ को विक्रम संवत् मानने और उसे पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रसंग में द्रव्यसंग्रह और गोम्मटसार की भिन्नता सूचक प्रमाणों को 'कुछ दृढ़ नही' ऐसा लिखकर अपने अभिमत को पुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

आपका उक्त लेख कुछ गलत कल्पनाओं पर आधारित है, मालूम होता है पडित जी को एक नाम के दो भिन्न व्यक्तियो के कारण यह भ्रम हुआ जान पड़ता है। अन्यथा दोनों की एकता के उन्हे कुछ ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करने चाहिये थे। पर ऐसा कुछ भी नही किया गया। केवल शक का विक्रम अर्थ देखकर दुंदुभि शक-संवत्सर ११२५ को विक्रम मानने का अनुरोध किया गया है।

'भोज' नाम के दोनों व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। एक भोज मालवा के परमार वंशी राजा हैं जिनकी उपाधि सरस्वती कठाभरण थी, जो धारानगरी के प्रसिद्ध विद्वान और कवि थे। इनका समय विक्रम की ११वी शताब्दी का उत्तरार्ध है। इन भोजदेव के साथ क्षपणासार गद्य के कर्ता का और गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का कोई सामंजस्य ठीक नहीं बैठता। क्षपणासार

---

किसी भी प्रकार की पुष्पिका उपलब्ध नही होती है। अतः उनका समय एवं आश्रयदाता का उल्लेख प्रामाणिक रूप में सम्भव नहीं। वे रचनाएं निम्नलिखित हैं—

१. 'नर्तन-निर्णय'—अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, क्रमांक ३४०७ पत्र–४३ (पूर्ण)।

२. 'दूती प्रकाश'—(कामशास्त्र) अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, क्रमांक ३८०१ (पूर्ण)।

श्री एम० कृष्णमाचारियर ने इनकी रचनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है—ये उत्तर भारतीय सगीत के विद्वान् थे—१. रागमाला, २. नर्तन निर्णय, ३. रागमञ्जरी एवं ४. सद्रागचन्द्रोदय के लेखक थे। इनकी ५वीं रचना 'रागनारायण' दिल्ली में तैयार हुई है। दक्षिणी एवं उत्तरी संगीत का साधिकार समालोचकात्मक भेद इनकी रचनाओं का विषय है। उनकी दृष्टि में—'संगीतवृत्तरत्नाकर' के लेखक विट्ठल एवं पुण्डरीक एक ही व्यक्ति है। इसके विवेचन मे उन्हें संदेह है—और वे इसका पूर्ण निर्णय नही कर सके है।

इससे पूर्ण शका का समाधान हो जाता है। 'विट्ठल' भी सगीत शास्त्री थे और ऐसा लगता है कि इनका पूरा वंश ही इस कला मे निष्णात रहा होगा। वंशानुक्रम मे यह विद्या 'पुण्डरीक' को भी प्राप्त हुई होगी। अतः 'रागमञ्जरी' का लेखक भी 'विट्ठल' को ही मान लिया जाय तो किसी प्रकार का सन्देह नही रहेगा। यह सभव है कि 'विट्ठल' को इस ग्रथ के निर्माण मे 'पुण्डरीक' का भी योग रहा हो।

इस प्रकार हम महाराज माधवसिंह प्रथम के सगीत शास्त्रीय प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं।

के कर्ता तो विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान है। और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती दक्षिण भारत के विद्वान थे, न कि कि मालवा के, और समय भी विक्रम की ११वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है. उक्त राजा भोज का समय उनसे बाद का है। ऐसी स्थिति में उनके साथ इनका सामंजस्य कैसे बिठलाया जा सकता है।

दूसरे भोजराज देव शिलाहार वंश के शासक थे। उनका राज्य क्षुल्लकपुर [कोल्हापुर] और उसके आस-पास के प्रदेश पर था। इस वंश में अनेक शासक हुए हैं और उनके समय में जैनधर्म की अच्छी प्रगति हुई हैं। वहां की भट्टारकीय गद्दी पर अनेक विद्वान् भट्टारक हुए है, जो विद्वान और प्रभावशाली थे। इन्हीं भोजराज के मंत्री बाहुबली थे, जिनका उल्लेख 'क्षपणासार गद्य की प्रशस्ति में—

"भोजराजराज्यसमुद्धरणसमर्थबाहुबलयुक्तदानादिगुणोत्कृष्टमहामात्यपदवीलक्ष्मीवल्लभबाहुबलिप्रधानेन।"

उल्लिखित उक्त वाक्यों में बाहुबली मंत्री को उन्हें भोजराज के राज्य का समुद्धार करने में समर्थ बतलाया है, और दानादि गुणों में उत्कृष्ट महामात्य पदवी तथा लक्ष्मीवल्लभ विशेषणों द्वारा उनका खुला यशोगान किया गया है। इससे उनकी महत्ता का स्पष्ट भान हो जाता है। बाहुबली मंत्री क्षुल्लकपुर [कोल्हापुर] या उसके आस-पास के के निवासी थे। राजनीति में दक्ष तथा राज्य के संरक्षण में सावधान थे और धर्म-कर्म निष्ठ थे। इन्ही की संज्ञप्ति के लिये क्षपणासार गद्य की रचना की गई थी। इन वीर भोजदेव के साथ भी नेमिचन्द्र सिद्ध चक्रवर्ती और उनके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य देव का सामञ्जस्य नहीं बैठाया जा सकता। क्योंकि इनका समय पश्चाद्वर्ती है। इसी तरह माधवचन्द्र भी भिन्न-भिन्न समय के विद्वान हैं। उनका कार्य क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न ही है।

उनमें प्रथम माधवचन्द्र देव वे है, जो अभयनन्दि वीरनन्दि इन्द्रनंदी के शिष्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे। जिन्होंने त्रिलोकसार की टीका बनाई थी, और उसमें कतिपय गाथा गुरु की अनुमति से रच कर शामिल कर दी थी। आचार्य नेमिचन्द्र ने गंगवंश के राजा प्रसिद्ध राचमल्ल द्वितीय के सेनापति और मंत्री चामुडराय के लिए गोम्मटसार आदि ग्रथों की रचना की थी। चामुण्डराय ने अपना कन्नड भाषा का पुराण शक सं० ९०० वि० सं० १०३५ में बना कर समाप्त किया था, अत: माधवचन्द्र और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का समय भी वि० सं० १०३५ के आस-पास का होना चाहिए। अर्थात् वे विक्रम की ११वीं शताब्दी के मध्य काल के विद्वान थे। चामुण्डराय गंगे नरेश राचमल्ल के प्रधान आमात्य थे, जिनका राज्यकाल वि० सं० १०३१ से १०४१ तक बताया गया है।

कन्नड भाषा के प्रसिद्ध कवि रन्न ने अपना 'पुराण तिलक' अजितपुराण नामक ग्रंथ शक सं० ९१५ वि० सं० १०५० में समाप्त किया था, उसने अपने ऊपर चामुण्डराय की विशेष कृपा होने का उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों की रोशनी में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का समय आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। और न नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव का सम्बन्ध क्षपणासार गद्य के कर्ता के साथ ही जोड़ा जा सकता है।

दूसरे माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य थे। उन्होंने उक्त शिलाहारवंशी राजा वीर भोजराज के महामात्य बाहुबली प्रधान की संज्ञप्ति के लिए क्षपणासार गद्य की रचना शक सं० ११२५ के दुंदुभि संवत्सर में की थी१। पण्डित जी ने इस शक सं० (११२५) को विक्रम संवत् माना है। उसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया, केवल शक-शब्द का विक्रम अर्थ बतला कर इसे विक्रम संवत मान लिया गया है। यदि इन सब शक संवतों को विक्रम संवत मान लिया जाय तो जो इन राजाओं और विद्वानों आदि में शक संवत प्रचलित है उसे विक्रम मान लेने पर इतिहास में बडी गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। उसे कैसे दूर किया जा सकेगा?

१. अमुनामाधवचन्द्र दिव्यगणिना त्रैविद्यचक्रेशिना,
क्षपणासारमकारि बाहुबलि सन्मंत्रीश सज्ञप्तये।
शक काले शर सूर्यचन्द्र गणिते (११२५) जाते पुरे क्षुल्लके,
शुभ दे दुंदुभि बत्सरे विजयतामाचन्द्रतारं भुवि ॥१६

प्रस्तुत सकलचन्द्र मूलसंघ काणूरगण तिन्त्रणीगच्छ के विद्वान थे और महादेव दण्ड नायक के गुरु थे। उन महादेव दण्ड नायक ने 'एरग' जिनालय बनवा कर उसमें शान्ति भगवान की मूर्ति को प्रतिष्ठित कर शक वर्ष १११९ (वि० सं० १२५४) में उक्त सकलचन्द्र भट्टारक के पाद प्रक्षालन पूर्वक हिडगण तालाब के नीचे दण्डे से नाप कर ३ मत्तल चावल की भूमि, २ कोल्हू और एक दुकान का दान किया था२। प्रस्तुत सकलचन्द्र मुनिचन्द्र और कुलभूषण के शिष्य थे।

दुदुभि शक ११२५ (वि० सं० १२६०) में होने वाली क्षपणासार की रचना दो वर्ष बाद इन्हीं शिलाहार वंशी वीर भोजदेव राज्य में कोल्हापुर के देशान्तवर्ती अर्जुरिका स्थान में सोमदेव ने शक संवत ११२७ में शब्दार्णवचन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी३।

इस सब विवेचन पर से स्पष्ट है कि दोनों माधवचंद्र त्रैविद्यदेव भिन्न-भिन्न हैं, वे एक नहीं हो सकते। और न गद्य क्षपणासार के कर्ता को त्रिलोकसार की टीका का कर्ता बनाया जा सकता है दोनों भिन्न-भिन्न समयवर्ती हैं। दोनों भोजदेव भी भिन्न-भिन्न हैं। उनका समय भी भिन्न-भिन्न है। ऐसी स्थिति में पण्डित जी ने जो विचार उपस्थित किया है, वह मेरी दृष्टि में उचित प्रतीत नहीं होता। आशा है पण्डित जी ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर विचार करेंगे। श्रद्धेय प्रेमी जी की राय का उन्होंने स्वयं ही उल्लेख किया है। अन्य विद्वान भी इस पर विचार कर वस्तुस्थिति को सामने लाने का यत्न करेंगे।

२. देखो, जैन शिलालेख संग्रह भा० ३ लेख नं० ४३१।

३. देखो, जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० १ पृष्ठ १९९।

—o:—

# वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव

इस वर्ष वीरशासन-जयन्ती का उत्सव वीर सेवा मन्दिर की ओर से श्री दिगम्बर जैन लालमन्दिर जी में आचार्य श्री देश भूषण जी के सानिध्य मे मनाया गया था। जनता की उपस्थिति अच्छी थी। प० परमानन्द शास्त्री के मंगलाचरण के पश्चात् प० बालभद्र जी न्यायतीर्थ, प० जीवधर जी न्यायतीर्थ इन्दौर पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा, ब्रह्मचारी सरदारमल जी सिरोज और आचार्य श्री का भाषण हुआ। सभी भाषण सक्षिप्त सार गर्भित तथा महत्वपूर्ण थे, उनमे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का विश्लेषण करते हुए उनकी महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला गया। साथ ही अपने जीवन में उन्हें यथा शक्ति अपनाने पर भी बल दिया गया। और विश्व की अशान्ति को दूर करने के लिए महावीर के अहिंसा अनेकान्त और अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों का लोक में प्रचार एवं प्रसार करने की प्रेरणा की। और धर्म रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने की विशेष प्रेरणा दी गई। अन्त में वीर-सेवा-मन्दिर के उपाध्यक्ष राय साहब उलफतराय जी ने आगन्तुक सज्जनों का आभार प्रदर्शन किया और महावीर की जय ध्वनि पूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

**—प्रेमचन्द जैन**

# "जैनधर्म और जातिवाद"

श्री कमलेश सक्सेना, मेरठ

जैन धर्म का उदय कुछ ऐसे महान आदर्शों को लेकर हुआ था जिसके कारण यह शीघ्र ही सम्पूर्ण भारत मे फैल गया। रूढ़िवादिता एवम् यज्ञ, अनुष्ठानों के विरोधी होने के साथ ही यह धर्म जातिवाद का कटु शत्रु था। पार्श्वनाथ और उनके पश्चात् महावीर ने ब्राह्मणों के धार्मिक विश्वासों और पद्धतियों पर सफलतापूर्वक आक्षेप किए थे। आगमों में किसी भी स्थान पर जातिवाद को अच्छा नहीं बतलाया गया। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ जैन धर्म की मान्यताओं में परिवर्तन आने लगा और जैन आचार्यों ने जातिभेद को स्वीकृति देनी प्रारम्भ कर दी।

वैसे तो जैन आचार्य प्रारम्भ से ही समाज का विभाजन चार वर्णों में मानते चले आए है[1]। परन्तु जैन धर्म में इस वर्ण भेद को पुस्तकों में स्थान देने वाले सर्व प्रथम आदि पुराण के लेखक जिनसेन आचार्य हुए। उनके मतानुसार वृषभदेव ने सबसे पहले तीन वर्णों की रचना की। जो लोग रक्षा का कार्य करते थे उनको क्षत्रिय की संज्ञा दी, जो लोग खेती-बाड़ी कर जीवकोपार्जन करते थे वे वैश्य कहलाते थे तथा जो सेवा कार्य करते थे वे शूद्र कहलाते थे[2]। आगे चलकर ब्राह्मण वर्ण का जन्म दूसरे वर्णों के धार्मिक कृत्यों के लिए हुआ।

परन्तु यह ध्यान देने का विषय है कि जैन धर्म जन्म पर आधारित जाति को मानने को तैयार उस समय तक नही हुआ था। आचार्य अमितगति भी जन्म को वर्ण में कोई महत्ता नही देते थे वरन उनके अनुसार एक व्यक्ति का जीवनयापन का साधन ही उसके वर्ण का द्योतक है[3]। परन्तु नवीं व दसवीं शताब्दी के आचार्य जाति को न मानते हुए भी उसको वृहत सामाजिक हित में मान्यता देने का प्रयत्न करते हुए दीखते हैं। पर दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था जैनधर्म के प्रतिकूल होने के कारण कुछ समय तक उनके द्वारा कटु आलोचना का क्षेत्र बनी रही। वरागचरित में जटासिंह नन्दी लिखते हैं कि—सम्पूर्ण प्राणी-मात्र एक 'सर्व शक्तिमान' की सन्तान होते हुए विभिन्न जाति के कैसे हो सकते है। उदाहरणार्थ एक उदम्बर के वक्ष पर उदम्बर फल के अतिरिक्त कोई भिन्न जाति का फल नहीं लगता[4]। परन्तु ये वस्तु स्थिति मध्यकालीन युग में बदलने लगी और जैन समाज चारों वर्णों को स्वीकार करने लगा। यह पृथक् बात है कि उस समय तक यह जाति के कठिन बन्धन से मुक्त रहे, क्योंकि जैन धर्म निरन्तर कर्मों की प्रधानता पर बल देता। यही कारण था कि एक ब्राह्मण को जैन समाज उसी समय तक ब्राह्मण मानने को तैयार था जब तक कि वह अपने वर्ण के कर्तव्य का पालन करता था अन्यथा वह चांडाल था[5]। इस प्रकार से जैनमतानुसार ब्राह्मण केवल वही व्यक्ति था जो कि व्रत, तपस्या और ब्राह्मणों के अनुरूप कर्तव्य का पालन करता था।

इसी प्रकार से जो व्यक्ति रक्षा कार्य में संलग्न थे उन्हें क्षत्रिय की संज्ञा दी जाती थी। सोमदेवसूरी के अनुसार क्षत्रियों का कर्तव्य था कि वे कमजोर, अपाहिज, अन्धे, रोगी और अनाथ व्यक्तियों की सहायता करे[6]। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि क्षत्रिय धर्म के अन्तर्गत जैन आचार्य शस्त्रों का प्रयोग निर्बाध रूप से करने के पक्ष में नहीं है। उदाहरण के लिए कुछ व्यक्तियों को बचाने के लिए किसी निर्दोष व्यक्ति को मारना सर्वथा

---

१ सोमदेव सूरी—यशसतिलकचम्पू. ७ पृष्ठ ३७३

२. जिनसेन—आदि पुराण पर्व १६. १८४ पृ० ३६२

३. धर्म परीक्षा—१७. २४.

४. वरांगचरित—२५. २—४.

५. रविषेण आचार्य—पद्म पुराण ११. २०३.

६. नीतिवाक्यामृत—७. ८.

अनुचित समझा जाता था७। ब्राह्मणों की भांति क्षत्रियों को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं थे। जैनधर्मावलम्बियों को क्षत्रिय वर्ण अपनाने की मनाही नहीं थी यद्यपि वे अहिंसा के पोषक थे।

वैश्य जाति के लोग अधिकतर व्यापार और कृषि कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त पशुपालन का व्यवसाय भी इस वर्ण के लोग कर सकते थे। व्यापारी होने के कारण यह वर्ग धनी था। खजुराहो के एक जैन मन्दिर से प्राप्त अभिलेख से पता चलता है कि वैश्य लोग राजा के द्वारा भी धनी होने के कारण सम्मान पाते थे८। सोमदेव ने वैश्यों के लिए शिक्षा संस्थाओं के लिए दान देना और आश्रयगृह खुलवाना मुख्य धर्म बतलाया है९।

जैन आचार्यों ने हिन्दू धर्म की भांति शूद्रो का कर्तव्य द्विजाति की सेवा बतलाया है। जैन धर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति अछूत नहीं कहा जा सकता। परन्तु व्यवहार मे सत् और असत् शूद्रों का वर्णन मिलता है। द्विजातियों की सेवा कार्य के अतिरिक्त शूद्र मूर्तिकार, चित्रकार, गायक तथा चारण का कार्य भी करते थे। जैन आचार्यों के अनुसार एक शूद्र भी यदि शुभ कर्म करे तो मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनधर्म ने हिन्दुओं के जातिवाद को मान्यता नवीं एवम् दसवीं शताब्दी मे देनी प्रारम्भ कर दी थी। केवल इतना ही नही वरन् समय के व्यतीत होने के साथ-साथ जैन समाज इस जातिवाद से अछूता नहीं रह सका। उसमें भी जन्म के आधार पर आगे चलकर वर्ण बनने लगे। २०वीं शताब्दी मे यह वर्ण उपजातियों में विभाजित हो गए। विभिन्न विद्वानों के द्वारा संकलित इन उपजातियों की संख्या १०० से भी अधिक पहुँचती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ग है जो कि जैन रीति-रिवाजों को मानते हैं और उनकी गणना उपजातियों में नहीं की गई है और यह वर्ग रत्नगिरि जिले में मिलता है१०। मुख्यतया जैन उपजातियां—ओसवाल, श्रीमाल, अग्रवाल, खण्डेलवाल, सैतवाल, परवार, चतुर्थ और पंचम है। इनमें से कुछ के रीति-रिवाज तो समान है और कुछ के भिन्न हैं, जिसके लिए धर्म में आंतरिक विभाजन भी उत्तरदायी है। इस प्रकार से आज वर्णो के स्थान पर उपजातिया ही रह गई हैं। फिर भी इतना आवश्य है कि जैन समाज में जातिवाद बंधन कठोर नही हुए हैं और एक वर्ग से ऊपर उठने के लिए द्वार सदैव ही खुला हुआ है। इस क्रिया को 'वर्णलाभ' क्रिया कहते है११।

संसार को अहिंसा का सदेश देने वाले जैन धर्म को इस समय में न केवल अपने समाज में एकता लाने का प्रयत्न करना चाहिए अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष में जटासिह नन्दी के उपदेश को प्रतिपादित करना चाहिये जिसमे कि सम्पूर्ण प्राणीमात्र एकता के सूत्र मै बँधकर एक-दूसरे की सहायता करे।

७. आदिपुराण—४२. १३.
८. एपीग्राफी इंडिका—५. पृ० १३६.
९. नीतिवाक्यामृत—७ ९.
१०. विलास आदिनाथ संघवे—जैन कम्युनिटी, पृ० ७३-७४
११. आदिपुराण—३९. ७१

## उपदेशक पद

**भैया भगवतीदास ओसवाल**

**जो जो देख्यो वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।**
**विन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे ॥१॥**
**समयो एक बढ़ै नहि घटसी, जो सुख दुख की पीरा रे।**
**तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥२॥**
**लगै न तीर कमान बान कहुं, मार सकै नहिं मीरा रे।**
**तूं सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनंत तो तीरा रे ॥३॥**
**निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारै भव-भीरा रे।**
**'भैया' चेत धरम निज अपनो जो तारै भव-नीरा रे ॥४॥**

# साहित्य-समीक्षा

१. **जैन भारती**—(समन्वयांक) सम्पादक बच्छराज संचेती प्रकाशक–श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट कलकत्ता—१ वार्षिक मूल्य १२) रु०, इस अक का मूल्य ७५ पैसा।

प्रस्तुत अंक महावीर जयन्ती के उपलक्ष में 'विशेषांक' रूप में प्रकाशित किया गया है। समन्वय की दिशा में यह सुन्दर प्रयास है, परन्तु समन्वय को कौन नहीं चाहता, सभी विरोध से डरते है, हिताभिलाषी है, फिर भी उनमे विरोध हो जाता है यह आश्चर्य है। समन्वय के लिए युक्ति परीक्षा और मध्यस्थ भाव आवश्यक है। इनके होने पर समन्वय होना सुलभ है, विचार वैषम्य दूर होकर ही समता और सह-अस्तित्व बन सकते है। जैन समाज के नेतागण यदि जीवन मे अनेकान्त को अपना लें, तो समन्वय दृष्टि सफल हो सकती है।

प्रस्तुत अंक मे ३३ लेख दिये गये है, जिनमे समन्वय एवं एकता के विषय मे चर्चा की गई है तथा उदार दृष्टि-कोण अपनाने की भी प्रेरणा दी गई है। जैन संस्कृति को उज्जीवित रखने के लिए समन्वय की अत्यन्त आवश्य-कता है। परन्तु जब तक साम्प्रदायिक व्यामोह कम नहीं हो जाता, तब तक अनेकान्त की समुदार दृष्टि जाग्रत नही हो सकती। विद्वानों और समाज-सेवकों को विचार कर समन्वय को जीवन का अंग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। आचार्य तुलसी गणी का यह प्रयास बहुत ही सुन्दर और समयानुकूल है। आशा है समाज इस पर गहरा विचार कर अनेकान्त को जीवन में लाने का यत्न करेगी।

२. **यह कलकत्ता है**—लेखक धर्मचन्द्र सरावगी कल-कत्ता। प्रकाशक, एक्मे एण्ड कम्पनी पुस्तकालय विभाग, जैन हाउस ८।१ एस्प्लेनेड रोड, ईस्ट कलकत्ता—१। पृष्ठ ६४ मूल्य १) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में कलकत्ता का सजीव परिचय कराया गया है। कलकत्ता को कब और किसने बसाया है और उसकी क्या-क्या प्रगति हुई। उसके क्या दर्शनीय स्थान हैं, कहा हैं, उनकी क्या-क्या महत्ता है, इसका विवरण दिया गया है। उन दर्शनीय वस्तुओं मे से बोटेनिकल गार्डन, नेशनल लायब्रेरी, चिड़िया खाना, आदि हैं जनतो-पयोगी चीजों में पोस्ट आफिस, हस्पताल, मुख्य ट्राम रास्ते आवश्यक बसे, आदि का दिग्दर्शन कराया गया है। पुस्तक यात्रियों के लिए उपयोगी है, प्रत्येक यात्री को उसे पास में रखना चाहिए जिससे उसे कलकत्ता में कोई असुविधा नहीं हो। पुस्तक की भाषा सुगम और मुहावरेदार है।

३. **दस वेआलियं [बीओ भागो]**—दश वैकालिक दूसरा भाग वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर तेरा पंथी महासभा, ३ पोर्च्युगीज चर्च स्ट्रीट कलकत्ता–१, पृष्ठ ८००, बड़ा साइज, मूल्य सजिल्द प्रति का २५ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे दश अध्ययन हैं और वह विकाल में रचा गया है इसलिए इसका नाम दश वैकालिक हैं इसके कर्ता शय्यभव है, कहा जाता है कि उन्होंने अपने शिष्य मनक के लिये इसकी रचना की थी। दश वैकालिक अग बाह्य आगम ग्रन्थ है इसमें आचार और गोचर विधि का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ पर निर्युक्ति चूणिया और हारिभद्रीय वृत्ति उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद मूल्य के अनुरूप करने का प्रयत्न किया गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिए जहा तहा टिप्पणियां दी गई है। एक पृष्ठ के तीन कालम करके प्रथम कालम मे मूल, दूसर मे उसकी संस्कृत छाया और तीसरे में हिन्दी अनुवाद दिया गया है। एक अध्ययन के बाद उसके प्रत्येक श्लोक के शब्दों पर टिप्पणिया दी हुई है, जो अध्ययन पूर्ण है और उनके नीचे पाद टिप्पण मे ग्रन्थों के उद्धरण आदि का निर्देश है इसी क्रम से सम्पूर्ण ग्रन्थ का विवेचन दिया हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में आचार्य तुलसी के प्रमुख शिष्य मुनि नथमल जी और अन्य सहायक साधुओ ने ग्रन्थ को पठनीय एवं संग्रहणीय बनाने में खूब श्रम

किया है। श्वेताम्बर तेरा पन्थ के उदय को लगभग दो सौ वर्ष का समय हुआ है, इतने समय में इस पन्थ ने अच्छी प्रगति और प्रतिष्ठा प्राप्त की है। उसकी इस प्रगति का मूलकारण आचार्य तुलसी की शालीनता और उदार दृष्टि है। आचार्य श्री जब गत वर्ष दिल्ली पधारे थे तब उन्होंने मुझे दश वैकालिक की प्रति दिखलाई थी, ग्रन्थ का अध्ययन करके ही उसका पूरा मूल्य आंका जा सकता है।

४. **मालवा की माटी**—लेखक सम्पतलाल पुरोहित युगछाया प्रकाशन २५५१, धर्मपुरा दिल्ली–६ पृष्ठ संख्या १५६, मूल्य सजिल्द प्रति का ३ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक ऐतिहासिक व राजनीतिक उपन्यास है। यह एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। घटना बड़ी सजीव और अन्याय की पराकाष्ठा को चुनौती देने वाली थी। सम्राट् विक्रमादित्य के पिता गन्धर्वसेन की पुरातन जीवन घटना को नये साज-सज्जा के साथ चित्रित किया गया है। गन्धर्व सेन गर्दभी विद्या के कारण मदोन्मत्त हो अन्याय पर उतारू हो रहा था, उसकी सैन्य शक्ति बढी हुई थी। उस समय के लोगों ने उसे बहुत समझाया, परन्तु उसने किसी की एक न सुनी। कामांध विवेक रहित होता है उसने जैनाचार्य कालक की बहिन आर्यिका सरस्वती का अपहरण करके कालक को प्रतिशोध के लिए बाध्य किया था। उक्त घटना चक्र पर ही आगे का कथानक वृद्धिगत हुआ है। घटनाओं ने कहीं-कहीं कुछ ऐसा मोड़ लिया, जिसमें धार्मिक दृष्टिकोण दबता गया और राष्ट्रीय दृष्टिकोण उभरता हुआ नजर आता है। लेखक ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को पल्लवित करने के लिए ही उक्त कथानक का सहारा लिया है कुछ पात्रों का भी नया चुनाव करना पडा है। आचार्य कालक के सम्बन्ध में भी कुछ स्वच्छन्दता वर्ती गई है। फिर भी कथानक में कोई अन्तर नहीं आ पाया है। फिर उपन्यास में तो घटनाचक्र का रूप ही दूसरा होता है। उसमें कल्पना की प्रधानता होती है, तो अन्य में घटनाचक्र की। देश की सुरक्षा के लिए पुरोहित जी का यह प्रयास प्रशंसनीय है।

५ **श्रमणोपासक**—(जैनदर्शन,साहित्य धर्म अंक) सम्पादक जुगराज सेठिया और देव कुमार जैन, वार्षिक मूल्य छह रुपया। इस अंक का मूल्य दो रुपया।

प्रस्तुत अंक अखिल भारती साधु मार्गी जैन संघ बीकानेर का मुख पत्र है। यह तीसरे वर्ष का प्रवेशांक है। इस अंक में ३६ लेख कविता व कहानी आदि हैं। साधुमार्गी समाज का यह प्रयास स्तुत्य है। लेखों का चयन अच्छा हुआ है। ऐसे विशेषांकों में उच्च कोटि के लेखकों के लेख होने चाहिए थे जो तुलनात्मक दृष्टि से लिखे जाकर जैन संस्कृति को महत्ता प्रदान करते। ऐसा करने से जहां पत्र के प्रकाशन में विलम्ब होता वहां उससे पत्रिका का स्टेन्डर्ड ही न बढता किन्तु जैन दर्शन और साहित्य पर महत्वपूर्ण लेख सामग्री का अंकन भी विज्ञ पाठकों को अवश्य मुखरित किये बिना न रहता, फिर भी अंक अच्छा है, छपाई सफाई साधारण है।

—परमानन्द शास्त्री

———

**मानव अत्यधिक स्वार्थी हो गया है, वह जहां अपने स्वार्थ की पूर्ति देखता है उसी ओर प्रवृत्ति करता है। मानों स्वार्थ ही उसका सब कुछ है, वह स्वार्थ के बिना दूसरों से बात भी नहीं करता। अतः उसका जीवन ऊंचा उठने के बजाय नीचा ही होता जाता है।**

**—अज्ञात्**

# आत्म-निरीक्षण

आत्मा से आत्मा को देखो। भगवान् महावीर का यह वाक्य आत्म-निरीक्षण का मूल मंत्र है। जो भी मनुष्य जीवन में उत्थान का मार्ग प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

"मेरा कौन-सा आचार-व्यवहार पशुओं के समान है और कौन-सा महापुरुषों के समान, इस तरह प्रतिदिन आत्म-निरीक्षण करना चाहिए।"

संसार में दूसरों को देखने वाले बहुत है, किन्तु स्वयं को देखने वाले थोड़े है। दूसरे के दोषों की ओर बार-बार घ्यान जाता है, अपने दोषों की ओर कभी भी नहीं जाता।

जब स्वयं के दोष देखता हूँ तो दृष्टि छोटी हो जाती है और जब दूसरों के दोष देखता हूँ तो वह बड़ी बन जाती है।

—मुनिश्री राकेश

---

# वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी न, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार न, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५० ) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री गमन्बरदास जी जैन, कलकता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर
१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

## वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

**सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में**

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उदधृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (१६) महावीर पूजा ।)

(१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं० पं० परमानन्द शास्त्री सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

---

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित

द्वैमासिक [अगस्त १९६५

# अनेकान्त

मनस्वी महा-मानव गणेशवर्णी

जन्म : असोज कृष्ण ४ सं० १९३१

अवसान : भाद्रपद कृष्ण ११ सं० २०१८

छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

## विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १. अर्हत-स्तवनम्—समन्तभद्राचार्य | ९७ |
| २. अर्थप्रकाशिका : प्रमेयरत्नमाला की द्वितीय टीका—[पं० गोपीलाल 'अमर' एम. ए. साहित्य-शास्त्री | ९८ |
| ३. अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर तथा श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—[पं० नेमचंद धन्नूसा जैन, देउलगाँव] | ९९ |
| ४. आचार और विचार—[डा० प्रद्युम्नकुमार जैन, ज्ञानपुर] | १०३ |
| ५. 'मोह विवेक युद्ध : एक परीक्षण—[डा० रवीन्द्रकुमार जैन, तिरुपति] | १०७ |
| ६. दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में महाव्रत अणुव्रत, समिति और भावना—[मुनि श्री रूपचन्द जी] | १११ |
| ७. भूधरदास का पार्श्व पुराण : एक महाकाव्य—[श्री सलेकचन्द जैन एम. ए. बड़ौत | ११६ |
| ८. वर्णीजी का आत्म-आलोचन और समाधि-सङ्कल्प—[श्री नीरज जैन] | १२५ |
| ९. बोध प्राभृत के सन्दर्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द—[साध्वी श्री मंजुला, शिक्षाविभाग अग्रणी | १२८ |
| १०. जीव का अस्तित्व जिज्ञासा और समाधान—[मुनि श्री नथमल जी | १३२ |
| ११ हेमराज नाम के दो विद्वान्—[परमानन्द जैन शास्त्री] | १३५ |
| १२. ३८वें ईसाई तथा ७वे बौद्ध विश्व-सम्मेलनों की श्री जैन संघ को प्रेरणा—श्री कनकविजय मामूरगंज, वाराणसी | १४० |
| १३. शोध-कण महत्वपूर्ण दो मूर्ति-लेख—नेमचंद धन्नूसा जैन न्यायतीर्थ | १४४ |


★



## अनेकान्त को सहायता

११) श्री नाथूलाल जी गंगवाल (सेठ नन्दराम नाथूलाल जी) इन्दौर के स्वर्गवास पर २०००) के निकाले हुए दान मे से ग्यारह रुपया अनेकान्त को पंडित नाथूलाल जी शास्त्री इन्दौर की मार्फत सधन्यवाद प्राप्त हुए। आशा है दूसरे दानी महानुभाव भी अनेकान्त को अपनी सहायता भेज कर अनुगृहीत करेगे।

—व्यवस्थापक
**'अनेकान्त'**

## भूल सुधार

अनेकान्त के जून मास के अंक में श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मण्डल में कुछ नाम गलती से रह गए थे। सम्पादक मण्डल के विद्वानों की नामावली पुनः प्रकाशित की जा रही है—

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ
डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्
पं० कैलाशचद जी शास्त्री
डा० सत्यरंजन बनर्जी
श्री अगरचन्द जी नाहटा
डा० कालीदास नाग
डा० के. सी. कासलीवाल

—व्यवस्थापक
**अनेकान्त**
**वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।**


**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**
**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०**


---

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥


| वर्ष १८<br>किरण-३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६<br>वीर निर्वाण संवत् २४९१, वि० सं० २०२२ | अगस्त<br>सन् १९६५ |
|---|---|---|


## अरहंत-स्तवनम्

णिद्दद्ध-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा ।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥
ति-रयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर-कबंध-विंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥

—~~समन्तभद्राचार्य~~ वीरसेन

अर्थ—जिन्होंने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गए हैं, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालों को विषय करने रूप तीन नेत्रों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर—मोह, राग और द्वेष—को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो मुनि व्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियों के पति—ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्न रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कवन्ध वृन्द का हरण कर लिया है। जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं, उन्हें नमस्कार है।

# अर्थप्रकाशिका : प्रमेयरत्नमाला की द्वितीय टीका

पं० गोपीलाल 'अमर' एम. ए. साहित्य शास्त्री

आचार्य माणिक्यनन्दी का परीक्षामुख जैन न्याय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसकी तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं–प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालंकार। इसके प्रथम सूत्र की व्याख्या के रूप में एक लघु पुस्तिका प्रमेयकण्ठिका भी उपलब्ध है। प्रमेयरत्नमाला की भी दो टीकाएँ हैं—न्यायमणिदीपिका और अर्थप्रकाशिका।

अर्थप्रकाशिका के लेखक पण्डिताचार्य अभिनवचारुकीर्ति हैं। ये अठारहवीं शती ई० में कभी, श्रवणबेलगुल के मठाधीश रहे हैं। वहां के मठ की यह पद्धति थी और भी विद्यमान है कि उसके भट्टारक की गद्दी पर जो भी आसीन हो उसी का नाम पण्डिताचार्य चारुकीर्ति हो जाता है। इस नाम के एक या अनेक विद्वानों द्वारा लिखे गये नौ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—न्यायमणिदीपिकाप्रकाश, अर्थप्रकाशिका, प्रमेयरत्नालंकार, पार्श्वाभ्युदयकाव्य टीका [सुबोधिका], चन्द्रप्रभचरितव्याख्यान [विद्वज्जनमनोवल्लभ], नेमिनिर्वाणकाव्य टीका, आदिपुराण, यशोधरचरित और गीतवीतराग। प्रस्तुत पण्डिताचार्य जी ने अपना परिचय स्वयं नहीं दिया है। यह खेद का विषय है कि इतने निकट अतीत—लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व—में हुए विद्वान् का हम समूचा परिचय नहीं जुटा पा रहे हैं। यह भी खेद का विषय है कि श्रवणबेलुगुल के वर्तमान भट्टारक जी महोदय से अनेक बार नम्र निवेदन करने पर भी इस सम्बन्ध में कोई सहायता, कोई उत्तर भी मुझे प्राप्त नहीं हो सका। क्या ही अच्छा होता कि श्रवणबेलुगुल के भट्टारकों की परम्परा इतिहासबद्ध की जाती और उससे विद्वत्समाज लाभान्वित होता।

अर्थप्रकाशिका का आकार प्रमेयरत्नमाला से लगभग द्विगुणित और न्यायमणिदीपिका का दो तिहाई, अर्थात् तीन हजार चार सौ अनुष्टुप श्लोकों के बराबर है। ग्रन्थ का प्रारम्भ भगवान् नेमिनाथ की वन्दना से किया गया है। फिर कहा गया है कि प्रमेयरत्नमाला की हजारों व्याख्याएँ हैं तथापि पण्डिताचार्य की व्याख्या ही विद्वानों को ग्राह्य है। तृतीय पद्य में ग्रन्थकार कुछ नम्र होते हैं और कहते हैं कि संपूर्ण संसार के प्रकाशक सूर्य के देदीप्यमान रहते हुए भी क्या लोग हाथ में छोटा-सा दीपक नहीं लेते, अवश्य लेते हैं। तब, अन्य टीकाओं की भांति, पण्डिताचार्य जी वाक्यों और वाक्यांशों आदि प्रथम पद को—नतामरेत्यादि, श्रीमदित्यादि–मे लेते चलते हैं और उनकी व्याख्या करते चलते हैं। परिच्छेदों की समाप्ति पर उपसंहारात्मक श्लोक आदि न लिखकर 'इति प्रथम. परिच्छेद:' जैसा संक्षिप्त वाक्य ही लिख देते हैं और तत्काल 'अथ द्वितीय: परिच्छेद:' जैसे संक्षिप्त वाक्य से ही अग्रिम परिच्छेद प्रारम्भ कर देते हैं। कभी-कभी दो परिच्छेदों के सन्धिस्थल पर 'वर्द्धतां जिनशासनम्' और 'भद्रं भूयात्' आदि वाक्य लिखकर पूर्ण किये जाते हैं। ग्रन्थ के अन्त में कोई श्लोक, समाप्तिवाक्य या ग्रन्थकार की प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। प्रारम्भ के तीन परिच्छेद, समूचे ग्रन्थ के तीन चतुर्थांशों में समाप्त होते हैं और शेष तीन परिच्छेद अपेक्षाकृत संक्षिप्त कर दिये है।

व्याख्या के अन्तर्गत, विषय का विस्तार कम और स्पष्टीकरण अधिक हुआ है। व्याख्येय ग्रंथ प्रमेयरत्नमाला के प्रारम्भिक पद्यों की पूर्णत: साहित्यिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यहां तक कि उनमें विद्यमान छन्दों और अलंकारों का भी सलक्षण निर्देश किया गया है। स्थान-स्थान पर 'तदुक्त' आदि द्वारा शतश: उद्धरण दिये गये है पर उनके मूल स्थलों का निर्देश कदाचित् ही हुआ है। नव्यन्याय की शैली में होने से एक अनोखापन तो इस ग्रंथ में अवश्य है परन्तु कुल मिलाकर न्यायमणिदीपिका की भांति यह न तो अर्थबोधक ही बन सका है और न विषयविश्लेषक ही। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह पण्डिताचार्य जी की प्रारम्भिक कृति रही होगी। इस व्याख्या के माध्यम से प्रमेयरत्नमाला को और प्रमेयरत्न-

# अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर तथा श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र

पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन, देउलगाँव

अप्रैल के अनेकान्त के अंक में 'श्रीपुर, निर्वाणभक्ति और कुन्दकुन्द' यह लेख डा० विद्याधर जी ने लिखकर निर्वाणभक्ति के समय और कर्तृत्व पर तथा शिलालेख संग्रह से उद्धृत श्रीपुर पर जो प्रकाश डाला उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

फरवरी के अनेकान्त में मैंने जो लेख दिया था, उस का उद्देश्य था—अं० पा० श्रीपुर (शिरपुर) क्षेत्र के समय तथा स्थान पर प्रकाश डालना। लेकिन उस पर अभिप्राय देते हुए विद्याधरजी लिखते है—'श्रीपुर मे खरदूषण राजा के समय में पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिष्ठा हुई यह बात पुराने कथा लेखकों से एकदम विरुद्ध जान पडती है। आदि।'

कथानको के बारे में मेरा अनुमान है कि जितनी भी इस क्षेत्र की बाबत कथा उपलब्ध हैं उनमें एक भी पर्याप्त नहीं हैं। कई कथाएँ सिर्फ इस क्षेत्र का महात्म्य सुनकर अन्य स्थान से ही लिखी गयी हैं। कई कथाएँ एक-दूसरे का अनुसरण करके या प्रभाव में आकर के लिखी गई हैं। सो भी उन कथाओं का पूरा आदर करते हुए उनके आधार पर 'समय और स्थान' पर प्रकाश डाला है।

हमारा कथन विरुद्ध बताने के लिए जिनप्रभ सूरि की कथा का उल्लेख किया है। उस कथा में ही वर्णन आया है कि—

(१) पोखर या कूप में से जो प्रतिमा निकली वह भावी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की थी।

---

माला के माध्यम से परीक्षामुख को अच्छी तरह हृदयंगम करके ही उन्होंने प्रमेयरत्नालंकार लिखा होगा तभी तो उसमें इनकी प्रखर विद्वत्ता सामने आई है।

अर्थप्रकाशिका अभी तक मुद्रित नहीं हुई है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति मेरे पास है। यह श्री जैन सिद्धांत भवन, आरा की संपत्ति है और वहां इसका वेष्टन नं० ख २२१ है। इस प्रति में ८॥"+६॥" आकार के २४६॥ पत्र हैं और प्रत्येक पत्र में २२ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति लगभग २० अक्षर है। कागज मोटा, चिकना और काफी अच्छी स्थिति में है। इसके लिपिकार हैं श्री विद्यार्थी विजयचन्द्र जैन क्षत्रिय। ये, गौतम-गोत्रीय आर्हत ब्राह्मण श्री ब्रह्मदेव सूरि शास्त्री के सुपुत्र श्री बाहुबली जिनदास शास्त्री के शिष्य थे। श्री विजयचन्द्र ने लिपि की तिथि नहीं दी है परन्तु वह पचास वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होती। ये अधिक प्रौढ़ भी नहीं रहे दिखते क्योंकि उन्होंने लिपि में बहुत-सी अशुद्धियां की हैं। इस प्रति का प्रारम्भिक अंश यह रहा है—

"श्री वीतरागाय नमः॥ प्रमेयरत्नमाला॥ अर्थ प्रकाशिका॥

श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य वन्दित्वा पदपङ्कजम्।
प्रमेयरत्नमालार्थ. संक्षेपेणः विरच्यते॥१॥
प्रमेयरत्नमालाया व्याख्यास्सन्ति सहस्रशः।
तथापि पण्डिताचार्यकृतिर्ग्राह्यैव कोविदैः॥२॥
भानौ देदीप्यमाने ऽपि सर्वलोकप्रकाशके।
न गृह्यते किं भुवने जनेन करदीपिका॥३॥

और यह देखिये अंतिम अंश—

"श्रीमत्सुरासुर वृन्दवन्दितपादपाथोज श्रीमन्नेमीश्वर समुत्पत्ति पवित्री कृतगौतमगोत्रसमुद्भूतार्हतद्विज श्री ब्रह्मसूरि शास्त्रितनूज श्रीमद्दोर्बलि जिनदास शास्त्रिणामन्ते वासिनामेरूगिरिगोत्रोत्पन्न वि० विजयचन्द्राभिधेन जैनक्षत्रियेणालेखीति॥ भद्रं भूयात्॥ श्री॥ ०॥ श्री॥"

जैसा कि कहा जा चुका है, परिच्छेदों के अंत में 'इति परिच्छेदः' के अतिरिक्त कोई पुष्पिका वाक्य आदि नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि अर्थप्रकाशिका नव्यन्याय की एक महत्वपूर्ण कृति है। यह अभी अप्रकाशित है पर प्रकाशित होते ही विद्वन्मण्डल को इससे कुछ नवीन सामग्री अवश्य मिलेगी।

(२) वह प्रतिमा जहां मिली वहां ही राजा ने अपने नाम का उल्लेख करने वाला श्रीपुर नगर बसाया।

(३) अंबादेवी और क्षेत्रपाल का प्रसंग आदि और भी बातें हैं। इन बातों से डा० विद्याधर जी असहमत तो नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने ही इस कथा को प्रमाण के जरिये उद्धृत किया है। और सहमत हैं तो बताइये कि भावी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा मिलने वाले वह श्रीपाल दसवीं सदी के कैसे हो सकते है?

श्वे० मुनि सोमप्रभगणी (सं० १५०५) भी उस श्रीपाल का समय भ० पार्श्वनाथ के पूर्व का ही मानते हैं। फिर प्रतिमाजी की स्थापना कब की?

बाबू कामताप्रसादजी—अंतरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र के स्थान पर भगवान पार्श्वनाथ का समवशरण सहित आगमन होने को सूचित करते हैं। तो फिर श्रीपुर कब का?

"आज जहां भगवान विराजमान हैं उसी भोयरे में इस मूर्ति की स्थापना संवत ५५५ के वैशाख शु० ११ को हुई थी।" ऐसा अकोला जिले के सन १९११ के गॅजेटियर में निश्चित लिखा है। तो क्या उस लेखक के पास इस बाबत कोई प्रमाण नहीं आया होगा?

श्रीपुर नाम के अन्य दो नगरों का आपने उल्लेख किया, और संदर्भ देखकर कथन करने को सूचित किया। इसके लिए ऋणी हूं। श्रीपुर नाम के उतने ही गांव नहीं और भी हैं। एक नन्दुरबार के पास (गुजरात में) श्रीपुर (शिरपुर) है कि जहां के खेतों में श्वेताम्बर मूर्तियां मिली हैं। एक सोलापुर (महाराष्ट्र) के पास श्रीपुर है और एक वर्धा के पास श्रीपुर का उल्लेख यादव माधव काथि करते हैं।

फिर कौन से श्रीपुर का उल्लेख ग्रन्थों मे मिलता है यह कैसे समझना? जिनसेन आचार्य (८वीं सदी) जिन दिव्य नगरों में श्रीपुर का उल्लेख करते हैं वहां वे लिखते हैं कि उस नगर में एक जिनालय होता है, वहां की प्रतिमा आकाश में अधर होती है—

"तत्रस्थाऽपि तद्देशाब्दिनिष्क्रम्य नभस्यमी।
यथोपदिष्टा दृश्यन्ते सन्मुखीभूय पश्यताम्॥"११

१३६ अ० ५७

तो क्या यह श्रीपुर अंतरिक्ष का श्रीपुर नहीं हो हां, यहां एक सवाल पैदा हो सकता है कि यह उल्लेख सिर्फ अकेले श्रीपुर का नहीं तो उन ८५ दिव्य नगरों का भी है। अतः वहां भी ऐसी अंतरिक्ष प्रतिमा होने को मानना पड़ेगा। तो इसका समाधान यह ही है कि भगवान नेमिनाथ के उस जमाने में वैसा था ऐसा माने तो उसमें कोई बाधा या आपत्ति नहीं आती।

मद्रास के पास का मइलपुर (मैलपुर) एक अतिशय क्षेत्र के नाम से जैन साहित्य में उल्लिखित है। वहां के मूलनायक भगवान नेमिनाथ 'गगन स्थित, होने का वहां के स्तोत्र में स्पष्ट सूचित किया है। देखो उस स्तोत्र के पहले श्लोक का उत्तर चरण यह है—'हेमनिर्मितमंदिरे 'गगन स्थितं' हितकारणं, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नील महत्विषम्॥१॥

अतः भारत में ऐसे अनेक स्थल रहें तो उसमें बाधिक कुछ भी नहीं। इसलिए मैंने जो अनुमान किया कि अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर का अस्तित्व भ० पार्श्वनाथ के पहले से है तो इसमें कथा का विरोध कैसे आया?

शिलालेखांतर्गत श्रीपुर का उल्लेख इस क्षेत्र बावत नहीं होगा तो जाने दो, उसके लिए हमारा कोई हट नहीं है।

अब दूसरा मुद्दा है 'स्थान' का—कहीं उस धारवाड़ जिले का श्रीपुर इस मूर्ति का मूल-स्थान है (जहां एक राजा को मिली) बताते हैं। तो कहां लिखा जाता है कि अं० पा० श्रीपुर मैसूर या धारवाड़ जिले में कहीं होगा। इस बाबत पं० दरबारीलाल जी कोठिया से पत्र व्यवहार किया और मुलाकात भी हुई। मगर आपने लिखा—'आप अपने विचार प्रकाशित कीजिए। उस पर मैं विचार करूंगा।' अतः मुझे अनेकान्त का आश्रय लेना पड़ा। आश्चर्य यह था कि सन् १९६२ में आप कारंजा पधारे थे और मथुरा जैन संघ के अधिवेशन में इस क्षेत्र की चर्चा हुई है और जातिया आप अंतरिक्ष भगवान का दर्शन ले आये हैं तो भी आंखों देखे दृश्य पर आपको विश्वास नहीं आया। बस यही हाल पुराने कथा लेखक के हुए होंगे, थोड़ा भी कथन वे टाल नहीं सके। इसकी चर्चा आगे कर रहा हूं।

कोई विद्वान यह मूर्ति एलोरा से एलिचपुर जाते

समय जहां रुकी वहां ही आज अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर हैं, ऐसा मानते हैं।

जहां तक इस क्षेत्र के केवल आज के स्थान का संबंध है, वहां तक यह निर्विवाद है, कि यह अंतरिक्षजी का श्रीपुर महाराष्ट्र स्टेट के अकोला जिले में है और उसका अस्तित्व कम से कम दसवीं शताब्दी से तो आज तक अखंड है।

अब विवाद है कि दसवीं शताब्दी के एक श्रीपाल राजा ने अगर यह नगर बसाया तो पहले इस मूर्ति का वह कूप या पोखर (जहां यह मूर्ति राजा को मिली और उस जल स्नान से राजा का कोढ़ गया) कहां था?

डा० विद्याधरजी के ही शब्दों में 'और प्रतिमा मिलने पर राजा ने 'वहां' अपने नाम से श्रीपुर नगर बसाया' (यहां प्रतिमा रुकने 'पर' नहीं है), तथा जिनप्रभ सूरि के उद्धृत शब्दों मे 'तत्थेव' (तत्रैव) इस शब्द से तो यह सुनिश्चित होता है कि, जहां राजा का कोढ गया और प्रतिमा मिली वहां ही उस प्रतिमा की स्थापना हुई। याने वह कूप या पोखर कहीं मैसूर, धारवाड या एलोरा जैसे दूर अन्य स्थान में नहीं हो सकता। अतः वह प्रतिमा राजा को श्रीपुर के ही पौली मंदिर के कूप मे मिली होगी इस अनुमान में कथा का विरोधी कहां आया? विनयराज ने भी (संवत् १७३८) यही बतलाया है कि राजा ने उद्यान के कूप से वह प्रतिमा निकाली।

तीसरी बात—'अचीकरच्च प्रोत्तुगं प्रासादं प्रतिमोपरि।' इस सोमप्रभ गणी के कथन के अनुसार ही मेरा अनुमान है कि मूर्ति एलिचपुर ले जाते समय वह जहा रुकी (वह उसकी पहली जगह होगी जैसा कि गॅजेटिअर में उल्लेख है) वहां से वह चलायमान नहीं हुयी। और राजा मंदिर वहां न बांधते बगीचे में पौली मंदिर बंधाया इसलिए प्रतिमा उसमें विराजमान नहीं हुई। अतः गांव में प्रतिमा के ऊपर ही मंदिर बांधा गया। यहां राजा को गर्व होने का सवाल ही पैदा नहीं होता। वह भ्रामक कल्पना बाद में शामिल हुई होगी। क्योंकि गर्व होने का उल्लेख प्राचीन कथा में नहीं है। प्रो० खुशालचन्दजी गोरावाला कहते थे कि, मूर्ति अपने मूलस्थान पर आयी तब रुक गयी और रुकी इसीलिए राजा ने पीछे देखा कि क्यों रुकी। ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। ऐसे कई उदाहरण हैं कि मूर्ति दूसरे स्थान पर से अपने स्थान पर—या गांव में आ गई। तो वहां ही अचल हो गई। इसके लिए वे अपने गांव का भी उदाहरण देते थे।

इस तरह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के अस्तित्व का समय, स्थान तथा घटना इस पर कथानकों के आधार से ही प्रकाश डाला गया है। लेकिन एक प्रसंग का विरोध भी किया है। वह प्रसंग है—'खरदूषण (कहीं माली सुमाली) राजा ने बालू की प्रतिमा बनाकर पूजन के बाद उसको जलकूप में विसर्जित कर दी।' और इसका विरोध करने का महत्वपूर्ण कारण यह है कि, वह प्रतिमा मजबूत पाषाण की है यह अनेक प्रसंगों में और अनेक प्रमाणों से सिद्ध हुआ है। अतः वह प्रतिमा बालू की बनाई थी इस पर विश्वास नही बैठता और जहां वह प्रतिमा पाषाण की ठहरती, वहां वह उतने कम समय में और बिना शिल्पकार के नहीं बन सकती। अतः इस पर अधिक सोचने पर मालूम पड़ता है कि वह कथन कोई एक की ही कल्पना होगी या भक्ति तथा सम्यक्त्व का महिमा बढ़ाने के लिए रचित कथा होगी और उसका ही अनुकरण शेष लेखकों ने किया होगा।

कालक्रम से इस क्षेत्र का प्रथम उल्लेख करने वाले महाप्रामाणिक चूड़ामणि दिगंबराचार्य मुनि मदनकीर्ति इस क्षेत्र के उत्पत्ति और समय पर नहीं लिखते इसका भी अर्थ उस समय इस क्षेत्र के नये उत्पत्ति की भ्रामक कल्पना नहीं थी।

अपरंच, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र के श्रीपुर के साथ पं० दरबारीलाल जी ने जो सम्बन्ध इस राजा के कथानक के साथ जुड़ाया है, मानना होगा कि एक तो वह सम्बन्ध गलत होगा, या तो वह श्रीपुर भी यही विदर्भ का श्रीपुर होगा। जैसा कि पं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले ने इस स्तोत्र के श्रीपुर को विदर्भ का श्रीपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ ही माना है। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि इस स्तोत्र का रचना समय तथा कर्तृत्व भी अभी अनिश्चित या विवादस्थ है। श्री० पा० स्तोत्र के प्रकाशकीय वक्तव्य में पं० जुगल किशोर जी मुख्तार लिखते हैं

कि "अतः मेरी राय में इस स्तोत्र का कर्तृत्व विषय अभी विशेष विचार के लिए खुला है और उस तरफ विशेष अनुसंधान कार्य होना चाहिए।"

जिंतूर (जिला परभणी) की एक पुरानी पोथी में से लिया हुआ बलात्कारगण पट्टावली का कुछ भाग आगे देता हूँ। आशा है वह इस संबंध में कुछ उपयुक्त होगा।

'श्री मूलसंघ श्रीमालतिलकाय वरेण्यानां, परपरा-प्रवर्तित मलयखेड महिसिंहासनयोग्यानां, श्रीमद्राय राजगुरू वसुन्धराचार्यवर्य महावादवादीश्वररायवादी पितामह-सकलविद्वज्जन चक्रवर्तीना, 'श्रीमदमरकीर्ति' राऊलप्रियाग्र-मुख्यानां। स्वभुजो पराक्रमोपार्जित जयरमाविराजमान चारुदोर्दण्डमंडित-प्रशस्त - समस्त - वैरिभूपाल - मानमर्दन प्रचंडाशेप तुरखराजाधिराज अलावदीन सुलतान मान्य श्रीमदभिनव 'वादिविद्यानंदी' स्वामीनां। तत्पट्टोदय दिवाकर 'श्रीमदमरकीर्ति' देवानां। तत्पट्टोदयाद्रि दिवाकरायमान प्रथमवचनखण्डय 'वादीन्द्र विशालकीर्ति' भट्टारकानां तत्पट्टोदयाद्रि दिवाकरायमान श्रीमदभिनव वादि-विद्यानन्द' स्वामीनां। तत्पट्टोदयाद्रि दिवाकरायान-नित्याद्येकांत वादि प्रथम वचन खण्डन प्रवचण रचनाडम्बर षड्दर्शन स्थापनाचार्य षट् तर्क चक्रेश्वर श्रीमंत्रवादि 'श्रीमद्देवेंद्रकीर्ति' देवानां। तत्पट्टोदय देवगिरि-परमत··· ···सार्थकनाम भट्टारक श्रीमद् धर्मचन्द्र देवानां। तत्पट्टोदयाचल······भट्टारक 'श्रीधर्मभूषण' देवानां। तत्पट्टे··· 'श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति' देवानां। तत्पट्टे············भट्टारक 'श्रीकुमुदचन्द्र' देवानां। तत्पट्टे भास्करायमान···भट्टारक 'श्रीधर्मचन्द्र' देवानां। तत्पट्टे श्री·········दिवाकरायमान भट्टारक श्रीमलयखेड सिंहासनाधीश्वर भट्टारक 'श्रीधर्म-भूषण' देवानां 'श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति' तपोराज्याभ्युदय समृद्धि सिद्धिरस्तु।

इसमें दो अमरकीर्ति तथा दो विद्यानन्द का उल्लेख है। द्वितीय अमरकीर्ति—विशालकीर्ति—विद्यानन्द आदि का उल्लेख तो कई पट्टावली में है। लेकिन यहां प्रथम अमरकीर्ति और उनके शिष्य वादि विद्यानन्दी स्वामी का उल्लेख विशेष है। द्वि० विद्यानन्द की मृत्यु सं० १५६८ में हुई है। वे पट्ट पर ७५ साल तक होंगे ऐसा समझो तो भी अलाउद्दीन खिलजी का काल सं० १५२३–२४ यह नहीं है। खिलजी अलाउद्दीन को अलाउद्दीन सुलतान भी कहते हैं। वह सं० १३५१ से १३७१ तक गद्दी पर था। अर्थात् अलाउद्दीन मान्य विद्यानन्दी स्वतन्त्र है, और वे अमरकीर्ति के शिष्य भी है। अतः श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र इनकी ही कृति होगी, जैसाकि इस स्तोत्र के अंतिम पुष्पिका वाक्य में बताया है—'इति श्रीमदमरकीर्तियतीश्वर प्रिय शिष्य श्रीमद्विद्यानन्दस्वामीविरचित श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र संपूर्णम्।'

इन प्रथम विद्यानन्दी का काल इससे सं० १३६० से सं० १४०० तक हो सकता। और इनके शिष्य अमरकीर्ति (द्वि०) तथा विशालकीर्ति इनका काल एकेकका ६०–६५ साल मानो तो विद्यानन्दी और विद्यानन्द ये दो स्वतन्त्र व्यक्ति ठहरते है। वैसे तो विद्यानन्दी और विद्यानन्द नाम में खास फरक नहीं हैं, क्योंकि एक ही लेख में एकही व्यक्ति के लिए दोनों नाम आते हैं। अतः काल भिन्नता से ही ये स्वतन्त्र दो व्यक्ति सिद्ध होते है। अस्तु,

प्रसंगवश यहा यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि रामगिरि शब्द के वाच्य जैन साहित्य में अनेक हैं। जैसे—रामटेक, रामकुण्ड, रामकोण्ड, गिरणार आदि। इसका समर्थन प्रेमीजी करते हैं कि—'हमारे देश में राम शब्द इतना पूज्य है कि उसे किसी भी पूज्य तीर्थ के लिए विशेषण रूप से देना अनुचित भी नहीं।' अतः लक्ष्मी मठः स्तोत्र का उल्लेख शिरपुर के बाबत करना अनुचित नहीं होगा।

—: :—

# आचार और विचार

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन, ज्ञानपुर

[आज मानवता के सामने यह समस्या है : क्या जीवन की भिन्न-भिन्न धार्मिक पद्धतियाँ परस्पर असंगत है ? क्या उनमें समन्वय लाने का कुछ आधार सम्भव नहीं ? लेखक के विचार से यह समन्वय विचार की अनेकान्तिक तात्विकता को ग्रहण करने से हो सकता है और एक विश्व-धर्म का आधार सम्भव बनाया जा सकता है। —लेखक]

कहा जाता है कि संघर्ष ही जीवन है। संघर्ष और जीवन का तादात्म्य है। इस कहावत में केवल दो पद ही विचारणीय है—संघर्ष और जीवन। कहावत का मूल आशय यही लगता है कि इन दोनों पदों में अर्थ-वैभिन्य नहीं है। दोनों एक ही चीज के दो नाम हैं। संघर्ष एक प्रक्रिया का द्योतक है। इस प्रक्रिया में दो बातें है : एक, पर का निरोध और दूसरी स्व का विकास। तो कहावत के अनुसार, यह पर का निरोध और स्व का विकास ही जीवन है। स्व और पर के परस्पर अभियोजन का नाम जीवन है। इसमें एक प्रक्रिया है, अभियोजन जिसका हेतु है। इस अभियोजनशील प्रक्रिया के दो किनारे हैं—स्व और पर। जब तक वह प्रक्रिया स्व-अनुभूत है, वह जीवन है और जीवन का विकास भी। परानुभूत प्रक्रिया मौत है, पतन है। अतः जीवन और मौत इस प्रक्रिया के पहलू हैं। जीवंत प्रक्रिया में पर का निराकरण है और मृत प्रक्रिया में स्व का निराकरण। 'पर' पर 'स्व' की विजय जीवन और 'स्व' पर 'पर' की विजय मौत है। मौत स्व का पूरा निराकरण है। अतः स्वानुभूति मौत में निराश्रित है। अब, चूंकि मौत में स्व की अनुभूति नहीं, अतः स्व के अभाव में संघर्ष की इति है। इस प्रकार स्वानुभूति ही संघर्ष की धात्री है। स्व की विजय ही जीवन है। स्व इस तरह जीवन का प्रतीक हुआ और स्वानुभूति जीवन का आधार। इसीलिए स्वानुभूति पर आश्रित जीवन और संघर्ष का तादात्म्य है। और तब यह कि, संघर्ष ही जीवन है—एक सत्य धारणा है।

अब चूंकि जीवन स्वानुभूति पर आश्रित है और स्वानुभूति पर-प्रसङ्गाश्रित है, क्योंकि 'पर' 'स्व' का एक विरोधी विकल्प है और 'पर' की अपेक्षा ही 'स्व' स्व है। अतः पर और स्व के बारे में कोई भी निर्णय तभी वैध होगा, जबकि वह स्वानुभूति-परक हो; क्योंकि निर्णय में आत्मचेतन है और आत्मचेतना स्वानुभूति में ही निहित है। स्वानुभूति इस प्रकार हमारे सम्पूर्ण निर्णयों की मूलाधार है। तर्क-प्रवाह की वह मूल-उद्गम अथवा प्रस्थान बिन्दु है। स्वानुभूति-परक होने के नाते ही सम्पूर्ण तर्क-प्रणाली जीवंत है और संघर्षशीला भी। वह स्व और पर की निर्णायिका है, जिसका आदि और अंत स्वानुभूति में ही निहित है। अब चूंकि जीवन में स्वानुभूति है, और जीवन एक प्रक्रिया है; अतः जीवंत प्रक्रिया में स्वानुभूति अवश्य है। यह क्रिया जब स्व की ओर उन्मुख है तो वह विकास है और जब पर की ओर, तो पतन। जिन्दादिल व्यक्ति का प्रत्येक प्रयत्न विकास की छटपटाहट है। धर्म और आचार इसी छटपटाहट का नतीजा है।

अब हम कह सकते हैं कि आचार एक अभिप्रेरित प्रक्रिया है। अभिप्रेरण में एक ध्येय है और एक आवश्यकता की अनुभूति भी। ध्येय विचार पर आश्रित है। अतः निश्चय ही, आचार और विचार में नियत साहचर्य है। एतदर्थ आचार एक अभिप्रेरित विचार प्रक्रिया है। आचार प्रक्रिया में अवश्य ही विचारालोक अपेक्षित है। क्रिया बिना विचार के अंधी होती है। ऐसी क्रिया आचार के अंतर्गत नहीं आती। यह भी सही है, कि यदि कोई आचारगत प्रक्रिया बाद में विचारशून्य हो जाए, तो वह

रूढ़ि हो जाता है। रूढ़ि आचार का जनाजा है। रूढ़ि को धर्म समझने वाले व्यक्ति अज्ञानी है, मदांध (fant:c) हैं। इसीलिए भारतीय मनीषियों की निगाह में धर्म और दर्शन भिन्न चीजें नहीं, तत्त्वतः एक ही हैं। शुद्धाचार इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता।

विचार स्व की आत्मचेतना का परिणाम है। चेतना एक समुद्र है, विचार उसकी लहरें और अनुभूति उसकी गहराई। आत्मचेतन स्व अपनी उच्छ्वसित गहराई से मुक्त आकाश और उन्मुक्त काल की परिधि में अपनी सामाओं की संरचना करता है। क्योंकि जब वह अपनी गहराई से बाहर निकल उस भीमाकाश को झाँकता है, तो अपनी व्यापक गहनता को भूल इस बाह्य की विराटता से अभिभूत हो जाता है। अपने को तुच्छ समझने का भाव सम्पूर्ण स्व में व्याप्त हो जाता है। एतदर्थ भय का संचार होता है और स्व शून्य से घबड़ा कर आत्मरक्षा में संलग्न होना आरम्भ कर देता है। उसकी महत्वाकाक्षाएं दबने लगती है। तभी विचार की लहरों पर नाचता हुआ आचार का कलरव आत्मगौरव का भूला राग पुनः अलापता है; और उसके उद्बोधन पर दबती हुई महत्वाकांक्षाएं पुनः जागरुक हो उठती हैं। परन्तु आचार का उद्बोधन देश-काल-सापेक्ष होता है। स्व-सत्ता के साथ पर सत्तागत महत्वाकांक्षाओं की प्रतियोगिता होती है। उनके रलन चलन से नई-नई परिस्थितियां उत्पन्न होती है। प्रत्येक सत्ता उन्हीं नवजात परिस्थितियों में आत्मरक्षा के उद्देश्य से अपने-अपने आचार शास्त्र का निर्माण करती हैं और अपने आत्मगौरव का निशान ऊँचा करने का उद्योग करती है।

अस्तु, आचार का तात्विक कलेवर अनेकान्तिक है, ऐकान्तिक (Absolute) नहीं। आचार की कोई धारा जो एक स्थान विशेष अथवा समय विशेष के लिए अनुकूल है अथवा आत्मोकर्ष में सहायक है, यह आवश्यक नहीं, वह उतनी ही अनुकूल अन्य स्थान विशेष अथवा समय-विशेष के लिए भी होगी। आचार तो केवल जीवन की आंतरिक शक्तियों के विकास के लिए होता है। शक्तियों के विकास द्वारा व्यक्ति के अंतरंग में आनन्द-तत्त्व का प्रस्फुरण होता है जो स्वानुभूति परक है। अतः उन क्रियाओं को आचार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिससे विकास रुद्ध हो। आचरणगत धाराओं के क्रियान्वय में प्रत्येक पग पर विचार का समर्थन आवश्यक है। इस समर्थन में यह निर्णय निहित रहना अनिवार्य है, कि अमुक क्रिया प्रस्तुत देश-काल-परिस्थिति में व्यक्ति की वर्तमान अवस्था से संगति रखती है।

अपने उपरोक्त विचार को अब हम और अधिक स्पष्ट करते हैं। आचार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व है '**व्यक्ति की जीने की इच्छा**।' जो जिस स्तर पर है वह उसी के अनुसार अमर हो जाने की इच्छा रखता है। उस अमरत्व की इच्छा से '**शक्ति सम्पन्न होने की इच्छा**' उद्भूत होती है। जितनी ही शक्ति-सम्पन्नता बढ़ती है, उतनी ही अन्तर में आनन्द तत्त्व की वृद्धि होती है। इसी प्रकार व्यक्ति में विकास-प्रक्रिया जीने की इच्छा से प्रारम्भ होकर अधिकाधिक आनन्द-वृद्धि के लक्ष्य में प्रबुद्ध होती रहती है। आचार इसी प्रक्रिया का सिंचन अपनी विभिन्न धाराओं से करता है। अतः आचार्य की सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली विकास-प्रक्रिया की अभिवृद्धि हेतु है जिसकी कसौटी आनन्द वृद्धि है। अतः सम्पूर्ण आचार शास्त्र जीवन के इस मूलभूत तत्त्व से सापेक्ष है। उसका सत्य निरपेक्ष नहीं, जो किसी व्यक्ति को एकान्तिक रूप से सब कालों और स्थानों में एक तरह कुछ करने के लिए मजबूर करे। इसीलिए हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों मे उत्पन्न हुए धर्मों के आचार शास्त्रों में काफी भिन्नता है। इस्लाम धर्म का आचार शास्त्र भारतीय धर्मों के आचार से बिल्कुल भिन्न है। कारण स्पष्ट हैं। यहाँ तक कि बौद्धधर्म का आचार जो भारत में रहा बिल्कुल उसी रूप में विदेशों में कार्यान्वित नहीं हो सका। बौद्धाचार्यों को उसमें देश-काल-परिस्थिति के अनुसार संशोधन करना पड़ा। जैनाचार में भी परिस्थिति के अनुकूल बाद में संशोधन हुआ और उसी आधार पर उसमें सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। तात्पर्य यह, कि आचार के तथ्य ऐकान्तिक सत्य नहीं हो सकते।

जीने की इच्छा प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से पाई जाती है, परन्तु फिर भी उसकी अभिव्यक्ति के प्रतिमान प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उनके विचार परिपक्वण के

भिन्न-भिन्न स्तरों के आधार पर भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों में मोटे रूप से हम तीन स्तरों को मान्य किए लेते हैं। एक स्तर वह है जिसमें मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं से अधिक कुछ सोचने में समर्थ नहीं है। इसे शारीरिक या भौतिक स्तर भी कह सकते है। दूसरा स्तर वह है, जिसमें व्यक्ति स्कंधों के मध्य विभिन्न प्रकार के कारण-कार्य सम्बन्धों के प्रति जिज्ञासु हैं। इसे मानसिक स्तर कह सकते हैं। और तीसरा स्तर वह, जिसमें व्यक्ति स्व की समस्याओं के समाधान में और अपनी निरपेक्ष इकाई की खोज में लीन दिखाई पड़ता है। इसे आध्यात्मिक स्तर कह सकते है। प्रत्येक स्तर पर मनुष्य आनन्द की खोज में रत है और विकास करने के लिए उद्यत। अतः प्रत्येक स्तर का आचार शास्त्र अपना-अपना होगा। और वह वहीं पर अनुकूल भी होगा। इसीलिए सार्वभौमिक आचार शास्त्र में श्रेणी बद्धता का होना अनिवार्य है और यह श्रेणी-विभाजन विचार जनित विभाज्य धर्मो के आधार पर ही हो सकता है। विचार आचार का अनन्य सहचर है।

जो जीव जिस स्तर पर है वह स्तर उसके जीने का आधार है। अतः उसके जीने की स्पृहा का पूरा ख्याल रखते हुए उसके लिए आचार का प्रणयन होना चाहिए। भौतिक स्तर के मनुष्य को आध्यात्मिक स्तर की बात असगत होगी। ऐसे मनुष्य को यह उपदेश, कि वह आत्म-साधना करे और पूर्ण त्यागी हो जाए, अनुकूल नहीं पड़ेगा। उसके लिए तो यही उपदेश कि वह किस प्रकार अपनी व्यवस्थित ढग से रोटी कमाए और अन्य लोगों के साथ कैसे सद्व्यवहार करे काफी होगा। उसी प्रकार अन्य-अन्य स्तरों के प्राणियो के लिए भी। वस्तुतः हम किसी भी आचारगत नियम को एकान्त रूप से स्थापित कर ही नही सकते। एक कसाई को जब अहिंसा का उपदेश दिया जाएगा, तो यह कि वह कम से कम अपनी आवश्यकता के अनुसार जीव हिंसा करे। एक योद्धा से युद्ध-विरत होने रूप अहिंसा का उपदेश नहीं किया जा सकता। यह उसके स्तर के अनुकूल नहीं है। उससे यही कहा जा सकता है कि वह न्यायपूर्ण युद्ध करे। जैनाचार में एक सल्लेखना का व्रत है, जिसमे साधु इच्छापूर्वक मरण स्वीकार करता है। यह व्रत आध्यात्मिक स्तर की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए साधक के लिए ही संगत है। जो साधक स्थूल शरीर से परे अपने सूक्ष्म शरीर के माध्यम से जीने मे समर्थ हो गया है, जिसने अपनी निरपेक्ष इकाई की पूर्ण अनुभूति कर ली है, उसके लिए स्थूल शरीर एक खोल मात्र है, जिसे वह सल्लेखना के द्वारा जब चाहे छोड़ सकता है। परन्तु यदि कोई प्राणी निम्न स्तर पर है तो वह सल्लेखना व्रत पाल ही नहीं सकता। और यदि वह भावावेश में पालने को तैयार ही हो जाए तो वह कृत्य आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इसीलिए भगवान बुद्ध ने कहा कि वह पात्र की पात्रता देख कर ही उसे तदनुसार उपदेश करते हैं। आचार शास्त्र की सत्ता वस्तु सत्य से परे नहीं हो सकती, इसीलिए उसका एकान्त सत्य भी कदापि सम्भव नहीं। परन्तु व्यवहार में हम प्रायः यह भूल जाते हैं। अभी हाल में कुछ नैतिक आन्दोलनों की चर्चा सुनने व देखने में आई है। उनमें भी यही भूल पूर्णरूपेण देखने को मिलती है। प्रायः आन्दोलन का आचार्य बिना पात्र की पात्रता पर विचार किए हुए सामूहिक रूप से व्रतों की प्रतिज्ञा करवाता है, जो उस समय तो भावावेश में, तथा आचार्य के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण हो जाती हैं; परन्तु उन प्रतिज्ञाओं का पालन आगे होगा ही, यह न तो सम्भव है और न देश-काल की बदली परिस्थिति में आवश्यक ही है। हम प्रायः एकान्त में बैठ कर पहले अच्छे-अच्छे सिद्धान्तों की सारिणी तैयार करते हैं और तब उसे जन-जीवन में लागू करने निकलते है। परन्तु कार्य की यह निगमनात्मक पद्धति अधिक सार्थक नहीं लगती। वस्तुतः जन जीवन में उतर कर ही आचार शास्त्र के नियम विकसित होना अधिक श्रेयस्कर होता है, जैसा कि युग पुरुष गाधी ने किया। आचार्य भावे भी बहुत कुछ महात्मा गांधी के मार्ग पर हैं। अतीत मे भगवान बुद्ध भगवान महावीर उधर अरब में पैगम्बर मुहम्मद ने इसी आगमन पद्धति से काम लिया और वे सफल भी हुए। महावीर अपने मुख्य उपदेश देने से पूर्व एक लम्बे समय तक मौनावस्था में जन जीवन का अध्ययन करते हुए विहार करते रहे। इस मौन का अपना एक महत्व है जिसे

भुलाया नहीं जा सकता।

जब पात्र की पात्रता पर विचार किए बिना उसे किसी ऊँची आचार पद्धति की देशना दी जाती है, तो वह बेचारा शब्द-प्रमाण की आस्थानुसार अपनी वर्तमान स्थिति से विरत होकर किसी (उसके लिए) काल्पनिक स्थिति में विचार करने की निष्फल चेष्टा करने लगता है। उस मृगमरीचिका की दौड़ में वह तरह-तरह के ढोंग रचता है और अन्ततः उस धर्म की सम्पूर्ण आत्मा को बदनाम करके ही छोड़ता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह अपनी ऐहिक मनोवासनाएँ दमित करता है और उन अवदमित वासनाओं का रूपांतरण करने की क्षमता उसमें नहीं होती। फलतः उसका अज्ञात उत्तरोत्तर अतृप्ति की अवस्था में जाता हुआ पागलपन की दिशा में प्रगति करता है। और धर्म के इस गलत व्यवहार में उसका परिणाम पागलपन होता है। अस्तु, मेरे सम्पूर्ण कथन का आशय यही है कि धर्म की देशना में बहुत ही सतर्कता की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मैं निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचता हूँ :—

१. धर्म की आचार पद्धति बहुत ही विशद होनी चाहिए और उसकी प्रत्येक धारा की सापेक्षता पूरी तरह स्पष्ट होनी चाहिए।
२. धार्मिक या आध्यात्मिक गुरुओं की मान्यता आवश्यक है। गुरू ही पात्रों की पात्रता के यथार्थ निर्णायक होते हैं जो तदनुसार देशना करते हैं।
३. आचार के क्षेत्र में गुरुओं की निरंकुशता न हो। यथार्थ गुरू की परख आवश्यक है। वही गुरू, मेरी निगाह में, यथार्थ है जो स्वयं वीतराग हो और जन साधारण के विवेक का स्वागत कर उसे उचित दिशा दे। जन साधारण अपने जागृत विवेक से गुरू की प्रत्येक बात को स्वयं तौले और विवेक से समझने की कोशिश करे। विवेकहीन आचार, चाहे वह कितने ही बड़े गुरू से क्यों न दिया गया हो, अधिक लाभकर नहीं हो सकता। इस प्रकार आचार का जनतन्त्रीकरण बहुत आवश्यक है।
४. संसार के सभी आचार शास्त्रों में निहित उसकी विचार-सापेक्षता का विशद शिक्षण जन-साधारण में किया जाए और सभी का यथार्थ मूल्यांकन हो।

अस्तु, इस आधार पर मुझे विश्वास है कि संसार के सभी धर्मों का समन्वय वैज्ञानिक ढंग से हो सकता है। वही विचार जो द्वैत का व्यञ्जक है यदि आचार में ठीक प्रकार से संघटित किया जाए तो विश्व जीवन के अद्वैत सत्य की प्राप्ति का माध्यम हो सकता है।

---

## सम्बोधक पद

**कविवर रूपचन्द**

नाहि न तन को तोकों चैनु।
व्यापत जिह आहार परिग्रह, अरु व्यापत भयो मैनु।
यह तनु सार रहित जड़ जानहि, जैसे जल को फेनु।
वृथा मरत विषयनि लपटानों, जा महि लेनु न दैनु ॥१॥
पुत्र कलत्र मोह मद छायो, तेरो तीजो नैनु।
सूझत नाहीं बिन दश भीतर, यहु सबहु है रैनु ॥२॥
धरम छांड़ि कछु काम न आइह, तनु धनु संपति सैनु।
रूपचंद चित चेतहि काहि न, सुनि सद्गुरु के बैनु ॥३॥

# 'मोह विवेक युद्ध' : एक परीक्षण

डा० रवीन्द्रकुमार जैन, तिरुपति

'बनारसी नाममाला', 'बनारसी विलास', 'समयसार' एवं अर्धकथानक के अतिरिक्त 'बनारसी' नामावली कुछ और भी रचनाएँ बताई जाती हैं। इन रचनाओं के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें प्रसिद्ध कवि बनारसीदास कृत मानते हैं और अन्य विचारक इस मत का विरोध करते हैं। 'मोह विवेक युद्ध', कुछ स्फुट पद और 'माझा' (१३ पद्यों की एक रचना) में तीन रचनाएँ विवादास्पद हैं।

'मोह विवेक युद्ध' नामक रचना ११० दोहा चौपाइयों में वर्णित एक छोटा सा सम्वादमय काव्य है। यह एक लघु खण्ड काव्य भी कहा जा सकता है। इसमें मोह प्रतिनायक और विवेक नायक है। दोनों में विवाद हो जाता है। अपनी-अपनी काम क्रोध, लोभादि तथा सरलता दया, क्षमा एवं प्रेमादि की सेनाएँ लेकर दोनों में संग्राम होता है और अन्त में विवेक विजयी होता है। इस कृति के प्रारम्भ मे कहा गया है—

**बपु मैं बरणि बनारसी, विवेक मोह की सेन।**
**ताहि सुनत श्रोता सबै, मन में मानहि चैन॥**
**पूरब भये सुकबि मल्ल, लाल दास, गोपाल।**
**मोह विवेक किये सु तिन्ह, वाणी बचन रसाल॥**
**तिन तीनहु ग्रन्थनि महा, सुलभ सुलभ संधि देख।**
**सारभूत सक्षेप अब, साधि लेत हों सेख॥**

अर्थात् मेरे पूर्ववर्ती कवि मल्ल, लालदास और गोपाल द्वारा पृथक् पृथक् रचे गये मोह विवेक युद्ध के आधार पर उनका सार लेकर इस ग्रन्थ की संक्षेप में रचना करता हूँ। उक्त तीनों ही कवियों की रचनाओं के अध्ययन के लिए, हमें ऐसी भावात्मक रचनाओं की एक विस्तृत परम्परा जो ऋग्वेद से ही आरम्भ होती है समझनी होगी, तभी हम इस 'मोह विवेक युद्ध के कर्ता का निर्णय भी समुचित रूप से कर सकेंगे।

गभीर भावों को सरल एवं जनग्राह्य बनाने के लिए उन्हें रूपक में रूपान्तरित करने की परम्परा ऋग्वेद से अद्यावधिक साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। यद्यपि हृद्गत अमूर्त भावों को मूर्त पात्रों के रूप में प्रस्तुत करना, उनमें एक दृश्य काव्य की योजना भरना और सम्वादों को श्रुतिमधुर झड़ी लगा देना बहुत ही कठिन है, परन्तु प्रौढ-प्रतिभा और अनोखी संयोजना-पटुता से हमारे वरेण्य कवियों ने यह भी अत्यन्त सफलता पूर्वक कर ही दिखाया है। ऋग्वेद मे देवासुर संग्राम, पुरुरवा-उर्वशी आख्यान, श्रीमद् भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरजनोपाख्यान अपनी रूपक रचना के लिए प्रसिद्ध ही हैं। जैन ग्रन्थों में कविवर सिद्धर्षि की 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। आदि से अन्त तक इस ग्रंथ में रूपक का असाधारण ढंग से निर्वाह किया गया है।

हिन्दी में इन संवाद-रूपकों का प्रचलन श्री कृष्ण मिश्र (भद्र) द्वारा संस्कृत में रचे गये 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के अनुकरण से प्रारम्भ हुआ। इसकी रचना बारहवीं शताब्दी में हुई। हिन्दी में कविवर मल्ल ने सर्व प्रथम (१६हवीं शती में) इसका भावानुवाद प्रस्तुत किया। 'ज्ञान सूर्योदय नाटक' भी इसी समय का कुछ इसी प्रकार का प्रसिद्ध नाटक है। मल्ल कवि ने अनुवाद का नाम 'प्रबोध चन्द्रोदय मोहविवेक युद्ध' रखा। यह अनुवाद इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इसके पश्चात् कविवर लालदास और गोपालदास ने भी इसी के आधार पर 'मोह विवेक युद्ध' नामक रचनाएँ की। कहा जाता है आगे चलकर प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास ने भी उक्त तीनों कवियों (मल्ल, लालदास और गोपाल) की रचनाओं के आधार पर 'मोह विवेक युद्ध' की रचना की। जहाँ तक इन रूपकों की कथा वस्तु की बात है, वह इन सभी में प्राय: एकसी है, उसके संयोजन में अवश्य ही कहीं कहीं नाम मात्र का स्थानान्तरण हो गया है।

विवेक नायक और मोह प्रतिनायक है। प्रतिनायक अपनी पूरी सैन्य शक्ति लगा कर विवेक को परास्त करना चाहता है। परन्तु विवेक भी असाधारण शान्ति और अहिंसामय सैन्य-शक्ति से सम्पन्न है, अतः मोह के प्रत्येक आक्रमण को असफल कर देता है। प्रारम्भ में मोह और विवेक दो नृपतियों के रूप में मिलते हैं। मोह विवेक को अपनी अधीनता स्वीकार कराना चाहता है। विवेक मोह को अपना सेवक कहता है। बात बढ़ जाती है और दोनों नृपति अपनी-अपनी सेनाए लड़ाते हैं और अन्त में मोह परास्त होकर विवेक की अधीनता स्वीकार कर लेता है। काम, क्रोध, माया, ममता आदि मोह की शक्तियाँ क्रमशः निष्काम, दया, सरलता और उदारता आदि की शक्तियों से परास्त होती हैं।

जहाँ तक इन कृतियों की मौलिकता का प्रश्न है, इनमें इसका एक लम्बी सीमा तक अभाव है। मल्ल ने तो अनुवाद मात्र किया है जो मूल कृति [संस्कृत] के सम्मुख उच्छिष्ट सा लगता है। यह अनुवाद ऐसा ही है जैसा राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का। जिन्हें शाकुन्तल का यह अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला है, और जो मूल कृति भी पढ़ चुके है, वे जानते है कि इससे उन्हे कितनी निराशा होती है? फिर भी कथानक उत्तम होने से कुछ आकर्षण है ही। उक्त 'मोह विवेक युद्ध' मूल रचना की तुलना में ही छोटा पड़ता है, वैसे तो यह एक श्रेष्ठ रचना ही कही जाएगी। उक्त रचना की हस्तलिखित प्रति देखने का सौभाग्य मुझे जयपुर के दि० जैन शोध संस्थान मे मिला था। लालदासकृत 'मोहविवेक युद्ध' मल्ल कविकृत का ही संक्षिप्त रूप है—भावानुवाद मात्र है। इसमें १३५ चौपाइयाँ कुछ दोहों सहित है। इसमें नाटक जैसी अक आदि की पद्धति नहीं है। संवादों का क्रम आदि से अन्त तक रखा गया है। लालदास की रचना १७वीं शती के प्रथम चरण की प्रतीत होती है। मुझे इसकी संवत् १६६७ की एक हस्तलिखित प्रति फरवरी १९५८ में श्री अगरचन्द नाहटा के विशाल ग्रन्थालय में देखने को मिली थी। इस कृति की अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं :—

**सहज सिंहासन बैठि विवेक, सुर नर मुनि कीनो अभिषेक।**
**विमल बाजे लगत नीसान, सबकौं पावै सुख कौ दान॥**
**धर्म उदै मन निर्मल आज, सब सुख लिए विवेक को राज।**
**लालदास परकास रस, सफल भयो सब काज॥**
**विस्नुभक्ति आनन्द बढ्यौ, अति विवेक के राज।**
**तब लगि जोगी जगत गुरु, जब लग रहे उदास।**
**जब जोगी आसा लग्यौ, जग गुरु जोगी दास।**

काशी नागरी प्रचारिणी की सं० १९८० की खोज रिपोर्ट में दो लालदास नामक कवियों का उल्लेख है। एक के सम्बन्ध में लिखा है 'अयोध्या निवासी' थे, पहले बरेली में रहते थे। संवत १७२३ के लगभग वर्तमान थे। इनके विषय मे कुछ और ज्ञात नहीं। दूसरे लालदास के सम्बन्ध मे लिखा है कि आगरा निवासी बादशाह अकबर के समकालीन, संवत् १६४३ के लगभग वर्तमान, जाति के वैश्य, स्वामी अवधदास के पुत्र थे। विचारास्पद 'मोह विवेक युद्ध' (बनारसीकृत) में कवि ने अपने पूर्ववर्ती जिन लालदास का उल्लेख किया है वे आगरा निवासी लालदास ही हो सकते है। इनसे ही कवि को अपनी रचना के लिए प्रेरणा मिली होगी। अयोध्या और बरेली आगरे से पर्याप्त दूर भी है।

तीसरा 'मोह विवेक युद्ध' कविवर गोपालकृत है इसे भी दादू महाविद्यालय जयपुर में मुझे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसकी लिखाई पर्याप्त स्वच्छ है। छन्द संख्या १३१ है। अन्तिम पंक्तियाँ ये है :—

**गुरु दादू परसाद थे, मोह विवेक सुनाई।**
**वक्ता श्रोता भगतिफल, जन गुपाल गुन गाई॥**

इति श्री मोह विवेक संवादे संग्राम भगति योगिनाम प्रताप सम्पूर्ण समाप्तं। ग्रन्थ संख्या ९३३। इस कृति का लिपि संवत् नही दिया गया है; सम्भवतः अठारहवीं शती में इसकी लिपि की गई होगी। गोपाल कवि भी बनारसी दास जी के पूर्ववर्ती या समकालीन थे। दादू सम्प्रदाय के संक्षिप्त परिचय में (पृ० ७६ में) श्री मंगलदास जी स्वामी ने गोपाल कवि की मोहविवेक रचना का उल्लेख किया है और संवत् १६५० से १७३० के अन्तर्गत जयपुर के आस-पास उनकी स्थिति का उल्लेख किया है। इस कवि की रचना भी प्रबोध चन्द्रोदय के आधार पर ही है—उसीका संक्षिप्त भावानुवाद है। वही वर्णन, वे ही दृष्टान्त, उपमाएँ, वे ही संवाद और कथन शैली भी प्रायः वही है।

चौथा 'मोहविवेक युद्ध' प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास के नाम से विख्यात है। यह वीर पुस्तक भण्डार जयपुर से मुद्रित रूप में प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें ११० चौपाइयां—दोहे हैं। वीरवाणी के वर्ष ६ के अङ्क २३-२४ में श्री अगरचन्द नाहटा ने भी इसे पूरा प्रकाशित कर दिया था। जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्र-भण्डार में इसकी पांच प्रतियाँ हैं, तीन गुटकों में और दो स्वतन्त्र। जयपुर में उक्त प्रतियों में से एक प्रति मुझे ऐसी भी मिली जिसमें ११६ छन्द है। इस कृति का लिपि संवत् नहीं दिया गया है; सम्भवतः १८वीं शती की होगी।

जैन विद्वानों में इस 'मोह विवेक युद्ध' के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। कुछ इसे बनारसीदासकृत मानते है हैं। पंडित नाथूराम प्रेमी और श्री अगरचन्द नाहटा ये दो विद्वान इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। प्रेमी जी उक्त रचना को प्रसिद्ध कवि बनारसीदासकृत नहीं मानते, जब कि नाहटा जी बनारसीदासकृत ही मानते हैं। उक्त दोनों विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने अपने तर्क भी प्रस्तुत किये है। प्रेमी जी की मान्यता है कि बनारसीदास जी की अन्य रचनाएँ सभी दृष्टियों से पुष्ट हैं जबकि मोह विवेक युद्ध में भाषा, विषय और शैली का भारी शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। अतः यह रचना उक्त कवि की कदापि नहीं हो सकती। हां, इसी नाम के किसी अन्य बनारसी की भले ही हो। बनारसीदास जी की प्रारम्भिक रचना के रूप में भी वे इसे स्वीकार नहीं करते हैं। कविवर की रचनाओं के साथ इसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। न तो इसकी भाषा ही ठीक है और न छन्द ही। इसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना भी उनके साथ अन्याय करना है।" फिर बनारसीदास जी की अन्य रचनाओं में दृष्टान्त, उपमाएँ तथा पौराणिक उल्लेख प्रायः जैन पुराणों से ही आये हैं, जबकि मोह विवेक में जितने भी पौराणिक उदाहरण आये हैं वे जैन शास्त्रों-पुराणों में कहीं नहीं आते। काम कहता है—

**महादेव मोहनी नचायौ, घर में ही ब्रह्मा भरमायौ।**
**सुरपति ताकी गुरु की नारी, और काम को सकै संहारी॥**
**सिंगी रिषि सेवन महिमारे, मोतें कौन कौन नहिं हारे।**
**माया मोह तजे घर बार, मोतें भागि जांहि बनवास॥**
**कन्दमूल जे भछन कराहीं, तिनहूं को मैं छाड़ों नाहीं।**
**इक जागत सोवत मारूं, जोगी, जती, तपी संहारूं॥**

महादेव और मोहनी, ब्रह्मा और उनकी कन्या, इन्द्र और उनकी गुरुपत्नी, शृंगी ऋषि और कन्दमूल फलादि का भक्षण करने वाले जोगी, जती, तपी इत्यादि की चर्चा जैन पुराणों में कहीं नहीं आती। ऐसे ही लोभादिक (६६-६६) के अनेक प्रसंग है जिनका विवरण जैन आम्नाय से रंचमात्र भी मेल नहीं खाता। अतः निश्चित है कि यह रचना प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासकृत नहीं है।

इस कृति के बनारसीदासकृत होने में श्री अगरचन्द नाहटा कुछ युक्तियां देते है। यथा—

**श्री जिनभक्ति सुदृढ़ जहां, सदैव मुनिवर संग।**
**कहै क्रोध तहां मैं नहीं, लग्यौ सुआतम रंग॥५८॥**
**अविभचारिणी जिनभगति, आतम अंग सहाय।**
**कहै काम ऐसी जहां, मेरी तहां न बसाय॥५६॥**

इन पंक्तियों में जैनत्व की स्पष्ट छाप है साथ ही अन्त में 'वर्णन करत बनारसी समकित नाम सुहाय' से भी जैन कवि बनारसीदास ही ध्वनित होते हैं। इसी सम्बन्ध में एक बात और कही जाती है कि बनारसीदास कृत मोह विवेक युद्ध की सभी प्रतियां जैन भण्डारों में ही मिली है अतः इसके रचयिता जैन कवि बनारसीदास ही हो सकते हैं। इसी प्रकार की कुछ और भी युक्तियां हैं जिनका अब कोई महत्व नहीं रह गया है।

अभी कुछ समय पूर्व तक न जाने क्यों, संस्कारवश या श्रद्धावश कुछ धुंधली सी ऐसी ही धारणा मेरी भी बँध चली थी कि उक्त रचना बनारसीदास जी की ही होनी चाहिए। इस प्रकार सम्भवतः एक रचना को बनारसीदासकृत बना कर मैंने उसके प्रति विशेष श्रद्धा का परिचय देना चाहा था; परन्तु ऐसा करने से मेरा विवेक और मेरी आत्मा सदैव हिचकते भी रहे। मैं इसी प्रयत्न में रहा कि जब तक कोई पुष्ट प्रमाण न मिल जाय मुझे अपना मत निश्चित नहीं करना है। जब भी मैं

रचना पढ़ता तो मेरी उक्त आस्था उसके कलेवर रचना शैली एवं भाषा शैथिल्य को देख कर डिग जाती थी और यही सोचता था कि यह रचना बनारसीदास जैसे प्रौढ प्रतिभा सम्पन्न कवि की कदापि नहीं हो सकती।

सन् १६५८ के प्रारम्भ में जब मैंने दादू महाविद्यालय जयपुर में गोपालकविकृत 'मोह विवेक युद्ध' की हस्तलिखित प्रति देखी और उससे बनारसीदासकृत 'मोह-विवेक' को मिलाया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इन दोनों कृतियों में १०–२० दोहा, चौपाइयों को छोड़ कर आद्यन्त अक्षरशः साम्य है। दोहों में जहाँ गोपाल कवि की छाप है वहां बनारसी की कर दी गई है और सब ज्यों का त्यों रख दिया गया है, यदि कहीं किसी वैष्णव देवता का नाम आया है तो उसे बदलकर जैन देवता या जिन शब्द का प्रयोग किया गया है।

देखिए—

जन गोपाल—

**अविभचारिणी भक्ति जहां, गुरु गोविन्द सहाय।**
**जन गोपाल फल को नहीं, तहं पं कहुं न बसाय॥**

बनारसी—

**अविभचारिणी जिन भगति, आतम अंग सहाय।**
**कहै काम ऐसी जहां, मेरी तहं न बसाय॥**

जन गोपाल—

**हालाहलु खाहै मरं, जल में बूडै जीव।**
**प्रमदा देखत ही मरै, जन गोपाल बिन पीव॥**

बनारसी—

**विष मुख माहीं मेलं मरई, जल में बूढ़ पावक जरइ।**
**हय्यार लगै ध्यावं विष थ्याला, दृष्टि देखतं मारं बाला॥**

जन गोपाल—

**राम भगति स्वाति जहां, सीतल साधु अंग**

बनारसी—

**श्री जिन भक्ति सुदृढ़ जहां सदैव मुनिवर संग**

जन गोपाल—

**स्वामी सेवक सिख गुरु, संत मंत सब दाव।**
**हंसी चिकारी जब लगी, जन गोपाल उपाव॥**

बनारसी—

**स्वामी सेवक सिख गुरु, तंत मंत मम काज।**
**लागी लोभ सारी दुनी, तिनके धरम न लाज॥७२॥**

इस प्रकार के दोहे जिनमें कहीं-कहीं रंचमात्र का भाषा में अथवा अर्थ में अन्तर है, मुश्किल से पूरी कृति में ४–६ ही हैं। कुछ दोहे बनारसी नामावली कृति में से स्वतन्त्र भी हैं यथा—६, १०, ११ १८, ३०, ३२, ३६, ४३, ४७, ६१, ५४, ८४, ६६। कुछ चौपाइयां गोपालकृत में से बनारसी नामाङ्कित कृति में नहीं ली गई हैं। शेष सम्पूर्ण कृति में पूर्णतया (अक्षरशः) साम्य है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती गोपाल कवि की इस कृति में पूरी नकल की गई है।

इस प्रकार इन दोनों कृतियों का मिलान करने के पश्चात् यह तो निश्चित है ही कि यह कृति मौलिक नहीं है। इसमें भावों की ही नहीं अपितु भाषा, शैली आदि सभी की पूरी नकल है।

जयपुर के दादू मन्दिर से जब मैं दोनों कृतियों की तुलना करके लौट रहा था तो मेरा मन, मेरी तर्कशक्ति और हृदय न जाने कितने आवेग, आवेश, चिन्तन और घृणा में डूबने लगा, मुझे अन्त में अनेक दृष्टियों से विचार करने पर यह स्पष्ट लगा कि बनारसीदास जैसे अध्यात्म संत एवं प्रौढ प्रतिभा सम्पन्न कवि इस निन्द्य कर्म के सम्बन्ध में सोच भी न सके होंगे। निश्चित रूप से किसी मूर्ख जैन ने 'बनारसी' के नाम की छाप लगा कर और दो चार स्थानों पर जैन परक परिवर्तन करके गोपाल कवि की नकल मात्र की है और इस प्रकार बनारसीदास जी के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने का ढोंग किया है।

अतः अब निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त 'मोह विवेक युद्ध' के रचयिता प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जी नहीं हैं।

—:०:—

# दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में महाव्रत, अणुव्रत, समिति और भावना

(शब्द-भेद और अर्थ-भेद)

मुनिश्री रूपचन्द्र

भारत की तीनों साधना-धाराओं मे महाव्रतों का समान महत्व रहा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत साधना-विधि के आधारस्तंभ रहे है। पतंजलि ने अपने अष्टांग योग में इन्हें यम के रूप में, बुद्ध ने पंचशील के रूप में और महावीर ने महाव्रतों के रूप में स्थान दिया। किन्तु जैन-परम्परा में इनका जो स्वरूप और विस्तार प्राप्त होता है, वह अन्यत्र नही। इनकी समालोचित विस्तृत व्याख्याएँ, इनकी ही पोषित समितियाँ और गुप्तियाँ और व्रतों को स्थैर्य देने वाली भावनाएँ, यह समस्त विस्तार हमें जैन-वांगमय में ही उपलब्ध होता है।

**महाव्रत**

किन्तु यह विस्तार आज तक की जैन-परम्परा में क्या एकरूपता लिए है या इसमें शब्द और अर्थ की दृष्टि से भेद भी मिलता है, यह प्रस्तुत निबन्ध का विषय है। उत्तराध्ययन सूत्र में पंच महाव्रतों का नामोल्लेख इस प्रकार मिलता है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[१]। अहिंसा के लिए कहीं-कहीं प्राणातिपाति-विरति शब्द का प्रयोग भी हुआ है[२]। दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अस्तेय के स्थान पर तितिक्षा[१] और अपरिग्रह के स्थान पर संगविरति[२] शब्द का प्रयोग भी किया है। यह अवश्य है कि शब्द-भेद होते हुए भी इनके अभिधेय में कोई अन्तर नहीं रहा है। तितिक्ख-थूले का अर्थ स्थूल चौर्य का परिहार ही किया गया है—तितिक्ख-थूले या तितिक्षा-स्थूले चौर्य-स्थूले परिहार। इसी तरह संग-विरति का अर्थ भी परिग्रह-विरति ही किया गया है—संगे परिग्रहे विरतिश्च परिग्रहाद् विरमण मित्यर्थः। वस्त्र रखना परिग्रह है या नहीं यह परम्परा भेद तो स्पष्टतः है ही किन्तु इससे महाव्रत की परिभाषा में कोई अन्तर नहीं आता।

**भावना**

मुमुक्षु साधना के प्रारम्भ में पाँच महाव्रतों को साधन के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु साथ ही वे साध्य भी है। साधक को उनका भी पुनः पुनः अभ्यास करना पड़ता है। महाव्रतों में स्थिरता आए इस दृष्टि से प्रत्येक महाव्रत के लिए पाँच-पाँच भावनाओं का विधान दिया गया।[३] जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित-वासित किया जाता हैं, उन्हें भावना कहते हैं।[४] श्वेताम्बर परम्परा में भावनाओं का वर्णन

---

१. २।१२ :

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि··· ··· ··· ···॥

२. उत्तराध्ययन १६।२५

समया सव्व भूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवाय-विरई, जावज्जीवाए दुक्करा॥

---

१. चारित्र-प्राभृत २६

थूले मोसे तितिक्ख-थूले य।

२. चारित्र-प्राभृत ३०, अष्टपाहुड पृ० १००

तुरियं अबंभ-विरई पंचम संगम्मि विरई य।

३. तत्वार्थ राजवार्तिक ७।३

: तस्य स्थैर्यार्थं भावना पंच पंच।

४. पासणाह चरियं, पृ० ४६०

आचारांग, समवायांग और प्रश्न-व्याकरण में मिलता है किन्तु उनके क्रम तथा नामों में एक-रूपता नहीं है। आचारांग के अनुसार पांच महाव्रतो की पच्चीस भावनाएँ क्रमशः इस प्रकार है[1]—

**अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ**—१. ईर्या-समिति २. मन परिज्ञा, ३. वचन परिज्ञा, ४. आदान-निक्षेप समिति, ५. आलोकित-पान-भोजन।

**सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ**—१. अनु-वीचि भाषण, २. क्रोध-प्रत्याख्यान, ३. लोभ प्रत्याख्यान, ४. अभय (भय-प्रत्याख्यान), ५. हास्य-प्रत्याख्यान।

**अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ**—१. अनुवीचि-मितावग्रह-याचन, २. अनुज्ञापित-पान-भोजन, ३. अवग्रह का अवधारण, ४. अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन, ५. सार्धमिक के पास से अवग्रह का याचन।

**ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ**—१. स्त्री-कथा-वर्जन, २. स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों को न देखना, ३. पूर्व भुक्त भोगों का स्मरण न करना, ४. अति-मात्र और प्रणीत भोजन का वर्जन, ५ स्त्री आदि से संसक्त-शयनासन का वर्जन।

**अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ**—१. मनोज्ञ और अमनोज्ञ गध मे समभाव, २. मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे समभाव, ३. मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे समभाव, ४. मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव, ५. मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव।

समवायांग[2] के अनुसार भावनाओ का वर्गीकरण क्रमशः इस प्रकार मिलता है—

**१ अहिंसा महाव्रत**—१. ईया-समिति, २. मनोगुप्ति, ३. वचन-गुप्ति, ४. आलोक भाजन-भोजन, ५. आदान-मड मात्र-निक्षेपणा समिति।

**२. सत्य महाव्रत**—१. अनुवीचि-भाषणता, विचार पूर्वक बोलना, २. क्रोध-विवेक, ३. लोभ-विवेक, ४. भय-विवेक, ५. हास्य-विवेक।

**३. अचौर्य महाव्रत**—१. अवग्रहानुज्ञापता, २. अवग्रह सीमा परिज्ञान, ३. स्वयं ही अवग्रह की अनुग्रहणता, ४. सार्धमिकों के अवग्रह का याचना तथा परिभोग, ५. साधारण-भोजन आचार्य आदि को बताकर परिभोग करना।

**४. ब्रह्मचर्य महाव्रत**—१. स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन आसन का वर्जन, २. स्त्री-कथा वर्जन, ३. स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन, ४. पूर्व-भुक्त तथा पूर्व-क्रीड़ित काम-भोगों का स्मरण न करना, ५. प्रणीत-आहार का वर्जन।

**५. अपरिग्रह महाव्रत**—१. श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति, २. चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति, ३. घ्राणेन्द्रिय-रागोपरति, ४. रसनेन्द्रिय-रागोपरति, ५. स्पर्शनेन्द्रिय-रागोपरति।

प्रश्न व्याकरण[1] के अनुसार भावनाओं का वर्गीकरण यह है—

**१. अहिंसा महाव्रत**—१. ईर्या-समिति, २. अपाप मन, ३. अपाप-वचन, ४. एषणा-समिति, ५. आदान-निक्षेप समित।

**२. सत्य महाव्रत**—अनुवीचि-भाषण, २. क्रोध-प्रत्याख्यान, ३. लोभ-प्रत्याख्यान, ४. भय प्रत्याक्यान, ५. हास्य प्रत्याख्यान।

**३. अचौर्य महाव्रत**—१. विविक्त-वास वसति, २. अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन, ३. शय्या-समिति, ४. साधारण-पिण्ड-मात्र लाभ, ५. विनय-प्रयोग।

**४. ब्रह्मचर्य महाव्रत**—१. असंसक्त-वास-वसति, (असंपृक्त-वास वसति), २. स्त्री-जन में कथा-वर्जन. ३. स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन, ४. पूर्व-भुक्त भोगों की स्मृति का वर्जन, ५. प्रणीति रस भोजन का वर्जन।

**५. अपरिग्रह महाव्रत**—आचारांग में प्रतिपादित भावनाओं की तरह ही है।

तीनों वर्गीकरणों में आचारांग और प्रश्न-व्याकरण के वर्गीकरण मे काफी साम्य है समवायांग का वर्गीकरण नाम और क्रम दोनों ही दृष्टियो से कुछ भिन्नता लिए है पर भाव और प्रतिपाद्य सबका एक ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्-प्राभृत ग्रन्थ में भावनाओं

१. २।१४।४०२ ले० ने ग्रन्थ का नाम यहीं दिया।
२ समवायांग २५

१. प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार

का स्वरूप इस प्रकार दिया है१—

**अहिंसा महाव्रत**—वचन-गुप्ति, मनो-गुप्ति, ईर्या-समिति, सुदान-निक्षेप और अवलोकित-पान-भोजन।

**सत्य महाव्रत**—अक्रोध, अभय, अहास्य, अलोभ, अमोह।

यहाँ पर अनुवीचि-भाषण के स्थान पर अमोह-भावना का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने भगवान गौतम का एक श्लोक उद्धृत करते हुए इसका अर्थ भी अनुवीचि-भाषण-कुशलता ही किया है२। अनुवीचि-भाषणता से तात्पर्य है—वीचीं वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीचि भाषा, जिन सूत्राणुसारिणी भाषा, अनुवीचि भाषा पूर्वाचार्य-सूत्र-परिपाटी मनुल्लन्घ्य भाषणीय मित्यर्थः। पूर्वाचार्य और सूत्रानुसारिणी भाषा। श्वेताम्बर परम्परा में अनुवीचि भाषणता का अर्थ प्रायः अनु-विचिन्त्य भाषणं विचार पूर्वक बोलना ही किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ मे दोनों अर्थों का ग्रहण किया है३।

आचौर्य महाव्रत—शून्यागार निवास, विमोचितावास, पर-उपरोध न करना, एषणा शुद्धि, साधर्मी-संविसंवाद, सार्धमिकों के साथ विसंवाद न करना।

ये पाँचों भावनाएँ श्वेताम्बर परम्परा से सर्वथा भिन्न मिलती है—

ब्रह्मचर्य महाव्रत, महिला अवलोकन विरति, पूर्व-भुक्त का का स्मरण न करना, संसक्त वसति विरति, स्त्री-राग कथा विरति और पौष्टिक-रस विरति।

आचार्य उमास्वाति ने ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—१. स्त्री-राग-कथा-वर्जन, २. मनोहर अगनिरीक्षण-विरह, ३. पूर्वरतानुस्मरण परित्याग, ४. वृष्येष्ट-रस-परित्याग और ५. स्व-शरीर-संस्कार-त्याग।४

अपरिग्रह महाव्रत—मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में राग द्वेष का वर्जन।

### समिति

उत्तराध्ययन में पाँच समितियों का विधान इस प्रकार मिलता है—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेप समिति और उच्चार व्युत्सर्ग समिति१।

आचार्य कुन्दकुन्द ने उच्चार-व्युत्सर्ग समिति का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार पाँच समितियां ये हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप।२ और न ही निक्षेप का अर्थ उच्चार-परित्याग ही किया है।

किन्तु आचार्य उमास्वाति और वट्टकेर कुन्दकुन्द का अनुसरण करते दिखलाई नहीं पड़ते। उन्होंने उत्सर्ग-समिति का अलग से विधान दिया है।३ संभव है इन पर श्वेताम्बर परम्परा का प्रभाव रहा हो।

### अणुव्रत

उपासक दशांग प्रथम अध्ययन में हमें गृहस्थ धर्म के बारह प्रकारों का उल्लेख मिलता है। आनन्द उन बारह व्रतों को स्वीकार कर भगवान् महावीर का उपासक बनता है। वे व्रत इस प्रकार हैं—१. स्थूल प्राणातिपात प्रत्याख्यान, २. स्थूल मृषावाद प्रत्याख्यान, ३. स्थूल अदत्तादान प्रत्याख्यान, ४. स्वदार संतोष परिमाण, ५. इच्छा विधि-परिमाण, ६. दिग्-देश विरति, ७. उपभोग-परिभोग विरति, ८. अनर्थ दण्ड विरति, ९. सामायिक, १०. देशावकाशिक संवर, ११. पौषधोपवास, १२ अतिथि संविभाग व्रत।

इनमें प्रथम पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और शेष चार शिक्षाव्रत के रूप में विहित किए गए हैं। सल्लेखना को बारह व्रतों से ऊपर अलग से स्थान दिया गया है।४

दिगम्बर परम्परा मे भी श्रावक के बारह व्रतों का

---

१ षट्-प्राभृते चारित्र-प्राभृतके ३१—३५

२. चारित्र-प्राभृत—३२ :

अकोहणो अलोहो य, भय-हस्स- विवज्जिदो।
अणुवीचि-भास कुसलो य, बिदयं वद मस्सिदो॥

३. तत्त्वार्थ ७।५

४. तत्त्वार्थ ७।६

---

१. उत्तरा० २४।२

२. चारित्र प्राभृत ३६

३. तत्त्वार्थ ९।५—ईर्याभाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः
मूलाचारे मूलगुणाधिकारः १० :
इरिया भासा एसणा णिक्खेवदाणमेव समिदिओ।
पदिवावणिया य तहा उच्चारादोण पंचविहा॥

४. उपासक दशा, अध्ययन १

विधान हमें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत के रूप में मिलता है।१ किन्तु व्रतों के क्रम और नामों में पर्याप्त मतभेद हैं। बारह व्रतों में सर्वप्रथम अणु व्रत आते हैं। इनमें उल्लेखनीय नाम-भेद इस प्रकार हैं—

१—आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र प्राभृत पाँचवें अणु-व्रत का नाम परिग्गहारंभ परिमाण रखा है। जिसका तात्पर्य है परिग्रह और आरंभ दोनों का परिमाण करना। चतुर्थ अणुव्रत का नाम रखा है परपिम्म परिहार—इसका अर्थ टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने पर-स्त्री त्याग किया है। तथा प्रथम अणुव्रत का नाम उन्होंने स्थूल त्रसकाय परिहार रखा है।२

२—स्वामी समन्तभद्र ने चतुर्थ अणुव्रत का नाम परदार निवृत्ति और संतोष रखा है। पांचवें अणुव्रत का नाम परिग्रह परिमाण के साथ इच्छा परिमाण भी रखा है।३

३—आचार्य रविषेण ने चतुर्थ व्रत का नाम परदार-समागम विरति तथा पाँचवें का नाम अनन्त गर्द्धा विरति-(अनन्त तृष्णा विरति) रखा है।४

४—हरिवंशपुराण में पहले व्रत का नाम दया है।

५—आदि पुराण में पांचवे व्रत का नाम तृष्णा प्रकर्ष निवृत्ति और चौथे का नाम पर-स्त्री सेवन-निवृत्ति रखा है।५

६—पं० आशाधर जी ने चौथे व्रत का नाम स्वदार संतोप रखा है।

अणुव्रत और शिक्षाव्रतों मे नाम-भेद इस प्रकार मिलता है—

५—आचार्य कुन्दकुन्द ने दिशा-विदिशा, अनर्थ दण्ड त्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि पूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाए हैं।१

२—तत्वार्थ सूत्र में गुणव्रत और शिक्षाव्रत ये भेद न करके सात शील बतलाए हैं—दिग् विरति, देश विरति, अनर्थदण्डविरति, सामयिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परि-भोग परिमाण और अतिथि संविभाग। श्वेताम्बर परंपरा की तरह सल्लेखना को इसमें बारह व्रतों से अलग बताया गया है। सर्वार्थ सिद्धि टीका में शुरू के तीन व्रतों का नाम गुणव्रत दिया है, किन्तु शेष चार का कोई नामोल्लेख नहीं किया१।

३—रत्न करण्ड श्रावकाचार में दिग्व्रत, अनर्थ दण्ड व्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत बत-लाये है और देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य—ये चार शिक्षाव्रत बतलाए है, सल्लेखना का पृथक उल्लेख है२।

४—पद्म चरित में अनर्थ दण्ड व्रत, दिग् विदिक् त्याग, भोगोपभोग संख्यान, ये तीन गुणव्रत और सामा-यिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग और सलेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाए हैं३।

५—आदि पुराण में दिग्व्रत, देश व्रत और अनर्थ दण्ड व्रत को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग और सल्लेखना को शिक्षा व्रत बतलाया गया है।४

६—वसुनन्दि श्रावकाचार में गुणव्रत तो तत्वार्थ के अनुसार है और शिक्षा व्रत इस प्रकार हैं—भोग-विरति, परिभोग-विरति, अतिथि-संविभाग और सल्लेखना।५

इन सबका वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१—दिग्व्रत और अनर्थ दण्ड व्रत को गुण व्रत सबने माना है। सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथि सविभाग को वसुनन्दि के सिवाय सबने शिक्षा व्रत मे स्वीकार किया है। वसुनन्दि सामायिक और प्रोषधोपवास के स्थान में भोग विरति और परिभोग विरति पढ़ते है।

२—शेष रह जाते हैं—देशव्रत (देशावकाशिक), भोगोपभोग-परिमाण और सल्लेखना।

---

१.
२. चारित्र प्राभृत २३
३. रत्नकरण्ड, श्लोक १३, १४
४. पद्मचरित्र प० १४ श्लोक १८४, १८५
५. आदि पुराण पर्व १०, श्लोक ६३
६. चारित्र प्राभृत, गा० २४,२५

१. अध्ययन ७, सूत्र २१
२. श्लोक ६७, ६१
३. पर्व १४, पृ० १९८, १९९
४. पर्व १०, पृष्ठ ६५, ६६
५. गाथा २१३ आदि

श्वेताम्बर परम्परा ने देशावकाशिक को शिक्षा व्रतों में स्थान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द देशव्रत नहीं मानते। समन्तभद्र इसे शिक्षा व्रतों में ही गिनते हैं, जबकि तत्वार्थ में देश-व्रत को गुण व्रतों में गिना गया है, यद्यपि उसमें गुण व्रत और शिक्षा व्रत व्रतों के ये दो भेद नहीं किए गए।

३—भोगोपभोग परिमाण व्रत को श्वेताम्बर परम्परा ने गुण व्रतों में ही गिना है। दिगम्बर परम्परा मे कई इसे गुण व्रत रूप में स्वीकार करते हैं, कई शिक्षा व्रत मे।

४—सल्लेखना को सभी मानते हैं। किन्तु श्वेताम्बर पराम्परा इसे व्रतों में नहीं, व्रतों से ऊपर अलग से इसका उल्लेख करती है। आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा इसे शिक्षा व्रतों में स्थान देती है, जबकि तत्वार्थ सूत्र और रत्नकरण्ड इसे श्वेताम्बर परम्परा की तरह ही मानते है।

अणु व्रतों का ही गुण वर्धन करने वाले व्रतों को गुणव्रत कहा गया है।१ रत्नकरण्ड और सागार धर्मामृत में भी गुण व्रतों की व्याख्या इसी प्रकार मिलती है।

जो अभ्यास के लिए हों, वे शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत में स्पष्टतः अन्तर यह है कि शिक्षाव्रत स्वल्प कालिक होते हैं, और अणुव्रत प्राय जीवन पर्यन्त+ होते है।

पहला शिक्षाव्रत है सामायिक। वह सावद्य-योग विरति रूप होता है। हरिभद्र ने आवश्यक वृत्ति में सामायिक किसके होती है, का विश्लेषण देते हुए कहा है—जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में सामायिक-सन्निहित है, उसके सामायिक होती है। सामायिक का काल—मान एक मुहूर्त है। रत्नकरण्ड मे सामायिक का विधि निर्देश इस प्रकार दिया गया है—एकान्त स्थान में, वन मे, मकान या चैत्यालय में बाह्य व्यापार से मन को हटाकर तथा पर्यंकासन में स्थिर होकर अन्तरात्मा में लीन होना सामायिक है।

पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि में और अकलंक ने तत्त्वार्थ वार्तिक में समय का अर्थ एकत्व रूप से गमन किया है और उसे ही सामायिक कहा है। अर्थात् मन, वचन और काया की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्म-द्रव्य में ही लीन होना सामायिक है। आचार्य सोमदेव ने उपासकाध्ययन में 'समय' का अर्थ आप्त सेवा का उपदेश किया है। और उसमें जो क्रिया की जाती है, वह सामायिक है। इसके अनुसार स्नान, अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान आदि सब सामायिक के अंग है। वस्तुतः मन, वचन और काया को एकाग्र करके साम्यभाव की वृद्धि के लिए ही सामायिक का विधान किया गया है।

देशावकाशिक में दिग्व्रत और उपभोग-परिभोग व्रत का ही विस्तार प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास का अर्थ है—उपवास रखकर प्रोषध का अभ्यास करना। इसमें सम्पूर्ण दिन-रात्रि के लिए चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान होता है। इसके साथ ही अब्रह्मचर्य, रत्न स्वर्ण माला, रंग, विलेपन, शस्त्र आदि सावद्य व्यापार का प्रत्याख्यान होता है। रत्नकरण्ड में प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन किया है और उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार का परित्याग किया है। जो उपवास करके एक बार भोजन करता है वह प्रोषधोपवास के दिन पांचों पापों का अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान आदि का त्याग किया जाता है।

सर्वार्थ सिद्धि (७।२१) मे प्रोषध का अर्थ पर्व किया है और जिसमे पाँचों इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से विमुख होकर रहती हैं, उसे उपवास कहा है। उसमें कहा गया है—"अपने शरीर संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदि को त्यागकर शुभ स्थान में साधुओं के निवास-स्थान में, चैत्यालय में अथवा अपने उपवास गृह में धर्म-कथा में मन एकाग्र कर श्रावक को उपवास करना चाहिए और किसी प्रकार का आरम्भ नहीं करना चाहिए।"

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में और कहीं-कहीं एक ही परम्परा में भी महाव्रत, समिति, भावना और अणुव्रतों में चले आ रहे शब्द-भेद और अर्थ-भेद का एक चित्र हमारे समक्ष आ जाता है।

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका,

\+ अणुव्रतानां गुण वर्धकत्वाद् गुणव्रतम्।

# भूधरदास का पार्श्वपुराण : एक महाकाव्य

श्री सलेकचन्द जैन एम० ए०, बड़ौत

कविवर भूधरदास ने पार्श्व पुराण की रचना वि० सं० १७८६ आषाढ़ सुदी ५ को आगरा में की थी१। भूधरदास आगरा के रहने वाले थे। उनका जन्म खण्डेलवाल नाम की एक जैन उपजाति में हुआ था। वे मध्य कालीन हिन्दी के सिद्धहस्त कवि थे। उनकी रचनायें प्रसाद गुण की साक्षात् प्रतीक हैं। उनमें हृदय की गहरी अनुभूति है। उनकी अनेकानेक मुक्तक कृतियां उपलब्ध हुई हैं, जिनका संकलन 'जैन शतक' और 'भूधरविलास' के नाम से बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुका हैं। उन्होंने 'पार्श्वपुराण' नाम का केवल एक ही महाकाव्य लिखा है। यह चरित काव्य है. इसकी प्रशंसा करते हुए पण्डित नाथूराम प्रेमी ने लिखा था, "हिन्दी के जैन साहित्य में यह ही एक चरित ग्रन्थ है, जिसकी रचना उच्च श्रेणी की है और जो वास्तव में पढ़ने योग्य है।"२ अब तो अन्वेषण के फलस्वरूप मध्यकालीन जैन हिन्दी के अनेक महाकाव्य प्राप्त हुए हैं। वे उत्तम काव्य के निदर्शन हैं, किन्तु उनमें 'पार्श्वपुराण' जैसी सरलता नहीं है।

**पूर्व परम्परा और शैली**

प्राकृत और अपभ्रंश के जैन महाकाव्यों में दो प्रकार की शैली अपनाई गई है— रोमांचक और पौराणिक। रोमांचक शैली के महाकाव्यों में युद्ध और प्रेम की विविध प्रवृत्तियों का वर्णन हुआ है। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने 'ऐनसाईक्लोपीडिया आफ लिटरेचर' में 'लीलावईकहा' को प्राकृत का पहला रोमांचक काव्य कहा है३। मुनि जिनविजय जी का भी ऐसा ही कथन है। इसमें प्रेम की गम्भीरता और विनय की महत्ता, रस और भाव की, सौन्दर्य के साथ, अभिव्यक्ति हुई है।

इसी भाँति अपभ्रंश की 'भविसयत्त कहा' (धनपाल), 'णायकुमार चरिउ' (पुप्फयंत), 'सुदंसण चरिउ' (नयनंदि) आदि रचनाये भी रोमांचक शैली में ही लिखी गई है। आगे चलकर जायसी का पद्मावत, रायचन्द का सीता चरित और लालचन्द लब्धोदय का पद्मनी चरित्र इसी शैली की देन है।

पौराणिक शैली में लिखे गये जन महाकाव्य दो भागों मे विभक्त किये जा सकते है—एक तो वे जिनमें ६३ शलाका महापुरुषों का जीवनचरित पूर्वभवों के साथ प्रस्तुत किया गया है। एक ही महापुरुष के जीवन चरित को रखने के भी दो ढग थे—एक तो रामायण और महाभारत—जैसा और दूसरा रघुवंश-सरीखा। रामायण और महाभारत में महाकाव्यों का विकसनशील रूप दृष्टिगोचर होता है, उनमें अलकृत रूढिबद्ध काव्यात्मक शैली के दर्शन नहीं होते। राम और कृष्ण को लेकर लिखे गये जैन महाकाव्यों में अनेक काव्यरूढ़ियाँ प्राकृत और सस्कृत की देन हैं, फिर भी स्वयभू के 'पउमचरिउ' और पुष्पदत के महापुराण में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया, जिनसे हिन्दी के महाकाव्य, यहाँ तक कि तुलसी का मानस भी प्रभावित है। राहुल साकृत्यायन ने 'मानस' को 'पउमचरिउ' से प्रभावित माना है।* सूरसागर के अनेक पद्य

१. संवत् सतरह सै समय, और नवासी लीय।
मुदी आषाढ़ तिथि पचमी, ग्रथ समापत कीय॥
(पार्श्वपुराण, अन्तिम दोहा)

२. पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, जनवरी १९१७, पृ० ५६।

३. Encyclopaedia of Literature, Vol. 1. P.489

* "तुलसी बाबा ने स्वयंभू रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोपि' से स्वयंभू रामायण की ओर ही संकेत किया है।"
राहुल साकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, प्रथम संस्करण १९४५—प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद, पृ० ५२

पुष्पदंत के महापुराण की छाया भर-से प्रतीत होते हैं। पौराणिक शैली में लिखा गया विमलसूरि (पहली शताब्दी विक्रम का 'पउमचरिय' पहला जैन महाकाव्य है।

एक ही महापुरुष के जीवनचरित को लेकर चलने वाले दूसरे महाकाव्य वे हैं जो जैन परम्परा में स्वीकृत ढंग को लेकर चले हैं, उनकी शैली रूढ़िबद्ध है। उनकी कथा को कवि अपनी कल्पना शक्ति से, मनचाही दिशा की ओर नहीं मोड़ सकता। सभी में नायक के पूर्वभव और यदि तीर्थकर हुआ तो पंच कल्याणकों का निरूपण अवश्य रहता है। यद्यपि इनके विषय प्रतिपादन का उद्देश्य बोध प्रदान होता है, किन्तु नायक के जीवन से सम्बन्धित घटना और पात्रों का काव्यात्मक तथा अलंकृत ढग से वर्णन रहता है, अतः उनमें सरसता और आकर्षण की भी कमी नहीं रह जाती है। वीरकवि का 'जम्बूस्वामीचरिउ' (अपभ्रंश) और हरिभद्र का नेमिनाह चरिउ (अपभ्रंश) इस शैली के जीवन उदाहरण हैं। भूधरदास का पार्श्व पुराण भी इसी परम्परा का प्रतीक है। उसमें जैनों के २३ वें तीर्थकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित रूढ़िबद्ध रूप से ही निरूपित किया गया है। कथा में कहीं यत्किंचत् भी परिवर्तन नहीं है। उसमें प्रसाद गुण, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक दृष्टान्त और अनुप्रासों की स्वाभाविक छटा प्राकृतिक दृश्यों का नैसर्गिक चित्रण, और विविध भावों का चित्रवत् उपस्थित करना नितान्त मौलिक है। इसी कारण पार्श्वपुराण, पुराण होते हुए भी महाकाव्य है।

**कथानक—**

पार्श्वनाथपुराण में दो भाइयों के बैर की कथा है। भरत क्षेत्र के प्रसिद्ध नगर पादनपुर के राजा अरविन्द के मन्त्री विप्र विश्वभूति थे। उनके दो पुत्र हुए—कमठ और मरुभूति। पहला कपूत था और दूसरा सपूत। विश्वभूति के उपरान्त मरुभूति ही मन्त्री बना। एक बार मरुभूति राजा अरविन्द के साथ राय वज्रवीरज पर आक्रमण करने नगर के बाहर चला गया। राज्य कमठ के हाथ में रहा। उसने अत्याचार किए। मरुभूति की पत्नी विसुन्दरी उस समय की सर्वोत्कृष्ट सुन्दरी थी। किसी भांति कमठ ने उसे देख लिया। कमठ उद्यान-स्थित महल में चला गया और वहां से अपनी बीमारी का समाचार विसुन्दरी के पास भिजवाया। वह अपने जेठ को देखने वहां चली गई। उसके साथ कामचेष्टायें की गई।

लौटने पर राजा को सभी समाचार विदित हुए। उसने मरुभूति के इन्कार करने पर भी कमठ को अपमान के साथ देश से निकाल दिया। वह एक पर्वत पर जाकर पाखण्डी साधु बन गया। मरुभूति ने जब यह सुना तो भ्रातृ-प्रेम से अनुप्राणित हो उसके पास गया। उसने एक पत्थर डाल कर मरुभूति को मार डाला। आगे नौ भवों तक दोनों भाइयों का बैर निरन्तर चलता रहा। एक भाई कभी देव, कभी विद्याधर, कभी चक्री नरेश और कभी इन्द्र बनता रहा तो दूसरा कभी दुष्ट सर्प, कभी अजगर, कभी नारकी, कभी दुर्दान्त सिंह और कभी क्रूर मानव के रूप में जन्म लेता रहा। पार्श्वपुराण के तीन अध्याय इन नौ भवों का वर्णन करने में खप गये हैं।

दसवें भव में मरुभूति का जीव, आनत स्वर्ग के इन्द्र पद से चल कर, बनारस के राजा अश्वसेन की पत्नी वामा देवी के गर्भ में अवतरित हुआ। कमठ का जीव भी पंचम नरक से निकल कर महीपालपुर का नृप हुआ। वामादेवी उसी की पुत्री थी। मरुभूति के जीव ने तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया था, अतः वामादेवी के गर्भ में आने के छः माह पहले से ही इन्द्र के आदेश से धनपति ने साढ़े तीन करोड़ रत्नों की प्रतिदिन वर्षा की और बनारस नगरी को अनुपम रूप में सजाया। वामादेवी ने १६ स्वप्न देखे जो तीर्थङ्कर के उत्पन्न होने का संकेत चिह्न थे। वैशाख के कृष्णपक्ष में, द्वितीया के दिन निशावमान में, भगवान् गर्भ में आये। इन्द्र के द्वारा प्रेरितरुचिकवासिनी देवियाँ तीर्थङ्कर की माँ की विविध भाँति सेवा कर उठीं।

वामादेवी के पौष मास, एकादशी, श्याम पक्ष, शुभ वार में पुत्र उत्पन्न हुआ। इन्द्र देव परिवार सहित जन्मोत्सव मनाने आया। उसने बाल भगवान् को सुमेरूपर्वत पर ले जाकर, क्षीरसागर के १००८ कलशों से स्नान कराया। लौटने पर महाराज अश्वसेन के घर इन्द्र के तांडव नृत्य और आनन्द नाटक अद्भुत थे। महाराज ने स्वयं भी पुत्र जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया। बालक शनैः शनैः बढ़ने लगा और विविध बालचेष्टाओं में समय भी सरकता गया। यौवन आया, विवाह के लिए इन्कार कर दिया।

राजकुमार पार्श्वनाथ अपने साथियों के साथ वन के लिए भी जाया करता था। एक बार वे वन केलि से लौट रहे थे कि एक साधु को अग्नि कुण्ड में डालने के लिए लकड़ी चीरते हुए देखा। उन्होंने कहा कि इस लकड़ी में एक नाग जोड़ा है इसे मत चीरो, किन्तु वह न माना और नाग दम्पत्ति के प्राण समाप्त हो गये। वह साधु पार्श्वनाथ का नाना राजा महीपाल था, जिसने अपनी पत्नी की मृत्यु से वैराग्य धारण कर लिया था और बनारस के समीपस्थ वन में तप कर रहा था। पार्श्वनाथ को देखते ही उसका पूर्व वैर उदित हो आया और वह क्रोध में भरकर लकड़ी चीर उठा। क्रोधवशात् ही उसने राजकुमार के कथन को नहीं माना। नागदम्पत्ति मरकर धरणेन्द्र और पद्मावती हुए जो नागलोक के राजा और रानी थे। कालान्तर मे साधु मरकर ज्योतिषी देव हुआ।

समय पाकर पार्श्वनाथ में वैराग्य का भाव उदित हुआ। लौकान्तिक देवों ने उसे और भी पुष्ट किया। वे चार निकायों के इन्द्रों के द्वारा मनाये गये महोत्सवों के साथ जिन दीक्षाधारण कर, वन मे तप करने चले गये। एक बार पार्श्वनाथ योगमुद्रा में कायोत्सर्ग धारण किये खड़े थे। उधर से कमठ का जीव सम्बर नाम का ज्योतिषी निकला। पूर्वभव के बैरस्मरण से उसने घोर उपसर्ग किया। फणीश धरणेन्द्र का आसन कांपा। वह पद्मावती को लेकर रक्षा करने आया। ज्योतिषी देव भाग गया। भगवान् को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। धनपति ने समोसरण की रचना की। भगवान् ने दिव्य उपदेश दिया और फिर विहार किया। अन्त में आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर उनका निर्वाण हो गया।

इस महाकाव्य की कथा में पार्श्वनाथ के जन्म से ही नहीं, अपितु नौ भवपूर्व से निर्वाण पर्यन्त का वर्णन है। नौभवों की कथाओं में से प्रत्येक कथा सरस है। इन कथाओं को ही अवान्तर कथा कहा जा सकता है। उनके संयोग से मुख्य कथानक में और अधिक सरलता आई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अवान्तर कथायें रस की पिचकारियाँ होती हैं। इन कथाओं ने भी रस की वर्षा की है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के अनेक महापुराणों में ये अवान्तर कथायें एक जटिल जालसा बन गई हैं। एक कथा से दूसरी कथा निकलती गई है और इस भाँति रस की गति अवरुद्ध होकर मृतप्राय: सी हो गई है। पार्श्व-पुराण मे एक भव के लिए एक ही कथा है। कोई-कोई कथा तो एक चित्रसी प्रतिभासित होती है। यद्यपि मुख्य कथानक में पार्श्वनाथ के पंच कल्याणकों का विवेचन रूढि बद्ध ही है, किन्तु धरणेन्द्र और पद्मावती की कथा के संयोग से उसमें रुचिरता उत्पन्न हुई है। कथा के परम्परा-नुगत होने पर भी, प्रस्तुत करने के ढग और विशेषकर चित्रमयता तथा दृष्टातों की छटा ने ग्रन्थ को मौलिक बना दिया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के नाटकों में कथानक किसी न किसी प्राचीन कथा से लिए गये हैं[1] किन्तु नायकों के केवल स्वगत कथनों ने उन नाटको को मौलिकता प्रदान की है। पार्श्वपुराण की घटनाओं का चित्रवत् प्रस्तुतीकरण दृष्टान्तों की सहायता से विस्तार का परिहार, भाषा की सरलता और प्रवाहमयता ही उसकी नवीनता है।

**चित्रांकन—**

मरुभूति का जीव सल्लकी वन में वज्रघोष नाम का हस्ती हुआ। उधर राजा अरविन्द वैराग्य धारण कर दिगम्बर मुनि बन गये। एक बार वे 'सारथ वाही' के संग शिखर सुमेरु की वंदना के लिए चले। सल्लकी वन मे पहुँचे और कुछ समय के लिए संघ सहित ठहर गये। गजराज वज्रघोष ने गर्जना करते हुए संघ पर आक्रमण कर दिया। काल के समान क्रोधित हाथी को देखकर संघ में खलबली मच गई। लोग भागने लगे। गज का जिसे भी धक्का लग गया, वह परलोक पहुँच गया। मार्ग के थके हुए घोडे, बैल और गधों को उसने मार डाला। इस प्रकार संहार करता हुआ वह हाथी विकराल रोष विष से भरा हुआ मुनि के सम्मुख आया। उसने ज्यों ही सुद-र्शन मेरु के समान और वृक्ष है चिह्न जिसके वक्षस्थल में ऐसे मुनिराज को देखा और शान्त हो गया। मुनि के उपदेश से उसने अणुव्रत धारण किये।

---

1. Shakespeare in almost every instance derived his plots from Somebody else's work. DAVID DAICHES A critical His story of English Literature Valume I Ed. 1960-Page 249.

कमठ का जीव नरक में गया। नारकियों ने ज्यों ही नये नारकी को देखा, मारने के लिए दौड़े। वे विविध आयुधों से उसके शरीर को खंड-खड कर देते थे और वे खडित टुकड़े पारे के समान फिर मिल जाते थे। नारकी उसके चरणों को कभी तो कांटों से छेद डालते थे, कभी उसके अस्थिजाल को चूर-चूर कर देते थे और कभी उसकी खाल को उघार कर कुचल डालते थे। कभी कुठार पकड़ कर उसको काठ के समान चीर देते थे, कभी उदर को विदीर्ण करके अन्तरमालिका तोड़ डालते थे, कभी कोल्हू में पेल देते थे, कभी काँटों की शय्या पर सुलाते थे। और कभी शूली पर रख देते थे। इस भाँति इस महाकाव्य में रूढिबद्ध होते हुए भी नरक का वर्णन साक्षात् कर दिया गया है।

बनारस के राजा अश्वसेन की पत्नी का नाम था वामादेवी उसका रूप अनुपम था, वह सब गुणों से भरपूर थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे रूप जलधि की बेला ने ही जन्म ले लिया हो। उसमें नख से शिख तक अकृत्रिम सुहाग पुलकित हो रहा था। उसकी देह सब सुलक्षणों से मंडित थी, वह तीन लोक की स्त्रियो का शृङ्गार थी। वह मधुर भारती का तो अवतार ही थी। उसके आगे रम्भा दीन सी प्रतिभासित होती थी। रोहिणी का रूप क्षीण हुआ सा प्रतीत होता था और इन्द्रवधु ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे रविद्युति के आगे दीपक की लौ१। वह शील-सम्पदा की निधि थी; सज्जनता की अनुपम अवधि थी कला और सुबुद्धि की सीमा थी। उसका नाम लेने से पाप दूर हो जाते थे, क्योंकि वह महापुरुष रूपी मुक्ता को धारण करने वाली सीप थी१।

जब इन्द्र ने यह जाना कि वामादेवी के गर्भ में तीर्थंकर उतरने वाले हैं तो कुलगिरि कमलवासिनी देवियों को उनके पास भेजा। उनमें 'श्री' नाम की देवी को लेडी डा० ही कहना चाहिए। उसे वामादेवी के गर्भ को शुद्ध बना देना था। उसका कांतिवान शरीर लावण्य से भरा था। महाराज अश्वसेन के प्रसाद में आकाश से उतरती हुई वे ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो नभदामिनी ही उतर रही हो२, उसका अंग-अंग शृंगार सजा हुआ था, उनके पास आश्चर्यजनक रूपसम्पदा थी। उनके माथे पर चूड़ामणि जगमगा रहा था।

जिसे देख चकाचौधसी लगती थी। उनके वक्षस्थल पर कल्पवृक्षों के पुष्पों की माल थी, जिसकी सुगन्धि दशों दिशाओं मे फैल रही थी। उनके पैरों से घुंघुरुओं की 'श्रवण सुखद' झंकार उठ रही थी, उसकी मधुरता अवर्णनीय है।

भगवान के गर्भ में अवतरित होने पर इन्द्र ने रुचिक वासिनी देवियों को जिन-जननी की सेवा के लिए भेजा। ये देवियाँ तेरहवे रुचक नाम के द्वीप मे, रुचक पर्वत के शिखर कूटों में रहती थीं। उन्होंने इस सेवा को अपना परम सौभाग्य ही माना। कोई माँ का स्नान-विलेपन करती थी और कोई शृंगार सजाती थी। कोई भूषण वसन पहनाती थी, कोई भोजन कराती थी, कोई पान खिलाती थी और कोई सुन्दर गाना गाती थी३ कोई माँ

---

पार्श्वपुराण पं० भूधरदास, प्र० जिनवाणी कार्यालय कलकत्ता

१—नखशिख सुहागिनी नार।
तीन लोक तिय तिलक सिंगार॥
सकल सुलच्छन मंडित देह।
भाषा मधुर भारतीय येह॥
रम्भा रति जिस आगे दीन।
रोहिनि रूप लगै छवि छीन॥
इन्द्र वधु इमि दीसे सोय।
रवि दुति आगे दीपक लोय॥
—पंचम अधिकार पृष्ठ सं० ४५

१—सज्जनता की अवधि अनूप।
कला सुबुधि की सीमा रूप॥
नाम लेत अघ तजै समीप।
महापुरुष मुक्ता फल सीप॥
—पंचम अधिकार, पृ० सं० ४५

२—महाकांत तन लावन भरी।
मानो नभ दामिनी अवतरी॥
अंग अंग सब सजे सिंगार।
रूप सम्पदा अचरज कार॥

३. पार्श्वपुराण भूधरदास जिनवाणी कार्यालय, कलकत्ता।
आई भक्ति नियोगिनी देवी, जिन जननी की सेव भजें।
कोई नहान विलेपन ठानै, कोई सार सिंगार सजैं।

राजकुमार पार्श्वनाथ अपने साथियों के साथ वन के लिए भी जाया करता था। एक बार वे वन केलि से लौट रहे थे कि एक साधु को अग्नि कुण्ड में डालने के लिए लकड़ी चीरते हुए देखा। उन्होंने कहा कि इस लकड़ी में एक नाग जोड़ा है इसे मत चीरो, किन्तु वह न माना और नाग दम्पत्ति के प्राण समाप्त हो गये। वह साधु पार्श्वनाथ का नाना राजा महीपाल था, जिसने अपनी पत्नी की मृत्यु से वैराग्य धारण कर लिया था और बनारस के समीपस्थ वन में तप कर रहा था। पार्श्वनाथ को देखते ही उसका पूर्व वैर उदित हो आया और वह क्रोध में भरकर लकड़ी चीर उठा। क्रोधवशात् ही उसने राजकुमार के कथन को नहीं माना। नागदम्पत्ति मरकर धरणेन्द्र और पद्मावती हुए जो नागलोक के राजा और रानी थे। कालान्तर मे साधु मरकर ज्योतिषी देव हुआ।

समय पाकर पार्श्वनाथ में वैराग्य का भाव उदित हुआ। लौकान्तिक देवों ने उसे और भी पुष्ट किया। वे चार निकायों के इन्द्रों के द्वारा मनाये गये महोत्सवों के साथ जिन दीक्षाधारण कर, वन मे तप करने चले गये। एक बार पार्श्वनाथ योगमुद्रा में कायोत्सर्ग धारण किये खड़े थे। उधर से कमठ का जीव सम्बर नाम का ज्योतिषी निकला। पूर्वभव के बैरस्मरण से उसने घोर उपसर्ग किया। फणीश धरणेन्द्र का आसन कांपा। वह पद्मावती को लेकर रक्षा करने आया। ज्योतिषी देव भाग गया। भगवान् को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। धनपति ने समोसरण की रचना की। भगवान् ने दिव्य उपदेश दिया और फिर विहार किया। अन्त में आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर उनका निर्वाण हो गया।

इस महाकाव्य की कथा मे पार्श्वनाथ के जन्म से ही नहीं, अपितु नौ भवपूव से निर्वाण पर्यन्त का वर्णन है। नौभवों की कथाओं में से प्रत्येक कथा सरस है। इन कथाओं को ही अवान्तर कथा कहा जा सकता है। उनके संयोग से मुख्य कथानक में और अधिक सरलता आई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अवान्तर कथायें रस की पिचकारियाँ होती है। इन कथाओं ने भी रस की वर्षा की है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के अनेक महापुराणों में ये अवान्तर कथायें एक जटिल जालसा बन गई हैं। एक कथा से दूसरी कथा निकलती गई है और इस भाँति रस की गति अवरुद्ध होकर मृतप्रायः सी हो गई है। पार्श्वपुराण में एक भव के लिए एक ही कथा है। कोई-कोई कथा तो एक चित्रसी प्रतिभासित होती है। यद्यपि मुख्य कथानक में पार्श्वनाथ के पंच कल्याणकों का विवेचन रूढि बद्ध ही है, किन्तु धरणेन्द्र और पद्मावती की कथा के संयोग से उसमें रुचिरता उत्पन्न हुई है। कथा के परम्परानुगत होने पर भी, प्रस्तुत करने के ढग और विशेषकर चित्रमयता तथा दृष्टातों की छटा ने ग्रन्थ को मौलिक बना दिया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के नाटकों में कथानक किसी न किसी प्राचीन कथा से लिए गये हैं[1] किन्तु नायकों के केवल स्वगत कथनों ने उन नाटकों को मौलिकता प्रदान की है। पार्श्वपुराण की घटनाओं का चित्रवत् प्रस्तुतीकरण दृष्टान्तों की सहायता से विस्तार का परिहार, भाषा की सरलता और प्रवाहमयता ही उसकी नवीनता है।

**चित्रांकन—**

मरुभूति का जीव सल्लकी वन में वज्रघोष नाम का हस्ती हुआ। उधर राजा अरविन्द वैराग्य धारण कर दिगम्बर मुनि बन गये। एक बार वे 'सारथ वाही' के संग शिखर सुमेरु की वंदना के लिए चले। सल्लकी वन मे पहुँचे और कुछ समय के लिए संघ सहित ठहर गये। गजराज वज्रघोष ने गर्जना करते हुए संघ पर आक्रमण कर दिया। काल के समान क्रोधित हाथी को देखकर संघ में खलबली मच गई। लोग भागने लगे। गज का जिसे भी धक्का लग गया, वह परलोक पहुँच गया। मार्ग के थके हुए घोड़े, बैल और गधों को उसने मार डाला। इस प्रकार संहार करता हुआ वह हाथी विकराल रोष विष से भरा हुआ मुनि के सम्मुख आया। उसने ज्यों ही सुदर्शन मेरु के समान और वृक्ष है चिह्न जिसके वक्षस्थल में ऐसे मुनिराज को देखा और शान्त हो गया। मुनि के उपदेश से उसने अणुव्रत धारण किये।

---

1. Shakespeare in almost every instance derived his plots from Somebody else's work. DAVID DAICHES A critical History of English Literature Valume I Ed. 1960-Page 249.

कमठ का जीव नरक में गया। नारकियों ने ज्यों ही नये नारकी को देखा, मारने के लिए दौड़े। वे विविध आयुधों से उसके शरीर को खंड-खड कर देते थे और वे खडित टुकड़े पारे के समान फिर मिल जाते थे। नारकी उसके चरणों को कभी तो काँटों से छेद डालते थे, कभी उसके अस्थिजाल को चूर-चूर कर देते थे और कभी उसकी खाल को उघार कर कुचल डालते थे। कभी कुठार पकड़ कर उसको काठ के समान चीर देते थे, कभी उदर को विदीर्ण करके अन्तरमान्त्रिका तोड़ डालते थे, कभी कोल्हू में पेल देते थे, कभी काँटों की शय्या पर सुलाते थे। और कभी शूली पर रख देते थे। इस भाँति इस महाकाव्य में रूढिबद्ध होते हुए भी नरक का वर्णन साक्षात् कर दिया गया है।

बनारस के राजा अश्वसेन की पत्नी का नाम था वामादेवी उसका रूप अनुपम था, वह सब गुणों से भरपूर थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे रूप जलधि की बेला ने ही जन्म ले लिया हो। उसमें नख से शिख तक अकृत्रिम सुहाग पुलकित हो रहा था। उसकी देह सब सुलक्षणों से मडित थी, वह तीन लोक की स्त्रियों का शृङ्गार थी। वह मधुर भारती का तो अवतार ही थी। उसके आगे रम्भा दीन सी प्रतिभासित होती थी। रोहिणी का रूप क्षीण हुआ सा प्रतीत होता था और इन्द्रवधु ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे रविद्युति के आगे दीपक की लौ१। वह शील-सम्पदा की निधि थी; सज्जनता की अनुपम अवधि थी कला और सुबुद्धि की सीमा थी। उसका नाम लेने से पाप दूर हो जाते थे, क्योंकि वह महापुरुष रूपी मुक्ता को धारण करने वाली सीप थी१।

जब इन्द्र ने यह जाना कि वामादेवी के गर्भ में तीर्थंकर उतरने वाले हैं तो कुलगिरि कमलवासिनी देवियों को उनके पास भेजा। उनमें 'श्री' नाम की देवी को लेडी डा० ही कहना चाहिए। उसे वामादेवी के गर्भ को शुद्ध बना देना था। उसका कांतिवान शरीर लावण्य से भरा था। महाराज अश्वसेन के प्रसाद में आकाश से उतरती हुई वे ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो नभदामिनी ही उतर रही हो२, उसका अंग-अंग शृंगार सजा हुआ था, उनके पास आश्चर्यजनक रूपसम्पदा थी। उनके माथे पर चूड़ामणि जगमगा रहा था।

जिसे देख चकाचौधसी लगती थी। उनके वक्षस्थल पर कल्पवृक्षों के पुष्पों की माल थी, जिसकी सुगन्धि दशों दिशाओं में फैल रही थी। उनके पैरों से घुँघुरुओं की 'श्रवण सुखद' झंकार उठ रही थी, उसकी मधुरता अवर्णनीय है।

भगवान के गर्भ में अवतरित होने पर इन्द्र ने रुचिक वासिनी देवियों को जिन-जननी की सेवा के लिए भेजा। ये देवियाँ तेरहवें रुचक नाम के द्वीप में, रुचक पर्वत के शिखर कूटों में रहती थीं। उन्होने इस सेवा को अपना परम सौभाग्य ही माना। कोई माँ का स्नान-विलेपन करती थी और कोई शृंगार सजाती थी। कोई भूषण वसन पहनाती थी, कोई भोजन कराती थी, कोई पान खिलाती थी और कोई सुन्दर गाना गाती थी३ कोई माँ

---

पार्श्वपुराण पं० भूधरदास, प्र० जिनवाणी कार्यालय कलकत्ता

१—नखशिख सुहागिनी नार।
तीन लोक तिय तिलक सिंगार ॥
सकल सुलच्छन मंडित देह।
भाषा मधुर भारतीय येह ॥
रम्भा रति जिम आगे दीन।
रोहिनि रूप लगै छवि छीन ॥
इन्द्र वधु इमि दीसे सोय।
रवि दुति आगे दीपक लोय ॥
—पंचम अधिकार पृष्ठ सं० ४५

१—सज्जनता की अवधि अनूप।
कला सुबुधि की सीमा रूप ॥
नाम लेत अघ तजै समीप।
महापुरुष मुक्ता फल सीप ॥
—पंचम अधिकार, पृ० सं० ४५

२—महाकांत तन लावन भरी।
मानो नभ दामिनी अवतरी ॥
अंग अंग सब सजे सिंगार।
रूप सम्पदा अचरज कार ॥

३. पार्श्वपुराण भूधरदास जिनवाणी कार्यालय, कलकत्ता।
आई भक्ति नियोगिनी देवी, जिन जननी की सेव भजें।
कोई नहान विलेपन ठानै, कोई सार सिंगार सजैं।

को रत्न सिंहासन पर विराजमान करती थी और कोई चंवर ढुलाती थी कोई सुन्दर सेज बिछाती थी, कोई चरण दाबती थी। कोई चन्दन से घर सींचती थी और समूचे महल को सुगन्धि से भर देती थी। कोई कल्पतरुवर के फूलों की माला गूंथ कर माता की भेंट चढ़ाती थी।

भगवान का जन्म हुआ। नभ की दशों दिशायें निर्मल दिखाई दे उठीं। आँधी मेंह और धूल का लेश भी नहीं रहा। शीतल मन्द और सुगन्धित वायु बहने लगी। सब सज्जन लोग विशेष रूप से हर्षित हो गये, जैसे दिनेश के निकलने पर कमलखंड विकसित हो जाते हैं१ देवलोक मे घंटा स्वतः बज उठे, ज्योतिषियों के यहाँ केहरि नाद होने लगा, भवनालय में सहज शंख ध्वनित हो उठे और व्यंतरों के यहाँ असंख्य भेरियो का निनाद होने लगा। इन्द्रासन काँप उठे। देवराज परिवार सहित जन्मोत्सव मनाने चला। वह ऐरावत हाथी पर सवार था। उसकी रचना विक्रिया ऋद्धि के द्वारा की गई थी। उसके सौ मुख थे। मुख मे आठ-आठ दाँत थे, प्रत्येक दाँत पर एक सौ पच्चीस कमलिनियाँ थी। हर एक कमलिनी पर पच्चीस पच्चीस कमल थे और प्रत्येक कमल में एक सौ आठ पत्ते थे। पत्ते-पत्ते पर देव नारियाँ नृत्य करती थी२। उनकी छबि को देख कर संसार विमोहित हो जाता था। उस हाथी पर शची सहित इन्द्र ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उदय.चल मस्तक पर भानु।

सद्यः जात भगवान को सुमेरु पर्वत पर स्नान के लिए ले गए। वहाँ पाण्डुक वन की ईशान दिशा में पाण्डुक शिला पर—जो अर्धचन्द्राकार आकृति वाली थी—हेम-सिंहासन रख दिया और उस पर भगवान को विराजमान कर दिया। वहाँ भगवान ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे मानों रत्नगिरि पर मेघ विराजे हों। एक हजार आठ कलशों से भगवान का स्नान हुआ। प्रत्येक कलशे का मुख एक योजन का और गहराई आठ योजन की थी। कुबेर ने सुमेरुपर्वत की चोटी से क्षीर सागर तक रत्न-जड़ित पैड़ियों की रचना की थी। इन्द्र ने भगवान के अभिषेकार्थ सहस्र भुजाएँ बना ली थी। उसने जिन स्तवन आरम्भ किया। भगवान के मस्तक पर महाधार गिरी, मानों नभगंगा ही अवतरित हुई हो। असंख्य देवगण जयजयकार कह उठे। बहुत कोलाहल हुआ। दशों दिशाएँ बहरी हो गई।

जिस धार से शिखर खड खंड हो सकते हैं, वह धारा जिनदेह पर फूल-कली सी प्रतिभासित होती थी। तीर्थंकर 'अप्रमान वीरजधनी' होते है। अतः उनकी शक्ति की समता नहीं हो सकती। प्रभु की नील वर्ण देह पर कलश के जल की छवि, नीलाचल सिर पर हेम के बादल की वर्षा की भांति प्रतीत होती है१। स्नवन जल की छटा

---

कोई भूपन वसन समर्प्पें, कोई भोजन सिद्ध करैं।
कोई देय तंबोल जु खाने कोई सुन्दर गान करैं।
—पंचमोऽधिकार, पृ० सं० ४९

१. जनम्यो जब तीर्थंकर कुमार,
तिहुँ लोक बढ्यो आनन्द अपार।
दीर्घ नभ निर्मल दिशि अशेश,
कहिं आँधी मेंह न धूलि लेश।
अति शीतल मन्द सुगन्धि वाय,
सो बहन लगी सुख शांति दाय।
सब सुजन लोक हरषे विशेप,
ज्यों कमलखंड प्रगटत दिनेश।
—पष्टोऽधिकार, पृ० सं० ५१

२. पार्श्वपुराण-भूधरदास जिनवाणी कार्यालय, कलकत्ता
प्रति दन्त सरोवर इक दीस,
सरसर हंस कमलनी सौ पचीस।
एकेक कमलनी प्रति महान,
पच्चीस मनोहर कमल ठान।
प्रति कमल एक सो आठ पत्र,
शोभा वरनी नही जाय तत्र।
पत्रन पर नाचें देव नार,
जग मोहत जिनकी छवि निहार।
—षष्ठोऽधिकार पृ० सं० ५२

पार्श्वपुराण भूधरदास जिनवाणी कार्यालय, कलकत्ता—
१ नील वरन प्रभु देह पर, कलश नीर छवि एम।
नीलाचल सिर हेम के, बादल बरपैं जेम॥
षष्ठोऽधिकार पृ० स० ५४

उछल कर आकाश में चली मानो स्वामी–संगति से वह भी पाप रहित हो गई, अतः उसकी गति भी उर्ध्व हो गई है।

स्नानोपरांत देवसंघ भगवान को लेकर अश्वसेन महाराज के घर वापिस आ गया। वहां उसने 'आनन्द' नाम के नाटक का आयोजन किया। उसमें देवराज का ताण्डव नृत्य आश्चर्यजनक था। पुष्पांजलि क्षेपण के साथ ही ताण्डव आरम्भ हुआ। मांगलिक श्रृङ्गार के साथ उसने संगीत और ताल के नियमों के अनुकूल रंग-धरा पर पैरो का संचालन किया। देवगण कुसुम वर्षा कर उठे। किन्नरियो ने मंगल गान किया, गीत के अनुसार ही विविध वाद्ययंत्र बजने लगे। नृत्य के समय इन्द्र ने सहस्र भुजायें बना ली थीं। वे सब भूषण-भूषित होकर शोभायमान हो रही थीं। इन्द्र के चपल चरणों की गति से पृथ्वी और पर्वत काँप रहे थे[1]। चकफेरी लेते समय मुकुट की रत्नप्रभा वलयाकृति में इस प्रकार झलकती थी जैसे चक्राकार अग्नि ही हो। वह क्षण में एक, क्षण में बहुत तथा क्षण में सूक्ष्म तथा क्षण में स्थूल स्वरूप को धारण करता था। क्षण में निकट और क्षण में दूर दिखाई देता था। क्षण मे आकाश में घूमता हुआ विदित होता था और क्षण में पृथ्वी पर नत्य करता हुआ दृष्टि गोचर होता था[2]। इस प्रकार अमरेश ने इन्द्रजाल की भांति अपनी ऋद्धि प्रकट की। उसके हाथ की अगुलियों पर अप्सराएँ नृत्य करती थीं। उनके अग-अंग में भूषण झलक रहे थे। उनके नेत्र खिले हुए थे और मुख मुस्करा रहे थे। नृत्य के नियमों के अनुसार वे पैर चला रही थीं। और उनके कटाक्ष विविध भावो को प्रकट करने में समर्थ थे। सुर कामनियों से संयुक्त इन्द्र ऐसा प्रतीत होता था जैसे कल्पवृक्ष को कल्पलताओं ने घेर लिया हो।

दीक्षा लेने के उपरान्त, एक दिवस पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा धारण किये योग में तल्लीन थे संवर नाम के ज्योतिषी देव का विमान आकाश में रुक गया। यह देव पूर्व कथित कमठ ही था। उसे पूर्व भव का वैर स्मरण हो आया। उसके नेत्र लाल हो गये, शरीर क्रोध से जल उठा। उसने महान उपसर्ग आरम्भ किया। चारों ओर अंधकार छा गया। बादल गरज-गरज कर वर्षा कर उठे। पानी मूसलाधार होकर गिरने लगा, भयंकर बिजली तिरछी होकर झलक उठी। अति वर्षा के कारण, भूमि महोदधि के समान हो गई, उसमें गिरवर, विशाल वृक्ष और वन समूह डूब गये। काले यमराज की छवि को धारण किये हुए बैताल किलकिलाने लगे। उनकी भौं विकराल थी, वे मदमस्त गज की भाँति गरज रहे थे। उनके गले मे मानवों की मुण्डमाला पड़ी थी+। उनके मुख से स्फुलिंगों के साथ फूत्कार निकल रही थी। वे हन हन की निर्दय ध्वनि कर रहे थे। इस प्रकार अनेक दुर्वेषों को धारण करके कमठ के जीव ने उपसर्ग किये किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। भगवान अपने ध्यान से टले नहीं, जैसे मानिक के दीप को पवन की झकोर बुझा नही पाती।

### स्वाभाविकता

मध्ययुग के महाकाव्यों में देव, यक्ष और विद्याधरों के द्वारा किए गए आश्चर्यों का विवेचन आवश्यक था, किन्तु अनेक महाकाव्यों में वर्णित आश्चर्य धार्मिक विश्वास की सीमा का भी अतिक्रमण कर गये है। पार्श्वपुराण में उन्हीं आश्चर्यों को उपस्थित किया गया है जो जैन सिद्धान्त के अनुकूल हैं। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ३४ अतिशयों का भावात्मक विवेचन है। उनमें जन्म के दश, केवल ज्ञान के दश और चौदह देवकृत हैं। जन्म के साथ ही भगवान का शरीर मल-मूत्र रहित और रुधिर दुग्धवत श्वेत होता है।

---

१. सहस भुजा हरि कीनी तबै भूषण भूषित सोहैं सबै।
धारत चरणचपल अति चलै, पहुमी कांपै गिरवर हलै ॥
षष्ठोऽधिकार पृ० सं० ५७

२. छिन में एक छिनक बहु रूप,
छिन सूच्छम छिन थूल सरूप।
छिन आकाश माहिं संचरै,
छिन में निरत भूमि पर करै ॥
षष्ठोऽधिकार पृ० सं० ५७-५८

+ किलकिलात वेताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं।
भौं कराल विकराल, भाल मद गज जिमि गज्जहिं ॥
मुण्डमाल गल धरहिं, लाल लोचन निडरहिं जन।
मुख फुलिंग फुकरहिं, करहिं निर्दय धुनि हन हन ॥
अष्टमोऽधिकार पृ० ६८

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही, चार मुखों का दिखना, केवल ग्रास आदि आश्चर्यों का विवेचन भूधरदास ने नहीं किया है। देवों के १४ अतिशय भक्तों की भक्ति ही कही जा सकती है। तीर्थंकर के गर्भ मे आने के छः मास पूर्व से ही साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा का विवेचन भक्त हृदय की ही देन है। यह सच है कि किसी महापुरुष के उत्पन्न होने के पूर्व से ही माँ-बाप वैभव सम्पन्न हो उठते हैं। संवर का उपसर्ग और नाग दम्पत्ति का आगमन पूर्व-भव से सम्बन्धित किये जाने के कारण अविश्वास की भूमि को स्पर्श नहीं कर पाता।

जैन संस्कृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों में प्रायः स्थान-स्थान पर धार्मिक उपदेश बहुत लम्बे हैं। उनके कारण पाठक ऊब जाता है। उनमे यत्किंचित् भी सरसता नहीं है। पार्श्वपुराण में केवल दो स्थानों पर मुनियों के उपदेश हैं। सल्लकी वन मे मुनि अरविन्द ने वज्रजंघ हाथी को सम्यक्त्व का उपदेश दिया है। दूसरा स्थान वह है जब आनन्दकुमार जैन दीक्षा लेने मुनि सागरदत्त के पास गये हैं। वहाँ १२ प्रकार के तपो, १६ प्रकार की भावनाओं, २२ प्रकार के परीषहों, दशलक्षण धर्मों और १२ अनुप्रेक्षाओं का विवेचन किया गया है। किन्तु इनमे काव्यत्व होने के कारण रूक्षता नही आ पाई है। १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करते हुए—

राजा राणी छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

इतना सरस है कि इसका घर-घर में प्रचार है और इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। पार्श्व-नाथ की दिव्यध्वनि के द्वारा जैन सिद्धांत का जन्म हुआ। यहाँ पर भी नवे अधिकार के अन्त में सप्तभग, समुद्घात आदि का वर्णन है, किन्तु दृष्टान्त, उपमा और उत्प्रेक्षाओं की सहायता से उनकी रूक्षता का पर्याप्त परिहार हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूधरदास को भी इन स्थलों को सक्षेप मे कह कर मुख्य कथा पर आने की शीघ्रता थी। भूधरदास का कवि प्रमुख था अपेक्षाकृत उपदेष्टा के।

**रस विवेचन**

पार्श्वपुराण में शुभ और अशुभ पुण्य और पाप, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का युद्ध है। अशुभ के द्वारा शुभ के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित की गई, किन्तु जीत शुभ ही की हुई। सबसे बड़ी विजय तो यह थी कि अंतमें अशुभ भी शुभ-रूप में परिणत हो गया। मरुभूति शुभ का प्रतीक था और कमठ अशुभ का। अशुभ भी साधारण कोटि का नहीं था। नरको के तीव्र दुखों से भी वह बदल न सका। सद्गुरुओं के उपदेश और महापुरुषों के दर्शन से भी उसका चेतनहारा चेतन परिवर्तित न हुआ। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समवशरण में ही वह चेता। पुण्य और पाप का युद्ध यद्यपि दस भवों तक चलता रहा, किन्तु पुण्य के अहिंसक रहने से वीर रस पूर्ण रूप से कभी-कभी प्रकट न हो सका उसके मूलस्वर का हाल शान्त रस की ओर ही बना रहा। पार्श्वपुराण का मुख्य रस शांत ही है, वैसे शृङ्गार और वात्सल्य भी कतिपय अंशों में फलीभूत हुए हैं। प्रारम्भ में ही कमठ अपने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी विसुन्दरी के प्रति काम चेष्टाओं का प्रदर्शन करता है। उसी में सम्भोग शृङ्गार देखा जा सकता है। अन्यत्र कहीं भी काम की विह्वल दशा का चित्र नही खींचा गया है। विविध रानियो के सौंदर्य वर्णन है, स्वर्गों की सुषमा में देव और देवांगनाओं द्वारा सम्पन्न महोत्सवों में, नग-रियों की साज सज्जा में और समवशरण की रचना में ही शृङ्गार के दर्शन होते हैं। इन सब में शृङ्गार शांत रस का स्थायीभाव सा प्रतीत होता है। शृङ्गार के मुख्य अग विप्रलम्भ का तो कहीं नाम ही नहीं है।

पार्श्वपुराण में वात्सल्य रस पार्श्वनाथ के गर्भ और जन्म कल्याणकों में प्रतिफलित हुआ है। उस समय किये गये विविध महोत्सव वात्सल्य रस को पुष्ट बनाते हैं। इन महोत्सवों की परम्परा अजैन काव्यो मे नहीं थी। सूर ने कृष्ण के जन्म की आनन्द बधाई के उपरांत ही 'यशोदा हरि पालने झुलावै' आरम्भ कर दिया है। जैनों के प्राकृत सस्कृत और अपभ्रंश के तीर्थंकर संबंधी सभी महाकाव्यो में गर्भ और जन्म कल्याणकों का ऐसा ही विवेचन है। किन्तु पार्श्वपुराण में प्रसाद गुण और उत्प्रेक्षाओं के कारण वह मौलिक सा प्रतिभासित होता है। जैन हिन्दी में कुमुदचन्द्र के ऋषभ विवाहिला भट्टारक ज्ञानभूषण के आदीश्वरफाग, हरचन्द्र के पंच कल्याण महोत्सव, भट्टारक

धर्मचन्द की आदिनाथ बेलि, रूपचन्द का पंचमंगल और जगतराम के लघुमंगल से भी अधिक सरसता पार्श्वपुराण में है। इन्द्राणी प्रसूति-गृह में पहुँची। वहाँ उसने सुतराग में रंगी मां को सुख सेज पर लेटे देखा, वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों बालक भानु सहित सध्या ही हो। इन्द्राणी ने माँ को सुख नींद में सुला दिया और एक माया-मयी बालक उसके पास लिटा दिया। बालक जिनेन्द्र को अपने कर कमलों में उठा लिया। बालक की छवि करोड़ों सूर्यों को ज्योतिहीन बना रही थी। बालक के मुख कमल को देखकर सुररानी के हृदय में विशेष हर्ष हुआ। इन्द्र ने तो भगवान की सौन्दर्य सुधा पीने के लिए सहस्र नेत्र कर लिए। सुमेरु पर्वत पर स्नवन के उपरात इन्द्राणी ने जिनवर के अंगों को पोंछकर निर्जल बनाया। प्रभु की देह पर कुंकुमादि अनेक विलेपन किये, ऐसा प्रतीत होता था जैसे नीलगिरी पर संध्या फूली। शची ने त्रिलोकीनाथ को और भी अनेक प्रकार से सजाया। उनके सिर पर मणिमय मुकुट रखा, माथे पर चूड़ामणि सुशोभित किया, स्वाभाविक रूप से अजित नेत्रों में भी अंजन लगाया। मणि जड़ित कुन्डल कानों मे पहनाये तो ऐसा मालूम हुआ कि चन्द्र और सूर्य ने ही अवतार लिया हो। भुजाओं में भुजबंध, कमर में कधंनी व पैरों में रत्नजडित नूपुर भी सजा दिये। अंग-अग मे आभूषण पहने भगवान् की शोभा उस कल्पवृक्ष के समान थी, जिसकी डालें भूषण भूषित हों। बाल भगवान् कुछ बड़े हुए। अनेक मुख से निकलने वाली कोमल हँसी तात-मात को आनन्दित करती थी। भगवान मणिमय आँगन में घुटनो के बल गमन करते हुए ऐसे मालूम होते थे जैसे नक्षत्र गगन में निशिनाथ ही विचर रहे हों। वे काँपते हुए चरणों से चलते थे, वह इस शंका से शायद धरती मेरे बोझ को सहन न कर सके। मुट्ठी बाँधे और अटपटे पैरों से चलते भगवान की छवि अवर्णनीय है। इस भाँति बालकोचित अनेक चेष्टाओं का वर्णन है। किन्तु भूधरदास सूरदास जैसी बालक की विविध मनोदशाओं का चित्रण नहीं कर सके हैं।

**नायक**

इस महाकाव्य के नायक पार्श्वनाथ हैं। उनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ है। वे धीरोदात्त हैं, तीर्थंकर हैं। उन्होंने विवाह नहीं किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इस प्रकार नायिका का अभाव है। वैसे उन्होंने तप और साधना के द्वारा शिवरमणी के साथ विवाह किया। वह ही उनका प्रथम और अन्तिम विवाह था। इस महाकाव्य में शिवरमणी के रूप का विवेचन हुआ है। जहाँ तक भौतिक नायिकाओं का सम्बन्ध है वे नायक को पूर्व भवों में उपलब्ध हुई है। वहाँ यथा-प्रसग उनके सौन्दर्य और विलास का भी यत्किंचित् निरूपण हुआ है। शान्त रस प्रधान होने के कारण जैन महाकाव्यो की नायिकाओ का विलास और सौन्दर्य सदैव शालीनता की मर्यादा में बंधा रहता है। पार्श्वपुराण की नायिकाएँ भी, भले ही वे मानवी हों या देवांगनाये, इस मर्याद का उल्लंघन नहीं कर सकी है।

**सर्ग और छन्द**

आचार्य विश्वनाथ के साहित्य दर्पण के अनुसार महा-काव्य में कम से कम ८ सर्गो का होना अनिवार्य है। पार्श्वपुराण में ९ अधिकार है। कोई भी 'अधिकार' अनुपयुक्त या अतिरंजित नहीं कहा जा सकता। उसमे पार्श्व-नाथ की कथा एक प्रवाह में निबद्ध है। महाकाव्य का एक नियम यह भी है कि एक सर्ग एक ही छन्द में हो, अन्तिम छन्द बदला हुआ हो उस बदले हुए छन्द में ही आगामी सर्ग आरम्भ हो। पार्श्वपुराण मे इस नियम का पालन नही किया गया। यद्यपि अधिकाशतया चौपाई और दोहे का प्रयोग है किन्तु बीच-बीच मे सोरठा, अडिल्ल, छप्पय, कवित्त, पद्धड़ी और गीता नाम के छन्दो का भी सन्निवेश हुआ है। चौपाई और दोहे वाला क्रम भी रामचरितमानस जैसा नही है। इसमें एक या कई चौपाइयो के उपरान्त एक या कई दोहे आये हैं। कही-कही चौपाइयाँ ही हैं, दोहे नहीं। कही दोहे ही हैं, चौपाइयाँ नही। भूधरदास छन्दों के निर्माण में अत्यधिक निपुण थे। कथानक, चरित्र, घटना और प्रसंग के अनुकूल ही छन्दों को चुना गया है। वे महाकाव्य की गति के लिए प्रशस्त मार्ग से प्रतीत होते हैं।

**अलंकार**

सरल भाषा में अलंकारो का निर्वाह भी सहज ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूधरदास अलंकारवादी

नहीं थे। उन्होंने अलंकार लाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। उनके सभी काव्यों में अलंकारों की छटा स्वाभाविक है। पार्श्वपुराण में उत्प्रेक्षा का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। १६ स्वप्न देखने के उपरान्त वामादेवी जगी तो उनका तन रोमांचित था और मुख प्रमुदित, जो ऐसा प्रतीत होता था मानो निशा के अवसान में सकंटक कमलिनी बिकसित हुई हो।१ माँ की सेवा करने के लिये कुलगिरि कमल वासिनी देवियाँ आकाश से उतर रही है, तो ऐसा मालूम होता है मानो नभदामिनी ही उतर रही हो। उत्प्रेक्षा के उपरान्त दृष्टान्तालंकार का भी अधिक प्रयोग है। जैसे कि सीप मे मोती आकर उत्पन्न होता है, निर्मल गर्भ मे निराबाध भगवान२ एक दूसरे स्थान पर अचेतन जिन बिंब के मुख प्रदाता रूप की व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है कि जैसे चिन्तामणि मनवांछित पदार्थों को देता है, वैसे ही यह जिन बिम्ब मनोवांछाओं को पूरा करता है। भूधरदास छोटे-छोटे रूपको के निर्माण में भी कुशल थे। जगवासी मोहनिद्रा में निमग्न है, कर्म चोर उनका सर्वस्व लूटने के लिए चारों ओर घूम रहे है३। सतगुरु के जगाने पर मोह निद्रा दूर हो जाती है और आते हुए कर्मचोरों को रोकने का कुछ उपाय बनता है। जब ज्ञानरूपी दीपक मे तपरूपी तेल भरकर, घर के भ्रमरूपी कोनो को शोध डाला, तभी वे कर्मरूपी चोर निकल सके४। भूधरदास ने शब्दालंकारों पर ध्यान नही दिया है। भैया भगवतीदास और कवि बनारसीदास जैसी अनुप्रास छटा पार्श्वपुराण में नही है।

१ जिन जननी रोमांचि तन, जगी मुदित मुख जान।
किधौ सकंटक कमलनी, विकसी निसि अवसान ॥
पंचमोऽधिकार पृ० सं० ४७

२ जथा सीप सम्पुट विषै, मोती उपजै आन।
त्योंही निर्मल गर्भ में, निराबाध भगवान ॥

३ मोह नीद के जोर, जगवासी घूमें सदा।
कर्मचोर चहूँ ओर, सरबस लूटे सुध नहीं ॥

४ ज्ञान दीप तप तेल भरि घर सोधे भ्रम छोर।
या विध बिन निकसै नहीं, पैठे पूरब चोर ॥
चतुर्थोऽधिकार पृ० सं० ३०

## प्रकृति निरूपण

महाकाव्यों में प्राकृतिक दृश्यों का अंकित किया जाना भी आवश्यक है। हिन्दी के कतिपय महाकाव्यों में प्रकृति वर्णन केवल परम्परा निर्वाह के लिए ही करते हैं। अतः वन, पर्वत, समुद्र, मेघ, वृक्ष आदि का चित्र किसी असफल चित्रकार की रचना सा प्रतीत होता है। यह ही कारण है कि वनों में फैली ऋतुराज की सुषमा, पर्वतों पर निर्झरों का कलनाद, समुद्र में चंचल तरंगों का नृत्य, मेघो का रिमझिम बरसना तथा वृक्षों की डालों पर पल्लवों का विकास काव्य में नहीं उतर पाता। पार्श्वपुराण में वन और पर्वतों का सर्वाधिक वर्णन है। इन्हीं दो स्थानों पर मुनिराज तप करते हैं अथवा तीर्थंकरों का समवशरण विराजता है। आरम्भ में ही वनमाली, महाराज श्रेणिक को सूचना देता है कि विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवशरण आया है। इस आगमन से छः ऋतुओं के फलों से वन सुशोभित हो गया है। आगे चल कर काशी देश के गांव खेटपुर पट्टन का वर्णन है। उसके समीप अगाध जल से भरी नदियां बहती है। उनमें अनेक जलचर जीव नित्य रहते हैं। ऊँचे पर्वतों पर झरने झरते हैं, जो मार्ग में जाते हुए पथिकों के मन को आकर्षित कर लेते हैं। पर्वतों की कन्दराओं मे मुनिजन निश्चल देह से ध्यान धारण करते है। वहाँ बड़े बड़े निर्जन वनो के समूह भी है। जिनमें विविध प्रकार के विशाल वृक्ष लगे है। केला, करपट, कटहल, कैर, केथ, करोंदा, कोच, कनेर आदि लगभग ७० वृक्षो के नाम गिनाये हैं, किन्तु अनुप्रास के प्रवाह मे वृक्षो के नामों की सूची भी सरस सी प्रतिभासित होती है१।

पार्श्वपुराण भूधरदास जिणवाणी कार्यालय कलकत्ता

१. जहाँ बड़े निर्जन वन जाल।
जिनमें बहुविधि विरछ विशाल ॥
केला करपट कटहल कैर।
कैथ करोदा कोंच कनैर ॥
किरमाला ककोल्न कल्हार।
कमरख कज कदम कचनार ॥
खिरनी खारक पिंडखजूर।
खैर खिरहटी खेजड़ भूर ॥
पंचमोधिकार पृ० सं० ४३

# वर्णी जी का आत्म-आलोचन और समाधि-संकल्प

**श्री नीरज जैन**

पूज्य वर्णीजी अपनी साधना के प्रति सदैव जागरुक, परम निस्पृह और एक सतर्क साधक थे। उन्होंने जिस निर्मीकता पूर्वक समय समय पर अपनी स्वयं की समालोचना की है और जिस दृढतापूर्वक आत्मनिग्रह का संकल्प किया है वह साधकों के लिये सदैव अनुकरणीय और आदर्श रूप रहेगा। वे प्रायः प्रतिदिन बड़ी स्पष्टतापूर्वक अपने विचारों का लेखा-जोखा लगाकर, अपनी उपलब्धियों को तौल कर, हानि-लाभ का अन्दाजा लगाया करते थे। उनकी यह आत्म-आलोचना की कथा जहाँ तहाँ उनके समीप चर्चा वार्ता में तो प्रकट होती ही थी, कभी कभाक लेखनी से भी उसका प्रकटीकरण हो जाता था। उनकी बहुत नियमित लिखी जाने वाली दैनंदिनी में तो अनेक स्थानों पर ऐसी सामग्री देखी जा सकती है।

**वर्णी जी का पत्र, वर्णी जी के नाम :—**

सर्वप्रथम इस प्रकार की सामग्री उनके एक पत्र के रूप में मिलती है जो उन्होने अपने आप को माघ शुक्ला १३ सं० १९९९ को लिखा था :—

" श्री मान् वर्णी जी, योग्य इच्छाकार

बहुत समय से आप के समाचार नहीं पाये, इससे चित्तवृत्ति सदिग्ध रहती है कि आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। सम्भव है आप उससे कुछ उद्विग्न रहते हों और यह उद्विग्नता आपके अन्तस्तत्व की निर्मलता के कृश करने में भी समर्थ हुई हो। यद्यपि आप सावधान हैं परन्तु जबतक इस शरीर से ममता है तब तक सावधानी का भी ह्रास हो सकता है। आपने बालक पन से ऐसे पदार्थों का सेवन किया है जो स्वादिष्ट थे और उत्तम थे। इस का मूल कारण यह था कि आपके पूर्व पुण्योदय से श्री चिरोंजाबाई का संसर्ग हुआ। तथा श्रीयुत सर्राफ मूलचन्द्र जी का संसर्ग हुआ। जो सामग्री आप चाहते थे, इनके द्वारा आपको मिलती थी। आपने निरन्तर देहरादून से चावल मगाकर खाये, उन मेवादि का भक्षण किया जो अन्य हीन पुण्य वालों को दुर्लभ थे तथा उन तैलादि का उपयोग किया जो धनाढ्यों को ही सुलभ थे। तुमने यह अनुचित कार्य किया किन्तु तुम्हारी आत्मा में चिर काल से एक बात अति उत्तम थी कि तुम्हें धर्म की दृढ़ श्रद्धा और हृदय में दया थी। उनका उपयोग तुमने सर्वदा किया। तुम निरन्तर दुखी जीव देखकर उत्तम से उत्तम वस्त्र तथा भोजन उनको देने में संकोच नहीं करते थे, यही तुम्हारे श्रेयमार्ग के लिये एक मार्ग था। न तुमने कभी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया, न स्थिरता से पुस्तकों का अवलोकन ही किया, न चरित्र का पालन किया और न तुम्हारी शारीरिक क्षमता चरित्र पालन की थी। तुमने केवल आवेग में आकर व्रत ले लिया। व्रत लेना और बात है और उसका आगमानुकूल पालन करना अन्य बात है।

---

संवर ज्योतिषीदेव के उपसर्ग में प्रकृति की दशा चित्रवत उपस्थित की गई है। चारों ओर अंधकार छा गया। बादल गरज-गरज कर घनघोर वर्षा कर उठे। नीर मूसलोपम धार में भर उठा, भयंकर बिजली चक्ररूप में चमक उठी। अत्यधिक वर्षा मे गिरि, तरुवर और वन-जाल डूब गये और प्रभजन विकराल होकर वह उठा।

**उद्देश्य—**

उस समय 'कला के लिए कला' का आविर्भाव नहीं हुआ था। केवल महाकाव्य ही नहीं, साहित्य के सभी अगों का उद्देश्य उत्तम चरित्र की जीत दिखाना था। पार्श्वपुराण में भी उत्तम और निकृष्ट चरित्रों की कशम-कश दिखाई गई है। यदि इसे हिंसा और अहिंसा का युद्ध कहें तो भी ठीक ही है। अन्त मे जीत उत्तम पात्र की हुई। यह जीत भौतिक नहो है शिवरमणी के साथ विवाह ही उसकी जीत है। प्रतिद्वन्दी भी भाग कर पलायन नहीं करता, न मरता ही है। परन्तु पार्श्वनाथ के मत में दीक्षित होकर, उन्हीं के मार्ग पर चल पड़ता है।

लोग तो भोले हैं वाचाल और बाह्य से संसार असार है, ऐसी कायकी चेष्टा से जनाते हैं उन्हीं के चक्र में आ जाते हैं। उन्हीं को साधुपुरुष मानने लगते हैं और उनके तन, मन, धन से आज्ञाकारी सेवक बन जाते हैं। वास्तव में न तो धर्म का लाभ उन्हें होता है और न आत्मा में शान्ति ही का लाभ होता है। केवल दम्भिगणों की सेवा कर अन्त में दम्भ करने के ही भाव हो जाते हैं। इससे आत्मा अधोगति का ही पात्र होता है।

इस जीव को मैंने बहुत कुछ समझाया कि तू परपदार्थों के साथ जो एकत्वबुद्धि रखता है उसे छोड़ दे परन्तु यह इतना मूढ़ है कि अपनी प्रकृति को नहीं छोडता, फलतः निरन्तर आकुलित रहता है। क्षणमात्र भी चैन नहीं पाता।"

आपका शुभचिन्तक—
गणेश वर्णी-(वर्णी वाणी, ४-२)

क्षुल्लक वेष धारण कर लेने के उपरान्त भी अपने गत समस्त जीवन का सिंहावलोकन करते हुए एक जगह उन्होंने लिखा है—

"अन्य की कथा कहाँ तक लिखे ? हमारी ८० वर्ष की आयु हो गई और ५० वर्ष से निरन्तर इसी प्रयत्न में तत्पर हैं कि मोह शत्रु को परास्त करें, परन्तु जितनी बार प्रयास किया बराबर अनुत्तीर्ण होते रहे। बालकपन में तो माता पिता के स्नेह में दिन जाते थे, मेरी दादी मुझ पर बहुत स्नेह करती थी। इसी तरह रात्रि दिन काल व्यतीत करते थे। परलोक का कोई विचार न था। जब कुछ पण्डितों का समागम हुआ तब कुछ व्यवहार धर्म में प्रवृत्ति हुई। भगवान की पूजा और पद्मपुराण का श्रवण कर अपने को धर्मात्मा समझने लगे। कुछ दिन बाद व्रत करने लगे, रात्रि भोजन त्याग दिया, कभी रस परित्याग करने लगे।

इतने में पिता जी ने विवाह कर दिया। कुछ ही दिनों में मेरी माँ ने मेरी पत्नी को ऐसे रंग में रंग दिया कि वह हमसे कहने लगी कि अपनी परम्परा में अपने धर्म का परित्याग कर तुमने जो धर्म अंगीकार किया उसमें बुद्धिमत्ता नहीं की। हम और हमारी पत्नी में ३६ का सा (परस्पर विरुद्ध) सम्बन्ध हो गया। फिर हम टीकमगढ़ प्रान्त में चले गये और वहीं एक पाठशाला में अध्यापकी करने लगे। दैवयोग से वहीं पर श्री चिरोंजा बाई के सिमरा गये। धर्ममूर्ति बाई जी ने बहुत सान्त्वना दी तथा एक अपढ़ क्षुल्लक के चक्र से रक्षा की। पढ़ने की सम्मति दी किन्तु कहा शीघ्रता मत करो, मैं सब प्रबन्ध कर भेज दूंगी। परन्तु मैंने शीघ्रता की, फल अच्छा न हुआ। अन्त में अच्छा ही हुआ। अच्छे अच्छे महापुरुषों और पण्डितों का समागम हुआ, तत्वज्ञान के व्याख्यान सुने, व्यवहार धर्म में प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कार्य किये; परन्तु शान्ति का आस्वाद न आया। मन में यह आया कि सबसे उत्तम कार्य विद्या प्रचार करना, जो जाति से च्युत हो गये हैं उन्हें पचायत द्वारा जाति मे मिलाना, जो दस्से हैं उन्हें मन्दिरों में दर्शन करने मे जो प्रतिबन्ध है उन्हे हटाना तथा जो बाई जी द्वारा मिले उसे परोपकार में दे देना आदि। सब किया भी परन्तु शान्ति का अंश भी न आया। इन्ही दिनों मे बाबा भागीरथ जी का समागम हुआ, आपके निर्मल त्याग का आत्मा के ऊपर बहुत ही प्रभाव पड़ा। मैं भी देखा-देखी निरन्तर कुछ करने लगा परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली।

अन्त मे यही उपाय सूझा जो सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। यद्यपि उपवासादिक की शक्ति न थी फिर भी यद्वा तद्वा निर्वाह किया। बाई जी ने बहुत विरोध किया-'बेटा तुम्हारी शक्ति नही परन्तु एक न मानी; फल जो होना था नहीं हुआ। लोग न जाने क्यो मानते रहे। काल पाकर बाई जी का स्वर्गवास हो गया। तब मैं श्री मोतीलाल जी वर्णी और कमलापति सेठ के समागम में रहने लगा। रेल की सवारी त्याग दी। मोटर की सवारी पहिले ही त्याग दी थी। अन्त मे यह विचार हुआ कि श्री गिरिराज की यात्रा करना चाहिए।

कुछ माह बाद शिखर जी की बन्दना की। वहाँ पर कई वर्ष बिताए, परन्तु जिसे शान्ति कहते है, नही पाई। प्रायः बिहार में भ्रमण भी किया। श्री वीर प्रभु के निर्वाण क्षेत्र श्रीराजगृही में ४ माह रहे, स्वाध्याय किया, वन्दनायें कीं। शक्ति के अनुकूल परस्पर तत्त्वचर्चा भी की, परन्तु जिसको शान्ति कहते है अणुमात्र भी उसका स्वाद न आया। कुछ दिनों बाद मन में आया कि क्षुल्लक हो

जाओ। नट की तरह इन उत्तम स्वांगों की नकल की-अर्थात् क्षुल्लक बन गये। इस पद को धारण किये ५ वर्ष हो गये परन्तु जिस शान्ति के हेतु यह उपाय था, उसका लेश भी न आया, तब यही ध्यान में आया कि तुम अभी उसके पात्र नहीं। किन्तु इतना होने पर भी व्रतों के त्यागने का भाव नहीं होता। इसका कारण केवल लोकैषणा है। अर्थात् जो व्रत का त्याग कर देवेंगे तो लोक में अपवाद होगा। अतः कष्ट हो तो भले ही हो, परन्तु अनिच्छा होते हुये भी व्रत को पालना। जब अन्तरंग में कषाय है बाह्य में आचरण भी व्रत के अनुकूल नहीं तब यह आचरण केवल दम्भ है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी का कहना है कि यदि अन्तरंग तप नहीं तब बाह्य वेष केवल दुःख के लिये है। पर यहाँ तो बाह्य भी नहीं अन्तरंग भी नहीं। तब यह वेष केवल दुर्गति का कारण है तथा अनन्त संसार का निवारक जो सम्यग्दर्शन है उसका भी घातक है। अन्तरंग में तो यह विचार आता है कि इस मिथ्या वेष को त्यागो, लौकिक प्रतिष्ठा में कोई तत्त्व नहीं परन्तु यह सब कहने मात्र को है। अन्तरंग में भय है कि लोग क्या कहेंगे? यह विचार नहीं कि अशुभ कर्मका बन्ध होगा। उसका फल तो एकाकी तुमको ही भोगना पड़ेगा। यह भी कल्पना है। परमार्थ किया जावे तब आगे क्या होगा सो तो ज्ञानगम्य नहीं किन्तु इस वेष में वर्तमान में भी कुछ शान्ति नहीं। जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख काहे का? केवल लोगों की दृष्टि में मान्यता बनी रहे इतना ही लाभ है।"

—वर्णी वाणी-३-२९३

शान्ति की खोज करने पर भी क्या उसका साक्षात् करना आसान होता है। जब तक कछुए के हाथ पैरों की तरह अपनी वृत्तियों को समेट कर दृष्टि को अन्तर्मुखी न किया जाय तब तक क्या उस शान्ति की उपलब्धि का सपना भी देखा जा सकता है। इस प्रसंग पर उन्होंने लिखा—

"लोग शान्ति शान्ति चिल्लाते हैं और मैं भी निरन्तर उसी की खोज में रहता हूँ पर उसका पता नहीं चलता। परमार्थ से शान्ति तो तब आवे जब कषाय का कुछ भी उपद्रव न रहे। कषायातुर प्राणी निरन्तर पर निन्दा के श्रवण में आनन्द मानता है। जिसे पर की निन्दा में प्रसन्नता होती है उसे आत्मनिन्दा में स्वयंमेव विषाद होता है। जिसके निरन्तर हर्ष विषाद रहते हों वह सम्यग्ज्ञानी कैसा। यद्यपि आत्मा ज्ञान दर्शन का पिण्ड है फिर भी न जाने क्यों उसमें राग द्वेष होते हैं। वस्तुतः इनका मूल कारण हमारा संकल्प है अर्थात् पर में निजत्व कल्पना है। यही कल्पना राग द्वेष का कारण है। जब पर को निज मानोगे तब अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष करना स्वाभाविक ही है। अतः स्वरूप में लीन रहना उत्तम बात है। अपना उपयोग बाहर भ्रमाया तो फँसे। होली के दिन लोग घर में छिपे बैठे रहते है। कहते हैं कि यदि बाहर निकलेंगे तो लोग कपड़े रंग देंगे। इसी प्रकार विवेकी मनुष्य सोचता है कि मैं अपने घर में—अपने स्वरूप में लीन रहूँगा तो बचा रहूँगा अन्यथा संसार के राग रंग में फस जाउगा।

जग में होगी हो रही, बाहर निकले कूर।
जो घर में बैठा रहे, तो काहे लागे धूर॥

—मेरी जीवन गाथा
२-२८६

**समाधि संकल्प—**

बाबा जी का जीवन जिस प्रकार एक निश्चित योजना का परिणाम था उसी प्रकार उनका मरण भी योजनाबद्ध था, और उसके लिये उन्होंने खूब तैयारी कर रखी थी। उनके अन्त समय प्रत्यक्षदर्शियों ने जिस लोकोत्तर शान्ति और स्थिरता का दर्शन उनके हृदय में और आनन पर किया है, निश्चित ही उसका उपार्जन बाबा जी ने साधना पूर्वक किया था। समाधि ग्रहण करने के बहुत पूर्व उन्होंने जो संकल्प किया था वह एक पत्र के रूप में मुझे उनकी पुस्तकों के बीच प्राप्त हुआ था। इस पत्र से सहज ही जाना जा सकता है कि मृत्यु के आगमन के पूर्व से ही उसके स्वागत के लिये वे कितने चैतन्य, कितने सतर्क, और कितने सन्नद्ध थे। वह पत्र मेरे संग्रह में सुरक्षित है जो इस प्रकार है—

"यद्यपि हमारा रोग दो वर्ष से हम अनुभव कर रहे है। यह निष्प्रतिकार है, परन्तु जो साधर्मी भाई हैं, वह कहते है कि आप सौ वर्ष जीवेंगे। यह उनका कहना तथ्य हो वा अतथ्य हो बहुज्ञानी जाने या जो कहते हैं वे

# बोध प्राभृत के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द

**साध्वी श्री मंजुला, शिक्षा-विभाग अग्रणी**

आचार्य कुन्दकुन्द, दिगम्बर परम्परा में एक विशिष्ट और विख्यात आचार्य हो गए हैं। दिगम्बर परम्परा में जो स्थान उन्हें प्राप्त है वह किसी दूसरे ग्रन्थकार को नहीं। भगवान महावीर और गौतम के बाद तीसरा इन्हीं का नाम स्तवनीय के रूप में आता है।

"मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगल।"

आप दिगम्बर परम्परा के आचार्य होते हुए भी श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व के भेद भावों में कभी नही उलझे। सदा तटस्थभाव से सत्य को निष्पक्ष अभिव्यक्ति देना चाहते थे। दक्षिण के शिलालेखों में आपका नाम कोंडकुन्द पाया जाता है। जिससे उनके तमिल देशवासी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हें कोंडकुन्डपुर वासी कहा है। मद्रास राज्य में गुंतकल के समीप कुन्डकुन्डी नामक ग्राम है। वहाँ की एक गुफा में कुछ जैन मूर्तियाँ स्थापित हैं। प्रतीत होता है कि यही कुन्दकुन्दाचार्य का मूल निवास स्थान व तपस्या भूमि रहा होगा। कइयों का अभिमत है "द्रविड देश के कोंडकुन्ड ग्राम के थे कुन्दकुन्दाचार्य। और उसी कोण्डकुण्ड के आधार पर इनका कोण्डकुण्ड नाम पड़ा जो धीरे-धीरे कुन्दकुन्द हो गया। आपका तीसरा नाम एलाचार्य भी प्रसिद्ध है। जो तिरुकुरल के रचयिता का है। इसी नाम और काल साम्य से तिरुकुरल को कुन्दकुन्द की रचना संभावित रूप में माना गया है। हो सकता है तिरुकुरल जनाचार्य कुन्दकुन्द की रचना हो लेकिन उनके अभी तक के उपलब्ध ग्रन्थों में तिरुकुरल का नाम नही आता है। कई कहते है कुन्दकुन्दाचार्य ने ८४ पाहुडो की रचना की उनमें से अब नौ ही प्राप्त है लेकिन १. दर्शन प्राभृत, २. चारित्र प्राभृत, ३. सूत्र प्राभृत, ४. बोध प्राभृत, ५. भाव प्राभृत, ६. मोक्ष प्राभृत, ७. समयसार, ८. प्रवचनसार, ९. पचास्तिकाय, १०. नियमसार। इन नौ-दस के अतिरिक्त रयणसार, दस भक्ति, अष्ट प्राभृत, वारस अणुवेक्खा आदि और भी कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आपकी सभी रचनाएँ प्राकृत भाषा में है।

आपके समय के बारे में विद्वानों मे कई मतभेद हैं। आपके ग्रन्थ में आपका कोई परिचय नहीं मिलता। केवल एक वारस-अणुवेक्खा का एक ही प्रति के अन्त मे उसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य हो गए हैं। इसके अनुसार कवि का कालमान ई० ५, तीसरी, चौथी

---

ही जानें। मुझे विश्वास है चाहे वह तथ्य हो या अतथ्य हो, अब समाधि मरण के उपायों का अविलम्ब अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। इसका उपाय पेय पदार्थ है। आहार को छोड़कर स्निग्ध पान करना बहुत ही उपयोगी होगा। दूध आधा सेर और दो अनार का रस (जो पाव सेर से अधिक न हो) आठ दिन इसका प्रयोग करना चाहिए। यदि यह उपयोग ठीक हो, समाधि मरण के अनुकूल पड़ जावे तो अगाड़ी सात छटाक दूध और आधा पाव अनार के रस का उपयोग करना चाहिए। और इस उपयोग में सफल हो तो आगामी काल में तक्र इत्यादि का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी आशा है कि साधर्मी भाई सम्मति देंगे अथवा इसे अनुचित समझें तो जो उचित हो उसे उपयोग में लावें। अब केवल सन्तोष कराने से मेरा तो कल्याण दुर्लभ होगा।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूज्य बाबा जी ने सदैव कठोर आत्मालोचन द्वारा अपने जीवन को सँवारा, उसे गति दी, तथा एक सुनियोजित समाधि संकल्प के माध्यम से उन्होंने अपना अवसान काल अद्भुत शान्ति और आत्म-चिंतन के आनन्द से अभिभूत करके समता पूर्वक यह शरीर त्याग किया।

शताब्दी ठहराता है। कई विक्रम की प्रथम शताब्दी को कुन्दकुन्दाचार्य का अस्तित्व काल मानते हैं। लेकिन डा० हीरालाल जी ने निम्नोक्त तर्क देकर इस कालमान को अप्रमाणित सिद्ध किया है कि "एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य परम्परा—सुसंबद्ध और सर्व-मान्य पाई जाती है उसमें कुन्दकुन्द का नाम नहीं आता। और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचना इतनी प्राचीन सिद्ध नहीं होती उनमें अघोष वर्णों के लोप, या श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जो उन्हें ई० सन् से पूर्व नहीं किन्तु उससे पश्चात कालीन सिद्ध करती है। पांचवीं शताब्दी में हुए आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं जो कुन्दकुन्द की वारस अणु-वेक्खा में भी पाई जाने से वहीं से ली हुई अनुमान की जा सकती हैं। मर्करा के शक संवत् ३८८ के ताम्रपात्रों में उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है किन्तु अनेक प्रबल कारणों से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते हैं। अन्य शिला लेखों में इस आम्नाय का उल्लेख सातवीं, आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं पाया जाता अतएव वर्तमान प्रमाणों के आधार पर निश्चियतः इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ व उससे पूर्व हुए हैं।

कई विक्रम की छठी या आठवीं शताब्दी को कुन्दकुन्द का काल मानते हैं। नहीं कह सकते सच्चाई किसमें है लेकिन इतना तो निश्चित है कि डा० हीरालालजी के तर्क काफी प्रबल हैं और कुछ भी हो लेकिन ई० पू० तो हम कुन्दकुन्द आचार्य को नहीं ले जा सकते। फिर भी ताम्रपात्रों के जाली सिद्ध होने से और शिलालेखों के उल्लेखों के आधार पर हम उन्हें पांचवीं, छठी और आठवीं शताब्दी तक भी नहीं ले जा सकते। क्योंकि उनकी भाषा व शैली ई० पू० जितनी प्राचीन नहीं है तो उतनी सद्यस्क भी नहीं है। उनकी प्राकृत पर संस्कृत का अधिक प्रभाव नहीं है। (ऐसा उनके ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों से जाना जाता है जैसे ढील्ल, हेट्ठ, पोल्ल आदि) जबकि चौथी, पांचवीं शताब्दी के बाद की प्राकृत पर स्पष्ट संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। दूसरे में कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं जबकि जन परम्परा में तीसरी शताब्दी से ही उमास्वाति आदि संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता हो गए फिर पांचवीं शताब्दी तक पहुँचने वाले कुन्दकुन्द संस्कृत में क्यों नहीं अपनी रचना प्रस्तुत करते? खैर! हमारे पास कोई प्रामाणिक निष्कर्ष नहीं है कि हम कुन्द-कुन्द का निश्चित समय बता सकें फिर भी विकीर्ण प्रमाण सामग्री के आधार पर वे ई० सन् बाद के और चौथी शताब्दी से पूर्व के होने चाहिएं। एक बात और है उनका जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण है वह भी उन्हें पाँचवीं, छठी शताब्दी से पूर्व ही ले जाता है इसके बाद का काल, खण्डन-मण्डन और अभिनिवेश का काल है। अस्तु!

प्रासङ्गिक विश्लेषण काफी लम्बा हो चला है। प्रकृत लेख का विश्लेष्य केवल 'बोध प्राभृत के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द' है।

आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण, निश्चियात्मक और समन्वयात्मक अधिक रहा है। वे किसी भी वस्तु या तथ्य के बाह्य रूप में नहीं उलझे। अन्तस् में उतर कर यथार्थता तक पहुंचने की कोशिश की, उन्होंने भगवान् महावीर के अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को आत्मगत् ही नहीं व्यवहारगत भी किया। उनके जीवन की सबसे बड़ी व्यवस्था, वे एक सम्प्रदाय में बंधे होकर भी सम्प्रदायातीत होकर रहे। उनके ग्रन्थों से भी यही झलकता है कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय के साथ अव्यवहारिकता नहीं की सत्य के साथ भी अन्याय नहीं किया। इस तथ्य को जानने के लिए उनका बोध प्राभृत साक्षात् पठनीय है।

बोध प्राभृत, उनके ८४ पाहुडों मे से एक है। जिस में उन्होंने आयतन, चैत्यगृह, प्रतिमा[१], दर्शन, बिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह तत्त्वों के सच्चे स्वरूप का निरूपण किया है।

---

१. आयदण चेदिहरं जिणपडिमा दसणं च जिण विम्बं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं॥
(श्लो० ३

२. अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुण विसुद्धा इय णायव्वा जहा कमसो॥
(श्लो० ४ बोध प्राभृत)

बोध प्राभृत में आपकी एक विशेषता विशेष रूप से व्यंजित हुई है जो पूर्व और पश्चात् के आचार्यों में अपवाद रूप ही कहीं निखर पाई होगी। आपने जड़ शब्दों को अर्थ ही नहीं दिया वह आत्मादी जिसके बिना अस्तित्व शून्य थे। आप चाहते तो अपने अर्थों के लिए नए शब्द गढ़ लेते लेकिन आपने उन्हीं शब्दों को आध्यात्मिक अर्थ दिया जिन्हें पहले कई तरह के अर्थ दिए जा चुके थे। हो सकता है उसमें उनका व्यावहारिक कौशल रहा हो कि शब्दग्राही लोग शब्दो को तत्त्वरूप देखकर भड़के नहीं या फिर उनका दृष्टिकोण ही अन्तर्मुख रहा हो कि उनके समक्ष जो कुछ भी आता उसमें उन्हें अध्यात्म के ही दर्शन होते। इसी का यह परिणाम है कि उन्होंने जो भी पारिभाषिक या लोक प्रचलित शब्द सामने आए उन्हें अध्यात्मपरक अर्थ दिया। यह उनकी अपनी सूझ थी। इनसे पूर्व आयतन, चैत्यगृह आदि शब्द जैन, बौद्ध व वैदिक साहित्य में उन्हीं बाह्य अर्थों में प्रयुक्त होते थे।

जहाँ आयतन शब्द का प्रचलित अर्थ मकान या स्थान है वहाँ आपने उस संयमी आत्मा१ को आयतन बताया जो प्रवृज्या गुण से समृद्ध, ज्ञान गुण से सम्पन्न मन, वचन व काय तथा इन्द्रियों के विषयो के अपराधीन हैं। अर्थात् वशवर्ती नहीं हैं। तथा उस संयत रूप को भी आयतन२ कहा जो मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ आदि से अपराजित है, व पंच महाव्रतधारी महर्षि है।

सिद्धायतन की नई व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया —जिस मुनि वृषभ के समग्र३ पदार्थ सदर्थ सिद्ध हो गए हैं तथा जो विशुद्ध ध्यान और ज्ञान से युक्त है वह सिद्धायतन है।

इसी तरह साधारणतया चैत्यगृह शब्द मन्दिरों और वृक्षों के लिए प्रयुक्त होते हैं लेकिन कुन्दकुन्द ने उस पंच१ महाव्रतों से पवित्र और ज्ञानमय आत्मा को चैत्यगृह कहा है जो स्वयं की और पराई चेतना को बोधिलाभ से भावित करता है। तथा जो२ स्वयं के बंध-मोक्ष, सुख दुःख का सर्जक स्वयं ही है ऐसी आत्मा जो छक्काय के लिए हितकर है उसे चैत्यगृह कहा है।

साधारणतया जिन प्रतिमा शब्द मन्दिरों में होने वाली मूर्तियों के लिए व्यवहृत होता है। पहले भी इसी अर्थ में होता था और आज भी। जैसे यह एक जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द हो और इसका अन्यथा अर्थ करना अपराध में परिगणित होता है। जैनेतर प्राचीन ग्रन्थो मे भी प्रतिमा शब्द जड़ मूर्तियों के लिए ही व्यवहार में लाया गया। लेकिन कुन्दकुन्द ने जिन प्रतिमा उसे कहा जो शुद्ध३ ज्ञान, दर्शन और चारित्र युक्त, निर्ग्रन्थ वीतराग, भाव जिन हैं।

संयत प्रतिमा—उन मुनियों को बताया जो शुद्ध चारित्रमय हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व को जानते और आत्मगत करते है४।

व्युत्सर्ग प्रतिमा सिद्धों को कहा है। जो निरुपम हैं। अचल है। मक्षुभित है, जंगम रूप से निर्मापित है तथा

---

१. मण-वयण-काय दव्वा, आ सत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे, णिद्दिट्ठं सजयं रूवं॥
(श्लो० ५)

२. मय राग दोस मोहो, कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महव्वय धारा, आयदणं महरिसी भणियं॥
(श्लो० ६)

१. सिद्धं जस्स सदत्थं, विसुद्धा ज्झाणस्स णाणजुत्तस्य।
सिद्धायदणं सिद्धं, मुणिवर वसहस्स मुणिदत्थं॥
(बोध श्लो० ७)

१. बुद्धं जं बोहंतो, अप्पाणं चेइयाण अण्णं च।
पंच महव्वय सुद्धं, णाणमयं जाण चेदिहरं॥
(बो० श्लो० ८)

२. चेइय बधं मोक्खं, दुःखं सुक्खं च अप्पय तस्स।
चेइहरं जिण मग्गे, छक्काय हियंकरं भणियं॥
(बो० श्लो० ६)

३. सपरा जंगमदेहा, दंसणणाणेण सुद्ध चरणाणं।
निग्गंथ वीयराया, जिणमग्गे एरिसा पडिमा॥
(बो० श्लो० १०)

४. जं चरदि सुद्धचरणं, जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया, निग्गंथा संजदा पडिमा॥
(बो० श्लो० ११)

सिद्ध स्थान में—स्थित हैं[1]।

दर्शन शब्द की बड़ी विचित्र परिभाषा की है। यों दर्शन शब्द के अनगिन अर्थ किए जा चुके हैं। उनके कई आत्मपरक अर्थ भी है लेकिन वहाँ भी आत्मा के एक गुण विशेष को दर्शन कहा गया है। पर कुन्दकुन्दाचार्य ने तो समूचे आत्मा को ही दर्शन की संज्ञा दे दी। जो आत्मा सम्यकत्व,[2] संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्ग को दिखाता है उस ज्ञानमय निर्ग्रन्थ को दर्शन कहा गया है।

शुद्ध संयम और ज्ञान-मय बीतराग की[3] मुद्रा को जिन बिम्ब कहा गया है जो कर्म क्षय की हेतुभूत शिक्षाएँ देते हैं। जो तप और व्रतों के गुणों से शुद्ध हैं शुद्ध[4] सम्यक्त्व को जानने वाले व आत्मगत करने वाले हैं तथा शिक्षा दीक्षा देने वाले हैं उनकी मुद्रा को जिन मुद्रा कहा गया है। इसी तरह[5] दृढ़ संयम मुद्रा, इन्द्रिय मुद्रा, कषायमुद्रा आदि नाना मुद्राओं को जिनमुद्रा कहा गया है। तथा अर्थ (प्रयोजन) धर्म और काम (इप्सित) व ज्ञान को देने[6] वाले को गुरु और उसी के व्रत, सम्यक्त्व से विशुद्ध, पंच इन्द्रियों में संयत व निरपेक्ष रूप को तीर्थ[1] कहा गया है। उस तीर्थ में स्नान करने का अर्थ किया है उनसे दीक्षाएँ और शिक्षाएँ लेना।

प्रव्रज्या का अर्थ यों कोई नया नहीं है लेकिन एक ही गाथा में जो प्रव्रज्या के सर्वांश का स्पर्श किया है वह अवश्य ही विलक्षण है। तथा कई जो प्रव्रज्या का अर्थ बाह्यलिङ्ग (चिन्ह-वेशभूषा) करते हैं उनके लिए नया भी है। उन्होंने प्रव्रज्या की परिभाषा करते हुए कहा है जो शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा,[2] लब्धि-अलब्धि का तृण और स्वर्ण में समभाव हैं। उन स्वभावों का नाम ही प्रव्रज्या है। इस बोध प्राभृत (या कर्ता ने जिसका नाम 'छक्काय सुहंकरं' रखा है) में ग्यारह तत्वों का वर्णन है। उनमें से ज्ञान, अर्हत् आदि एक दो (जिनकी परिभाषाओं में विशेष अपूर्वता नहीं है) को छोड़कर शेष सभी की सार्थ व्याख्या उल्लिखित करने का प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि एक ही तत्व की कुन्दकुन्द ने अनेक परिभाषाएँ की हैं जिनका कुल मिलाकर आशय एक हैं उन सबको उल्लिखित न करके केवल एक-एक को ही यहाँ अवकाश मिल सका है।

कुन्दकुन्द के इन ग्यारह विषयों के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे। नाना प्रकार के चैत्यों, मूर्तियों, मन्दिरों व बिम्बों की पूजा होती थी। नाना मुद्राओं में साधु दिखाई देते थे। तथा देवतीर्थ व प्रव्रज्या के भी नाना रूप पाए जाते थे। यही कारण है कि इन लोक प्रचलित सभी विषयों का कुन्दकुन्द ने सच्चा स्वरूप दर्शाया। जो 'बोधपाहुड़' के रूप में हमारे सामने है।

बोध प्राभृत के आधार पर कुन्दकुन्द के अन्तर मानस का काफी स्पष्टता से विश्लेषण होता है; फिर भी अवशेष इतना रह जाता है कि जो उनके अन्यान्य ग्रन्थों के अन्तः स्पर्शी अध्ययनों से ही गम्य किया जा सकता है।

---

1. निरुवममचलमखोहा, णिम्मिविया जंगमेण रूवेण।
   सिद्धट्ठाणम्मि ठिया, वोसरपडिमा धुवा सिद्धा॥
   (बो० श्लो० 13)
2. दंसेइ मोक्खमग्गं, सम्मत्त संजमं सुधम्मं च।
   णिग्गंथं णाणमयं, जिणमग्गे दंसणं भणियं॥
   (बो० श्लो० 14)
3. जिणबिम्बं णाणमयं, संजम सुद्धं सुवीयरायं च।
   जं देइ दिक्ख, सिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा॥
   (बो० श्लो० 16)
4. तव-वय-गुणेहिं सुद्धो, जाणदि पिच्छेइ सुद्ध सम्मत्तं।
   अरहंत मुद्द एसा, दायारी दिक्ख-सिक्खा य॥
   (बो० श्लो० 17)
5. दढसंजममुद्दाए, इंदियमुद्दा, कसायदढमुद्दा।
   मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥
   (बो० श्लो० 18)
6. सो देवो जो अत्थं, धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
   सो देइ जस्स अत्थिहु, अत्थो धम्मो य पवज्जा॥
   (बो० श्लो० 24)

---

1. वय-सम्मत्त-विसुद्धे, पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।
   ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खा-सिक्खा-सुण्हाणेण॥
   (बो० श्लो० 26)
2. सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा।
   तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया॥
   (बो० श्लो० 47)

# जीव का अस्तित्व जिज्ञासा और समाधान

मुनि श्री नथमल

बालचंद जी नाहटा को मैं लम्बी अवधि से जानता हूँ। पुनर्भवी आत्मा में उन्हें विश्वास नहीं है। फिर भी इस विषय की खोज में वे अपना समय लगाते हैं। आचार्य श्री तुलसी वि० २०२० का चातुर्मास जब लाडणू में बिता रहे थे, तब वे वहाँ आए। उन्होंने मुझे अनेकान्त (जून सन् १६४२) का एक पत्र दिया और कहा इस प्रश्नावली पर आप अपना अभिमत लिखें। मैंने उसे पढ़ा और कहा कि अभी मैं उत्तराध्ययन के सम्पादन कार्य मे बहुत व्यस्त हूँ, इसलिए इस पत्र को अपने पास रख लेता हूँ। समय पर लिख सकूंगा। लगभग १॥ वर्ष के बाद उस पर मैं अपना अभिमत लिख रहा हूँ।

प्रस्तुत प्रश्नावलि जुगल किशोर जी मुख्तार की है। वे स्वतः तत्त्वविद् व्यक्ति हैं। उनके मन में कुछ प्रश्न उठे हैं। उन्होंने जिज्ञासु भाव से प्रस्तुत किए है। २३ वर्ष पुरानी प्रश्नावली पर लिखू, यह लगता कैसा ही है पर एक व्यक्ति ने चाहा, तब मेरा कर्तव्य हो गया कि उस पर कुछ लिखू। इस प्रश्नावलि मे दस प्रश्न हैं और वे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए मैं अविभक्त रूप से उनकी समीक्षा करना चाहूँगा—

१. चैतन्य गुण विशिष्ट सूक्ष्माति सूक्ष्म अखण्ड पुद्गल पिण्ड (काय) को यदि 'जीव' कहा जाय तो इसमें क्या हानि है—युक्ति से कौन सी बाधा आती है?

२. जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार, क्रिया और प्रदेश परिस्पन्द कैसे बन सकता है?

३. जीव के अपौद्गलिक होने पर आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना—दर्पण तलवत् झलकना—भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है—उसी में प्रतिबिम्ब ग्रहण की अथवा छाया को अपने में अंकित करने की योग्यता पाई जाती है।

४. तत्त्वार्थ सूत्रादि में सौक्ष्म्य-स्थौल्य को पुद्गल की पर्याय माना गया है और जीव में संकोच-विस्तार होने से सौक्ष्म्य स्थौल्य स्पष्ट है, तथा 'आत्म-प्रवाद' पूर्व में जीव का नाम 'पुद्गल' भी दिया है; जैसा कि उक्त पूर्व का वर्णन करते हुए 'धवला' सिद्धान्त टीका के प्रथम खण्ड में 'उक्तं च' रूप से जो दो गाथाएँ दी हैं उनके निम्न अंश से तथा वहीं 'पोग्गल' शब्द के प्राकृत में ही दिए हुए निम्न अर्थ से प्रकट है—

"जीवो कत्ताय वत्ताय पाणी भोत्ताय पोग्गलो।"

"छव्विह संठाणं बहु विह देहेहि पूरदिगलदित्ति पोग्गलो।"

श्वेताम्बरों के भगवती सूत्र में भी जीव को पुद्गल नाम दिया है; कोशों में भी "देहे चात्मनि पुद्गलः" रूप से पुद्गल का आत्मा अर्थ भी दिया है। बौद्धों के यहाँ तो आम तौर पर पुद्गल नाम का प्रयोग पाया जाता है। तब जीवों को पौद्गलिक क्यों न माना जाय?

५. जीव को 'परंज्योति' तथा 'ज्योतिस्वरूप' कहा गया है और ध्यान द्वारा उसका अनुभव भी 'प्रकाशमय' बतलाया गया है—अन्तः करण के द्वारा वह प्रत्यक्ष भी होता है। सब बातें भी उसके पौद्गलिक होने को सूचित करती हैं—उद्योत और प्रकाश पुद्गल का ही गुण माना गया है। ऐसी हालत में भी जीव को पौद्गलिक क्यो न माना जाय?

६. अमूर्ति का लक्षण पंचाध्यायी के "मूर्त स्यादिन्द्रिय ग्राह्यं तद्ग्राह्यममूर्तिमत्" (२–७) इस वाक्य के अनुसार यदि यही माना जाय कि जो इन्द्रियगोचर न हो वह अमूर्तिक, तो जीव के पौद्गलिक होते हुए भी उसके अमूर्तिक होने में कोई बाधा नहीं आती। असख्य पुद्गलों के प्रचयरूप होकर भी कार्माणवर्गणा जैसे इन्द्रियगोचर नहीं है और इसलिए अमूर्तिक है, ऐसा कहा जा सकता है। इसमें क्या बाधा आती है? यदि निराकार ही होना अमूर्तिक का लक्षण हो तो उसे खरविषाणवत् अवस्तु क्यों न समझा जाय?

७. पुद्गल के यदि दो भेद किये जायें—एक चैतन्य-गुण विशिष्ट और दूसरा चैतन्य गुण रहित, चैतन्यगुण-विशिष्ट पुद्गलों को केवल 'वर्णवन्तः'—वह भी 'चक्षुर-गोचरवर्णवन्तः' माना जाय और दूसरों को 'स्पर्श रस गन्धवर्णवन्तः' माना जाय और उन्हीं में रूपादि की रसादि के साथ व्याप्ति स्वीकार की जाय तो इसमें क्या हानि है ? ऐसा होने पर प्रथम भेदरूप जीवों को तत्त्वार्थ सार के कथनानुसार (८–३२) 'ऊर्ध्वं गौरव धर्माणः' और द्वितीय भेदरूप पुद्गलों को 'अधो गौरव धर्माण.' कहना भी तब निरापद् हो सकता है। अन्यथा, अपौद्गलिक में गौरव का होना नहीं बनता। गुरुता-लघुता यह पुद्गल का ही परिणाम है।

८. यदि पुद्गल मात्र को स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इन चार गुणों वाला माना जाय—उसी को मूर्तिक कहा जाय और जीव में वर्ण गुण भी न मानकर उसे अमूर्तिक स्वीकार किया जाय तो ऐसे अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्मा का पौद्गलिक तथा मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे बन सकता है ? इस प्रकार के बन्ध का कोई भी दृष्टात उपलब्ध नही है। और इसलिए ऐसा कथन (अनुमान) अनिदर्शन होने से (आप्तपरीक्षा की 'ज्ञानशक्त्यैव नि.शेषकार्योत्पत्तौ प्रभुः किल। सदेश्वर इति ख्यातेऽनुमानमांनदर्शनम्' इस आपत्ति के अनुसार) अग्राह्य ठहरता है—सुवर्ण और पापाण के अनादि बध का जो दृष्टान्त दिया जाता है वह विपम दृष्टान्त है और एक प्रकार से सुवर्ण-स्थानी जीव के पौद्गलिक होने को ही सूचित करता है—यदि ऐसा कहा जाय तो इस पर क्या आपत्ति खड़ी होती है ?

९. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण में से कोई भी गुण जिसमें हो उसे मूर्तिक मानने पर (स्पर्शा रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः' आदि पंचाध्यायी २–९) और जीव को वर्ण गुण विशिष्ट स्वीकार करने पर (जिसका कुछ अभ्यास 'शुक्लध्यान' शब्द के प्रयोग से भी मिलता है) जीव भी मूर्तिक ठहरता है और तब मूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होने में कोई बाधा नहीं आती। वह सजातीय-विजातीय-पुद्गलों का ही बन्ध ठहरता है यदि ऐसा कहा जाय तो वह क्यों कर आपत्ति के योग्य हो सकता है ?

१०. रागादिक को 'पौद्गलिक' बतलाया गया है (अन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी', (पंचा० २–४५७) और रागादिक जीव के अशुद्ध परिणाम हैं—बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। यदि जीव पौद्गलिक नहीं तो रागादिक पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? रागादिक का अस्तित्व क्या जीव से अलग सिद्ध किया जा सकता है ? इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण नीलादि लेश्याएँ भी कैसे बन सकती हैं ?

चैतन्यगुणविशिष्ट सूक्ष्माति सूक्ष्म अखण्ड पुद्गल पिण्ड (काय) को जीव मानने पर निष्पन्न क्या होगा ? कुछ पुद्गल चैतन्य गुण विशिष्ट हैं और कुछ पुद्गल चैतन्यगुण रहित हैं—यह श्रेणि विभाग वैसे ही रहा, जैसे माना जाता है कि जीव चैतन्य गुण विशिष्ट है और पुद्गल चैतन्य गुण रहित हैं। सब पुद्गल चैतन्य-गुण-विशिष्ट होते तो स्थिति में अन्तर आता। कुछ पुद्गलों को चैतन्य गुण विशिष्ट मानने से नामान्तर मात्र हुआ, अर्थान्तर कुछ भी नही।

मूल प्रश्न यह है कि चेतन और अचेतन के बीच एक भेद-रेखा अवश्य है। और वह वर्तमानिक सत्य है। अतीत और भविष्य का सत्य क्या है ?

१. क्या चेतन अचेतन से चेतन के रूप में विकसित हुआ है या सदा चेतन ही रहा है ?

२. क्या चेतन कभी अचेतन के रूप में परिवर्तित हो जाएगा या सदा चेतन ही रहेगा ?

३. क्या पहले चेतन ही था और अचेतन उससे सृष्ट हुआ ?

४. क्या पहले अचेतन ही था और चेतन उससे सृष्ट हुआ ?

५. क्या चेतन और अचेतन दोनों स्वतन्त्र थे ?

अद्वैतवाद के अनुसार चेतन से अचेतन अस्तित्व में आया है। चार्वाक और कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार अचेतन से चेतन अस्तित्व में आया है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। तीनों मत हमारे लिए प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में सत्य क्या है ? नहीं बता सकते।

मैं अपनी बात कहूँ—चेतन तत्त्व के विषय में मैंने दर्शन-शास्त्र के जितने स्थल पढ़े उनसे न तो मेरी यह आस्था बनी कि जीव है और न यह आस्था बनी कि जीव नहीं है। जो जीव का अस्तित्व स्वीकार रहा है, वह भी संस्कारगत सत्य है और जो उनका अस्त्वि नहीं स्वीकार रहा है, वह भी संस्कारगत सत्य है। वास्तविक सत्य वह होगा कि जब हम मानेंगे नहीं कि जीव है या नहीं है किन्तु यह जान लेंगे कि वह है या नहीं है ?

यदि आप कहें कि वास्तविक सत्य है, इसे क्या हम जानते हैं ? नही जानते हुए भी जब हम मानते हैं कि वह है तो फिर इसी को वास्तविक सत्य क्यों न मान लें कि जीव है या नहीं है ? जो मेरे लिए रहस्य है उसे मैं मान रहा हूँ, जान तो नहीं रहा हूँ। यदि मैं उसे जान रहा होता तो वह मेरे लिए रहस्य ही नहीं होता। आज हम सबके सामने अतीत और भविष्य तथा बहुलांश में वर्तमान भी इतनापूर्ण है कि उनके विषय में हम अपनी मान्यताएँ ही स्थापित कर सकते हैं। तो मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक ही है और न सर्वथा अपौद्गलिक ही है। यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक मानें तो उसमें चैतन्य नहीं हो सकता और यदि उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच-विस्तार (देखें प्रश्नांक ४) प्रकाशमय अनुभव (देखें प्रश्नांक ५) ऊर्ध्व गौरव धर्मता (देखें प्रश्नांक ७) राग आदि (देखें प्रश्नांक १०) नहीं हो सकते।

मैं जहाँ तक समझ सका हूँ कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जिन आचार्यों ने उनमें संकोच-विस्तार, बन्धन आदि माने हैं। अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है, जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती। और वह हमारी परीक्षानुभूति का विषय नहीं है। जहाँ तक हमारी प्रत्यक्षानुभूति का प्रश्न है जीव का भूत और भविष्य दोनों अज्ञात हैं। वर्तमान जो ज्ञात है उसे प्रश्नकर्ता चैतन्य गुण विशिष्ट पुद्गल कहना चाहते हैं और मैं पुद्गल-युक्त चैतन्य कहना चाहता हूँ। पुद्गल और चैतन्य ये दोनों दोनों में हैं। प्रश्नकर्ता को चैतन्य को गौण और पुद्गल को मुख्य स्थान देना इष्ट है। इस रेखा पर पहुँचते ही हमारी दूरी केवल गौणता और मुख्यता तक सीमित हो जाती है। जिस चैतन्य की प्रक्रिया से ही शरीर दूसरे पुद्गलों का ग्रहण, स्वीकरण (आत्म-सात् करण) और विसर्जन करता है और अपनी हर प्रवृत्ति मे जिसकी अधीनता स्वीकार करता है, क्या उसे गौण स्थान दिया जा सकता है ?

—: ० :—

---



---

# हेमराज नाम के दो विद्वान

**परमानन्द जैन शास्त्री**

हिन्दी जैन साहित्य के कवियों का अभी तक जो इतिवृत्त संकलित हुआ है उसमें बहुत से कवियों का इतिवृत्त संकलित नहीं हो सका, इतना ही नहीं किन्तु उनका नाम और रचनादि का भी कोई परिचय नहीं लिखा गया। उसका प्रधान कारण तद्विषयक अनुसन्धान की कमी है। अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा में जैनियों का बहुत-सा साहित्य रचा गया है जिस पर अनेक तुलनात्मक और समालोचनात्मक निबन्धों के लिखे जाने की आवश्यकता है। अस्तु, आज हिन्दी जैन साहित्य के पांडे हेमराज और हेमराज गोदिका नाम के दो कवियों का परिचय दिया जाता है, जिन्हें भ्रम से विद्वान् लेखकों ने एक ही मान लिया है। यद्यपि दोनों कवि भिन्न भिन्न जाति के हैं। एक की जाति अग्रवाल है तो दूसरे की जाति खडेलवाल। एक पांडे हेमराज नाम से ख्यात है तो दूसरे हेमराज गोदिका नाम से। एक हिन्दी गद्य पद्य के अच्छे लेखक और अध्यात्म के विशेष विद्वान् है, तो दूसरे केवल पद्य के लेखक और तत्त्वचर्चा के प्रेमी हैं। रचनाएँ भी दोनों की जुदी जुदी हैं प्रथम ने प्रवचनसार की टीका सं० १७०६ में बनाई थी किन्तु दूसरे ने उनकी टीका का अध्ययन कर उसका पद्यानुवाद स० १७२४ में बनाकर समाप्त किया था। इतना होने पर भी उन दोनों को एक मान लिया गया है। इस भूल में प्रथम कारण डा० कस्तूरचन्द जी काशलीवाल हैं, उन्होंने अनेकान्त वर्ष १४ कि० १० में जो 'उपदेश दोहाशतक' का परिचय दिया है, वह द्वितीय हेमराज की कृति है जिसे भूल से प्रथम हेमराज की कृति मान लिया गया है। उसके बाद श्रद्धेय नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित अर्धकथानक के परिशिष्टों में हेमराज का परिचय देते हुए वहाँ इसे प्रथम की कृति बतलाया गया है। जब मैंने अर्धकथानक का दूसरा एडीसन देखा तो प्रेमी जी को उस भूल की ओर आकर्षित किया[1]। तब उन्होंने तत्काल पत्र में उसे मानते हुए लिखा था कि यह भूल डा० कस्तूरचन्द के कारण हुई है। दोहाशतक का परिचय उन्होंने मुझे भेजा था। अस्तु, उसे परिमार्जित करने के लिए भी मैंने लिखा था, पर वे बीमारी के कारण उसे कर न सके। उसके बाद अब डा० प्रेमसागर जी के "हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि[1]" नामक रचना के पृ० २१४ पर, जो पांडे हेमराज' नाम से देखने में आई है उसमें एक व्यक्ति मानकर ही सारा परिचय दिया गया है, और उनकी उपलब्ध कृतियों को भी एक विद्वान् की कृति मान लिया गया है। भविष्य में इस भूल का प्रसार न हो इसी से इस लेख द्वारा प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रथम हेमराज वे हैं, जो आगरा के निवासी थे और प्राकृत संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गर्ग' था। इनके 'जैनी' नाम की एक पुत्री थी जो रूपवान होने के साथ साथ शीलादि सद्गुणों में प्रवीण थी। पिता ने उसे खूब विद्या पढ़ाई थी, वह बड़ी विदुषी, व्युत्पन्न और बुद्धिमती थी। पाण्डे हेमराज ने अपनी पुत्री का विवाह बयाना वासी श्रवणदास के पुत्र नन्दलाल जी के साथ किया था, जो उस समय आगरा में ही रह रहे थे। उससे बुलाकीदास नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था[2]। जिसने माता की आज्ञानुसार पाण्डव-

---

1. प्रेमी जी ने लिखा है कि—दोहाशतक से यह बात विशेष मालूम हुई कि उनका जन्म सांगानेर में हुआ था और यह दोहाशतक कामगढ़ (कामा, भरतपुर) में कीर्तिसिंह नरेश के समय में बनाया गया।

अर्धकथानक पृ० १०८

1. यह ग्रन्थ अभी भारतीय ज्ञानपीठ काशी से मुद्रित हुआ है।
2. हेमराज पंडित बसै, तिसी आगरे ठाइ।
गरग गोत गुन आगरौ, सब पूजै तिस पाइ।
उपजी ताके देहजा, जैनी नाम विख्याति।
शील रूप गुण आगरी, प्रीति नीति की पांति॥

पुराण की रचना हिन्दी पद्य में की थी।

कवि हीरानन्द ने अपने समवसरण विधान (१७०१) में इन हेमराज का उल्लेख किया है१। यह आगरे की अध्यात्म शैली के विद्वान् थे और तत्त्वचर्चा करने में अत्यन्त निपुण थे। हिन्दी गद्य लेखक और कवि थे।

पाण्डे हेमराज ने अपनी दो रचनाओं में कविवर बनारसीदास के साथी कवि कुंवरपाल का उल्लेख किया और उन्हें 'ज्ञाता' बतलाया है। सितपट चौरासी बोल में लिखा है—

**नगर आगरे में बसै कौंरपाल सग्यान।**
**तिस निमित्त कवि हेम ने कियो कवित्त बखान॥**

और प्रवचनसार की बालबोध टीका प्रशस्ति में लिखा है—जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने कुंवरपाल की प्रेरणा से ही प्रवचनसार की यह बालबोध टीका बनाई है।

**बालबोध यह कीनी जैसे, सो तुम सुणहु कहूँ मैं तैसे।**
**नगर आगरे में हितकारी, कौंरपाल ज्ञाता अधिकारी॥४॥**
**तिनि विचारि जिय में यह कीनी, जो भाषा यह होइ नवीनी**
**अलपबुद्धि भी अरथ बखानैं, अगम अगोचर पद पहिचानैं॥५**
**यह विचार मन में तिनि राखी, पांडे हेमराज सौं भाखी।**
**आगै राजमल्ल नैं कीनी, समयसार भाषा रस लीनी॥६**
**अब जो प्रवचन की है भाखा, तो जिनधर्म बढ़ै सौ साखा।**
**सत्रहसै नव औतरै, माघ मास सित पाख।**
**पंचमि आदितवार कौं, पूरन कीनी भाख॥**

पांडे हेमराज ने निम्न कृतियों की रचना की है। प्रवचनसार टीका सं० १७०६। परमात्म-प्रकाश टीका सं० १७१६ में, पंचास्तिकाय की टीका सं० १७२१ में, यह टीका को पांडे रूपचन्द जी के प्रसाद से बनाई थी। सितपट चौरासी बोल सं० १७०६ में बनाया परन्तु वह अभी अप्रकाशित है। मानतुङ्गाचार्य के भक्तामर स्तोत्र का सुन्दर पद्यानुवाद। नयचक्र की टीका अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। जो प्रति देखी है वह शाह हेमराज जी की टीका है पांडे हेमराज की नहीं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड (कर्मप्रकृति) की टीका सं० १७१७ में बनाई गई है। जो अब भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो चुकी है। कवि की भक्तामर स्तोत्र की रचना का जैन समाज में बहुत समादर है, सहस्रों व्यक्तियों को वह कण्ठाग्र है। कवि ने उसमें अपनी लघुता व्यक्त करते हुए लिखा है—कि हे भगवन्! मैं शक्तिहीन होते हुए भी भक्ति-भाववश आपका स्तवन करता हूँ। जिस तरह कोई हिरिणी बलहीन होते हुए भी अपने पुत्र की रक्षार्थ मृगपति के सम्मुख चली जाती है। जैसा कि कवि के निम्न पद्य से स्पष्ट है—

**सो मैं शक्तिहीन थुति करूँ, भक्ति-भाव-वश कछु न डरूँ**
**ज्यों मृगि निजसुत पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत**

यहाँ यह बात विचारणीय है कि डा० साहब ने पांडे हेमराज को सांगानेर का निवासी मानकर बुलाकीदास के पाण्डव पुराणानुसार अग्रवाल और गर्ग गोत्री लिखा है। जबकि सांगानेरवासी हेमराज खडेलवाल थे। और इनका परिचय मैं अनेकान्त वर्ष ११ कि० १० में दे चुका था, फिर भी उस पर दृष्टि नहीं गई। या उन्होंने उसे देखा ही नहीं होगा, इसी से उन पर विचार नहीं हो सका।

दूसरी गलती कवि नन्दलाल का परिचय देते हुए हो गई है१। नन्दलाल श्रावक और कवि नन्दलाल दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। नन्दलाल श्रावक बयानावासी श्रवणदास के पुत्र थे, जो आगरे में ही आ बसे थे। किन्तु कवि नन्दलाल गोसना नामक गांव के निवासी थे, यह भी अग्रवाल गोयल गोत्री थे। इनकी माता का नाम चन्दा और पिता का नाम भैरो था। इन्होंने यशोधर चरित्र की रचना सं० १६७० में और सुदर्शन चरित्र की रचना सं० १६६३ में सम्पन्न की थी२। इतनी सब भिन्नता होने पर भी कवि नन्दलाल के साथ हेमराज की पुत्री का विवाह कराना, और बुलाकीदास का जन्म मानना ठीक नहीं है। इनके समय में भी अन्तर है। नन्दलाल कवि

---

दीनी विद्या जनक ने, कीनी अति व्युत्पन्न।
पंडित जापै सीख लै, धरणीतल में धन्य॥

पाण्डव पुराण

१. हेमराज पंडित परवीन।—समवसरण विधान ८३।

१. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० १५८

२. संवत सोरहसै अधिक सत्तरि सावन मास।

यशोधर चरित्र

संवत सोरहसै उपरन्त, त्रेसठ जाहु बरस महन्त।

सुदर्शन चरित्र

का समय पूर्ववर्ती है। और नन्दलाल श्रावक का अपेक्षाकृत अर्वाचीन। आशा है डाक्टर साहब इस पर विचार करेंगे। पांडे हेमराज का सम्बन्ध आगरा से है जब कि दूसरे हेमराज का सम्बन्ध कामा और सांगानेर से है। आगरा से नहीं।

दूसरे हेमराज वे हैं, जो सांगानेर (जयपुर) के निवासी थे। उनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र भांवसा है। परन्तु उनका व्यंक 'गोदी का' कहा जाता था१। कुछ समय बाद वे सांगानेर से कामा चले आये थे२, जो भरतपुर स्टेट का एक कस्बा है। उस समय कामा में जयसिंह के पुत्र कीर्तिकुमार सिंह का राज्य था, जिसने अपनी तलवार के बल से शत्रुओं को जीत कर वश मे किया था, जैसा कि 'दोहा शतक' के निम्न पद्य से प्रकट है :—

**कामागढ़ सूबस जहां, कीरतिसिंह नरेश।**
**अपने खड्ग बल वसि किये, दुर्जन जितके देश॥**

और उनके कायस्थ जाति के गजसिंह नामक एक सज्जन दीवान थे, जो बड़े ही बहादुर और राजनीति में दक्ष थे३। उन दिनों कामा मे अध्यात्म प्रेमी सज्जनों की एक सभा अथवा शैली थी, जिसमें स्थानीय अनेक सज्जन प्रतिदिन भाग लेते थे। इस शैली का प्रधान लक्ष्य अध्यात्म ग्रन्थों का पठन-पाठन करना और तत्त्व चर्चा द्वारा उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा कर जैनधर्म के प्रचार के साथ-साथ आत्म उन्नति करना था। उस समय भारत में जहाँ-तहाँ इस प्रकार की अध्यात्म शैलियां विद्यमान थीं, जिनसे जनता आत्मबोध प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। इनके प्रभाव एवं प्रयत्न से जहाँ लोक हृदयों में जैनधर्म के प्रति आस्था और प्रेम उत्पन्न होता था वहाँ अनेकों का स्थिति करण भी होता था—उनकी चल श्रद्धा में सुदृढ़ता आ जाती थी। उस समय जयपुर, देहली, आगरा, सांगानेर आदि मे ऐसी शैलियाँ अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर रही थीं। इससे जहाँ स्थानीय लोगों का जैनधर्म के प्रति धर्मानुराग बढ़ता था वहाँ आगन्तुक सज्जनों को धर्मोपदेश का यथेष्ट लाभ भी मिलता था। इनके प्रभाव से अनेक व्यक्ति जैनधर्म की शरण को प्राप्त हुए थे। शैली के सदस्यों में परस्पर धार्मिकता, सदाचारता, वात्सल्य और दूसरों के प्रति आदर और प्रेम का भाव रहा करता था, जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होता था उन दिनों कामा की इस शैली के कवि हेमराज भी एक सदस्य थे, जो निरन्तर सैद्धान्तिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हुए तत्त्व-चर्चा के रस मे निमग्न रहते थे। कामा की इस शैली में जिन दिनों आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार का वाचन हो रहा था, उन दिनों आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका का भाव लेकर बनाई हुई हिन्दी टीका का काफी प्रचार था। उस अध्यात्म शैली में जीवराज नाम के एक सज्जन जो दया धर्म के धारक तथा प्रवचनसार ग्रन्थ के रसास्वादी थे। उन्होंने मन में विचार किया कि यदि इस प्रवचनसार का पद्यानुवाद हो जाय तो सभी जन उसे कंठ कर सकेंगे। इसी पवित्र भावना से उन्होंने हेमराज को प्रेरित किया और हेमराज ने उसका पद्यानुवाद शुरू किया और उसे संवत् १७२४ में बना कर समाप्त किया। पद्यानुवाद में कवि ने कवित्त, अरिल्लछन्द, वेसरी, पद्धड़ी, रोड़क, चौपाई, दोहा, गीता, कुण्डलिया, मरहठा छप्पय और सवैया तेईसा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। जिनके कुल पद्यों की संख्या ७२५ है। जिनका ब्योरा

---

१. हेमराज श्रावक खंडेलवाल जाति गोत भांवसा प्रगट
 व्योंक गोदी का बखानिये।
 —प्रवचनसार प्रश० देखो, अनेकांत वर्ष ११ कि० १०

२. (क) "सांगानेरि सुथान को हेमराज वस वान।
 अब अपनी इच्छा सहित वसे कामागढ़ थान॥"
 वही प्रशस्ति।
 (ख) "उपजो सांगानेरि को, अब कामागढ़ वास।
 वहां हेम दोहा रचे, स्व-पर बुद्धि परकास॥"
 दोहा शतक

३. सोभित जयसिंघ महासिंह सुत काम,
 अवनी के भारसौ सुभार पीठ बनी है।
 ताके घर कीर्तिकुमार ने उदार चित्त,
 कामागढ़ राजित ज्यों दिन मही है॥
 जहां काम करता दिवान गजसिंधु जाति,
 कायस्थ प्रवीन सबै सभानीति सनी है॥
 तहां छहौं मनको प्रकाश सुखरूप सदा,
 कामागढ़ सुन्दर सरस छवि बनी है॥
 —प्रवचनसार प्रशस्ति

कवि के शब्दों में निम्न प्रकार है :—

**उनसठ कवित्त अरिल्ल बत्तीस सुबेसरि छंद निबैं अरतीन।**
**दस पद्धरी चारि रोडकमानि, सब चालीस चौपई कीन।**
**दोहा छन्द तीनसै साठा तामें एक कीजिए हीन।**
**गीता सात आठ कुंडलिया एक मरहठा मिनहु प्रवीन॥**
**छप्पय—बाईसा भनि चारि पांचसौ चौईसा कहिए।**
**इकतीसा बत्तीसा एक पच्चीसौं लहिए॥**
**छप्पय गनि तेईस छन्द फुनि सामबिलंवित।**
**जानहु दस अर सात सकल तेईसा परमित॥**
**सोरठा—छन्द तेतीस सब सात सतक पच्चीस हुब।**

प्रवचनसार एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, जिसमें तीन अधिकार हैं, उनमें ज्ञान ज्ञेयरूप तत्त्वज्ञान के कथन के साथ जैन यत्याचार का बड़ा ही रोचक और सुन्दर कथन दिया हुआ है। ग्रन्थ की भाषा प्राचीन प्राकृत है, और बड़ी ही परिमार्जित है। और वह आचार्य कुन्दकुन्द के अन्य सभी ग्रन्थों की भाषा से प्रौढ़ है। और गाथाएँ गम्भीर अर्थ की द्योतक है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक दृष्टि के दर्शन होते है। इसका दूसरा अधिकार 'ज्ञेयाधिकार' नाम का है, जिसमें ज्ञेयतत्त्वों का सुन्दर विवेचन किया गया है। कथन-शैली अत्यन्त प्रौढ़, तथा गम्भीर एवं संक्षिप्त है। ऐसे कठिन ग्रन्थ का कवि ने जो पद्यानुवाद करने का प्रयत्न किया है वह उसमें कहाँ तक सफल हुआ है। उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ न कहते हुए पाठकों की जानकारी के लिये कुछ गाथाओं का पद्यानुवाद दिया जाता है, जिससे पाठक कवि की कविता और उसके प्रयत्न की सफलता का विचार करने में समर्थ हो सकें।

**धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध-संपयोगजुदो।**
**पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग-सुहं॥११॥**

इस गाथा में बतलाया गया है कि जब धर्मस्वरूप परिणत यह आत्मा शुद्ध उपयोग से युक्त होता है तब मोक्ष सुख प्राप्त करता है। किन्तु जब वह धर्मपरिणति के साथ शुभोपयोग में विचरण करता है—रागवर्द्धक दान, पूजा, व्रत संयमादि रूप भावों में प्रवृत्त होता है तब उसके फलस्वरूप वह स्वर्गादिक सुखों का पात्र बनता है—वह विषय कषायरूप सरागभावों में प्रवृत्त होने के कारण अग्नि से तपे हुए घी से सिंचन करने से समुत्पन्न देह-दाह के समान इन्द्रि-सुखों को प्राप्त करता है। यही सब भाव टीकाकार ने अपने पद्यों में व्यक्त किया है।

**दोहा—शुद्ध स्वरूपाचरणतें, पावत सुख निरवान।**
**शुभोपयोगी आतमा, स्वर्गादिक फल जान॥**

वेसरि छन्द—

**विषय-कषायी जीवसरागी, कर्मबन्ध की परिणति जागी।**
**तहँ शुद्ध उपयोग विदारी, तातैं विविध भांति संसारी॥**
**तपत घीव सींचत नर कोई, उपजत दाह शान्ति-नहि होई।**
**त्योंही शुभ उपयोग दुख मानैं, देव-विभूति तनक सुख मानैं॥**
**सुभोपयोगी सकति मुनिराई, इंद्रियाधीन स्वर्ग सुखदाई।**
**छिनमें होई जाय छिनमाहैं, शुद्धाचरण पुरुष क्यों चाहै॥**

**अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवम मणंतं।**
**अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥१३॥**

इस गाथा में शुद्धोपयोग का फलनिर्दिष्ट करते हुए बतलाया गया है कि परमवीतराग रूप सम्यक्चारित्र से निष्पन्न अरहन्त सिद्धों को जो सुख प्राप्त है वह इन्द्रादि के इन्द्रियजन्य सुखों से अपूर्व आश्चर्यकारक पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित, अनुपम, आत्मोत्थ, अनन्त (अविनाशी) अव्युच्छिन्न (वाधारहित) है—उस सुखामृत के सामने संसार के सभी सुख हेय एवं दुःखद प्रतीत होते है, क्योंकि वे सुखाभास हैं। इसी भाव को कवि ने निम्न पद्यों मे अंकित किया है:—

**सबही सुखतैं अधिक सुख, है आतम आधीन।**
**विषयातीत बाधारहित, शुद्धचरण शिव कीन॥**
**शुद्धाचरण विभूतिशिव, अतुल अखण्ड प्रकाश।**
**सदा उदै नये करम लिये, दरसन ज्ञान विलास॥**

वेसरि—

**जो परमातम शुद्धोपयोगी, विषयकषाय रहित उरजोगी।**
**करै न नऊतम पूरवभानैं, सहज मोक्षको उद्यम ठानैं॥**
**इन्द्रिय निस्यंद पुण्य-सुख, सबै इन्द्रियाधीन।**
**शुद्धाचरण अखण्डरस, उद्यम रहित प्रवीन॥**

**णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाण (हमेवको।**
**इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥२-९९**

इस गाथा में शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा को लाभ बतलाया गया है और लिखा है कि मैं शरीरादि परद्रव्यों का नहीं हूँ। और न शरीरादिक परद्रव्य मेरे हैं। किन्तु मैं सकल विभाव भावों से रहित एक ज्ञान स्वरूप ही हूँ। इस प्रकार भेद विज्ञानी जीव चित्त की एकाग्रता रूप-ध्यान में समस्त ममत्वभावों से रहित होता हुआ अपने चैतन्य आत्मा का ध्यान करता है वही पुरुष आत्मध्यानी कहलाता है। इसी भाव को निम्न पद्यों में अनूदित किया गया है—

**मैं न शरीर शरीर न मेरो, हों एकरूप चेतना केरो,**
**जो यह ध्यान धारना धारैं, भेदज्ञान बलकरि निरवारैं।**
**सो परमातम ध्यानी कहिये, ताकी दशा ज्ञान में लहिये।**
**तजि अशुद्धि नय शुद्ध प्रकाशै, ता प्रसादतै मोह विनाशै॥**

**तातैं तजि व्यवहार नय, गहि निहचैं परवान।**
**तिन्ह केवल सौं पाइये, परमातम गुन-ग्यान॥**

मोह गांठ को भेदने वाला ही मुक्ति प्राप्त करता है—

**जो णिहद मोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।**
**होज्जं सम-सुह-दुक्खो सोक्खं अक्खयं लहदि॥**

इस गाथा में बतलाया गया है कि जो पुरु मोह रूपी गाठ का भेदन करता है वह यति अवस्था में होने वाले राग-द्वेष रूप विभावभावों को विनष्ट करके सुख-दुःख में समदृष्टि होता हुआ अक्षय सुख को प्राप्त करता है। यही भाव निम्न पद्य में कवि ने निहित किया है।

**जब जिय मोह गांठि उर भानी,**
**रागद्वेष तजि समता आनी।**
**ममता जहाँ न सुख-दुख व्यापै,**
**तहाँ न बन्ध पुण्य अरु पापै।**
**सो मुनिराज निराकुल कहिये,**
**सहज आत्मीक सुख लहिये।**

इस तरह यह पद्यानुवाद गाथाओं के यथार्थ अर्थ का परिचायक है।

कवि की दूसरी कृति 'उपदेश दोहा शतक' है जिसमें एक सौ एक दोहे अंकित हैं। कवि ने इन दोहों को स्व-पर बुद्धि प्रकाशार्थ रचा है। सभी दोहे सरस और उपदेश की पुट को लिये हुए हैं। कवि ने यह दोहा शतक संवत् १७२५ में कार्तिक सुदी पंचमी को बनाकर समाप्त किया है[1]।

कवि कहता है कि हे आत्मन, तू अन्धा और अज्ञानी बनकर इधर-उधर तीर्थस्थानों मन्दिरों आदि में निरंजन देव को ढूंढ़ता फिरता है। तू अपने घट की ओर क्यों नही देखता जिसमें निरंजन देव बसा हुआ है।

**ठौर ठौर सोधत फिरत, काहे अन्ध अवेव।**
**तेरे ही घट में बसो, सदा निरंजन देव॥२५॥**

प्रस्तुत दोहा अध्यात्म रस से ओत-प्रोत है तो अन्य दोहे में शरीर को दुर्जन की उपमा दी है।

**असन विविध विंजन सहित, तन पोषत थिर जानि।**
**दुरजन जनकी प्रीति ज्यौं, देहै दगो निदानि॥**

जिस तरह दुर्जन को कितना ही खिलाया पिलाया जावे तथा उसे प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न किया जाय तो भी वह अन्त में अवश्य धोखा देता है। उसी तरह शरीर का कितना ही लालन पालन किया जाय और उसे स्वथ्य एवं स्वच्छ रखने का प्रयत्न किया जाय। तो भी वह स्थिर नहीं रहता—विनष्ट हो जाता है।

अतएव दुर्जन की प्रीति के समान ही शरीर की प्रीति जाननी चाहिए। शरीर चूंकि पर वस्तु है जड़ है, अतएव उससे राग उचित नहीं है। राग तो आत्म-गुणों से करना आवश्यक है।

इस तरह लेख में प्रयुक्त प्रमाणों के आधार पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि दोनों हेमराज भिन्न-भिन्न हैं। वे एक नहीं है। हेमराज नाम के और भी कई विद्वान् हुए हैं। पर उनका इस लेख से कोई सम्बन्ध न होने से उनके परिचय का संवरण किया गया है।

---

१. सतरह सौ पच्चीस कौ वरतै संवत् सार।
कातिक सुदी तिथि पंचमी, पूरन भयौ विचार॥१००॥

—:—

# ३८वें ईसाई तथा ७वें बौद्ध विश्व-सम्मेलनों को श्री जैन संघ को प्रेरणा

श्री कनकविजय जी, मामूरगंज, वाराणसी

**वर्तमान जैन संघ की दुःखद स्थिति :**

विश्व में अनेकों प्रकार के प्रचार कार्य चल रहे हैं। और चलते भी रहेंगे। उन सबकी ओर अपने को दृष्टि देने की जरूरत नहीं है। किन्तु जो कोई प्रचार कार्य मानव समाज की उन्नति के लिए, और सो भी आध्यात्मिक उन्नति के लिए वर्तमान विश्व में हो रहे हों उनकी ओर तो अवश्य ही अपने को कुछ दृष्टि करनी ही पड़ेगी। क्योंकि काल या परिस्थिति के बल अपने को मजबूरन उसकी ओर दृष्टि करने के लिए बाध्य करे उसके पूर्व ही अपने समय की गति को पहले से ही पहचान ले और बुद्धिमत्ता से वर्तमान में ही उसका विचार कर ले वह उचित गिना जायगा। एक दृष्टि यह भी है कि आध्यात्मिक उन्नति और भौतिक उन्नति दोनों एक दूसरे के पूरक है विरोधिनी नहीं। और वास्तव में उन्नति को उसके असली रूप में देखने मे आवे तो सत्य भी यही है। आत्मस्वरूप की अन्तिम स्थिति में पहुँचे हुए महापुरुष श्री तीर्थंकर देवों के समीप प्रकृति या भवितव्यता भी दासी बन कर रहती है। ३४ अतिशय तथा वाणी के ३५ गुणों को व्यक्त करने के रूप में प्रकृति स्वयं परमविशुद्ध आत्म स्वरूप की अर्थात् श्री तीर्थंकर देवों की सेवा ही करती है। फलतः वह स्पष्ट है कि आत्म स्वरूप में पूर्णतः स्थिति और उसका अलौकिक भौतिक प्रभाव दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं।

श्री जैन शिक्षा का मूल उद्देश्य यही है कि—हर एक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपना कल्याण करना चाहिए। स्वात्म कल्याण के साथ पर उपकार हो जाय तो वह इच्छनीय है। किन्तु परोपकार के लिए ही प्रवृत्ति करने में आवे और परिणामतः स्वात्मा का ही अहित हो यह श्री जैन परम्परा को स्वीकार नहीं है, और वास्तव में देखा जाय तो यह बात भी बिल्कुल ठीक है। विश्व का कोई भी बुद्धिमान् विचारक उससे इन्कार कर ही नहीं सकता। घर जला कर प्रकाश करना उचित है ही नहीं। घर में रहने वालों को सुविधा हो इतने मात्र के लिए ही तो प्रकाश करने में आता है। और वास्तव में यह बिल्कुल सीधी सादी स्पष्ट बात ही न्याय सगत है।

इतनी मूल बात को स्थिर करने के पश्चात् अब अपनी उस बात पर आते हैं कि ईसाई, बौद्ध, हिन्दू मुस्लिम आदि धर्म विश्व के मानव समाज की कुछ उपयोगी सेवा करते है कि नहीं ? और यदि करते हैं ? तो उसके अनुसार जैनों को भी ऐसा ही कोई उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण सेवा का मार्ग अपनाना चाहिए की नही ? कि जिसके द्वारा विश्व की अमूल्य संचित निधि समान श्री जैन संघ जैसे रत्न तुल्य महा संघ का भी प्रकाश विश्व में फैले। यथा शक्य मानव समाज का विशाल रूप में कल्याण तो हो ही, और उस तरह अपने अस्तित्व को भी चरितार्थ करने के साथ विश्व की समग्र विचारधारा एवं दृष्टि बिन्दुओं का समन्वय करने वाले जैनों का सक्रिय अनेकान्तवाद केवल जीवित ही नहीं अपितु विश्व को महत्त्वपूर्ण उन्नति की प्रेरणा देता है जैसा विश्व को अनुभव भी हो।

हजारों वर्ष के इतिहास में श्री जैन संघ ने सामाजिक आदि दृष्टियों से अनेकों बार उत्क्रांतियां एवं अपक्रान्तियां भी देखी। इतने सुदीर्घ कालीन अनुभवों के पश्चात् उन अनुभवो का विश्लेषण करते हुए उसमें कुछ हुई गल्तियां, त्रुटियां आदि का परिमार्जन करके युगानुरूप कुछ नई दृष्टि एवं कार्य प्रणाली को अपना कर श्री जैन संघ को प्रवृत्ति के क्षेत्र में आना चाहिए। जैनधर्म के साथ वाले धर्म ही नहीं, पीछे से शुरू हुए और सो भी विदेशी धर्मों

ने भारत में आकर अपना कितना महत्वपूर्ण स्थान कर लिया है ? वह देखने एवं अनुभव करने जैसा है। क्या जैन जैसा पवित्र संघ भी वर्तमान् विश्व के मानव समाज के लिए कुछ उपयोगी कार्य नहीं कर सकता ? सचमुच में यह विचारणीय है कि अविभक्त श्रीजैनसंघ के अग्रणी आचार्य, विद्वान् मुनिवर एवं धर्मनिष्ठ सद्गृहस्थों को इस बात का अविलम्ब विचार करना चाहिए।

श्री जैनसंघ की वर्तमान स्थिति कितनी दुःखद है उस पर अपने विचार उपस्थित करते हुए स्याद्वाद महा विद्यालय काशी के प्रधानाचार्य, सर्वेसर्वा, पण्डित श्री कैलाश चन्द्र जी शास्त्री जैसे प्रमुख विचारक, विद्वान् तथा धर्मनिष्ठ महानुभाव मथुरा से प्रकाशित होने वाले १०-१२-६५ के "जैन संदेश" के सम्पादकीय लेख में लिखते हैं कि 'भगवान् महावीर एवं जैनधर्म का नाम भी भारत के सार्वजनिक क्षेत्रों में से दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है। अहिंसा की चर्चा या विचारणा के समय भी भगवान् महावीर या जैनधर्म को कम याद करने में आता है यह सारी परिस्थिति जैनों को आत्मविलोकन की ओर ले जा रही है। यहूदियों की तरह जैनों को भी क्या अपनी ही जन्मभूमि भारत में क्या अन्यों के आश्रित रह कर जीवन यापन करना पड़ेगा ? क्योंकि जनतंत्र बहुमती समाजों के लिए आशीर्वाद रूप है जबकि लघुमति वाले समाजों के लिए श्राप रूप भी।

ये और ऐसी ही अनेक उपयोगी प्रेरणाओं से श्री जैन संघ को अब अविलम्ब सावधान हो जाना चाहिए। कुछ समय पूर्व एक अति प्रतिष्ठित विद्वान्, विचारक, साथ ही अत्यन्त धनवान्, श्वेताम्बर परम्परा एक अग्रणी महानुभाव के साथ में वार्तालाप हो रहा था उस समय उन्होंने कहा कि—"जैनों और साधु समाज की गतिविधि यही रही तो भविष्य में श्री जैन एवं समाज का भी विश्व मे नाम शेष हो सकता है"। अत. संघ के हित चिन्तकों को अब गहरी निद्रा से सत्वर जग जाना चाहिए। यदि जगने में नहीं आएगा तो भयंकर विनाश सामने ही दिख रहा है। भावनगर से प्रकाशित होने वाले 'जैन' के ६-२-६५ के अंक में विद्वान् तंत्री श्री भी जलते हृदय से श्री संघ को यही प्रेरणा दे रहे हैं कि 'कोइक आचार्य तो जागो' विश्व में जैन धर्म का प्रचार, प्रसार तथा 'सवी जीव करूँ शासन रसी' आदि महान् दिव्य भावनाओं को अलग रखने हुए यदि जैन संघ को अपना सुदृढ़ अस्तित्व भी टिकाए रखना हो तो समग्र भेद, प्रभेद, पेटाभेदों को अलग रख कर सम्पूर्ण श्री जैनसंघ को हृदय से आपसी ऐक्य का अनुभव करना चाहिए। इस प्रसंग में करीब ६ वर्ष पूर्व बना हुआ एक महत्वपूर्ण प्रसंग याद आता है कि —'एक विचारक बुद्धिमान साधु ने अपने आराध्य पाद पूज्य गुरुवर की सेवा में विनम्र निवेदन किया कि 'समग्र जैनसंघ के हित की किसी भी प्रवृत्ति में मुक्तमन से रस लेने की अनुमति अर्थात् आज्ञा मिलनी चाहिए'। गुरू महाराज को वह बात मंजूर न थी। फलतः गुरू महाराज शिष्य को छोड़ कर अन्यत्र विहार कर गये। जबकि होना यह चाहिए था कि—जैन साधु समाज को जैन अजैन जैसे क्षुद्र मामूली भेदों से भी ऊपर उठकर विश्व के मानव समाज के साथ ही नहीं, अपितु चौरासी लाख सम्पूर्ण जीव योनियों के साथ में भी सक्रिय एकाकारता अनुभव करना चाहिए। जो कि उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

**श्री जैन संघ को युगानुरूप कार्य करना चाहिए**

आज भी श्री जैनसंघ में सैकड़ों त्यागी, तपस्वी, विद्वान्, बहुश्रुत, प्रतिभासम्पन्न, पूज्य आचार्य आदि मुनिवर है। पृथ्वी को पावन करने वाली त्यागी, तपस्विनी, तथा विदुषी हजारों महान साध्वियां एव आर्या रत्न हैं। जिनकी मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा अमृत का प्रवाह निरन्तर बह रहा है। विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न, उदार, धर्म प्रेमी साथ ही समाज, राष्ट्र तथा विश्व का सक्रिय हितचिंतन करने वाला अनुपम गृहस्थ अर्थात् श्राद्ध रत्न एवं महान् श्राविकारत्न भी है। ६-२-६५ के 'जैन' में पृष्ठ ६८ पर उपधान तप जैसा महान् तप करके माला पहनने वाली दो सगी बहने सात वर्ष की कुमारी राजुल तथा पांच वर्ष की कुमारी नीलम का जो ब्लाक छपा है, वह सचमुच श्री जैन संघ का गौरव बढ़ाने वाला ही है। दोनों बालिकाओं का जीवन तो धन्य है ही, उससे भी आगे बढ़कर हजार गुना धन्य उन दोनों के धर्मप्राण माता पिता का है कि जिन्होंने महान् त्याग के साथ बालिकाओं में ऐसे दिव्य संस्कारों का सिंचन किया।

श्री जैन संघ की ओर जब जब दृष्टि जाती है तब तब ऐसे प्रसंगों को देख पढ़ और सुनकर हृदय हर्ष से नाच उठता है। यह एक ही नहीं ऐसे तो अनेकों प्रेरणादायी प्रसंग श्री जैन संघ में बराबर हुए है, होते हैं, और आगे भी होते ही रहेंगे। सचमुच त्याग, तप, सहिष्णुता, सच्चरित्रता आदि सैंकड़ो गुणों की दृष्टि से बड़भागी श्री जैन संघ आज भी विद्यमान् है। किन्तु भविष्य की तथा संसार की उपयोगिता की दृष्टि से विचार करते हुए ऐसा लगता है कि श्री जैन संघ अभी काल के बल को जैसा चाहिए वैसा पहचान नहीं सका है। बिखरे हुए कोई कोई पहचानते हों तो उनका समाज में कोई उल्लेखनीय महत्वपूर्ण स्थान ही नही है। या स्वय समाज ने वैसे नर रत्नों का कोई मूल्य आंका भी नही है। गृहस्थ समाज मे तो वैसे कितने ही विचक्षण पुरुष हैं कि जो काल के बल को पहचानते हे किन्तु श्री जैन सघ साधु साध्वी प्रधान सघ होने के कारण वैसे गृहस्थों का समाज में कुछ चलता नहीं है। ऊपर जैसा कहा गया वैसा श्री जैन साधु तथा साध्वी संघ त्याग तपश्चर्या मे विश्व में अन्य सब साधु समाजो से पूर्णतः अग्रणीय है किन्तु उनमें एकमात्र युगानुरूप दृष्टि न होने के कारण त्यागी, तपस्वी, महान् साधु साध्वी सघ भी विश्व एव समाज को मार्ग दर्शन कराने में बिल्कुल निरुपयोगी रहा है। इधर-उधर बिखरी हुई उपयोगी जैन शक्तियों का सगठन भी वे नहीं कर सके हैं। वहाँ नव निर्माण की तो बात ही कहाँ से सम्भव हो। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आदरणीय श्री जैन साधु साध्वी जी महाराजो का त्याग, तप, प्रधान जीवन के साथ ही उनमे कुछ युगानुरूप दृष्टि भी आवे। आशा तो यह रखते है कि उनमे कुछ महात्मा पूर्णतः युगानुरूप बनकर अन्यो को भी युगानुरूप दृष्टि देने वाले हों। और इस तरह से शास्त्रों मे वर्णित युग प्रधान महापुरुष के पवित्र पद को भी सुशोभित करे कि जैसी भविष्य वाणी "युगप्रधानगडिका" आदि ग्रथकारों ने की है।

आज विश्व तो दूर रहा भारत में भी ऐसे कितने ही बड़े-बड़े शहर भी है कि जहाँ जैन साधु जीवन एवं उनकी वेश भूषा से भी जनता अपरिचित है। वहाँ देहातो की तो बात ही क्या ? केवल गुजरात, राजस्थान दक्षिण भारत आदि कुछ प्रान्त ऐसे हैं कि जहाँ जैन साधु जीवन, उनकी वेश-भूषा, आचार, विचार, आदि से जनता कुछ परिचित है। बाकी भारत में ही ८० प्रतिशत स्थान या जनता ऐसी है कि जहाँ जैन साधु जीवन तथा उनके आचार विचार से जनता को कुछ परिचय भी नही है।

सुनने मे आ रहा है कि सन् १८९३ के विश्व धर्म सम्मेलन चिकागो मे स्वयं युगाचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज श्री की जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने की इच्छा थी किन्तु तत्कालीन समाज की परिस्थिति को देखते हुए वैसे पूज्य पुरुष भी ऐसा साहस न कर सके। और श्री वीरचन्द राघवजी गान्धी को अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजे थे। यद्यपि श्री वीरचन्द राघव जी ने विश्व धर्म सम्मेलन पर काफी अच्छा प्रभाव डाला था। अनेक शहरों में उनके सारगर्भित भाषणो ने जैनधर्म को उज्ज्वल बनाया था। परन्तु उतना तो कहना ही पड़ता है कि श्री जैनसंघ ने यदि समय को पहचानकर एक युगाचार्य महापुरुष के मार्ग मे सरलता कर दी होती तो उसका परिणाम सम्पूर्ण श्री जैन संघ के लिए कितना गौरवपूर्ण आया होता ! सन् १८९३ के शुरू से ही एक महान् क्रान्ति यदि अविच्छिन्न रूप से चली होती तो आज सन १९६५ तक वह कहाँ से कहाँ पहुँच गई होती ?

एक प्रभावशाली विद्वान् मुनिवर को मैं वर्षो से जानता हूँ कि जो धर्मप्रचार के निमित्त विदेशों मे भी जाने को तैयार थे किन्तु श्री सघ की परिस्थिति देखते हुए वे भी साहस न कर सके। आज तो वे महात्मा काफी वृद्ध हो चुके है। इस उम्र मे भी वे साहित्य का सर्जन करते ही जा रहे है किन्तु उनके द्वारा जो अनेक ग्रथ बने, अन्य विद्वानों को (स्कॉलर) बनाने की जो सम्भावना थी वह न हो सकी कि जो अन्य अर्थात् विद्वान् शताब्दियो तक विदेश की सस्कृति को भी प्रभावित करते रहते है। साथ ही साथ भगवान् महावीर एव जैन सस्कृति का नाम उज्ज्वल होता रहता।

भूतकालीन इतिहास में महाराजा सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिए कितना महत्व का, विरल पुरुषार्थ किया था ? वह अनुभव करने जैसा है। जिनका प्रेरणादायी वर्णन अनेक ग्रन्थों मे विस्तार से हुआ है। उस काल की आवश्यकता के अनुसार लाखों श्री जिन मन्दिरों की

स्थापना की करोड़ों विशाल श्री जिन मन्दिरों का निर्माण कराया, जन साधारण के लिए भी अनेकों उपयोगी प्रवृत्तियाँ करके करोड़ों का धन खर्च किया था। यह सब तो ठीक, जन साधारण मे विशुद्ध धर्म के प्रचार के लिए तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार नकली जैन साधुओं को भी अनार्य देश में भेजे थे। यदि श्री जैनसंघ ने शताब्दियों पूर्व शुरू की गई एक महान् प्रतिष्ठित राजा श्री सम्प्रति जैसे महा आर्हत् की महान् धर्मप्रभावनाकारी विशुद्ध प्रवृत्तियों का कुछ भी मूल्यांकन किया होता तो आज सम्पूर्ण विश्व में श्री जैनसंघ का गौरव कितना अनोखा होता ?

यहाँ काश्मीर का एक सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रसंग की तुलना करने जैसी है। बात यह है कि काश्मीर के भूतकालीन नरेश को एक बार लगा कि काश्मीर में जितने हिन्दू में से मुसलमान हो गये है उनको परिवर्तित कराके पुनः हिन्दू बना लिया जाय। हिन्दू में से मुसलमान बने हुए मुसलमान पुनः हिन्दू होने के लिए तैयार भी हो गए थे किन्तु उस समय के कितने ब्राह्मण पण्डितों ने विरोध किया कि मुसलमान में से हिन्दू बना ही नहीं सकते? जो वंश अशुद्ध हुआ सो हो गया। फलतः शुद्धिकरण का वह सारा प्रसंग धरा रह गया। संकुचित दृष्टि वाले ब्राह्मण पण्डितों की उस गलती ने भारत की आर्य संस्कृति को कितना महान् नुकसान पहुँचाया है ? उसका अनुभव आज हर कोई व्यक्ति वर्षों से चली आती तथा दूर तक चलने वाली काश्मीर, पाकिस्तान आदि की समस्या के रूप में अनुभव करता है। यद्यपि यह एक लौकिक उदाहरण है। किन्तु ऊपर से श्री जैन जैसे महान् संघ के अग्रणियों को भी उचित सक्रिय हित शिक्षा लेनी चाहिए।

महान् आचार्य श्री उमास्वाति जी महाराज, महान आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी महाराज, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिवर जी महाराज, अहिंसा धर्म के उद्योत करने वाले पूज्य आचार्य महाराज श्री विजय हीर सूरिश्वर जी महाराज, महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज आदि महापुरुषों ने अपनी-अपनी महान अमूल्य शक्तियों का उपयोग उस काल तथा समय के अनुसार श्री जैनधर्म की उन्नति में ही किया था। वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार श्री संघ के सर पर ही वैसे कोई प्रभावशाली महापुरुष को उत्पन्न करने की जिम्मेदारी है।

**आत्मज्ञान का दिव्य मार्ग :**

शताब्दियों का भूतकालीन श्री जैन संघ तथा वर्तमान कालीन श्री जैन समाज के ऊपर एक विहगम दृष्टि से देखते हुए मुझे तो ऐसा स्पष्ट लग रहा है कि जैन परंपरा ने ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान पर अधिक लक्ष्य न देते हुए केवल क्रिया काण्ड तथा बाह्य आचार पर ही विशेष लक्ष्य दिया। ऐसा होने से मात्र क्रिया काण्ड को लेकर ही अनेकों सम्प्रदाय हुए। प्रत्येक सम्प्रदाय में भी क्रिया के अत्यधिक प्रदर्शन या आग्रह के कारण एक दूसरे की निन्दा भी होने लगी। और उस निन्दक स्वभाव के कारण विश्व मैत्री या विश्व बन्धुत्व केवल शब्दों में ही रह गया। परिणामतः रही सही संघ शक्ति भी क्षीण होने लगी। इस सारी महत्व की भूतकालीन परिस्थितियों में से श्री जैन संघ को एक महत्व की प्रेरणा लेकर और उसका हृदयंगम विचार करके आगामी नये मार्ग का अन्वेषण करे तब ही श्री जैन संघ का वास्तविक गौरव भविष्य के काल में भी टिक सकेगा।

केवल क्रिया काण्ड तथा आचार धर्म की ओर झुकाव के कारण ही श्री जैन संघ के बड़े से बड़े साधक का भी विकास अधिकतर व्यवहार सम्यक्त्व से आगे देखने में नहीं आता। मैं अत्यन्त नम्रता के साथ श्री संघ के सामने प्रश्न करना चाहता हूँ कि विशुद्ध निश्चय सम्यक्त्व अर्थात् देह, इन्द्रिय, बुद्धि, मन से परे दूर-दूर से भी विशुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन करने वाले महा पुरुष कितने हैं ? कहाँ है ? यदि है तो वैसे महापुरुषों से श्री जैन संघ जैसा महान् संघ भी क्या कोई लाभ उठाता है ? उन्नति पथ पर आगे न बढ़ते साधक के लिए देह, इन्द्रिय, बुद्धि मन से परे विशुद्ध आत्म स्वरूप का दूर-दूर से ही दर्शन होना मात्र ही अन्तिम नहीं है। वास्तव में तो वह अवस्था अनन्त आत्म जीवन का अनुभव कराने वाला प्रवेश द्वार ही है। उस मार्ग पर आगे बढ़ता साधक विशुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। जैसे देहाभिमानी व्यक्ति जिह्वा पर मिठाई रखने से मिष्ठता का अनुभव करता है वैसा ही साक्षात् आत्मानुभव करने वाला साधक

ही सचमुच निश्चय सम्यक्त्व का पूर्ण अनुभव कर सकता है। निश्चय सम्यक्त्व के अन्तिम उच्च स्तर का अनुभव करने वाला साधक वास्तव में ब्रह्म रूप हो जाता है। देह, इन्द्रिय, बुद्धि, मन रूप सम्पूर्ण दृश्यमान् भाव जगत से परे विशुद्ध भावातीत स्वरूप मे स्थित हो जाता है। आत्मा के इस भावातीत अर्थात् ब्रह्मरूप अवस्था में आकर के "सबी जीव करूं शासन रसी" की दिव्य भावना की ओर आगे बढ़ता है। जहाँ क्रमशः विशुद्ध आत्म स्वरूप में अनुभव द्वारा आगे बढ़ता साधक क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके अन्त मे तेरवे गुणस्थान तक पहुँच जाता है। जहाँ जाकर आत्मा स्वयं भगवान् बन जाता है। और जन्म मरण के चक्र से भी पूर्णतः मुक्त होकर देह, इन्द्रिय, बुद्धि, मन से परे एकमात्र पूर्ण भगवत् स्वरूप में अनन्तकाल के लिए स्थित हो जाता है। आत्मस्वरूप की उस अन्तिम प्राप्ति को देख कर काल जैसा अति भयंकर शत्रु भी अनन्तकाल के लिए निवृत्त हो जाता है। विशुद्ध आत्म स्वरूप की परछाई तक भी वह काल सह नही सकता। फलतः आत्मा अपने निजी रूप में कालातीत स्थिति करता है। जैसे प्रकारान्तर से अनन्तकाल की आत्मस्थिति भी कह सकते हैं। —क्रमशः

शोध-कण

# महत्वपूर्ण दो मूर्ति-लेख

नेमचंद धन्नूसा जैन, न्यायतीर्थ

जुलाई १९६३ में मुझे वाशीम (जिला अकोला) के दिगम्बर जैन मन्दिर के मूर्ति-यंत्रलेख लेने का सुअवसर मिला था। उसमें मुझे यह दो लेख मिले जिससे पं० मेघराज के जीवन और काल पर कुछ प्रकाश मिलता है। पं० मेघराज के जसोधररास मराठी तथा तीर्थवंदना और पार्श्वनाथ भवातर ये तीन ग्रन्थ उपलब्ध है। तथा उनका काल १६वीं सदी का पूर्वार्ध माना जाता है। स्थल का निर्देश तो उन्होंने खुद ही पार्श्वनाथ भवातर के अन्त मे दिया है। देखिए—

'अनेक अतिशयो सुभ गुणसागरु, अतरिक्ष श्रीपुरी परमेश्वरु। वांछित पास जिनेश्वरु, ब्रह्म शांति प्रमादे मेधा मणे, कर जोडुनि वंदना करु।।४८।।" इसमे जैसा गुरु का नाम है वैसा अतरिक्ष श्रीपुर का भी नाम है। अत. यह रचना उन्होने प्रत्यक्ष 'श्रीपुरी' रहकर की होगी। ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा। क्योकि अतरिक्ष पार्श्वनाथ से १० मील दूर ही उनके जीवन सम्बन्धी मूर्तिलेख मिले है। देखो—

१. पि० पद्मावती देवी (विं० पार्श्वनाथ मन्दिर) सं० १६१७ माघ वद्य ३ र (वौ) श्रीमूलसंघे ब्र० श्रीशांतिदास त० ब्र० हस त० ब्र० राजपालोपदेशात् हुंमड ज्ञातीय पं० मेघा भा(र्या) राणी सु० पं० मंगल भा० सीता द्वि० सु० सिंध भा० रमा।

२. पि० मि० चौबीसी (अमीझरो) पार्श्व० मन्दिर) —स० १६६० वर्षे जेठ शु० १४ शनी मूलसंघे ब० गणे भ० सुमतिकीर्ति–भ० गुणकीर्ति–भ० श्री वादीभूषण भ० रामकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दी उपदेशात् आचार्य श्री श्रीभूषण शिष्य ब्र० श्री भीमा तत् शिष्य ब्र० श्री मेघराज तत् शिष्यौ ब्र० श्री केशव ब्र० सवजी एते श्रीरत्नमय त्रिकाल चतुर्विंशतिकां नित्य प्रणमति। स्वगुरु ब्रह्म श्री मेघराज पुण्यार्थ स्वकीय शिष्य ब्रह्म सवजीनेन कारापिता।

पहले लेख से स्पष्ट होता है कि वे हुमड समाज के भूषण थे। अतः उनकी मातृभाषा गुजराती रही हो और ईडर शाखा के गुरू ही इनके गुरू रहे हों तो शंका नही अत इनका जन्म गुजरात में माना तो बाधा नही आती। विवाहोत्तर ये अतरिक्ष प्रभु का दर्शन करने इधर आये होगे तो इधर ही रमे और साहित्य रचना की। उनकी पत्नी का नाम 'राणी' था। पं० मगल और सिंघ ये उनके दो पुत्र थे। स० १६१७ तक ये दोनों पुत्र विवाह बद्ध हुए थे इसका अर्थ उस समय पडित मेघराज जी की आयु ४० से ४५ साल की होगी। अत. उनका जन्म सवत १५७२ से ७५ (इ० सं० १५१७–२०) तक हुआ होगा। दूसरे लेख से यह विदित होता है कि जीवन के उत्तरार्ध उन्होंने ब्रह्मचर्य लिया था और उनका वह मंगलमय जीवन सं० १६८० के पहले ही खतम हो गया था। उनके पवित्र स्मृति में सं० १६८० में यह चौबीसी की स्थापना की गई थी। इससे १०–१५ साल भी पहले उनकी मृत्यु हुई हो तो भी उनकी आयु सौ साल से कम नहीं होगी

## एक महत्वपूर्ण-पत्र

अनेकान्त का जून का अंक मिला। मुझे पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जैन समाज में यह शोध पत्र बहुत समय से निकल रहा है। पत्र में लेखों का चयन सुन्दर और ऐतिहासिक दृष्टि को लक्ष्य में रख कर किया जाता है। अन्वेषक विद्वानों के लिए यह पत्र बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। मैं इस पत्र की प्रगति चाहता हूं। और सचालकों से अनुरोध करूँगा कि वे इसे और भी समुन्नत बनाने का यत्न करें।

जे० सी० एडवोकेट
जालंधर

---

## वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५० ) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री गमःवरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर
१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

## सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूमरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १।।)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १।।)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १।।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।।।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित ।।।)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (१६) महावीर पूजा ।)

(१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियोका महत्वपूर्ण सग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स० प० परमानन्द शास्त्री सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित

द्वैमासिक अक्टूबर १९६५

# अनेकान्त

अहार क्षेत्र के शांतिनाथ

छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

## विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १. श्री सिद्ध-स्तवनम्—धवला टीका | १४५ |
| २. विदर्भ में जैनधर्म की परम्परा — [डा० विद्याधर जोहरा पुरकर] | १४ |
| ३. यशस्तिलक में चर्चित—आश्रम व्यवस्था और संन्यस्त व्यक्ति —डा० गोकुलचन्द्र जैन एम.ए. पी-एच.डी. | १४६ |
| ४. सेनगण की—भट्टारक परम्परा —[पं० नेमचन्द धन्नूसा न्यायतीर्थ] | १५३ |
| ५. तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा —ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा एम. ए. | १५७ |
| ६. भ० विश्वभूषण की कतिपय अज्ञात रचनाएँ —श्री अगरचन्द्र नाहटा | १५८ |
| ७. अप्रावृत और प्रतिसंलीनता —मुनि श्री नथमल | १६० |
| ८. अपराध और बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध —साध्वी श्री मंजुला | १६२ |
| ९. सम्यग्दर्शन—साध्वी श्री संघमित्रा | १६६ |
| १०. कल्पसिद्धान्त की सचित्र स्वर्णाक्षरी प्रशस्ति —कुन्दनलाल जैन एम. एल. टी. | १७५ |
| ११. अतिशय क्षेत्र अहार—[श्री नीरज जैन] | १७७ |
| १२. श्री मोहनलाल जी ज्ञान भंडार सूरत की ताड़पत्रीय प्रतिमा —[श्री अगरचन्द नाहटा] | १७९ |
| १३. अपभ्रंश भाषा की दो लघु रासो रचनाएँ —डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री | १८४ |
| १४. निश्चय और व्यवहार के कपोतल पर—षट्प्राभृत एक अनुशीलन—मुनिश्री नथमल | १८८ |
| १५. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द जैन शास्त्री | १९२ |


★



## निवेदन

वीर-सेवा-मन्दिर एक शोध-संस्था है। इसमें जैन-साहित्य और इतिहास की शोध-खोज होती है, और अनेकान्त पत्र द्वारा उसे प्रकाशित किया जाता है। अनेक विद्वान रिसर्च के लिए वीर-सेवामन्दिर के ग्रन्थागार से पुस्तकें ले जाते है। और अपना कार्य कर वापिस करते हैं। समाज के श्रीमानों का कर्तव्य है कि वे वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी को और अधिक उपयोगी प्रकाशित अप्रकाशित साहित्य प्रदान करें। जिससे अन्वेषक विद्वान पूरा लाभ उठा सकें। आशा है जैन साहित्य और इतिहास के प्रेमी सज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

**प्रेमचन्द जैन**<br>
**सं० मन्त्री वीरसेवामन्दिर**<br>
**२१, दरियागंज, दिल्ली।**

## अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अपना वार्षिक मूल्य शीघ्र भेज दें। जिन ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक मूल्य नहीं भेजा है। और न पत्र का उत्तर ही दिया है। उनसे सानुरोध प्रार्थना है कि अपना वे वार्षिक मूल्य ६) रु० शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करें। अनेकान्त जैन समाज का ख्याति प्राप्त एक शोध पत्र है, जिसमें धार्मिक लेखों के शोध-खोज के महत्वपूर्ण लेख रहते है। जो पठनीय तथा संग्रहणीय होते हैं।

—व्यवस्थापक<br>
**अनेकान्त**<br>
**वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।**

**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**<br>
**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०**




★

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥


| वर्ष १८<br>किरण-४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६<br>वीर निर्वाण संवत् २४९२, वि० स० २०२२ | अक्टूबर<br>सन् १९६५ |
|---|---|---|


## श्रीसिद्ध-स्तवनम्

णिहय विविहट्ठ-कम्मा तिहुयण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा।
सुह-सायर-मज्झ-गया णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥१॥
अणवज्जा कय-कज्जा सव्वावयवेहिं दिट्ठ-सव्वट्ठा।
वज्ज-सिलत्थब्भग्गय पडिमं वाभेज्ज-संठाणा ॥२॥
माणुस संठाणा विहु सव्वावयवेहिं णो गुणेहि समा।
सव्विंदियाण विसयं जमेग-देसे विजाणंति ॥३॥

अर्थ—जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखरस्वरूप हैं, सुखरूपी संसार में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त हैं, अनवद्य हैं—निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वाङ्ग से अथवा समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला-निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं, जो पुरुषाकार होने पर भी गुणों से पुरुषों के समान नही हैं, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को भिन्न-भिन्न देश में जानता है, परन्तु जो प्रति प्रदेश मे सब विषयों को जानते हैं, वे सिद्ध है, उन्हें मेरा नमस्कार हो।

# विदर्भ में जैनधर्म की परम्परा

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, मंडला

**१. प्रादेशिक मर्यादा—**

विदर्भ प्रदेश संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में पुरातन समय से प्रसिद्ध है। वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेश के पूर्वी भाग के आठ जिले—भंडारा, नागपुर, वर्धा, चांदा, अमरावती, यवतमाल, अकोला तथा बुलडाणा—विदर्भ विभाग मे शामिल होते हैं। मध्ययुग मे इस प्रदेश को वराड, वह्राड वराट, वैराट (या अंग्रेजी लिपि के कारण बरार, बेरार) भी कहा जाता था। यह वरदातट का रूपान्तर है। वरदा [वर्तमान वर्धा] नदी इस प्रदेश से सबद्ध जैन परम्परा के प्राचीन उल्लेखों का यहाँ सिंहावलोकन किया जाता है।

**२. पौराणिक उल्लेख—**

पुन्नाट संघ के आचार्य श्रीजिनसेन के हरिवंशपुराण [आठवी शताब्दी] में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव के पुत्रों के राज्यो की नामावली दी है। उसमें विदर्भ का भी समावेश है सर्ग ११ श्लोक ६६ । इसी ग्रन्थ मे हरिवंश के राजा ऐलेय के पुत्र कुणम द्वारा विदर्भ मे वरदा नदी के तीर पर कुण्डिनपुर की स्थापना का वर्णन है सर्ग १७ श्लोक २३ । कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी श्रीकृष्ण की पटरानी थी सर्ग ४२, तथा श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का भी यही ससुराल था सर्ग ४८ । वरदा नदी के तीर पर यह कुण्डिनपुर छोटे से गाँव के रूप में अब भी विद्यमान है। यहाँ एक जिन-मन्दिर भी है।

सेनसंघ के आचार्य श्रीजिनसेन के आदिपुराण (नौवी शताब्दी) मे भगवान ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय भारतवर्ष के विभिन्न राज्यो की नामावली दी है पर्व १६ श्लोक १५३ । इसी ग्रन्थ में चक्रवर्ती भरत के द्वारा जीते गये प्रदेशों में भी विदर्भ का समावेश किया है पर्व २६ श्लोक ४० ।

आचार्य श्रीगुणभद्र के उत्तरपुराण (नौवीं शताब्दी) में नौवें तीर्थङ्कर श्रीपुष्पदन्त के प्रधान गणधर का नाम विदर्भ बतलाया है पर्व ५५ श्लोक ५२ । इस ग्रन्थ में भी श्रीकृष्ण की रानी रुक्मिणी का जन्मस्थान विदर्भप्रदेश का कुण्डलपुर बतलाया है पर्व ७१ श्लोक ३४१ जो स्पष्टत उपर्युक्त कुण्डिनपुर से अभिन्न है।

महाकवि हरिश्चन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय काव्य में भगवान धर्मनाथ की पत्नी शृङ्गारवती विदर्भ की राज-कन्या थी ऐसा वर्णन है। उनका स्वयम्वर विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर (जो वरदा नदी के तीर पर था) मे हुआ था। सर्ग १६ ।

भागवतपुराण में भी श्रीभगवान ऋषभदेव के पुत्रों मे एक का नाम विदर्भ बतलाया है। (स्कन्ध ५ अ० ४, ६, १०)।

इन पौराणिक उल्लेखों से मालूम होता है कि आठवीं नौवीं शताब्दी के विद्वानों की दृष्टि मे विदर्भ मे जैन परम्परा का सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव से ही रहा है।

**३. ऐतिहासिक उल्लेख-अचलपुर—**

हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट पर्व (सर्ग १२) में एक कथा है जिसके अनुसार आर्य शमित ने अचलपुर के निकट कन्या और पूर्णा नदियों के मध्य मे स्थित ब्रह्मद्वीप के बहुत से तापसों को जैन-संघ मे दीक्षित किया था। इनकी परम्परा ब्रह्मद्वीपिक शाखा कहलाई। आर्य शमित आर्य वज्रस्वामी के मामा थे अतः उनका समय सन् पूर्व दूसरी शताब्दी के अन्त में अनुमानित है। अचलपुर से निकली हुई ब्रह्मद्वीपिक शाखा के आर्य सिंह का उल्लेख नन्दीसूत्र की स्थविरावली गाथा ३६ में मिलता है। वे कालिक श्रुत और अनुयोगों के विद्वान अध्येता थे। आचार्यक्रम से आर्य सिंह का समय तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ मे अनुमानित होता है। दसवी शताब्दी मे पंडित हरिषेण ने

अचलपुर में अपभ्रंश धर्मपरीक्षा की रचना की। उन्होंने अचलपुर को जिनगृहप्रचुर कहा है। हरिषेण के विषय में डा० उपाध्येजी ने एक विस्तृत लेख प्रकाशित किया है। (एनल्सऑफ दि भांडारकर ओ० रि० इन्स्टीटयूट भा० २३ पृ० ५७२-६०८)। अचलपुर इस समय अमरावती जिले की एक तहसील का सदर मुकाम है। यहाँ तीन जिन-मन्दिर हैं। यहाँ से १२ मील उत्तरपूर्व में मुक्तागिरि क्षेत्र है। निर्वाणकांड में वर्णित मेढगिरि से यह अभिन्न है। निर्वाणकाण्ड के कथनानुसार यहाँ साढ़ेतीन कोटि मुनि मुक्त हुए थे। गाथा १६ ।

### ४. भद्रावती और पद्मपुर—

चांदा जिले में भांदक नामक ग्राम है। इसका पुरातन नाम भद्रावती था। यहीं जैन, बौद्ध और हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों के बहुत से अवशेष पाये जाते है जो शिल्प-शैली के आधार पर पांचवी-छठी शताब्दी के माने जाते है। यहाँ प्राप्त एक पार्श्वनाथ-मूर्ति को लेकर लगभग ८० वर्ष पहले श्वेताम्बर समाज ने यहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया था। अब यह एक श्वेताम्बर तीर्थ के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है।

भंडारा जिले में पदमपुर नामक ग्राम है। यहाँ भी जैन हिन्दू मूर्तियों के कई अवशेष पाये गये है। इनकी शिल्पशैली सातवीं-आठवी शताब्दी की मानी जाती है।

### ५. वाटग्राम—

आचार्य नयनन्दि ने सकलविधिविधान काव्य (ग्यारहवीं शताब्दी) मे बतलाया है कि वराड प्रदेश के वाडग्राम में बहुत से जिनमन्दिर है तथा वहाँ श्रीवीरसेन और जिनसेन ने धवल, जयधवल तथा महाबन्ध इन तीन सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की थी तथा महाकवि धनजय स्वयम्भूदेव तथा पुण्डरीक भी इसी वाडग्राम में हुए थे (जैनग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भा० २ पृ० २७)।

द्विसन्धान महाकाव्य, नाममाला कोष तथा विषापहारस्तोत्र के रचयिता धनंजय ने अपने निवास स्थान का कही उल्लेख नही किया है। अत. वे वराड विदर्भ के थे यह नयनन्दि का कथन सही मानने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्वयम्भूछन्द पउमचरिउ तथा रिट्ठनेमिचरिउ के कर्ता स्वयम्भूदेव ने भी अपना निवासस्थान नहीं बतलाया है। वह भी नयनन्दि के कथनानुसार वराड का वाडगाम सिद्ध होता है। षट्खण्डागम की टीका धवला की प्रशस्ति में आचार्य वीरसेन ने रचनास्थान नहीं बतलाया है वह भी इस कथन से ज्ञात हो जाता है। जिनसेनाचार्य ने जयधवला की प्रशस्ति में रचनास्थान वाटग्राम ही बतलाया है किन्तु प्रदेश का उल्लेख नहीं किया है। इस पर से स्व० पं० प्रेमीजी ने उक्त वाटग्राम को गुजरात के बड़ौदा से अभिन्न माना था (जैन साहित्य और इतिहास पृ० १४३)। किन्तु नयनंदि के कथन से यह कल्पना निरस्त हो जाती है। इतने महान ग्रन्थों की रचना का स्थान यह वाडगाम आठवीं-नौवीं शताब्दी में जैन साहित्य का बहुत बड़ा केन्द्र रहा होगा। खेद है कि इस समय यह प्रसिद्ध नहीं है। हमारा अनुमान है विदर्भ के अकोला के जिले की बालापुर तहसील में स्थित वाडेगाँव ही प्राचीन वाटग्राम है। यहाँ से थोडी ही दूरी पर पातूर ग्राम के पास जैन शिल्पों के बहुत से अवशेष मिले हैं जिनका कुछ उल्लेख आगे किया है।

### ६. विन्यातटपुर—

पुन्नाट संघ के श्रीहरिषेणाचार्य ने बृहत्कथा कोष (दसवी शताब्दी) में शिवशर्मा अपरनाम वारत्र मुनि का निर्वाणस्थान वराट प्रदेश के वैराकर के पश्चिम मे विन्या नदी के किनारे विन्यातटपुर बतलाया है (कथा ८० श्लोक ७०-७२)। हम पहले एक टिप्पणी में यह अनुमान व्यक्त कर चुके हैं कि उक्त वर्णन का विन्यातटपुर विदर्भ विभाग में चांदा जिले मे वैनगंगा नदी के किनारे पर स्थित वैरागढ के आस-पास रहा होगा (अनेकान्त वर्ष १६ पृष्ठ २५६)।

### ७. श्रीपुर—

अकोला जिले की वाशिम तहसील मे स्थित शिरपुर (पुरातन नाम श्रीपुर) मे अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है। कथाओ के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण राजा श्रीपाल अपरनाम एल ने दसवीं शताब्दी में कराया था। इसके विषय मे अनेकान्त के पिछले किरणों में काफी चर्चा हुई है। मदनकीर्ति, जिनप्रभ, उदयकीर्ति, गुणकीर्ति,

मेघराज, राघव आदि विद्वानों ने इस क्षेत्र को वन्दन किया है। इनके उल्लेख हमने 'तीर्थवन्दनसग्रह' में संकलित किये हैं।

**८. पातूर—**

अकोला जिले की बालापुर तहसील में पातूर ग्राम है। यहाँ दो मन्दिरों के अवशेषों से कई मूर्तिया प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक मूर्ति का परिचय श्री बालचन्द्र जैन ने अनेकान्त वर्ष १६ पृष्ठ २३६ में प्रकाशित किया है। सं० १२४५ में स्थापित यह मूर्ति आचार्य धर्मसेन की है तथा अब नागपुर के संग्रहालय में है। इसके लेख में धर्मसेन की गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—नैवीर, सीवसेन, विघसेन, पतिसेन तथा धमसेन। इन नामों के शुद्ध रूप सम्भवतः नयवीर, शिवसेन, विष्णुसेन, मतिसेन और धर्मसेन हैं। नामों से ये आचार्य सेनगण की परपरा के ज्ञात होते हैं। किन्तु नौवीं शताब्दी मे प्रचलित वीरसेन जिनसेन की परम्परा से इनका सम्बन्ध स्पष्ट नही है। सोलहवी शताब्दी में कारंजा में सेनगण की जो परम्परा स्थायी हुई उससे भी इनका सम्बन्ध स्पष्ट नही है। नागपुर सग्रहालय की एक अन्य मूर्ति भी स० १२४५ की है जिसके लेख मे माणिकसेन वीरसेन तथा वाजसेन ये नाम पाये जाते हैं (जैन शिलालेख संग्रह भा. ४ पृष्ठ २०९)।

**९ कारंजा—**

सोलहवीं शताब्दी में अकोला जिले के कारंजा नगर में जैन आचार्यों की तीन परम्पराओं के केन्द्र स्थापित हुए। ये परम्पराएँ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलती रहीं। सेनगण, बलात्कारगण और काष्ठासंघ के यहाँ के भट्टारकों का परिचय हमने 'भट्टारक सम्प्रदाय' में विस्तार से दिया है। विदर्भ के वर्तमान जैन मन्दिरों व मूर्तियों में से अधिकांश इन्हीं भट्टारकों द्वारा स्थापित हैं। ये मन्दिर नागपुर, कामठी, कलमेश्वर, केलवद, भ्याहाड, बाजारगांव, कोंढाली, पारशिवनी वर्धा, नांदगांव, अमरावती, मोर्शी, अंजनगांव, बालापुर, भंडारा, मुर्तिजापुर, वाढोना, भातकुली, चिखली, वाशिम, मेहकर, देउलगांव, जलगांव-जामोद देउलघाट आदि स्थानो में है। इनका विस्तृत अध्ययन अभी नही हुआ है।

**१० उपसंहार—**

यहां तक हमें विदर्भ में जैनधर्म की परम्परा के जो पुरातन उल्लेख प्राप्त होते हैं उनमें मे कुछ का सग्रह किया है। इस क्षेत्र में श्वेताम्बर समाज की सख्या भी काफी है और उनके कुछ मन्दिर आदि भी है। लेकिन इनके परिचय का अवसर हमे कम मिला है। सन १९६१ की जनगणना के अनुसार विदर्भ क्षेत्र में जैनों की सख्या लगभग ४५००० है अर्थात् लगभग दस हजार जैन परिवार इस क्षेत्र में है। इनमे सैतवाल, परवार, खडेलवाल, बघेरवाल, अगरवाल, गंगेरवाल, पद्मावतीपोरवाल, धाकड, जैबी, बदनोरे, ओसवाल, पोरवाल आदि जातियो के लोग हैं। इस क्षेत्र की शैक्षणिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रगति मे जैनों ने पर्याप्त योगदान दिया है। किन्तु इसका मूल्यांकन एक स्वतन्त्र विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

---

## जातक में अहिंसादृष्टि

**यो अत्त दुक्खेन परस्स दुक्खं, सुखेन वा अत्त सुखं ददाति।**
**यथेव इदं मयह तथा परेसं, सो एव जानाति स वेदिधम्मं ॥२७॥**

**अर्थ—जो निज के दुःख की तरह पर के दुःख की अनुभूति करता है, निज के सुख से पर के सुख की तुलना करता है; जो समझता है, जानता है कि जैसे मुझे सुख-दुःख होता है, वैसे ही अन्य को होता है, वही धर्म को जानता है।**

# यशस्तिलक में चर्चित-आश्रम व्यवस्था और संन्यस्त व्यक्ति

डा० गोकुलचन्द्र जैन एम. ए. पी-एच. डी.

सोमदेव (६५६ ई०) कालीन समाज में आश्रम व्यवस्था के लिए वैदिक मान्यताएँ प्रचलित थीं। यद्यपि यशस्तिलक में स्पष्ट रूप से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम का उल्लेख नहीं है फिर भी आश्रम व्यवस्था की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

बाल्यावस्था को विद्याध्ययन का काल, यौवनावस्था को अर्थोपार्जन का काल तथा वृद्धावस्था को निवृत्ति का काल माना जाता था१।

१—गुरु और गुरुकुल विद्याध्ययन की धुरी थीं। बाल्यावस्था विद्याध्ययन का स्वर्णकाल माना जाता था। यदि बाल्यकाल में विद्या नहीं पढ़ी तो फिर जीवन भर प्रयत्न करते रहने के बाद भी विद्या आना कठिन है२। जिनकी विधिवत् शिक्षा नहीं होती या तो विद्याध्ययन काल में ही प्रभुता या लक्ष्मी सम्पन्न हो जाते हैं, वे बाद में निरंकुश भी हो जाते हैं३। राजपुत्र तथा जन साधारण सभी के लिए यह समान बात है४।

२—बाल्यावस्था या विद्याध्ययन के उपरान्त गोदान दिया जाता तथा विधिवत गृहस्थाश्रम प्रवेश किया जाता था५। युवावस्था में लोग अपने गुरुजनों की सेवा का विशेष ध्यान रखते थे६।

३—वृद्धावस्था में समस्त परिग्रह त्याग कर संन्यस्त होना आदर्श था७। इस अवस्था में अधिकांशतया लोग घर छोड़कर तपोवन चले जाते थे८। चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) की साधना करना इस अवस्था का मुख्य ध्येय था९। नवयुवक को प्रव्रजित होने का लोग निषेध करते थे१०।

प्रव्रजित होते समय लोग अपने परिवार के सदस्यों तथा इष्ट मित्रों आदि से सलाह और अनुमति लेते थे। यशोधर कहता है कि नई अवस्था होने के कारण माता, पत्नी (महारानी) युवराज (पुत्र) अन्तःपुर की स्त्रियां, पुरवृद्ध, मन्त्रिगण तथा सामन्तसमूह प्रव्रजित होने में तरह-तरह से रुकावट डालेंगे११। सम्राट् यशोधर जब प्रव्रजित होने लगे तो उन्होंने अपने पुत्र को बुला कर अपना मनोरथ प्रकट किया१२।

### आश्रम व्यवस्था के अपवाद

यद्यपि सामान्य रूप से यह माना जाता था कि बाल्यावस्था में विद्याध्ययन, युवावस्था में गृहस्थाश्रम प्रवेश तथा वृद्धावस्था में सन्यास ग्रहण करना चाहिए, किन्तु इसके अपवाद भी कम न थे। यशस्तिलक का नायक अभयरुचि तथा नायिका अभयमति अपनी आठ

---

१. बाल्य विद्यागमैर्यत्र यौवनं गुरुसेवया।
सर्वसंगपरित्यागैः सगतं चरमं वयः॥ पृ० १९८

२. न पुनरायुः स्थितय इवानुपासितगुरुकुलस्य यत्नवतोऽपि सरस्वत्यः। पृ० ४३२

३. बालकाल एव लब्धलक्ष्मीसमागम.—असंजातविद्यावृद्धगुरुकुलोपासनः, निरंकुशतां नीयमानः, पृ० २६

४. पृ० २३६-२३७

५. परिप्राप्तगोदानावसरश्च, पृ० २२७

६. यौवन गुरुसेवया, पृ० १९८

७. सर्वसंगपरित्यागै. सगतं चरमं वयः, पृ० १९८

८. कुलवृद्धाना च प्रतिपन्न—तपोवनलोकत्वात्, पृ० २६
परवय.परिणतिदूतीनिवेदितनिसर्गप्रणयाया-
स्तपोवनाश्रमरमाया., पृ० २८४

९. चिरायप्रार्थितचतुर्थपुरुषार्थसमर्थनमनोरथमाराः
पृ० २८४

१०. नवे च वयसि मयि संजातनिर्वेदे विधास्यन्ते—
अन्तरायाः, पृ० ७० उत्त०

११ पृ० ७०-७१, उत्त०। १२—पृ० २८४

वर्ष की अवस्था में ही प्रव्रजित हो गये थे१३। एक स्थल पर यशोधर श्रुति की साक्षी देता हुआ कहता है कि श्रुति का यह एकान्त कथन नहीं है कि 'बाल्यावस्था में विद्या आदि, यौवन में काम तथा वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष का सेवन करो, प्रत्युत यह भी कथन है कि आयु अनित्य है इसलिए यथायोग्य रूप से इनका सेवन करना चाहिए१४।'

जैनागमों में बाल्यावस्था में प्रव्रजित होने के अनेक उल्लेख मिलते है। अतिमुक्तककुमार इतनी छोटी अवस्था में साधु हो गया था कि एक बार वर्षा के पानी को बान्ध कर उसमे अपना पात्र नाव की तरह तैरा कर खेलने लगा था१५। गजसुकुमार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व ही सन्यस्त हो गये थे१६।

जैन धर्म सिद्धान्ततः भी आयु के आधार पर आश्रमों का वर्गीकरण नहीं मानता। सोमदेव ने इस तथ्य को यशस्तिलक में प्रकारान्तर से स्पष्ट किया है१७।

**परिव्राजित या संन्यस्त व्यक्ति**

परिव्रजित या सन्यस्त हुए लोगों के लिए यशस्तिलक में अनेक नाम आए हैं। ये नाम उनके अपने धार्मिक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं—

१—आजीवक (४०६, उत्त०)

आजीवक सम्प्रदाय के साधुओं के साथ जैन श्रावक को सहालाप, सहावास तथा उनकी सेवा करने का निषेध किया गया है१८।

यशस्तिलक में आजीवकों का उल्लेख अत्यधिक महत्वपूर्ण है, इससे यह ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी तक आजीवक सम्प्रदाय के साधु विद्यमान थे।

आजीवक सम्प्रदाय के प्रणेता मंखलिपुत्त गोशाल भगवान महावीर के समसामयिक तथा उनके विरोधी थे। जैनागमों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं१९।

आजीवकों की अपनी कुछ विचित्र सी मान्यताएँ थीं। गोशाल पूर्ण नियतिवाद में विश्वास करते थे। 'जो होना है वही होगा' यह नियतिवाद की फलश्रुति है। गोशाल का कहना था कि सत्वों (जीवों) के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के सत्व क्लेश पाते हैं, स्वय कुछ नहीं कर सकते, दूसरे भी कुछ नहीं कर सकते। सभी सत्व भाग्य और संयोग के फेर मे छः जानियों में उत्पन्न होते है और सुख दु.ख भोगते हैं। सुख दुःख द्रोण से तुले हुए हैं, संसार में घटना-बढना, उत्कर्ष-अपकर्ष कुछ नही होता२०।

२—कर्मन्दी (१३४, ४०८)

यशस्तिलक में कर्मन्दी का दो बार उल्लेख है। इसका अर्थ श्रुतदेव ने तपस्वी किया है२१। पाणिनि ने कर्मन्द भिक्षुओं का उल्लेख किया है२२। सम्भवतया जिस तरह पाराशर के शिष्य पाराशर्य, शुनक के शौनक आदि कहलाते थे उसी तरह कर्मन्द मुनि के शिष्य कर्मन्दी कहलाते होंगे। यशस्तिलक के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कर्मन्दी भिक्षु एकान्त रूप से मोक्ष की साधना में लगे रहते थे तथा स्वैर-कथा और विषय-सुख में किंचित् भी रुचि नही दिखाते थे२३।

३—कापालिक—(२८१, उत्त०)

कापालिक शैव सम्प्रदाय की एक शाखा के साधु

---

१३. अष्टवर्ष-देशीयतयार्हद्रूपायोग्यत्वादिमा देशयतिश्लाघनीयाशां दशामाश्रित्य, २६५ उत्त०

१४. बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कुर्यात्, कामं यौवने, स्थविरे धर्मम् मोक्षं चेत्यपि नायमेकान्ततो नित्यत्वादायुषो यथोपपदं वा सेवेतेत्यपि श्रुतिः, ७६ उत्त०

१५. भगवति० ५।४

१६. अंतगडदशसत्त, वर्ग ३

१७. ध्यानानुष्ठानशक्त्यात्मा युवा यो न तपस्यति।
स: जराजर्जरोंऽन्येषां तपो विघ्नकरः परम्॥
७७, उत्त०

१८. आजीवकादिभिः। सहावास सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत्, ४०६, उ०

१९. देखिए—मेरा लेख—'महावीर के समकालीन आचार्य', 'श्रमण' मासिक, महावीर जयन्ती अंक १९६१

२१. कर्मन्दीव तपस्वीव, वही, सं० टी०

२२. कर्मन्दकृशाश्वादिनिः, ४।३।११

२३. एकान्ततः परमपदस्पृहयालुतया स्वैरकथास्वपि कर्मन्दीव न तृप्यति विषविषमोल्लेखेष विषयसुखेषु, ४०८

कहलाते थे। सोमदेव ने कापालिक का सम्पर्क होने पर जैन साधु को मन्त्र-स्नान बताया है२४।

कापालिक साधु का एक सम्पूर्ण चित्र क्षीरस्वामी ने अपने प्रतीक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय (अध्याय ३) में प्रस्तुत किया है। एक कापालिक साधु स्वयं अपने विषय में इस प्रकार जानकारी देता है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणी, भस्म और यज्ञोपवीत ये छः मुद्रा-षटक कहलाते है। कपाल और खट्वाक उपमुद्रा है। कापालिक साधु इनका विशेषज्ञ होता है तथा भगासनस्थ होकर आत्मा का ध्यान करता है। मनुष्य की बलि देकर शिव के भैरव रूप की पूजा की जाती है। भैरवी की भी खून के साथ पूजा की जाती है। कापालिक कपाल में से रक्त पान करते है२५।

४—कुलाचार्य या कौल—(४४)

कापालिकों की तरह कौल भी शैव सम्प्रदाय की एक शाखा थी। सोमदेव ने कुलाचार्य का दो बार उल्लेख किया है (४४, पू०, २६६, उत्त०) मारिदत्त को एक कुलाचार्य ने ही विद्याधर लोक को जीतने वाली करवाल की प्राप्ति के लिए चण्डमारी को सभी जीवो के जोड़ों की बलि देने की बात कही थी२६।

सोमदेव के कथन के अनुसार कौल सम्प्रदाय की मान्यताएँ इस प्रकार थीं—'सभी प्रकार के पेय-अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि में निःशंक चित्त होकर प्रवृत्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है२७।

सोमदेव के अनुसार कापालिक त्रिक मत को मानते थे। त्रिक मत के अनुसार मद्य-मास पी खाकर प्रसन्न चित्त होकर बायी ओर स्त्री को बिठा कर स्वयं भी शिव और पार्वती के समान आचरण करता हुआ शिव की आराधना करे२८।

५—कुमारश्रमण (९२)

बाल्यावस्था में जो लोग साधु हो जाते थे उन्हें कुमारश्रमण कहा जाता था। सोमदेव ने कुमारश्रमण के लिए "असंजातमदनफलमग" विशेषण दिया है। एक स्थान पर श्रमणमघ (९३) का भी उल्लेख है। उक्त दोनों स्थलों पर श्रमण शब्द जैन साधु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

६—चित्रशिखण्डि—(९२)

चित्रशिखण्डि का अर्थ श्रुतदेव ने सप्तर्षि किया है। मरीचि अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और वशिष्ट ये सात ऋषि सप्तर्षि कहलाते थे। सोमदेव ने इनका विशेषण "मत्रब्रह्मवाग्नि" दिया है। ये सात ऋषि आचार, विचार और साधना में समान होने के कारण ही सभवतया एक श्रेणी में बाधे गये। इन ऋषियों के शिष्य भी शायद चित्रशिखण्डी के नाम से प्रसिद्ध हो गये हों।

७—जटिल (४०६ उत्त०)

यशस्तिलक में जैनों के लिए जटिलों के साथ आलाप, आवास और सेवा का निषेध किया गया है२९। जटिल भी शैव मत वाले साधु कहलाते थे।

८—देशयति (२६५, ४०६, उत्त०)

देशयति या देशव्रति एकादश प्रतिमाधारी जैन श्रावक को कहते है। मुनि के एक देश सयम का पालन करने के कारण इसे देशव्रति कहा जाता है। यह श्रावक या तो दो चादर रखता है या केवल एक लगोटी मात्र दो चादर वाले को क्षुल्लक तथा केवल लगोटी वाले को ऐलक कहा जाता है।

९—देशक (३७७, उत्त०)

जैन साधु जो पठन पाठन कार्य करते है उन्हें उपा-

२४. सङ्गे कापालिकात्रेयी—। आप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्ज-पेन्मन्त्रमुपोषितः, २८१, उत्त०।

२५. उद्धृत—हान्दिकी—यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, ३५६

२६. विद्याधरलोकविजयिनः करवालस्य सिद्धिर्भवतीति वीरभैरवनामकात्कुलाचार्यकादुपश्रुत्य, ४४

२७. सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशंकचित्ताद्वृत्तात्, इति कुलाचार्यकाः, २६९, उत्त०

२८. तथा च त्रिकमतोक्तिः—'मदिरामोदमेदुरवदनस्तर-सरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्तिः शक्ति-मुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया शर्वा-णीश्वरमाराधयेदिति, २६९, उत्त०

२९. जटिलाजीवकादिभिः। सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत्। ४०६, उत्त०

ध्याय कहा जाता है। उपाध्याय के अर्थ में यशस्तिलक में "देशक" शब्द आया है।

१०—नास्तिक (४०६, उत्त०)

सोमदेव ने जैनियों के लिए नास्तिकों के साथ आवास, आलाप आदि का निषेध किया है। चार्वाक अथवा वृहस्पति के शिष्यों के लिए सम्भवतया यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य साधुओं के लिए निम्नलिखित नाम आए हैं—

११—परिव्राजक (३२७, उत्त०), परिव्राट (१३९ उत्त०)

१२—पारासर (९२) : पारासर ऋषि के शिष्य पारासर कहलाते थे।

१३—ब्रह्मचारी (४०८)।

१४—भविल (४०८)—भविल शब्द का अर्थ श्रुतदेव ने महामुनि किया है३०। भविल नामक साधु पैदल चलते थे तथा छोटे जीवों के प्रति महाकृपालु होने से लकड़ी की चप्पल (खड़ाऊँ) भी नहीं पहनते थे३१।

१५—महाव्रती (४९)—महाव्रती का दो बार उल्लेख है। चण्डमारी के मन्दिर में महाव्रती साधु अपने शरीर का मांस काटकर खरीद बेच रहे थे३२। ये साधु हाथ में खट्वांग लिये रहते थे३३। कौल-कापालिको की तरह ये भी शैव मतानुयायी थे।

६—महासाहसिक (४९)—महासाहसिक लोग भी शैव होते थे। सोमदेव ने इनकी आत्मरुधिरपान जैसी भयंकर साधना का उल्लेख किया है।

१७—मुनि (५६,४०४ उत्त०) जैन साधु के लिए यशस्तिलक में अनेक बार मुनि पद का प्रयोग हुआ है। अभी भी जैन साधु मुनि कहलाते हैं।

१८—मुमुक्षु (४०९) मोक्ष की ओर उन्मुख तथा अनवरत साधना में सलग्न साधु मुमुक्षु कहलाता था। मुमुक्षु पर्व-त्योहार के दिनों में भी मुट्ठी भर सब्जी या जौ के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते थे३४।

१९—यति (२८५, उत्त०, ३७२ उत्त०, ४०६, उत्त०)।

यति शब्द का भी कई बार प्रयोग हुआ है। यह शब्द जैन साधु के लिए प्रयुक्त होता है। सोमदेव के उल्लेखानुसार यति अपने नियम और अनुष्ठान में बड़े पक्के होते थे३५। यति भिक्षा भी करते थे३६।

२०—यागज्ञ (४०६, उत्त०)।

*सम्भवतया यज्ञ करने वाले वैदिक साधु यागज्ञ कह*लाते थे। सोमदेव ने यागज्ञों के साथ जैनो को सहावास, सहालाप तथा उनकी सेवा करने का निषेध किया है३७।

२१—योगी (४०९)

ध्यान में मस्त हुआ साधु योगी कहलाता था। सोमदेव ने लिखा है कि यह सोचकर कि दूसरे जीव को थोड़ा सा भी दुख पहुँचाने पर वह बोये गये बीज की तरह जन्मान्तर में सैकड़ों प्रकार से फल देता है, इसलिए दयाभाव से तथा पापभीरु होने से वनस्पति के फल या पत्ते भी स्वयं नही तोड़ता३८।

२२. वैखानस (४०८)

विशेष क्रियाकाण्ड में विश्वास रखने वाले वैदिक साधु सम्भवतया वैखानस कहलाते थे। ये बान

३०. भविल इव महामुनिरिव, ४०८, सं० टी०

३१. महाकृपालुतया सत्त्वसंमर्दभयेन पदात्पदमपि भ्रमन्भविल इव नादत्ते दारवं पादपरित्राणम्, ४०८

३२. महाव्रतिकवीरक्रय्यविक्रीयमाणस्ववपुर्लूनवल्लूरम्, ४९

३३. सा कालमहाव्रतिना खट्वांगकरकृतां नीता। १२७।

३४. पर्वरसेष्वपि दिवसेषु मुमुक्षुरिव न शाकमुष्टेर्यवमुष्टेर्वापरमाहरत्याहारम्, ४०९

३५. निजनियमानुष्ठानैकतामनसि—यतीश्वरे, २८५, उत्त०

३६. गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमाश्रितः।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः॥ ४०६

३७. शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः।
सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत्। ४०६ उत्त०

३८. ईषदप्यसुभमन्यत्रोत्पादितमात्मन्युप्तबीजमिव जन्मान्तरे शतशः फलतीति दयालुभावाद् दुरितभीरुभावाच्च न दलं फलं वा योगीव स्वयमवचिनोति वनस्पतीन्, ४०९

# सेनगण की–भट्टारक परम्परा

श्री पण्डित नेमचन्द धन्नुसा, न्यायतीर्थ

डा० विद्याधरजी जोहरापुर के 'भट्टारक सम्प्रदाय' के पृष्ठ ३७ पर सोमसेन से लगाकर एक पट्ट दिया है। वह इस प्रकार है :—

३०. सोमसेन, ३१. श्रुतवीर, ३२. धारसेन, ३३. देवसेन (सवत १५१०), ३४. सोमसेन, (स० १५४१), ३५. गुणभद्र (स० १५७६), ३६. वीरसेन, ३७. युक्तवीर, ३८. माणिकसेन (स० १५५८), ३९. गुणसेन [गुणभद्र], ४०. लक्ष्मीसेन, ४१. सोमसेन (स० १५६७), ४२. माणिक्यसेन, ४३. गुणभद्र, ४४. सोमसेन (स० १६५६–६६), ४५. जिनसेन (सं० १७१२–४२), ४३. समन्तभद्र, ४७. छत्रसेन (सं० १७५४)—नरेन्द्रसेन (स० १७८७–९०)—शांतिसेन (सं० १८०८–१८१६)—सिद्धसेन (स० १८२६–६६)—लक्ष्मीसेन (स० १८९९–१९२२)—वीरसेन (स० १९३६–९५) ॥इति॥

यहाँ प्रथम सोमसेन से द्वितीय सोमसेन (स०१५४१) या भट्टारक गुणभद्र (सं० १५७६) तक तो परम्परा ठीक है लेकिन दिये गये काल से ४१ नम्बर के तृतीय सोमसेन का संवत १५६७ होना खटकता है। अतः स्वयं संग्रहीत देवलगांव राजा, जिंतूर, वाशीम, शिरपुर, (अन्तरिक्षजी), भातकुली आदि जगह के मूर्ति-यन्त्रलेख से तथा अन्य पट्टावली से इसे जांचा। तब मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि, वह पट्टावली भ० गुणभद्र (सं० १५७६) या उनके गुरू भट्टारक सोमसेन (स० १५४१) के समय में ही विभक्त होती है।

क्योंकि भ० वीरसेन का 'कर्णाटक देश स्थापित धर्मामृत वर्पण' आदि विशेषण पट्टावली में (लेखाक २६) स्पष्ट है। अतः इन्होंने विदर्भ की गद्दी से अलग स्वतन्त्र गद्दी कर्णाटक में स्थापित की होगी। और उनकी परम्परा में युक्तवीर, माणिकसेन ये दो भट्टारक आये हों तो युक्तिसगत बैठता है; क्योंकि अन्य पट्टावली में यह क्रम

---

ब्रह्मचारी होते थे तथा स्नान, ध्यान और मन्त्र-जाप खास तौर से अघमर्षण मन्त्रों का जाप करते थे३९।

२३. शसितव्रत (४०८)

शसितव्रत का अर्थ श्रुतदेव ने दिगम्बर साधु किया है। शसितव्रत अशुभ का दर्शन या स्पर्श तो दूर रहा मन मे उसके विचार आ जाने से भी भोजन छोड़ देते थे [आस्तां तावदशुभस्य दर्शनं च, किन्तु मनसाप्यस्य परामर्षे शसितव्रत इव प्रत्यादिशात्याशम्, ४०८]।

२४—श्रमण [९२, ९३] जैन साधु

दिगम्बर मुनि के अर्थ में श्रमण का प्रयोग हुआ है [श्रमणा इव जातरूपधारिणः, १३] श्रमण पूग संघ [अनूचानेन श्रमणसंघेन, ९३] गाव, नगर आदि मे विहार करते थे [विहरमण, ८९] संघ में विविध विषयों मे निष्णात अनेक साधु रहते थे [८९]।

२५—साधक [४९]

मन्त्र-तन्त्र आदि की सिद्धि के लिए विकट साधना करने वाले साधु साधक कहलाते थे। सोमदेव ने अपने शिर पर गुल्गुलु जलाने वाले साधकों का उल्लेख किया है४०। ऐसी भयकर साधनाएँ कौन······कापालिक सम्प्रदाय के साधकों में प्रचलित थीं।

२६—साधु [१७७, ४०५, ४०७] उत०

साधु शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है तथा सभी स्थानों पर जैन साधु के अर्थ में आया है।

२७—सूरि [३७७]

जैनाचार्य के अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है।

---

३९. सर्वदा शुचिरिव ब्रह्मचारी तथापि लोकव्यवहारप्रतिपालनार्थं देवोपासनायामपि समाप्लुत्य वैखानस इव जपति जलजन्तूद्वेजनजनितकल्मषप्रघर्षणायाघमर्षणतन्त्रान्मन्त्रान्, ४०८।

४०. साधकलोकनिजशिरोदह्यमानगुग्गलरसम्, ४९

नहीं मिलता, न यह क्रम किसी मूर्तिलेख में अंकित है।

तथा भट्टारक स० लेखांक ६५१—सवत १५३२ वर्षे वैसाख सुदी ५ रवौ काष्ठा सघे नन्दीतटगच्छे भ० श्री भीमसेनस्तत्पट्टे सोमकीर्ति आचार्य श्रीवीरसेनसूरियुक्त प्रतिष्ठितं······।

और पिछले चोबीसी (देवलगाँव राजा)—सं० १५३८ वैसाख शुद्ध १३ शुभे श्रीकाष्ठा सघे नन्दीतटगच्छे विद्यागणे भ० श्रीभूम (भीम) सेन. तत्पट्टे भ० सोमकीर्तिभिः श्रीवीरसेनयुक्तं प्रतिष्ठितं, वघेरवाल ज्ञातीय···: इन दो मूर्तिलेखों में उल्लेखित भ० वीरसेन अगर सेनगण के कर्णाटक गद्दी के अधिकारी समझे, तो उनका काल सवत १५३२ से १५३८ के आस-पास निश्चित होता है। तब इनके शिष्य भ० युक्तवीर और उनके शिष्य भ० माणिकसेन का काल सवत १५५८ ठीक लगता है। इनके शिष्य भ० नेमसेन हुए हैं। देखो पिछले पार्श्वनाथ (भातुकुली)—सवत १५१५ मूलसघे सेनगणे भ० माणिकसेन पट्टे भ० नेमसेन उपदेशात् गुजर पालीवाल सावमेटी...।

इस लेख से भ० वीरसेन, युक्तसेन या माणिकसेन इनका भी काल स० १५१५ के पूर्व का ही ठहरता है। और शायद वीरसेनने भ० देवसेन के (स० १५१०) समय से ही अलग पट्ट स्थापित किया होगा ऐसा लगता है। नेमसेन के बाद की परम्परा यहा अज्ञात है।

फिर यहा सवाल उठता है कि यदि भ० वीरसेन को कर्णाटक पीठ के अधिकारी माने तो, विदर्भ पीठ के भ० गुणभद्र (सं० १५७६) के उत्तराधिकारी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर हमें सन् १९४८ जनवरी के जैन सिद्धान्त भास्कर मे प्रकाशित दिगम्बर जैन एण्टीक्वायरी से मिलता है। वहाँ सेनगण की पट्टावली दी है। और उन-उन भट्टारको के समय के विशेष व्यक्ति का उल्लेख उसमें होन से पण्डित आशाधर के समय से लेकर भट्टारको का क्रम सुनिश्चित दिया है। उससे उनका काल जानने मे सहायता मिलती है। उसका अन्तिम भाग इस तरह है:—

'श्रीमद्भूरि गुणैक पात्रनिपुणो भव्याबुजाल्हादकृत्,
मिथ्यावादिमहेद्र भेदनपविः सच्छास्त्रचंचूरकाम्।
वादीन्द्रैकसुसोमसेन मुनिराट् पट्टोदयाद्रौ रवि,
स्यात श्रीगुणभद्रसूरि गुरुराट नन्द्याच्चिरं भूतले ॥४५

तेषां पट्टे गणी जातो श्रुतवीरो गुणाकरः।
विद्वज्जन सरोजानां, मुदे रविरिवानिशम ॥४६
तत्पट्टे गुणसेनसूरिविदितो विद्वान् सभा पंडितः,
पश्चाच्छ्री गुणभद्रदेवमुनिपो भव्यांबुजाल्हादकृत्।
तर्क व्याकरणादि शास्त्र जलधिः श्रीलक्ष्मीसेन स्ततः
जीयादिन्दुसमान कीर्तिरमल. भट्टारकाधीश्वर. ॥४७॥'

इसमें भ० सोमसेन द्वितीय सं० १५४१ के शिष्य भ० गुणभद्र है। उनके पट्ट पर क्रम से श्रुतवीर, गुणसेन गुणभद्र और अभी लक्ष्मीसेन है ऐसा बताया है। अत लक्ष्मीसेन संवत १६३८ से ४६ तक यह पट्टावली लिखी गई होगी। इसीलिए गुणभद्र के शिष्य प्रशिष्य वीरसेन, युक्तवीर, माणिकसेन न होकर भ० श्रुतवीर, गुणसेन आदि निश्चित होते है। और उनका (श्रुतवीरका) समय संवत १५९३ से १५९८ तक स्पष्ट है। देखिए—

१. तांबे का सोला कारण यन्त्र (जिंतूर)—सवत १५९३ सेनगणे पुष्कर गच्छे वृषभ० अन्वये भ० गुणभद्रस्तत्पट्टे श्री श्रुतवीर गुरूपदेशात् वघेरवाल···।

२ तांबे का दश० य त्र (देवलगांव)—संवत १५९८ वर्षे शके १४६३ प्रवर्तमाने कार्तिक शुद्ध ५ रवौ श्रीमूलसघे श्रीवृषभसेनान्वये सेनगणे पुष्करगच्छे भ० श्रीगुणभद्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्री श्रुतवीरोपदेशात् वघेरवाल···।

३. पीतल की—मूर्ति (जिंतूर)—सवत १५९८ फाल्गुन सु० २ गुरु श्रीमूलसघे भ० श्री श्रुतकीर्तिः (श्रुतवीर)।

इससे भ० गुणभद्र के शिष्य श्रुतवीर ही थे यह स्पष्ट होता है। इनके शिष्य गुणसेन थे। भ० श्रीभूषण (काष्ठासंघ) गद्दी पर आते समय उनकी प्रशंसा करने वाले गुणसेन को अगर श्रुतवीर के शिष्य माने तो इनका समय सवत १६३४ से पूर्व का ही मानना पड़ेगा। देखो—भ० सं० लेखांक ६९४—

'श्रीभूषणसूरिराज दिनकरसम भाज,
अधिक बढुएला जय जय करण।
नेमिजिन स्वामी चरण सकल कर्मनु भग,
शिववधु किधु संग, गुणसेन सरण ॥१०॥'

गुणसेन के शिष्य श्री गुणभद्र हुए। कही-कही गुणसेन गुणभद्र ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे ये एक ही

व्यक्ति होंगे। ऐसा गलत समझना होता है। डा० विद्याधरजी भी गुणसेन और गुणभद्र को एक ही व्यक्ति बताते है और लिखते भी है कि 'गुणसेन का नामांतर गुणभद्र था।' भ० सं० पृष्ठ ३२।

लेकिन पट्टावली और मूर्तिलेखों में गुणसेन के शिष्य गुणभद्र हैं ऐसा स्पष्ट बताया है। देखो—मल्लिनाथ काला पाषाण (देवलगाव)—सवत १६३८ वर्षे शाके १५०३ प्रवर्तमाने फाल्गुन सुदी ६ मूलसघे सेनगणे पुष्कर गच्छे वृषभसेनान्वये भ० श्री सोमसेनस्तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रस्तत्पट्टे भ० श्री श्रुतवीर तत्पट्टे भ० श्री गुणसेनस्तत्पट्टे भ० श्री गुणभद्रोपदेशाद् बघेरवाल ज्ञातीय···। इससे गुणभद्र का काल सं. १६३८ के आस-पास का ठहरता है। इनके शिष्य लक्ष्मीसेन हुये। इनका काल सं० १६३८ से १६४७ के आसपास का है। देखो —

(१) आदिनाथ (देवलगाव]—शाके १५०३ प्रवर्तमाने फाल्गुण सुद ७ बुधे श्री मूलसघे पुष्कर गच्छे वृषभ०—भ. श्री गुणभद्र तत्पट्टे भ. श्री लक्ष्मीसेन गुरूपदेशात्......।
(२) पार्श्वनाथ [देवलगाव]—शाके १५१४ नदन सवत्सरे फाल्गुन शुक्लपक्षे दिने ७ श्री मूलसघे सेनगणे पुष्करगच्छे वृषभ० पार्श्व पर्यासने गुणभद्र भट्टारकाना तत्पट्टे भ. श्री लक्ष्मीसेन उपदेशात्.........।

इनके शिष्य सोमसेन [तृतीय] सं. १६६२ हुए। चांदीका सिंहासन [जितूर] शके १५२७ स १६६२ विरुद्ध कृन्नाम संवत्सरे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे ३ श्रीमूलसघे सेनगणे वृषभसेनगणान्वये भ. श्री गुणभद्र : तत्पट्टे श्री लक्ष्मीसेनदेवा : तत्पट्टे भ. सोमसेन उपदेशात् श्री जितूर ग्रामे श्री पार्श्वनाथ चैत्यालये श्री बघेरवाल......।

भ. सं. लेखाक ३६ मे— 'सवत १५९७ श्री मूलसघे सेनगणे भ. सोमसेन उपदेशात कालवाडे सघवी......। 'यह लेख तृतीय सोमसेनका है, ऐसा डा विद्याधरजीने बताया है। लेकिन हमे विश्वास है कि, एक तो वहां संवत वाचनमें गलती होगी, वह स. १६९७ होगा, या यह लेख द्वितीय सोमसेन सं. १५४१ का ही होगा। सं. १६९७ माने तो वह लेख चतुर्थ सोमसेन का [सं. १६५६ से ९६] ठहरता है। लेकिन वह द्वितीय सोमसेनका ही लेख होगा, जिससे उनका काल स· १५४१ से १५९७ तक ठहरता है।

इनके शिष्य माणिक्यसेन हुए इनका काल सं. १६५४–१६८० तक है। देखिए १. पि. चोवीसी [वाशीम]—शाके १५२० श्री मूलसंघे सेनगणे श्री गुणभद्र देवास्तत्पट्टे भ. श्रीलक्ष्मीसेन तत्पट्टे भ. श्री सोमसेनः तत्पट्टे भ. श्री माणिकसेन उपदेशात् वाशीम नगरे धाकड़ज्ञातीय......। माणिकसेन के शिष्य गुणभद्र हुए। इनका काल स. १६५४ से १६८० तक है १ पि. चारित्र तथा ज्ञान यंत्र वाशीम] —शके १५१९ पिंगल नाम सवत्सरे मार्ग शीर्षशु० ५ श्री मूल. सेन. पुष्कर. कारंजे पार्श्वनाथचैत्यालये श्री गुणभद्राचार्याणाम्। २. चद्रनाथ [वाशीम]— सं १६८० रुद्धिरोद्गारी नाम संवत्सरे मूलसंघे पुष्करगच्छे वृषभ. श्री लक्ष्मीसेन गुरु. तत्पट्टे सोमसेनस्तत्पट्टे माणिकसेन तत्पट्टे गुणभद्र उपदेशात् धाकडज्ञातीय......। हां इनका गुणसेन गुणभद्र ऐसा नाम भी मिलता है—ऋषिमंडल तथा दर्शन यंत्र [जितूर]— शके १५३३ विघ्नकृत नाम संवत्सरे जेठ सुद ५ शनि. मूल. सेन. पुष्कर. भ. लक्ष्मीसेन—सोमसेन—माणिकसेन तत्पट्टे भ. गुणसेन गुणभद्र उपदेशात् ज्ञानसेठी भार्या मानाई पुत्र......। इससे यह गुणभद्र स १६५४ से ८० और गुणसेन गुणभद्र ये एक ही व्यक्ति कहे जा सकते है।

माणिकसेन के शिष्य सोमसेन [चतुर्थ] सं. १६५६–१६९६ हुए है। इन्होंने साहित्य निर्माण भी किया है, इनके साहित्यमें श्रीपुर 'अंतरिक्ष का उलेख आता है। सं. १६९६ की प्रतिष्ठा यह उनके जीवन मे अंतिम घटना होगी। और यह प्रतिष्ठा श्रीपुर अंतरिक्षपार्श्वनाथ में हुई है। देखिए— १ आदिनाथ मूर्ति [श्रीपुर]—शके १५६१ प्रमाथी नाम संवत्सरे फाल्गुन सुदी द्वितीया गुरुवारे श्री मूलसघे वृषभसेनान्वये पुष्कर गच्छे सेनगणे भट्टारक श्री गुणभद्रस्तत्पट्टे भ. श्री सोमसेन उपदेशात् श्रीपुरग्रामे श्री अंतरिक्ष चैत्यालये......। २. पि. पद्मावती (स. गो. महाजन कारंजा)—शके १५६१ फाल्गुन वदी ६ षष्ठी श्री मूलसंघे सेनगणे भट्टारक सोमसेन : तुक गणासा बगोसा व वोपासा। उपदेशात् नित्यं प्रणमंति। कारंजा नगरे। प्रतिष्टा श्रीपुर नगरे विधानः।

सोमसेन के शिष्य जिनसेन हुए! इनका जीवन ११५-२० सालका होगा, कारण पट्ट पर ही ये बराबर सौ साल के थे। देखिए— १. भ. सं. लेखाक ४५—शके १५७७...

जिनसेन गुरूपदेशात्। २. पार्श्वनाथ (वाशीम)—शके १५७८ फाल्गुन शुद १२ सेनगणे भ. जिनसेन उपदेशात् वाशमिग्रामे......प्रगमति।

३. पि. यंत्र (श्रीपुर)—शके १६०७ क्रोधनाम संवत्सरे मार्गशीर्ष सुदि १० गुरे सेनगणे वृषभसेनान्वये भ. सोमसेन देवास्त्पट्टे भ. श्री जिनसेन गुरुपदेशात् जांब ग्राम वास्तव्य धाकड जससा भार्या गौराई पुत्र कोंडा संघवी भा० चीगाई भ्रात नेमासां (भार्या) सोवराई भ्रात मेथासा भार्या द्वारकाई एते प्रण०।

४. पि. दर्शन यंत्र (श्रीपुर)—शाके १६७६ मार्गसिर सुदी १० दसमी मूलसघे वृषभसेनगणे वृषभसेनगण भट्टारक श्रीगुणभद्रदेवास्तत्पट्टे भ. सोमसेन. तत्पट्टे भ० श्रीजिनसेनोपदेशात् जाबग्राम धाकड ज्ञातौ कोण्डासा भार्या चिगाई एते—[भा.]र्या गौराई तयो पुत्रा त्रय: प्रथम कोंडासा भार्या चिगाई तयो पुत्रौ प्रथम रतनसा भार्या तुकाई द्वितीय लालासा पुन: संवत नेमासा भार्या सोवराई पुन: संवत नेमासा भा. द्वारकाई एते नित्य प्रणमान्त। इससे शाके १५७७ से १६७६ तक ये पट्टपर थे। ऐसा स्पष्ट है। इनकी मृत्यु श्रीपुर मे ही हुई है। इनकी समाधी पौलों मन्दिर के सामने दक्षिण की ओर है। इनके शिष्य समन्तभद्र सं. १७४६ में देवलगांव मे थे। देखो—हस्तलिखित श्रेणिक चरित्र जितूर—शाके १६११ संवत १७४६ जेष्ठमासे शुक्लपक्षे ५ तिथौ बुधवासरे श्री देउलग्रामे श्रीमूलसघे सेनगणे पुष्करगच्छे वृषभ. पट्टावली श्री जिनसेन तत्पटटे श्री भ. समन्तभद्रनामधेयात्। ज्ञाति बघेरवालेन......। तथा सेनगण मन्दिर कारंजा—'इति श्री हरिवंश. महाग्रन्थ समाप्त: ॥श्री:॥ शुभ भवति, कल्याणं चास्तु॥ सवत १६३२ वर्षे कार्तिक वदी ३ र [वौ]॥ मुनि श्रीधर्मभूपण पठनार्थं। ब्रह्म मोहन पठनार्थं भ. श्री जिनसेन॥ भ. श्री समन्तभद्र। इति। [पृ० ३६१]। यहां संवत १६३२ को अगर शक सवत माना जाय तब ही ठीक बैठता है और उससे भ० समन्तभद्र का काल संवत १७४६ से १७६७ तक आता है।

आगे के भट्टारकों का क्रम तथा काल सुनिश्चित ही है। इस सब विवेचन से स्पष्ट है कि सेनगण की पट्टावली में इस तरह सुधार होना आवश्यक है।

### पट्टावली और काल

भट्टारक सोमसेन प्र० } महम्मद पातशाह के समकालीन सं० १३८२–१४०८
|
श्रुतवीर
धारसेन
|
देवसेन—संवत १५१०

द्वि० सोमसेन (स० १५४१–१५६७) | [कर्णाटक के पीठ पर] वीरसेन स० (१५१५-१५३७)
गुणसेन (सं० १५७६) | युक्तवीर
श्रुतवीर (स० १५६३–१५६८) | माणिकसेन (स० १५५७)
गुणसेन (स० १६३४) | नेमसेन (स० १५१५)
गुणभद्र (सं० १६३८)
लक्ष्मीसेन (सं० १६३८–१६४६)
तृ० सोमसेन (सं० १६६२)
माणिक्यसेन (स० १६५५–५६)
गुणभद्र (गुणसेन गुणभद्र—सं० १६५४–८०)
च० सोमसेन (१६५६–६६)
जिनसेन (सं० १७१२–१८११)
समन्तभद्र (स० १७४६–६७)
छत्रसेन (सं० १७५४)
नरेन्द्रसेन (स० १७८७–१७६०)
शांतिसेन (स० १८०८–१८१६)
सिद्धसेन (सं० १८२६–१८६६)
लक्ष्मीसेन (सं० १८२६–१६२२)
वीरसेन (सं० १६३६–१६६५)

टिप्पणी—कर्णाटक पीठ के भट्टारक वीरसेन किसके शिष्य थे यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, अत: यहाँ काल के आधार पर ही देवसेन के शिष्य बताए है, हो सकता है कि वे द्वि० सोमसेन के ही शिष्य हो। तब इन सोमसेन का काल भी और पीछे जाता है जो संशोध्य है।

राष्ट्रीय संग्रहालय में राजस्थान से प्राप्त

# तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा

व्रजेन्द्रनाथ शर्मा, एम० ए०

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में भारतवर्ष के विभिन्न भागों से प्राप्त अनेकों जैन प्रतिमाएँ संग्रहीत है। इसमें चालुक्य, गहड़वाल तथा पाल-कालीन और पल्लव, चोल तथा विजयनगर-कालीन प्रतिमायें अधिक है जो पाषाण तथा कांस्य दोनों ही में निर्मित हैं। इन्हीं मूर्तियों में से एक प्रस्तर प्रतिमा को जो गहड़वाल काल की है (लगभग १२वी शताब्दी ईसवी), और विशेष महत्व की है, हम इस लेख द्वारा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे है।

कुछ समय पूर्व चित्तौड़गढ (राजस्थान) से जैनियों के ७वें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई थी जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें भगवान् पद्मासन पर पाँच फणो के नीचे शिरीष वृक्ष की छाया में जिसके नीचे उन्हे कैवल्य की प्राप्ति हुई थी, ध्यान मुद्रा मे विराजमान है। उनके घुघराले केशों के ऊपरी भाग मे उष्णीश है तथा लम्बे कान और वक्षस्थल पर बना 'श्रीवत्स' पूर्ण रूप से स्पष्ट है। 'जिन' के दोनो ओर एक-एक अन्य तीर्थङ्कर प्रतिमा ताम्रो में कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी है। शीश के दोनों ओर एक-एक माला धारी विद्याधर है। प्रतिमा के सबसे ऊपरी भाग मे भी दोनों ओर सुपार्श्वनाथ की ज्ञान-प्राप्ति पर हर्ष ध्वनि करते हुए गजारूढ़ दिव्य गायको एवं दिव्य वादकों का अंकन है। प्रस्तुत प्रतिमा अत्यधिक खण्डित होने पर भी कलाका एक अच्छा नमूना है, जैनियों के दिगम्बर समप्रदाय की है।

भगवान् सुपार्श्वनाथ की पूजा मध्यकालीन राजस्थान मे प्रचलित थी जैसलमेर के शासक व्यरसिंह के शासन-काल सन् १४३६ ई० में पासड़ नामक एक व्यक्ति ने अपने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ चिन्तामणि के मन्दिर में तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की थी (देखे पूरनचन्द नाहर, **जैन अभिलेख**, ३ संख्या २११४।

सुपार्श्वनाथ से ही मिलती-जुलती २३वे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की भी प्रतिमा होती है। इसी कारण पहले बहुत से विद्वान दोनों प्रकार की प्रतिमाओं का विशेष अन्तर न जानने से एक प्रतिमा को दूसरे तीर्थङ्कर की प्रतिमा बता दिया करते थे (देखे : बी० सी० भट्टाचार्य, 'जैन-आइकनोग्रेफी', पृ० ६१)। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा सर्प के एक, पाँच अथवा नौ फणो की छाया में होती है जबकि पार्श्वनाथ की मूर्ति सर्प के तीन, सात या ग्यारह फणों की छाया में मिलती है। दूसरी विशेष बात यह है कि प्रथम तीर्थङ्कर का चिह्न स्वस्तिक है जब कि द्वितीय का सर्प है।

सुपार्श्वनाथ की अपेक्षा पार्श्वनाथ की मूर्तियां कहीं अधिक सख्या मे मिली है। (खजुराहो का तो प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर वहाँ के अन्य सभी जैन मन्दिरों से बड़ा तथा कला की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है)। इसका एक मात्र कारण यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म में तीन तीर्थङ्कर-ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर को विशेष महत्व दिया जाता है तीनों तीर्थङ्करो की ही समान सख्या में मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। वैसे अन्य तीर्थङ्करों की भी प्रतिमाएँ प्राप्त है। अतः यही कारण है कि पार्श्वनाथ की सुपार्श्व-नाथ की अपेक्षा पूजा अधिक प्रचलित होने से मन्दिरों में भी इनकी ही अधिक मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई होंगी जो आज उपलब्ध है। (देखे मेरा लेख : 'पार्श्वनाथ की अप्रकाशित प्रतिमा, बरदा, बिसाऊ, राजस्थान' की प्रमुख पत्रिका मे)। 'अनेकान्त' के किसी आगे के अङ्क में इस विषय पर हम कुछ अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

———

# भ० विश्वभूषण की कतिपय अज्ञात रचनाएँ

श्री अगरचंद नाहटा

जैन विद्वानों ने प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओं में छोटी-छोटी बहुत-सी रचनाएँ की है पर उनका प्रचार अधिक नहीं हो पाया। बड़े-बड़े ग्रंथों मे से भी बहुत-से ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ अधिक नहीं हुई। इसलिए उनकी एक-दो प्रतियाँ किसी ज्ञान-भंडार में पड़ी रहती है। जहाँ तक उस ज्ञान-भण्डार का अवलोकन नहीं किया जाय अन्य भण्डारों में नहीं मिलने के कारण वे अज्ञात अवस्था में पड़ी रहती है। प्राचीन विद्वानों की छोटी-छोटी रचनाएँ तो अधिकांश लुप्त हो चुकी है। मध्यकाल मे ऐसी रचनाओं को सुरक्षित रखने के लिए कुछ संग्रह प्रतियाँ लिखी जाने लगी। आगे चलकर ऐसी संग्रह प्रतियाँ गुटकों का रूप धारण करने लगीं। क्योंकि पत्राकार प्रतियो के खुले पन्ने इधर-उधर हो जाने या टूट-फूट जाते और संग्रह प्रतियाँ नित्य पाठ या विशेष अध्ययन के लिए लिखी जाती थी। गुटकों के द्वारा छोटी कृतियों के संरक्षण एवं स्वाध्याय का कार्य बहुत आगे बढा, क्योंकि गुटकों के पत्र सिलाई हो जाने से फुटकर पत्रों की तरह बिखरते नहीं और गुटको को रखने एवं पढने में भी अधिक सुविधा रहती है। सोलहवी शताब्दी से गुटकाकार प्रतियों का प्रचार बढता ही गया। और हजारों प्रतियाँ छोटे-मोटे गुटकों के रूप में लिखी गई उसमें से बहुत-सी आज भी ज्ञान भंडारों मे पाई जाती है। पर कुछ समय पहले तक विद्वानों ने उनको इतना महत्व नहीं दिया। उनमें फुटकर छोटी-छोटी रचनाएँ हैं—यह कहकर प्राय. उनकी उपेक्षा की। ज्ञानभंडार की सूची बनाते समय गुटकों को अलग रख दिया जाता। इधर कुछ वर्षो में इन छोटी-छोटी रचनाओं का भी महत्व सर्व विदित हो गया। क्योंकि इन गुटकों में हजारो महत्वपूर्ण रचनाएँ ऐसी लिखी मिलती है जो बडी-बडी प्रतियो में मिल ही नहीं सकती। अभी अभी अहमदाबाद जाने पर आगम प्रभाकर सौजन्यमूर्ति मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह के गुटकों में विश्वभूषण की कई अज्ञात रचनाएँ देखने को मिली। उनका संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। विश्वभूषण नाम के २–३ कवि एवं विद्वानो की संस्कृत एवं हिन्दी की रचनाएँ मिलती है जिनमे से एक विश्वभूषण जगतभूषण के शिष्य (मूल संघ के) और १८वीं शताब्दी के है। विशालकीर्ति३ शिष्य विश्वभूषण की भी अन्य रचनाएँ प्राप्त है। यहाँ तो उनकी अज्ञात रचनाओं की ही जानकारी दी जा रही है।

भ. विश्वभूषण सतरहवी शताब्दी के कवि है। काष्ठा संघ के विशालकीर्ति के वे शिष्य थे। 'लब्धि विधान रास' मे उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

**सखी सकल संघ मांहे मुख्य काष्ठासघ जग जाणइ रे।**
**महिमावंत विख्यात रामसेन बखाणइ रे॥३२॥**
**सखी तास अनुक्रमि सूरि विजयसेन नाइकु रे।**
**सखी विमल सम काय, कमलकीर्ति श्रुतदायकु रे॥३३॥**
**सखी रत्न राशि सम कांति, रत्नकीर्ति पट्टह प्रभु रे।**
**सखी इन्द्र सदृश प्रभा पुंज, महेन्द्रसेन मुनिगच्छ विभू रे॥३४**
**सखी ततपद व्योमि सूर कुमति कुतप नित वारणु रे।**
**सखी विशालकीर्ति अथ मूरति, सम दम दय धारणु रे।**
**सखी तदंग्रही कमल शुभ भृंग, रंगि चारित्र आदरयु रे।**
**सखी विश्व जीव प्रतिपाल, नाम श्रीविश्वभूषण वरयुं रे।**
**सखी तिणि सु कथा कीध, लब्धविधान सुविधि तणी रे॥**
**सखी छन्द काव्य अलंकार, नवि जाणु व्याकरण भणी रे।**

रचनाकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

**सखी संवत सोल गुण च्यार**
**करयउ श्रुत पंचमी बुध दिन निरमली रे।**

प्रस्तुत लब्धि विधान रास चार ढालों में है। गाथाओं की संख्या क्रमश ४१, ४३, ४०, ४२ है। प्रारम्भ और अन्त में एक वस्तुछन्द है, दूसरी रचना सोलह कारण रास ७९ पद्यों की है। उसकी प्रशस्ति मे नन्दीतट गच्छ का भी नाम है।

विशालकीरति गुरु गगघर र, नंदीतट गच्छ रायतु ।

उपरगाम के श्रेयांस भवन का भी उल्लेख किया गया है—

उपरगाम पुर मंडणु, श्रेयांस भवन सुभासतु ।।७८।।

तीसरी रचना आकाश पचमी रास ६६ पद्यों की है— इसकी प्रशस्ति में भी उपरगाम के श्रेयांस भवन में संवत् १६४० में रचे जाने का उल्लेख है—

उपरिगाम श्रेयांस जिन, भुवन नयन मनुहार ।
सत सोल चालीस प्रथम, मंगल तेरस शनिवार ।।६१।।

विद्यागण उदयाचल महेन्द्र गुरु सूर ।
प्रवति उदउ दय करवि, विशालकीरति रवि नूर ।।६२।।

तासु शिष्य नर रयण भुव, मंडण महिमा धार ।
भट्टारक विश्वभूषण रचयुं, रास हितकार ।।६३।।

चौथी रचना "मौन ग्यारम रास" ३७, ५६, ५१ है। रचनाकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

संवत सोलइ गुणयालीसिये, वर्ष वैसाख त्रीज श्वेततु ।

इसकी रचना भी उपरगाम के श्रेयांस जिनालय मे की गई है—

उपरगाम महिमा घणीए छि श्री जिन श्रेयांस तु ।
रसिक रास ऐ तिहां किउ ऐ विविध करण श्रेयांस ।।४६।।

पाँचवीं रचना "होली चोपई" संवत् १६४२ के फागुण पूनम को ग्रामपुर के जैनभवन में रची गई। इसमे क्रमशः ४६, ४६, ६१, १० गाथाएँ हैं। रचनाकाल व स्थान का उल्लेख इस प्रकार है—

संवत सोल बिताला तणी, फागुन पूनिम दिन ए भणी ।
शास्त्र श्रम मुझनि कई नथी, तु पिण होली उत्पति कथी।

दो०—बागण खंड मंडण माहू ग्रामपुर सुप्रसिद्ध ।
श्री जिन भवन सुहट्ट घर, वसि श्रावक समृद्ध ।।१।।

इन पांच बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त विश्वभूषण के कई पद और गीत इस गुटके में है। उनके गुरु विशालकीर्ति का भी ७ पद्यों का एक गीत और बारह व्रत दुहड़ा (१४) है। विशालकीर्ति के अन्य शिष्य ब्रह्मचारी भोजराज के शिष्य ब्रह्मचारी कचरा ने रत्नभूषण सूरि रचित रुक्मणीहरण गीत इस गुटके में लिखा है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

बड़वाल शुभ स्थाने श्री आदिनाथ चैत्यालये श्री विशालकीर्ति तत शिष्य ब्र० श्री २ भोजराज शिक्ष ब्र० श्री कचरा ल(लि)खतम्। इस गुटके म और भी कई महत्वपूर्ण रचनाएँ है जिनमे कुछ दिगम्बर है कुछ श्वेताम्बर है। श्वे० कवि हीरानन्द रचित विद्याविलास रास (रचनाकाल संवत् १४८५) संवत् १६५८ मे कचरा ने लिखा है— "संवत् १६५८ कातिक वदि इग्यारस ११ सोम दिने धरीयावद शुभ स्थाने ब्रह्मचारी श्री २ कचरा लखितम्। फुटकर रचनाओं में विश्वभूषण रचित हियाली गीत ७ पद्यों का उल्लेखनीय है। जिनसेन रचित ५ पद्यो की एक अन्य हियाली भी इस गुटके मे लिखी हुई है। गुटके के प्रारम्भ में श्वे० कवि संवेगसुन्दर का "सार सिखामण रास" है। तथा और भी कई श्वे० रचनाएँ है। २६३ पत्रों के इस गुटके का अन्तिम पत्र खो गया है। इससे गुटके की सूची अधूरी रह गई है। पत्राक २६१-६२ मे दो पृष्ठों मे सुन्दर रेखाचित्र दिये हुए है। प्रथम पृष्ठ मे ऋषभदेव और दोनो ओर सेविकायें तथा दूसरे पृष्ठ पर सरस्वती और अम्बिका का चित्र है।

—:०:—

# अप्रावृत और प्रतिसंलीनता

**मुनिश्री नथमल**

दशवैकालिक में मुनि की ऋतु-चर्या का बयान करते हुए बताया गया है कि वे ग्रीष्म-ऋतु में आतप सेवन करते हैं, हेमन्त ऋतु में अपावृत और वर्षा-ऋतु में प्रति संलीन रहते हैं१। इनमें आतप-सेवन का अर्थ सूर्य का ताप सहन करना है। अग्नि का सेवन मुनि के लिए निषिद्ध है२, इसलिए आतप-सेवन का अर्थ सूर्य के ताप को सहना ही हो सकता है। अप्रावृत और प्रतिसंलीन की परम्परा यहाँ मीमांसनीय है। अप्रावृत अगस्त्यसिंह स्थविर ने अप्रावत का अर्थ निवात गृह रहित किया है३। आचार्य हरिभद्र ने इसका अर्थ प्रावरण रहित किया है४। किन्तु आचारांग और भावप्राभृत के संदर्भ में इस पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अप्रावृत का अर्थ वस्त्र-रहित नहीं, खुले गृह मे स्थित होना चाहिए। भगवान महावीर शिशिर व ऋतु में अधोविकट (चारों ओर दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छन्न अर्थात् अप्रावृत) स्थान में स्थित होकर ध्यान करते थे५ एक दूसरे प्रसंग में बताया गया है कि वे शिशिर-ऋतु में छाया में ध्यान करते थे६।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि मुनि शीतकाल में बाहर शयन करे७। वृत्तिकार श्रुतसागर सूरी ने इसका अर्थ अनावृत स्थान में स्थिति को किया है८। सम्भव है कि वस्त्रों का व्यवहार जब कम था, तब तक अप्रावृत का अर्थ खुला स्थान रहा होगा और जब वस्त्रों का व्यवहार अधिक हो गया तब उस (अप्रावृत) का अर्थ वस्त्र-रहित हो गया।

संभव है कि जब वस्त्रों का व्यवहार कम था तब अप्रावृत का अर्थ खुला स्थान रहा होगा और जब वस्त्रों का व्यवहार अधिक हो गया तब उसका (अप्रावृत) का अर्थ वस्त्र रहित हो गया।

मुनि की ऋतु-चर्या का उल्लेख महाभारत व स्मृति-ग्रन्थों मे भी मिलता है। महाभारत मे हेमन्त ऋतु में जल मे रहने का विधान है१। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में भी वस्त्र रखने का विधान है२।

अप्रावृत, जल-संश्रय और आर्द्र-वासा—यह अन्तर परम्परा-भेद के कारण हुआ है। जैन-परम्परा में जल-स्पर्श निषेध था इसलिए हेमन्त ऋतु में अप्रावृत रहने का विधान किया गया।

**प्रतिसंलीनता**

अगस्त्यसिंह स्थविर जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के अनुसार प्रतिसंलीनता का अर्थ है, निवास-गृह या

---

१ दशवैकालिक ३।१२। २. वही ६।३४

३ वही, पृ० १०३ (टि०१ क)

४ वही, पृ० १०३ टि० १(ग)

५ आचारांग १।६।२।१५

तंसि भगवं, अपडिन्ने अहे बिगडे अहीयासए।

दविए निक्खम्म सया राओ ठाइए भगवं समियाए

६ आचारांग १।६।४।३

सिसिरंमि ...या भगवं, छायाए मगइ आसीय

७ भाव-प्राभृत १११

बाहिर सयण त्तावण तरुमूलाईणिउत्तरगुणाणि।

पालहि भाव विसुद्धो पूयालाहं णईहंतो॥

१ महाभारत शान्तिपर्व २४४।१०

अभ्रावकाशा वर्षासु, हेमन्ते जलसंश्रयाः।

ग्रीष्मे च पंचतपसः शश्वच्चाभित भोजनाः॥

२ मनुस्मृति ६।२३

ग्रीष्मे पंचतपास्तुस्याद्वार्षास्वभ्रवकाशिकः।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥

याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय ५२०

ग्रीष्मे पंचाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, शक्त्या वापि तपश्चरेत्॥

आश्रय में स्थित रहना[३]। यह विधान वर्षाजल के स्पर्श से बचने के लिए किया गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने वर्षाकाल में तरुमूल में रहने का विधान किया है[४]।

श्रुतसागर सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है—मुनि वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहे। वृक्ष के पत्तों पर गिरकर जो जल नीचे गिरता है, वह प्रासुक [निर्जीव] हो जाता है। इसलिए मुनि जल के जीवों की विराधना नहीं करता। वृक्ष के नीचे रहने से वर्षा जनित कष्ट भी होता है। इसलिए मुनि को वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उससे उसकी कायरता प्रगट होती है[५]। महाभारत[६] और मनुस्मृति[७] में सन्यासी के लिए वर्षाकाल में अभ्रावकाश [खुले आकाश में] रहने का विधान किया है और

३ दशवैकालिक, पृ० १०३, टिप्पण २
- (क) अगस्त्य चूर्णि: सदा इंदियनोइंदियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थं णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा गामाणुगामं दूतिज्जंति।
- (ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ११६ : वसासु पडिसंलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थः, तवविसेसेसु उज्जमंती, नो गामनगराइसु विहरंति।
- (ग) हारिभद्रीय टीका, पत्र ११६ : वर्षाकालेषु संलीनो इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

४ भाव प्राभृत १११
५ भाव प्राभृत १११ वृत्ति
६ महाभारत, शान्तिपर्व,
७ मनुस्मृति ६।०३

याज्ञवल्क्य स्मृति[१] में स्थण्डिले शय [मैदान] में रहने का विधान है।

इस चर्या में भी व्यवस्थाओं का हेतु सिद्धान्त-भेद है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में तरु-मूल और प्रतिसंलीन रहने का भेद बहुत आश्चर्यजनक है। उद्यान आदि में चातुर्मास बिताने वाले मुनि सभवत वृक्षों के नीचे ही रहते थे। जब मकानों मे रहने का अधिक प्रचलन हो गया तब प्रतिसलीन रहने को मुख्यता दी गई। अगस्त्यसिंह की व्याख्या में निवात-लयन में रहने का उल्लेख है, लयन शब्द सामान्य घर का वाचक नही है। वह पहाड़ों को कुरेद कर बनाए गए घर के अर्थ मे है। जिनदास और हरिभद्र ने आश्रय शब्द का प्रयोग किया है। वह सामान्य घर भी हो सकता है। इस प्रकार युग-परिवर्तन के साथ-साथ तरु मूल निवात लयन और आश्रय का भेद हुआ है।

इस सांवत्सरिक-चर्या का जैन परम्परा में प्राचीन उल्लेख भगवान महावीर के जीवन-प्रसंग में मिलता है[२]। इस प्रसंग में वर्षा-ऋतु की चर्या का उल्लेख नहीं है। दशवैकालिक में तीनों ऋतुओं की चर्या का उल्लेख है। महाभारत और स्मृति-ग्रन्थों में भी वार्षिक-चर्या का उल्लेख है। यह उस समय की स्थिति का प्रभाव था। किसी भी सम्प्रदाय का मुनि बहुजन सम्मत चर्या को अपनाए बिना कैसे रह सकता था? अपनाने का प्रकार अपने ढंग का होता और अपनाने के साथ-साथ उसे अपने सिद्धान्तों के अनुसार ढाल लिया जाता। ऋतु-चर्या का प्रकरण इसी सत्य का साक्ष्य है।

१ याज्ञवल्क्य स्मृति—प्रायश्चित्ताध्याय ५८
२ आचाराग ॥।॥

**हम सब को एक सूत्र में बंध कर देश की अखण्डता की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। तभी हमारी स्वतन्त्रता कायम रह सकती है।**

# अपराध और बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध

साध्वी श्री मंजुला

अपराध—अर्थात् वे 'दूषित क्रिया परिणत मनोवृत्तियाँ जो जिस देश, काल, समाज और परिस्थिति में निषिद्ध व विकृत कहलाती हों। अथवा नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक सभी विधानों एवं मर्यादाओं के उलंघन का नाम अपराध है। यह अपराध का व्यावहारिक रूप है। इन काल्पनिक मानदण्डों के आधार पर अपराध की निश्चित परिभाषा नही दी जा सकती; इसलिए अपराध की शाश्वत व अखण्ड परिभाषा को समझने के लिए उसका एक सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करना होगा। हम अपनी उन समस्त मानसिक दुर्बलताओं को अपराध की कोटि में परिगणित कर सकते हैं जो जब कभी अनुरूप सामग्री पाते ही सक्रिय हो जाएँ। मानसिक दुर्बलता का तात्पर्य यहाँ मनोविकृति या बुद्धि-दौर्बल्य नहीं है जैसा कि कई मनोवैज्ञानिक मानते हैं। मनोदौर्बल्य को यहाँ आत्म दुर्बलता के अर्थ में ही अभिगृहीत किया गया है।

**अपराधों की उत्पत्ति—**

अपराधी मनोवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं ऐसा कइयो का अभिमत है। कई मानते हैं प्रारम्भ मे व्यक्ति न तो अच्छा ही होता है और न बुरा ही। दोनों के बीज विद्यमान रहते हैं। जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। दार्शनिक दचशिन कहता है—"मूल में तो नैतिक सूझ ही हमारी स्वजात होती है। जैसे सुन्दर वस्तुओं के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है वैसे ही सत और शुभ के प्रति भी, लेकिन सामाजिक परिस्थिति अवश्य विकृत या आवृत कर देती है" यही बात कुमारी ग्रीन वी ने अपनी व्यक्तित्व नामक पुस्तक में कही कि "अधिकांश लोग स्वभावत: ही प्रेम, पौरुष, सौन्दर्य, सौम्यता और सुन्दर स्वभाव को पसन्द करते हैं। बुद्धि और मस्तिष्क को नहीं।" हो सकता है स्वभाव से ही व्यक्ति के मन में अच्छाई के प्रति आकर्षण हो लेकिन अधिक सम्भव तो यही लगता है कि हर प्राणी कर्मावृत दशा में सत् और असत् के बीज स्वयं में समेटे रहता है जो स्वानुकूल निमित्तों से उभर आते हैं। लेकिन शुद्ध चेतना अवश्य ही स्वभावत: सम्यक् होती है।

**अपराध और उसके कारण—**

अपराध का सैद्धान्तिक या आन्तरिक कारण भले ही हम कर्मावरण को कह दें लेकिन इन अनगिन मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक कारणों से भी इन्कार नहीं हो सकते। नीत्से ने कहा—"सारी बुराइयाँ आत्म-दुर्बलता से ही उत्पन्न होती है" यह तो हमारा सैद्धान्तिक पक्ष है ही लेकिन अतिरिक्त पक्ष भी अवश्य मीमांसनीय है।

मनोविज्ञान यों न्यूनाधिक रूप से सभी कारणो को अपराध का निमित्त व उत्तेजक मानता है लेकिन प्रबलतम कारण वह कुछेक को ही मानता है। उन कारणों का विभाजन मनोविज्ञान इस प्रकार करता है—१. मनोवैज्ञानिक कारण, २. व्यावहारिक कारण, आर्थिक कारण और ४. राजनैतिक कारण।

मनोवैज्ञानिक कारण—व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियाँ, स्वाभाविक ग्रन्थियाँ, मानसिक संतुलन, वंशानुक्रम, वातावरण, प्रतिनियन्त्रण, बौद्धिक झुकाव, मन की आस्था, आदर्श विशेष का मोह, मिथ्या मान्यताएँ, दमित इच्छाएँ तथा कुण्ठाएँ आदि आदि। शारीरिक बनावट का भी अपराध विशेषों से सम्बन्ध माना जाता रहा है। यद्यपि आज के मनोवैज्ञानिक इससे सहमत नहीं। फिर भी ग्लुग्रक दंपति आदि शरीर की विलक्षणताओं को लक्ष्य कर लिखते हैं—"जो गठीले शरीर वाले चुस्त और आवेशपूर्ण, वहिर्मुखी व आक्रमणशील होते हैं वे अपराधी होते हैं।" लम्बरोजो, हूटन व शेडन आदि भी शारीरिक हीनता को अपराध का कारण मानते हैं। वे कहते है—"नीचा माथा, बिगड़े हुए कान, अन्दर धँसी हुई ठुडी, चौड़ी नाक, विलक्षण मुखाकृति ऐसी शकल अपराधियों की होती है।" वृत्तियों की बहिमुखता और आत्मदुर्बलता

को भी मनोवैज्ञानिक कारणों के अन्तर्गत लिया गया है।

व्यावहारिक कारण—दूषित समाज रचना (सामाजिक दुर्व्यवस्था) अनुशासन का ढीलापन, स्नेहहीनता, मर्यादाहीनता, अतिशय नियन्त्रण, दुर्व्यवस्था, गृहकलह, मृत्यु, बीमारी, नैतिक शिक्षण का अभाव, आदर्शों का व्यवहारगत न होना, उपेक्षा के भाव, अवहेलना, "प्रेम, स्नेह, सुखद मैत्रीभाव व स्वस्थ मनोरंजन का अभाव" ये सभी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को जन्म देते हैं तथा अति लाड़-प्यार, सिनेमा, रेडियो, अश्लील साहित्य, और संगीत आदि भी अपराधों को उकसाते हैं।

आर्थिक कारण—अभावग्रस्तता, अर्थ बाहुल्य, पूंजीपतियों की प्रतिष्ठा, गरीबों की अवहेलना आदि। इन आर्थिक संकटों से चोरी, डकैती, नाजायज संग्रह, ब्लैक मार्केटिंग, विलासिता, सुविधाशीलता, स्वार्थपरता आदि मे अपराध सहज पनप सकते हैं।

राजनैतिक कारण—राजनैतिक त्रुटि यह है कि युग तीव्रगति से जब परिवर्तित होता है और शासन व समाज के नियम ज्यों के त्यों रहते है तब मनों में गड़बड़ी और विक्षेप होने लगते हैं। उससे कानून के प्रति असम्मान, निडरता को बढ़ावा, व शासनप्रणाली की सशक्तता के अभाव में कानून भंग मे वृद्धि होती है। जब थोड़े लोग कानून भंग करके भी निर्बाध निकल जाते हैं तब दूसरों में वैसा दुस्साहस पैदा होता है। ऐसी राजनैतिक त्रुटियां भी अपराधों का स्रोत खोल देती है।

किसी अपराध विशेष का कोई निश्चित कारण तो नहीं बताया जा सकता, क्योंकि भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न भिन्न कारण बनते रहते है। फिर भी सभी कारणों के मूल मे मनोदौर्बल्य अनिवार्य रूप से निहित होता है। मनोदौर्बल्य के तीन पक्ष है। ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। मनोवैज्ञानिको ने एक ज्ञानात्मक पक्ष को छोड़कर शेष दोनों पक्षों की दुर्बलता को अपराध का प्रमुख कारण माना है।

आज के मनोविश्लेषण वादियों के अनुसार मानसिक दुर्बलता के ये कतिपय कारण हैं—संघर्ष, अतृप्त इच्छाएं, निरोध, दमन, सुरक्षा व आत्म सम्मान का घात, मानसिक अस्थिरता, अचेतन—प्रेरणा तथा अपरिपक्व या अनियन्त्रित संवेग आदि आदि। इनके अनुसार जहां जहां ये उपरोक्त कारण नही होते वहां अपराधो की मात्रा बहुत कम होती है। उदाहरण स्वरूप शहरों की अपेक्षा गांवो की सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़, व मानसिक संतुलन पर्याप्त रहता है अतः अपराध भी वहा अपेक्षाकृत कम होते है।

अपराध के जितने भी अनन्तर व परम्पर कारण बतलाए गए है वे निस्सदेह सत्यांश लिए हुए है लेकिन फिर भी इन कारणों को अपराध का जनक नहीं कहा जा सकता। ये अपराधो को उत्तेजित अवश्य कर सकते हैं अतः अपराध का जनक कारण अपना स्वयं का आंतरिक असंयम ही है। "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवति" के अनुसार फिर तो उस एक असंयम से भोग वाद के प्रति झुकाव, मूल्यांकन का विपर्यास, धाराणाओं की रूढता, रागात्मकता, अतिभोग, अतिसग्रह और क्रूरता आदि वृत्तिया उभरती है जो नाना अपराधों का रूप लेती रहती है।

स्वभावतः हर प्राणी में; पशु और वनस्पति तक मे भी स्वपोषण और परहनन की वृत्ति रहती है और वही स्वार्थ वृत्तियां हिंसक वृत्ति निमित्तानुकूल रूपान्तरों में व्यक्त होती रहती है जो विभिन्न अपराधों की अभिधा पा लेती है। जैसा कि मुनि श्री नथमल जी के अणुव्रत दर्शन मे बताया है कि "हिंसक प्रवृत्ति ही जब यथार्थ पर पर्दा डालती है तो वह असत्य कहलाती है। पदार्थ सग्रह के लिए प्रयुक्त होती है तो परिग्रह; वासना का रूप लेती है तो अब्रह्मचर्य और परवस्तु हरण मे प्रवृत्त होती है तो चोरी कहलाती है। सत्य; अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह तथा अचौर्य और ब्रह्मचर्य उसी के सामाजिक पहलू है" इससे स्पष्ट फलित है कि सारे अपराध इस एक ही हिंसक वृत्ति के नाना रूपान्तर व उभार हैं तो सारे 'सत्' एक ही अहिंसा-परिवार के सदस्य हैं।

समस्त अपराधों का समाधान व्यक्ति का अपना आन्तरिक सयम ही है। उसके बिना 'अभाव में संग्रहवृत्ति जन्य दोष पनपते है और 'भाव' में विलास जन्य दुश्चरित्रों की मात्रा बढ़ती है। अभाव आदि बाह्य परिस्थिति ही

अपराध का कारण होती तो सारे 'शरणार्थी' अपराधी होते कोई पुरुषार्थी नहीं बनते।

मनो वैज्ञानिकों ने इस विषय में अपने शोधपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। 'मेरिल' की परीक्षा विधि के अनुसार तीन सौ अपराधियों१ और तीन सौ निरपराधियों की जांच की गई जिसमें अपराधियों में दो तिहाई निम्न घरों के थे पर निरपराधियों में आधे निम्न घरों के थे और आधे उच्च घरों के" इससे निश्चित है कि अभाव कोई अपराध का कारण नहीं निमित्त फिर भी हो सकता है वासना मिटे बिना वातावरण और वंशानुक्रम आदि की अनुकूलताओं में भी व्यक्ति अपराधी बना रहता है और वासना के अभाव में गम्भीर बाधाएं भी विचलित नहीं कर सकती। फिर भी अपराध से बचने के लिए मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य का परिपूर्ण और विशुद्ध होना अत्यन्त अपेक्षित है। मानसिक अतुष्टि तो अपराध का सीधा कारण बनती है।

**बुद्धि [शिक्षा] और अपराध—**

शिक्षा और अपराध के बीच कोई अविनाभाव नही। शिक्षा; बौद्धिक विकास है और अपराध मानसिक दुर्बलता। बुद्धि विचारात्मक होती है, मन भावात्मक। ये एक दूसरे को कदाचित् प्रभावित तो कर सकते है लेकिन किसी प्रकार का प्रतिबन्ध इनके बीच हो सकता।

कइयों की धारणा है बुद्धिशील व्यक्ति अपराध नहीं करते। क्योंकि उनमें से कई तो कहते है—अपराध मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न होते हैं और मानसिक दुर्बलता व बौद्धिक दुर्बलता दो नहीं है। जहां यह नहीं होती वहां अपराध भी नही होते। तथा कइयों का अभिमत है, मानसिक दुर्बलता से बौद्धिक दुर्बलता फलित होती है और उससे अपराधों का स्रोत खुल जाता है। वे मानसिक दुर्बलता को पहली विशेषता मानते हैं—बुद्धि का अभाव। और उस बौद्धिक न्यूनता का प्रभाव व्यक्ति के आचरणों पर पड़ता है। यह उनका दृढ़ अभिमत है। वे कहते हैं "जब व्यक्ति के पास विवेक, विचार और तर्क नहीं होगा तो भले बुरे का चुनाव कैसे हो सकेगा। नैतिकता, जो व्यक्तिगत चुनाव पर निर्भर है उन बुद्धि हीनों के लिए कोई अर्थ और महत्त्व नहीं रखती। चोरी, झूठ लापरवाही, ध्वंसात्मककार्य, लैंकिक अनाचार आदि प्रवृत्तियां हर दुर्बल बुद्धि व्यक्ति में थोड़ी बहुत पाई जाती हैं।" ऐसा उनका अनुभव है।

कइयों का चिन्तन है—अपराध अधिक बौद्धिक वर्ग में ही होते हैं। जो जितना अधिक जानेंगे वे उतने ही चतुराईपूर्ण ढंग बनाना विधाओं से अपराध करेंगे। कई लोग बौद्धिकता को न तो अपराध का जनक ही मानते हैं और न विनाशक ही लेकिन परिष्कारक मानते है। अपने-अपने चिन्तन हैं। लेकिन बुद्धि और अपराध का क्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा अनपेक्षित है। एक बुद्धिशील व्यक्ति भी अपराध करता हुआ देखा जाता है और एक दुर्बल व्यक्ति भी। यह दूसरी बात है कि दोनों के प्रकार सर्वथा भिन्न होते हैं।

बुरे को बुरा जानना एक बात है और न करना दूसरी बात। बौद्धिक ज्ञान से अपराध जाने तो जा सकते हैं पर मिटाए नहीं जा सकते। जैनी लोग जानते है नाजायज या अति संग्रह भयंकर पाप है फिर भी करते है क्योकि जानना और करना दोनो दो कारणों पर अवलम्बित है। अतः अपराध मिटाने के लिए बुद्धि नहीं मानसिक एकाग्रता [ध्यान] ही उत्कृष्ट उपाय है।

भगवान महावीर ने छद्मस्थ के लक्षणों में एक लक्षण बताया है कि जो दोष को दोष जानता१ हुआ भी सेवन करे, वह छद्मस्थ होता है। यही बात कौटिल्य ने कहा है कि लोग जानकर भी दोषों का आचरण२ कर लेते हैं। क्योकि औषध३ को जान लेने मात्र से कोई रोगशमन थोड़ा ही होता है ? इसी को पुष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा—विद्वानो में भी दोष४ पाए जाते हैं। तथा कौटिल्य

१. व्यवहारिक मनोविज्ञान पृष्ठ १६२ 'मेरिल की परीक्षा विधि।

१.

१. कौटलीय अर्थशास्त्र अध्ययन ६।

३. नहि औषधि परिज्ञाना देव व्याधि प्रशमः (कौ० अ० शा० मंत्रि समुद्देश)

४. (कौ० अ० ३, पृ० ८) विपश्चितस्वपि सुलभा दोषाः।

ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वणिकों को भी अपराधी माना है। जबकि ये बौद्धिक वर्ग में आते हैं। सुभाषित संग्रह में कहा१ है सारे अपराध हो जाने पर भी ब्राह्मण अदण्डनीय है। उस समय सर्वोत्कृष्ट विद्वान ब्राह्मण ही माने जाते थे। मैगस्थनीज ने भारतीयों को कार्य की दृष्टि से सात श्रेणियों में बांटा है। उनमें प्रथम श्रेणि ब्राह्मण को विद्वान२ कहा है तथा उस समय की शिक्षा प्रणाली का विवेचन करते हुए कहा है कि तब शिक्षक या तो ब्राह्मण होते थे अथवा श्रमण। एक ओर तो ब्राह्मणों के विद्वान होने का जिक्र किया गया है, दूसरी ओर वहीं चन्द्र गुप्त के समय का वर्णन करते हुए ब्राह्मणों के अपराधी सिद्ध होने पर दण्ड व्यवस्था बतलाई गई है कि—"ब्राह्मणों का राजा व प्रजा द्वारा विशेष मान किया जाता था पर शासन के मामलों में कोई रियायत नहीं थी। अपराधी सिद्ध होने पर उन्हें भी साधारण नागरिक की भांति दण्ड भुगतना३ पड़ता था।

चन्द्रगुप्त के समय शिक्षा अनिवार्य थी इसलिए अब्राह्मणों के शिक्षित होने में तो कोई शक है ही नहीं। वार्ता समुद्देश४ में व्यापारियों को डाकू कहा गया है। सोमदेव के नीति सूत्रोंमें राजा को अपने अपराधी५ पुत्र को दण्डित करने के लिए कहा गया है। इसी तरह कौटिल्य अर्थ शास्त्र के उपोद्‌घात मे भोज को ब्राह्मण कन्या पर बलात्कार६ करने के अपराध में और रावण को सीता हरण के अपराध में सर्वस्व विनाश का दण्ड मिला बतलाया गया है। तथा महाभारत में रक्षा का व्रत लेकर

१. (कौ० सुभाषितानाना संग्रह) सर्वापराधेष्वप्य पीडनीयो ब्राह्मणः।
२. 'महामानव' पुस्तक पृ० १५ (लेखक सत्यकाम विद्यालंकार)
३. महामानव पुस्तक पृ० १३,१४)
४. न सन्ति वणिग्भ्यः परे पश्यतो दराः (वार्ता समुद्देश)
५. अपराधानुरूपी दण्डः पुत्रोपि प्रणेतव्य (सोमदेवनीति सूत्र पृ० ७३)
६. दाण्डक्यो नाम भोजः, कामाद् ब्राह्मण कन्या मभिमन्यमानः सबन्धु राष्ट्रो विननाश रावणश्च सीता··· (कौ० उपोद् घात)

रक्षा न करने वाले राजा को कुत्ते की मौत१ मार देना चाहिए। ऐसा उल्लेख है। राजा व राजपुत्र दोनों का ही शिक्षित होना स्वतः सिद्ध है और भोज व रावण की विधाएँ तो सर्व विश्रुत हैं ही। फिर भी अपराधी मनोवृत्तियाँ इनमें भी अशिक्षितों की भांति ही पाई गई हैं। ऐसे अनगिन उल्लेख व ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट है कि शिक्षित व्यक्ति भी अशिक्षित की तरह अपराध कर सकता है। व वर्तमान भी इस तथ्य का साक्षी है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग को मनोवैज्ञानिक विचारों के संदर्भ में पढना भी अधिक उपयुक्त होगा। मनोवैज्ञानिकों का मन्तव्य है कि "गलत विचार अचेतन मन की ग्रंथियों को पकड़ने पर तर्क२ और बुद्धि द्वारा दुरस्त नहीं किए जा सकते; जब तब क्रियान्वित होकर ही रहते हैं"। जे० एम० ग्राहम ने कहा है—चरित्र निर्माण के लिए ज्ञान एक३ उपयोगी वस्तु है पर अनिवार्य नहीं।" यही बात कुमारी ग्रीन ने कही है "शिक्षा यद्यपि महत्त्वपूर्ण४ वस्तु है परन्तु व्यक्तित्व विकास के लिए उतनी आवश्यक नहीं"। हंसराज भाटिया ने अपनी पुस्तक असामान्य मनोविज्ञान में इस विषय को बहुत ही गंभीरता व सूक्ष्मता से छुआ है। वहाँ बताया गया है—"अपराधी मनोवृत्ति के लोगों की बुद्धि और अन्य लोगों५ की बुद्धि में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। वे प्रायः सामान्यतया तीक्ष्ण बुद्धि के होते हैं।

कुछ अपराधी तो बहुत चतुर और तेज बतलाए जाते है। कुछ विद्वानों का मत है कि वे प्रायः निर्बल बुद्धि के होते हैं, पर यह निष्कर्ष उन अपराधियों के अध्ययन पर अवलम्बित है जो पकड़े जाते हैं। उन अपराधियों की

१. अहं वो रक्षते त्युक्त्वा, यो न रक्षति भूमिपः
स संहत्य निहन्तव्य श्वेव सोन्माद आतुर.।
(महा० १३,९६,३५)
२. मानसिक चिकित्सा पृ० ५७
(लेखक लालजीराम शुक्ल एम.ए.बी.टी)
३. 'व्यक्तित्व इसके विकास के उपाय' (पृ० ३३,३४)
४. 'व्यक्तित्व इसके विकास के उपाय' (पृ० ७')
५. 'असामान्य मनोविज्ञान' (पृ० ३३४)

गणना नहीं करते जो तेज बुद्धि और चतुर होने के कारण पुलिस की पकड़ में नहीं आते। ऐसी अवस्था में बुद्धि और अपराधी मनोवृत्ति में किसी तरह का वैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। चाहे जो हो, अपराध करने वाला निश्चित जानता है कि वह बुरा काम करता है पर आदत से लाचार होता है इसलिए जानता हुआ भी छोड़ नहीं सकता। अगर अपराध करने वाला ना समझ हो तो उसे अपराध का उत्तरदायी बनाकर दण्ड नहीं दिया जा सकता जैसे कि विक्षिप्त और बालक को नहीं दिया जाता।"

एक अन्य स्थल पर इसी प्रसङ्ग का उल्लेख देते हुए वे लिखते है—"बुद्धि व उसकी हीनता को अपराध का कारण१ नही माना जा सकता।"

इन कतिपय अंशों से हम अपने निष्कर्ष को और भी दृढ़ बना सकते हैं कि शिक्षा और अशिक्षा से अपराध का कोई लगाव नहीं हैं। इसलिए हमारा यह कथन कि यह शिक्षित होकर भी गलती करता है अधिक महत्त्व नहीं रखता जबकि शिक्षा और गलती में कोई अनिवार्य सम्बन्ध ही नहीं है। मनोविज्ञान ही क्या जैन दर्शन भी तो ज्ञान का कारण, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम को मानता है और शुद्ध व सयत क्रिया का कारण; चरित्र मोहनीय कर्म के क्षय क्षयोपशम को। शिक्षित और अशिक्षित मे इतना अन्तर अवश्य पड़ता है कि शिक्षित अपनी गल्तियो पर चतुराई के परत चढ़ा लेता है और अशिक्षित की बुराई सदा स्पष्ट और अनावृत रहती है। अपराध का कटु परिणाम भोगते समय एक बार शिक्षित अशिक्षित दोनों ही के मनों में अपराध न करने के भाव जगते है यह दूसरी बात है कि कोई उस निर्णय पर दृढ रहता है और कोई अपनी आदत की विवशता से वैसा नही कर सकता।

पाश्चात्य देशों मे जहाँ न तो अभाव जनित परिस्थितियों की ही अधिक मात्रा है और न अशिक्षित लोग ही, फिर भी अपराधों की मात्रा कोई कम नहीं है। निर्धन और अल्प विकसित देशों में जहाँ दूध में पानी मिलाने जैसे छुटपुट अपराध होते हैं वहाँ उन सम्पन्न देशों में बैंकों को लूटने जैसे भयकर अपराध अधिक मात्रा में होते है। यहाँ की अपेक्षा वहाँ की स्त्रियाँ अधिक अपराध करती हैं।

शिक्षा की दृष्टि से तो यहाँ की स्त्रियाँ कम शिक्षित होती है पर अपराध वहाँ की औरतें ही अधिक करती हैं। इसका कारण शायद उनका विशृंखलित व असंयमित जीवन हो सकता है। जो विशृंखलता और असंयमितता अपेक्षाकृत यहाँ की स्त्रियों में कम है।

बुद्धि का काम है चिन्तन करना। यह अच्छा भी कर सकती है और बुरा भी। अच्छे चिंतन पर आस्था जमती है तो अपराध मिट भी जाते हैं और बुरे चितन पर आस्था जमती है तो अपराध और भी गभीर रूप धारण कर लेते है, अतः मानना पड़ता है कि आचरण अन्तः प्रेरणा का परिणाम है; बुद्धि का नही। लेकिन इसके विपरीत ऐसे भी कुछ अकाट्य तर्क हमारे समक्ष आते हैं कि ज्ञान और शिक्षा से अपराधों का अल्पीकरण व विलयीकरण होता है। वे भी चिन्तनीय हैं।

## ज्ञान व विद्या से अपराधों का विलयीकरण—

अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि जिन्होंने शिक्षा और अपराध को एक दूसरे से निरपेक्ष माना वे ही इनमें घनिष्ठता स्वीकार करते है। तब लगता है अवश्य ही यहाँ कोई दूसरी अपेक्षा है और उसे हमें प्रकाश मे लाना है।

भगवान् महावीर ने जहाँ एक ओर 'आठ प्रवचन माता' के जानने वाले के चरित्र की उत्कृष्ट आराधना बतलाकर ज्ञान और आचार को एक दूसरे से निरपेक्ष बतलाया वहाँ दूसरी ओर (यह कहकर कि द्रष्टा को उपदेश की जरूरत नही१ वह स्वयं मे पूर्ण है) ज्ञान और आचार के बीच पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर दिया है। इस तथ्य को पुष्ट करने२ वाले अनेक स्थल उपलब्ध होते है जैसे सम्यक् दृष्टा पाप नहीं करता। अज्ञानी जो अच्छे बुरे को जानता ही नही वह क्या करेगा ? अज्ञानी तपस्या

१. 'व्यवहारिक मनोविज्ञान' पृ० ५६ से ७०
(लेखक हंसराज भाटिया)

१. उद्देसो पासगस्स नत्थि (आचाराङ्ग अ०)
२. सम्मत्त दंसी न करेइ पावं (आचाराङ्ग अ०)

के द्वारा करोड़ों भवों में जितने कर्म१ खपाता है। त्रिगुप्ति गुप्त ज्ञानी अन्तर मुहूर्त में उतने कर्मों को खपा देता है।

ये तथ्य एक बार हमें चौंका देते हैं। लेकिन जब दूसरे ऐसे तथ्य हमारे सामने आते हैं कि वह अध्ययन, अध्ययन३ ही क्या जो इतना भी न सिखाए कि परपीड़न नहीं करना चाहिए। तथा जो प्रज्ञा के दो भेद किए है ज्ञप्रज्ञा और प्रत्याख्यान प्रज्ञा। इन पर से स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त तथ्यों में यही अपेक्षा है। वहाँ बौद्धिक ज्ञान को ज्ञान न कहकर आत्मज्ञान को ही ज्ञान की परिधि में लिया गया है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सभी एकाकार हो जाते हैं। यद्यपि उस आत्मज्ञान से भी अपराध का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, पर वह आत्मज्ञान अपराध के कारण भूत मोहनीय कर्म के नष्ट होने के बाद होता है अत: उस ज्ञान के होने पर अपराधों का न होना स्वत: प्राप्त है।

यही अपेक्षा कौटिल्य और सुकरात आदि के पूर्वापर विसंवादी कथनों में जोडनी पड़ेगी। जहाँ कौटिल्य ने एक ओर कहा है विद्वानों में भी दोष पाए जाते हैं और दूसरी जगह५ कहा—ज्ञानियों को संसार का भय नही है। इसी तरह सुकरात ने कहा "अच्छे को जानना अच्छे को करना है" यही बात गाँधी जी ने दूसरे ढंग से कही—"सच्चरित्रता के अभाव मे कोरा बौद्धिक ज्ञान शव के समान है" यहाँ उनके कथन से ही स्पष्ट है कि बौद्धिक ज्ञान का सम्बन्ध सच्चरित्रता मे नहीं मानते।

आचार्य रजनीश "अज्ञान को भोग१ और ज्ञान को त्याग मानते हैं। वे त्याग को ज्ञान का परिणाम बताते हैं। वे कहते हैं समस्या काम क्रोध को जीतने की नहीं२ जानने की है। जो अन्धकार को जानता है वह अन्धकार नहीं हो सकता३। यहाँ उन्होंने ज्ञान के माने बौद्धिक ज्ञान को नहीं लिया है जैसाकि आगे उन्होने स्वय कहा है—"ज्ञान और ज्ञान में भेद है। एक ज्ञान है केवल जानना४ जानकारी बौद्धिक समझ है। और एक ज्ञान है अनुभूति प्रज्ञा, जीवन्त प्रतीति। एक मृत तथ्यों का संग्रह है। एक जीवित सत्य का बोध। बौद्धिक ज्ञान ज्ञान का भ्रम है। अन्धे का प्रकाश को जानना ऐसा ही सबका बौद्धिक ज्ञान है। उस अनुभूति परक ज्ञान के आगमन से ही आचरण सहज उसके अनुकूल हो जाता है। सत्य ज्ञान के विपरीत जीवन का होना एक असंभावना है। वैसा आज तक धरा पर कभी नहीं हुआ है। ज्ञान बुद्धि की उपलब्धि नहीं अनुभूति की सम्पत्ति है।"

इन सबने यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान और आचार में जहाँ तादात्म्य माना गया है वहाँ ज्ञान के बौद्धिक रूप को नहीं आत्मानुभूति को ही लिया गया है।

बौद्धिक ज्ञान भी कुछ अंशों में अपराधी मनोवृत्ति का संशोधन करने में सहायक होता है। क्योंकि प्राय: देखा जाता है जिस व्यक्ति में जितनी बुद्धि लब्धि होती है उस का मानसिक स्वास्थ्य अपेक्षाकृत उतना ही अच्छा होता है। स्वस्थ व संतुलित मानस का व्यक्ति अधिक अपराध नहीं करता। दूसरे में हमारे सभी आचरण हमारी इच्छा, भावना, मान्यता व आदर्शों पर निर्भर करते हैं और इन सब में संशोधन करना शिक्षा पर बहुत कुछ अवलम्बित है। मनोवैज्ञानिकों की भी मान्यता है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, सामाजिक शैक्षणिक प्रभावों का परिणाम है। वे अनुभव को भी स्वयं को बदलने में बहुत बड़ा सहायक मानते हैं। जिन मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर

---

१. अन्नाणी कि काही किंवा नाही सेय पावयं (द० अ० ४ श्लो०)

२. उग्ग तवेण अन्नाणी, जं कम्मं खवेदि वहुहि भवेहि। तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अन्तो मुहुत्तेण (मोक्ष प्रा० ५३)

३. किं ताए पडियाए, पय कोडिवि पलाल भूयाए, जइ इत्तो विण जाण, परस पीड़ाण कायव्वा (निर्युक्ति)

४. (आचाराङ्ग अ०)

५. न संसार भयं ज्ञानवती (कौ० अर्थ, अ० आठवां)

---

१. क्रान्ति बीज पृ० १।

२. वही, पृ० ४।

३. वही, पृ० १५।

४. वही, पृ० ५८।

हम अपराधों की ओर उन्मुख होते हैं उन पर शिक्षा मार्गान्तिरीकरण के द्वारा किस प्रकार काबू पा लेती है वहाँ शिक्षित को सैनिक तैयारी में जोड़ देती है। इसी तरह लड़ने, झगड़ने की मूल प्रवृत्ति द्वारा बीमा, बैंक कम्पनियों और मकानों का आविष्कार करती है। शिक्षा मनोवृत्तियों को प्रभावित करती है इस तथ्य से न तो मनोविज्ञान ही इन्कार हो सकता है और न हम ही। शिक्षा से अनुभव अर्जित होते हैं। अनुभवों से अच्छे बुरे नगण्य मूल्यवान् का भेद ज्ञान होगा और उससे हमारे निर्णय बुद्धिमत्ता पूर्ण होंगे। अगर ऐसा न मानें तो शिक्षा मनोविज्ञान का कोई अर्थ ही नही! लेकिन फिर भी शिक्षा को हम प्रभावोत्पन्न तक ही सीमित रख सकते हैं। इससे शिक्षा और आचरण के बीच गठबन्धन नहीं कर सकते।

जैन दर्शन ने ज्ञान, दर्शन और क्रिया को सापेक्ष माना है। लेकिन इसमें भी तारतम्य है। हमारा ज्ञान मस्तिष्क की उपज है। आस्था आत्मा की अवस्था है और क्रिया उसी की परिणति। इससे भी आस्था और क्रिया के बीच निकटता व्यक्त होती है न कि ज्ञान और क्रिया के बीच।

कई लोग बौद्धिक क्षेत्र में अपराधों की मात्रा अधिक देखकर यह भी अनुमान लगाते हैं कि बुद्धिवाद ने अपराधों को बढ़ावा दिया है। अनपढ़ या अशिक्षित में आस्था के भाव प्रबल होते हैं अतः वे अपराध करते हिचकते है और शिक्षितों की आस्था विघटित होती है इसलिए वे कुछ भी करते नहीं सकुचाते। ऐसी विचारधारा के लोगों ने ही सुकरात पर ऐसा लांछन लगाया था कि "सुकरात ने अपनी शिक्षा[१] से एथेन्स के नवयुवकों को पथभ्रष्ट कर दिया है।" लेकिन इस विचारधारा में तथ्य नहीं लगता। वस्तुत बुद्धिवाद न अपराध का सर्जक है और न विसर्जक ही। वह हमारे सामने अच्छाइयों और बुराइयों दोनों का ही चित्र उपस्थित करता है। हमारी मनोवृत्तियाँ जिसको चाहे पकड़ ले, वह तटस्थ है। फिर भी बुद्धि पर अपराध की कुछ जिम्मेवारियाँ अवश्य आती है। वे ही काम पशु करते है अपराध की कोटि में नहीं आते और वे ही जब मनुष्य करते हैं तो अपराधी गिने जाते है। क्योंकि वे बुद्धिशील प्राणी हैं। अतः हमे मानना चाहिए बुद्धि विकास, अपराध सिखाने में भी सहायक हो सकता है और मिटाने में भी।

१. धर्मयुग १९६४ अगस्त (पुनर्मूल्यांकन शीर्षक लेख से)

## अपराधों का इतिहास

अपराध का इतिहास बहुत पुराना है। करोड़ों वर्ष पूर्व की दण्ड व्यवस्था 'हाकार' 'माकार' धिक्कार तथा इसके बीच की अनगिन दण्ड व्यवस्थाओं तथा वर्तमान मनोवैज्ञानिक दण्ड पद्धतियों के आधार पर जान पड़ता है कि अपराध हर समय रहे है फिर चाहे वह बौद्धिक युग हो या अबौद्धिक तथा सभी वर्गों व सभी देशो मे रही हैं। महाभारत, स्मृतियाँ, उपनिषद् तथा तत्कालीन अन्य साहित्य इसका पुष्ट प्रमाण है। छान्दोग्य उपनिषद् में अश्वपति कैकेय का यह दृप्त कथन कि "न मेरे[१] राज्य में चोर है, न मद्यप है, न क्रिया हीन है, न व्यभिचारी और अविद्वान है" निस्सदेह एक प्रकार की अत्युक्ति का का नमूना है। रमाशंकर त्रिपाठी ने भी अपने ग्रथ 'प्राचीन भारत का इतिहास' में इस विषय का विश्लेषण अनेक प्रमाणों के साथ दिया है। यह दूसरी बात है कि शाश्वत बुराइयों में देश और काल से रूपान्तरण होता रहता ही है।

यह एक तथ्य अवश्य ही कुछ मीमांसा चाहता है कि प्राचीन, मध्यम और वर्तमान युग की दण्डदान-प्रक्रिया मे बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। कौटिल्य ने एक ही अपराध करने वाले शूद्र हीनों के लिए अपराध के अनुपात में अधिक दण्ड की व्यवस्था की है वहाँ वही अपराध करने वाले या घोर अपराध करने वाले भी ब्राह्मण आदि बच निकलते थे या फिर स्वल्प मात्रा में दंडित होते थे।

मनु ने इससे विपरीत किया है। सामान्य अपराध के लिए एक साधारण नागरिक को एक कार्षापण से दंडित बतलाया है और राजा आदि प्रभावशाली व विवेकशील व्यक्तियों को हजार कार्षापण से। लेकिन ब्राह्मणों को इन्होंने भी छूट दी है। राजा चन्द्रगुप्त ने सामान्य नागरिक और ब्राह्मण के अपराधी सिद्ध होने पर समान व्यवस्था की है। वैसे ब्राह्मण का सम्मान अधिक भी रखा जाता था। (शेष पृ० १७४ पर)

१. नमे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः
नाना हिताग्नि र्नचाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः
(छा० उ० ५०,११)

# सम्यग्दर्शन

साध्वी श्री संघमित्रा

दर्शन शब्द अनेक अर्थों में अधिष्ठित है। गौतमबुद्ध ने निर्विकल्प अवस्था को दर्शन कहा है। अर्वाचीन दार्शनिकों ने परिशोधित विचारों को दर्शन संज्ञा से अभिहित किया है। जैन दर्शन मे दर्शन शब्द के दो अर्थ विहित हैं।

**सामान्य बोध—श्रद्धान**

प्रस्तुत प्रकरण में विवेच्य श्रद्धानार्थन दर्शन शब्द है।

जैन दर्शन में आत्मा की जिस श्रद्धा को सम्यग् दर्शन और मिथ्या दर्शन कहा है उसी को वैदिक दर्शन में विद्या-अविद्या बौद्ध दर्शन मे मार्ग, योग दर्शन में विवेक-ख्याति और भेद ज्ञान कह कर पुकारा है।

दर्शन अपने आप में सम्यग्-असम्यग् नहीं है किन्तु "वस्तु परक होते ही वह सम्यग्-मिथ्या बन जाता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप में परिणति उसे सम्यग् और अयथार्थ स्वरूप में परिणति उसे मिथ्या बनाती है" सम्यग् दर्शन की इस परिभाषा मे किसी का मत द्वैत नही है लेकिन वस्तु का स्वरूप निर्णय सबका भिन्न-भिन्न है। इसीलिए सम्यग् दर्शन का स्वरूप भी दार्शनिक परम्पराओं में पार्थक्य लिए हुए है।

बौद्ध दर्शन मे प्रत्येक पदार्थ को क्षण-क्षयी माना है। उनकी दृष्टि में कोई भी पदार्थ एक क्षण के बाद टिकने वाला नहीं है। वस्तु-स्वरूप के इस निर्णय के अनुसार मार्ग की परिभाषा देते हुए उन्होने कहा—सब संस्कार क्षणिक है, इस प्रकार की दृढ़ वासना [भावना] का नाम ही मार्ग[1] है।

योग दर्शन मे आत्मा को नित्य और पवित्र माना है अत उनकी दृष्टि में अनित्य और अपवित्र आत्मा को मानना अविद्या[1] है। नित्य और पवित्र मानना विद्या है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। कर्मावरण [अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन त्रिक] के दूर होने से शुद्ध परिणमन और अन्तर-दर्शन आत्मा होता है यह सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व का फलित रूप है वस्तु का यथार्थ ग्रहण, रुचि और विश्वास। इन तीनों का समन्वित रूप सम्यग्-दर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्-दर्शन के इस द्विविध रूप को विविध दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है। स्थूल दृष्टि से सम्यग्-दर्शन का निरूपण करते हुए लिखा—

छह द्रव्य[2], नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व, इन पर जो यथार्थ श्रद्धा करता है वह सम्यग् दृष्टि है।

जिन प्रणीत[3] सूत्रार्थ को, जीव अजीव आदि विविध अर्थों को और हेय-उपादेय को जानता है वह सम्यग्-दृष्टि है।

सम्यग्-दर्शन की व्याख्या को अधिक सरल करते हुए कहा—

हिंसा रहित[4] धर्म में, अठारह दोष विवर्जित देव में और निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो श्रद्धा करता है वह सम्यग्-दृष्टि है।

तत्त्व रुचि सम्यग्दर्शन[5] है। सम्यक्त्व[6] पर जो चिन्तन करता है वह भी सम्यग्दृष्टि है। समय सार मे

---

१. षड् दर्शन समुच्चय श्लोक ७—
क्षणिका सर्व संस्कारा इत्येवं वासना यका स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते।

१. पातञ्जल योगसार सूत्र ५।
२. षट् पा० दर्शन प्राभृत १९।
३. वही सूत्र प्रा०—५।
१. षट्० पा० मोक्षप्राभृत ६०।
२. वही, ३८ ।
३. वही, ८७ ।

भी उन्होंने यही तथ्य व्यक्त किया—जीव, अजीव१, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इनका भूतार्थ [वास्तविक] दृष्टि से ज्ञान होना सम्यग् दर्शन है।

सूक्ष्म दृष्टि से सम्यग्-दर्शन पर विश्लेषण करते हुए लिखा—आत्मा२ का आत्मा में रमण सम्यग्दर्शन है।

जो स्व३ द्रव्य मे रमण करता है वह सम्यग् दृष्टि है जो पर द्रव्य में रमण करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

समयसार में लिखा है—समग्र४ व्यवहार भूतार्थ [अयथार्थ] है। भूतार्थ केवल शुद्धनय है। जो शुद्ध नय के आश्रित है वही सम्यग्दृष्टि है।

इन समग्र व्याख्याओं का सक्षेप में निष्कर्ष देते हुए कहा–जीवादि५ तत्त्वों पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व है यह तो व्यवहार दृष्टि है। निश्चय दृष्टि से तो आत्मा ही सम्यक्त्व है। आत्मा ही ज्ञान६ है। आत्मा ही दर्शन है।

आत्मा ही चरित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है। संवर और योग भी मेरी आत्मा है।

धर्म समुच्चय में सम्यक्त्व और सम्यग् दर्शन में कारण कार्य भाव माना है—'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्वस्य कार्यं, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्व—क्षयोपशमादिजन्यः शुभात्म परिणाम विशेष'—तत्त्वों के प्रति श्रद्धा सम्यक्त्व का कार्य है मिथ्यात्व के क्षयोपशमादि से उत्पन्न शुभात्म परिणाम सम्यक्त्व है७।

सम्यग्दर्शन को समझने के लिए उसके उत्पन्न होने की प्रक्रिया को समझना बहुत महत्त्व का है।

अनादि काल से आत्मा पर कर्मावरण के परत चढ़े हुए हैं। सबसे सघन परत मोह का है। अन्य कर्मावरणों में भी सघनता पैदा करने वाला मोह कर्म है। मोह कर्म में दो प्रकार की क्षमता है वह चारित्र को विकृत बनाता है और दृष्टि को मूढ़। चारित्र में विकार उत्पन्न करने वाला चारित्र मोह है। और दृष्टि में धान्ध्य पैदा करने वाला दर्शन मोह।

कर्म बन्धन के अनन्य हेतु हैं राग-द्वेष—ये दोनों मोह की प्रकृति हैं। मोह की उत्कृष्ट स्थिति में राग-द्वेष की ग्रन्थि दुर्भेद्य बनी हुई रहती है। यह ग्रन्थि ही अन्तरदर्शन और सम्यग्दर्शन में बाधक है। अभव्य प्राणियों मे इस दुर्बध्य ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करने की क्षमता नहीं होती; कुछ भव्य प्राणी भी अभव्य के समान ही होते हैं जो इस ग्रन्थि को पार नही कर पाते।

पर्वत से चलने वाली नदी मे कुछ पाषाण टक्करें खाते-खाते सहज चिकने और गोल बन जाते हैं, इसी प्रकार भव भ्रमण करते कुछ प्राणियों के सहजतः आयुष्य को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति एक कोड़ा कोड़ सागर से भी कुछ कम रह जाती है तब वे विशेष शुद्ध अध्यवसायों मे इस ग्रन्थि के समीप पहुँचते हैं उन अध्यवसायों को यथा प्रवृत्ति करण कहा जाता है यह करण भव्य और अभव्य प्राणियों के अनेक बार होता रहता है। कुछ आत्माएँ ग्रन्थि के निकट आने के बाद भी दुम दबा कर उल्टे पैर वापस लौट जाती हैं। कुछ आत्माएँ वहीं खड़ी रहती है लेकिन ग्रन्थि को तोड़ने का उनमे साहस नहीं होता। कुछ आत्माएँ साहसिक होती हैं वे ग्रन्थि को तोड़ने का प्रयत्न करती हैं। उनके अध्यवसायों में ऐसा प्रबल वेग आता है जैसा पहले कभी नहीं आ पाया था। इसलिए इन परिणामों को अपूर्व करण कहा जाता है। इससे वे आत्माएँ आगे बढ़ती हुई ग्रन्थि को तोड़ देती हैं। यह अवस्था हरिभद्र के शब्दों में मार्गाभिमुख अवस्था है।

आत्मा फिर आगे बढ़ती है। शुभ अध्यवसायों में प्रबलतम वेग आता है। यह वेग ऐसा है जो साहसिक सैनिक की नाई सम्यग् दर्शन की उपलब्धि के बिना मुह नहीं मोड़ता। इसे अनिवृत्ति करण कहते हैं। इस करण में आगे बढ़ती हुई आत्मा मिथ्यात्व दलिकों को दो भागों में विभक्त कर देती है।

पहला भाग अल्प स्थितिक होता है। दूसरा भाग दीर्घ स्थिति, का अल्प स्थितिक भाग को उदीरणा के माध्यम से

---

१. समयसार १३।
२. षट् पा०—भाव प्रा० ३१।
३. षट् पा०—मोक्ष प्रा० १४।
४. समयसार ११।
५. षट् पा०—दर्शन प्रा० २०।
६. षट् पा०—भाव प्रा० ५०।
७. धर्म समुच्चय दूसरा अधिकार।

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका प्रा० प्र० ५—सूत्र ८८।

भोग कर बहुत ही शीघ्र नष्ट कर देती है। दूसरे पुञ्ज को वहीं दबा देती है। दोनों के बीच में जो व्यवधान है वह अन्तर करण कहलाता है। इसके प्रथम क्षण में अन्तर दर्शन व सम्यग् दर्शन की उपलब्धि होती है। यह औप-शमिक सम्यग् दर्शन है। इसकी स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त की है।

कुछ प्राणी औपशमिक सम्यग् दर्शन को प्राप्त किए बिना ही सीधे अपूर्व करण से ग्रन्थि के घटक मिथ्यात्व दलिकों को तीन पुञ्जों में विभक्त कर देते हैं।

**अशुद्ध पुञ्ज—अर्ध शुद्ध पुञ्ज—शुद्ध पुञ्ज—**

अशुद्ध पुञ्ज में अन्तर दर्शन नहीं के बराबर है। अर्ध शुद्ध पुञ्ज में अन्तर दर्शन की धुंधली सी सेवाएँ प्रकट होती है। इन दोनों पुञ्जों को आत्मा खत्म कर देती है। शुद्ध पुञ्ज में मिथ्यात्व दलिकों का उदय रहता है लेकिन उनकी आवरक शक्ति को नष्ट कर दिया जाता है। इस स्थिति मे आत्मा को जो सम्यग् दर्शन होता है उसे क्षयोपशम सम्यग् दर्शन कहते है।

कुछ आत्माएँ मिथ्यात्व दलिकों को समूल नष्ट कर देती हैं। उसे क्षायक सम्यग् दर्शन की प्राप्ति होती है।

उपशम सम्यग् दर्शन और क्षयोपशम सम्यग् दर्शन, इन दोनों के पौर्वापर्य क्रम में दो मान्यता है—सिद्धान्त पक्ष में पहले क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की उपलब्धि मानी गई है और कर्म पक्ष में पहले औपशमिक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि। लेकिन अपनी इस मान्यता में दोनो के ही पास कोई अकाट्य तर्क नहीं है। इसलिए कई आचार्य दोनों विकल्पों को ही मान्य कर लेते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन कभी आने के बाद वापस नही जाता और औपशमिक सम्यग् दर्शन कभी भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक टिकता नही है। खीर का भोजन कर लेने के बाद भी जिह्वा पर कुछ क्षण तक मीठा स्वाद रहता है इसी प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन से गिर जाने के बाद भी मिथ्यात्व प्राप्ति से पहले छह आवलिका पर्यन्त सम्यग्-दर्शन का आभास रहता है उसे सास्वादन सम्यग् दर्शन कहते है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते समय पूर्व सम्यग्दर्शन के अन्तिम समय में उसका प्रदेशों में जो अनुभव होता है वह वेदक सम्यग् दर्शन है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अभिन्न सम्बन्ध है। आचार्य रजनीश के शब्दों में सम्यग् ज्ञान का बीज है। इस कथन में एक वैज्ञानिक विश्लेषण भी है क्योंकि जब तक मनुष्य की आस्था नहीं होगी दृष्टि में विपर्यास रहता है तब तक वस्तु का सही ग्रहण नहीं होता। सुविनीत पुत्र की माँ के प्रति आस्था होती है इसलिए वह उसके हर कटु उपालम्भ को भी ठीक ग्रहण करता है। अविनीत पुत्र की माँ के प्रति आस्था हिल जाती है इसलिए वह उसके हर शब्द को और हर व्यवहार को अन्यथा ग्रहण करता चलता है। कदम-कदम पर उसके सही प्यार मे भी उसे संशय होता है। यह उसका दृष्टि निर्णय ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग् दर्शन और ज्ञान के तादात्म्य सम्बन्ध को बडी सुन्दर-सुन्दर उपमाओं से उपमित करते हुए लिखते हैं—जैसे फूल[१] सुगन्धमय और दूध घृत मय होता है सम्यग् दर्शन वैसे ही सदा ज्ञानमय होता है।

कुछ परम्पराएँ सम्यग्दर्शन और सम्यक्क्रिया को अभेद मानती है। उनकी दृष्टि मे सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के कोई पाप का बन्ध नहीं होता। कुछ परम्पराएँ सम्यग्-दर्शन के साथ ही मोक्ष लाभ मानती हैं। योगवाशिष्ठ में स्पष्ट लिखा है—

ज्ञाति हि[२] ग्रन्थि-विच्छेद तस्मिन् मति ही मुक्तता—सम्यग् ज्ञान कर्म ग्रन्थि का विच्छेद है। वह होते ही आत्मा मुक्त हो जाती है।

जैन दर्शन मे सम्यग्दर्शन और सम्यक् क्रियामें भेद माना है। सम्यग्दर्शन दर्शनमोह का अनावरण है और सम्यग्-क्रिया चारित्र मोह का। अतः सम्यग्दृष्टि की सभी क्रियाएँ विशुद्ध ही हों, यह अनिवार्य नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

**जं सक्कइ तं कीरइ जं च न सक्कइ तं च सद्दहणं।**
**केवलि जिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं॥**

जिसके लिए समर्थ है उसे करता है। जिस धर्म क्रिया को नहीं कर सकता किन्तु उस पर श्रद्धा रखता है

---

१. षट् पा० बोध प्रा०—५।
२. उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८।

वीतराग ने कहा—क्रिया न कर सकने पर भी श्रद्धा रखने वाला सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग् दर्शन की उपलब्धि निर्हेतुक नहीं सहेतुक है। वह हेतु दो प्रकार का है। कर्म का आवरण टूटते-टूटते सहज तत्त्वरुचि और सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होती है यह नैसर्गिक[१] सम्यग्दर्शन है।

अध्ययन उपदेश आदि से सत्य के प्रति आस्था जागृत होती है। यह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का मुख्य हेतु तो मोह-विलय है। उपर्युक्त दो भेद केवल बाहरी परिपार्श्व है।

सम्यग्दर्शन यथार्थ में आत्म जागरण और अन्तर दर्शन है। अन्तर दर्शन परिणाम कुछ बाहर भी आता है वह बाहरी परिणाम ही सम्यग्दर्शन की पहचान के लक्षण बन जाते हैं। प्रमुख रूप से सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण माने गये हैं—

**शम[३]—संवेग—निर्वेद—अनुकम्पा—आस्था।**

१. शम—सम्यग्दर्शी यथार्थ में समता प्रधान होता है। उसकी वृत्तियां शान्त होती है कषाय भाव उसे सहज ही उत्तप्त नहीं कर सकते। मानस की लगाम उसके हाथ में रहती है। बाहरी स्थितियां उसे खिन्न नहीं कर सकतीं।

२. सम्यग्दृष्टि भोगों में अनासक्त और विरक्त रहता है यह उसका संवेग लक्षण है।

३. निर्वेद गुण के कारण बन्धन मुक्त होने का सतत अभिलाषी बना रहता है।

४. अनुकम्पा में संसार के किसी भी जीव को वह दुखी नहीं देख सकता। उसका सबके प्रति दया भाव बना रहता है।

५. शाश्वत आत्म तत्त्व में विश्वास करता है।

सम्यग्दृष्टि के इन पांच लक्षणों की मीमांसा करते हुए डा० हीरालाल जैन लिखते हैं कि—

"मिथ्यादर्शन[४] को छोड़ कर सम्यग्दर्शन में आने का अर्थ है—अधार्मिकता से धार्मिकता में आना और असभ्य जगत् से निकल कर सभ्य जगत् में प्रवेश करता है।"

सम्यग्दर्शन अनेकान्त दृष्टि है। एकान्त दृष्टि मिथ्या दर्शन है। अनेकान्त दृष्टि विवेक पूर्वक विचारों को विस्तार देती है। एकान्त दृष्टि विचारों को कुण्ठित करती है। जहां विचारों में कुण्ठा आती है वहाँ आग्रह पनपता है। आग्रह कुतर्क को जन्म देता है। कुतर्क से बुद्धि में छेद हो जाते हैं। सत्यामृत वहां टिक नहीं सकता आगमों में एक पाठ आया है कि—आगम ज्ञानमय एक रूप है। लेकिन मिथ्यादृष्टि के मिथ्या रूप में सम्यग्-दृष्टि के सम्यग् रूप में परिणित हो जाते हैं। मैंने प्रथम बार जब यह पाठ पढ़ा तो लगा आगमों में क्या जादू है? मिश्री कोई भी खाए, खाने वाले का मुह मीठा होगा ही। किन्तु अब कुछ समझ में आ रहा है कि—वस्तु अच्छी मे अच्छी है लेकिन उसे परिणित करने की क्षमता अपनी-अपनी होती है। गाय का दूध मनुष्य के शरीर में अमृत सर्प के उदर मे विष बन जाता है।

ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट होता है कि—यह मान्यता न केवल जैन दर्शन में ही बल्कि बौद्ध दर्शन मे भी रही है।

एक बार राजा अनुरुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार करना चाहा। उसने अपने एक चतुर मन्त्री को थानोत के राजा मनोहर के पास भेजा किन्तु मनोहर का जवाब था कि—"तुम्हारे जैसे मिथ्यादृष्टि के पास त्रिपिटक नहीं भेजी जा सकती। केसरी सिह की चर्बी सुवर्ण पात्र में रखी जा सकती है मिट्टी के पात्र में नही।"[१]

प्रत्येक व्यक्ति की रुचियां भिन्न-भिन्न होती है। सम्यग्दृष्टि की रुचियों के दस प्रकार आगम में उल्लिखित हैं।

निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, संक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि[२]।

---

१. षट० पा० दर्शन प्राभृत—२२।
२. जैनसिद्धान्त दीपिका प्रकरण ५–७।
३. जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० ८ सू० ६।
४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग स्थान–पृ० २२४.

१. बौद्ध संस्कृति पृ० २१, लेखक राहुल सांकृत्यायन।
२. उत्तराध्ययन २८।१६.

१—जिसके हृदय में सत्य के प्रति सहज श्रद्धा उत्पन्न होती है वह निसर्ग रुचि है।

२—दूसरों की प्रेरणा से जिसमें सत्य के प्रति रुचि उत्पन्न होती है वह उपदेश रुचि है।

३—वीतराग की आज्ञा पर जो रुचि रखता है वह आज्ञा रुचि है।

४—सूत्र पढ़ने में जिसे आकर्षण है वह सूत्र रुचि है।

५—पानी में तेल बूंद की तरह जिसकी रुचि एक पद से अनेक पदों पर विस्तार पाती है वह बीज रुचि है।

६—प्रत्येक सूत्र को अर्थ सहित पढ़ने का प्रयास अभिगम रुचि है।

७—सत्य को विस्तार से पढ़ने की दृष्टि विस्तार रुचि है।

८—बहुत ही संक्षेप से सत्य को पकड़ने वाला सम्यग्दृष्टि संक्षेप रुचि है।

९—सत्याचरण के प्रति आस्था क्रिया रुचि है।

१०—वीतराग प्ररूपित श्रुत-धर्म और चरित्र धर्म में जो आस्था रखता है वह धर्म रुचि है[१]।

निश्चयनय से तो बीतराग ही जान सकते है कि कौन सम्यग्दृष्टि है कौन मिथ्यादृष्टि हैं किसके दर्शन-मोह का विलय हुआ है किसके दर्शनमोह का विलय नही हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्दृष्टि की तरह मिथ्यादृष्टि को भी कुछ बाह्य चिह्नों से पहचाना जा सकता है मिथ्यादर्शन दो प्रकार का होता है—

आभिग्रहिक मिथ्यात्व—अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व।

आभिग्रहिक मिथ्यात्व मे दृढ़ आग्रह होता है उसके विचारों में समन्वयात्मक नीति नहीं होती। दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण होता है। उसकी एकान्त दृष्टि उदारता के साथ दूसरों के विचारों का सन्मान नही करने देती। उसके चिनन में कुंठा पलती है इसीलिए उसकी पकड़ में सत्य नहीं आता। अनभिग्रहिक मिथ्यात्व में दृष्टिकोण का वैपरीत्य तो होता है लेकिन उसमे हठधार्मिकता नहीं होती।

वैदिक दर्शन में अविद्या को भव-भ्रमण का हेतु और विद्या को मुक्ति का हेतु माना है। जैन दर्शन में बंधन के पाँच कारण माने हैं उनमें पहला कारण मिथ्यादर्शन को माना है। मिथ्यादर्शन, दर्शनमोह का आवरण है किन्तु कर्म बंधन के मुख्य हेतु राग और द्वेष हैं। ये दोनों चारित्र मोह की प्रकृति हैं। दर्शनमोह को कहीं कर्म बंधन का हेतु नहीं माना। मिथ्या दर्शन मोह की ही प्रकृति है फिर भी उसे कर्म बंधन का पहला[१] हेतु माना है यह इसलिए कि दर्शनमोह का आवरण तभी तक रहता है जब तक राग-द्वेष की ग्रन्थि सघन रहती है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक, ये सातों प्रकृतियाँ सप्तर्षि तारों की तरह एक साथ जुड़ी रहती है। इन सातों का विलय और उदय एक साथ में होता है इसीलिए मिथ्यादर्शन कर्म बंधन का दृढ़ तम हेतु बन जाता है।

सम्यग्दर्शन के आठ गुण माने गए है--

१. निश्शकित—सत्य में निश्चित विश्वास।

२. निःकांक्षित—असत्य के स्वीकार में अरुचि।

३. निर्विचिकित्सा—सत्याचरण के फल में विश्वास।

४. अमूढ़ दृष्टि—असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण।

५. उपबृंहण—आत्म-गुण की वृद्धि।

६. स्थिरीकरण—सत्य मे आत्मा का स्थिरीकरण।

७. वात्सल्य सत्यधर्म के प्रति सम्मान की भावना।

८. प्रभावना—प्रभावक ढग से सत्य के महात्म्य का प्रकाशन।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'षट् पाहुड' में इन आठ[१] गुणों का उल्लेख किया लेकिन इनकी व्याख्या में कुछ अन्तर है।

१. निश्शंकित का अर्थ-निर्भय रहना—सात भय माने गए है उनमें किसी भय से भीत न होना।

२. निकांक्षित—व्रतादि का दृढ़ पालन करना और

---

१. उत्तराध्ययन २८।१७।२६।

२. जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० ४ सूत्र २०—
लेे० आचार्य तुलसी।

१. षट् पा०—चरित्र प्रा० ७।
णिस्सङ्किय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछायअमूढदिट्ठीय।
अवगूहण ट्ठिदि करणं वच्छल्ल पहावणायते अट्ठ।,

निदान नहीं करना।

३. रत्नत्रयी का पवित्र भाजन शरीर है, इसकी जिन्दगी को देखकर घृणा न करना निर्विचिकित्सा गुण है।

४. जिन वचनों में दृढ़ता अमूढ़ दृष्टि है।

५. उपवृंहण के स्थान में इन्होंने पाँचवां गुण अगूहन माना है। इसका अर्थ है जिन धर्मस्थ बालादि के दोष का उद्‌घाटन नहीं करना।

६. सम्यक्त्व व्रत से पतित आत्माओं को स्थिर करना स्थिरीकरण है।

७. धार्मिक मनुष्यों के उपसर्ग का निवारण करना—वात्सल्य है।

८. जिन धर्म को प्रकाश में लाना प्रभावना है।

सम्यग् दर्शन को दूषित करने वाले पाँच अतिचार[१] हैं—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषड प्रशंसा, पर पाषंडसंस्तव।

१. सत्य में संदेह शंका है।

२. मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा कांक्षा है।

३. सत्याचरण की फल प्राप्ति में संदेह—विचिकित्सा है।

४. असत्याचरण की प्रशंसा—पर पाषंड प्रशंसा है।

५. असत्याचार्य का संसर्ग—पर पाषंड संस्तव है।

इन अतिचारों से विशुद्ध पूर्वोक्त गुणों से परिपुष्ट सम्यग्दर्शन जीवन का प्रकाश है। मिथ्यादर्शन जीवन का अन्धकार है। जिसके[१] हृदय में सम्यग्-दर्शन का प्रवाह सतत् बहता है उसके कर्म-रजों का आवरण हट जाता है। सम्यग्-दर्शन[२] से आत्मा देखती है। ज्ञान से द्रव्य और उसकी पर्यायों को जानती है। सम्यक्त्व से उनपर श्रद्धा करती हुई चरित्र के दोषों को भी दूर कर देती है। आचार्य कुन्दकुन्द की यही भावना रजनीश के शब्दों में इस प्रकार ध्वनित हुई है कि—"ठीक[३] दर्शन ठीक ज्ञान पर और ठीक ज्ञान ठीक आचरण पर ले जाता है। *महावीर की जीवन क्रान्ति की यह विधि अत्यन्त* वैज्ञानिक और सहस्रों प्रयोगों से अनुमोदित है।"

सम्यग्दर्शन यथार्थ मे ही साधना का अभिन्न अग है। बिना इसके केवल साधना का कोई विशेष मूल्य नही रह जाता। इसीलिए हर धर्म में सम्यग्दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

---

१. जैन सि० प्र० ८-६

१. षट् पा० दर्शन प्रा० ७

२. षट् पा० चरण प्रा० १७

३. जैन भारती १५ अगस्त १९६५

---

[पृष्ठ १६८ का शेष]

इन सब विभिन्नताओं पर से लगता है कि शायद पहले की दण्ड व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का हाथ रहा है कि जो जितना उच्च वर्ग का हो वह अपराध कर लेने पर भी उतना दण्डित न हो। और बाद में अपराध को अपेक्षा से जोड़ दिया गया है कि अशिक्षित व्यक्ति का अपराध तो फिर भी क्षम्य किया जा सकता है लेकिन शिक्षित व्यक्ति अपराध करे तो उसे दुगुणा दण्ड मिलना चाहिए। वर्तमान में चन्द्रगुप्त के शासन-काल की भांति अशिक्षित और शिक्षित दोनों के अपराधों के लिए सब व्यस्था है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा या बुद्धि का अपराध से कोई वास्ता नही। और न ही अपराधों के कारणों की लम्बी सूची मे कही शिक्षा के भाव या अभाव को बताया है। अपराध और निरपराध का निमित्त अन्यान्य वस्तुओं की भांति बुद्धि भी बन सकती है इसमें कोई दोमत नहीं।

—:—

# कल्पसिद्धान्त की सचित्र स्वर्णाक्षरी प्रशस्ति

कुन्दनलाल जैन एम. ए. एल. टी, सा. शा.

ऐतिहासिक शोधों में प्रशस्तियो का जो महत्व है। वह किसी से छिपा नहीं है। शिलालेखों की भांति ये भी महत्वपूर्ण होती है, यहाँ मैं एक प्रशस्ति दे रहा हूँ जो सोने के अक्षरों में लिखी हुई थी तथा प्रथम पत्र पर चित्र भी चित्रित हैं। चित्र से प्रतीत होता है आचार्य श्री श्रावकों को उपदेश दे रहे हैं। मूल प्रति का पता नही चल रहा है पर उसकी फोटो मेरे पास सुरक्षित है। यह प्रशस्ति धीर राज की है जिन्होंने मगसिर शुक्ल ५ सवत् १५२३ में कल्पसिद्धान्त लिखाया था। इस प्रशस्ति में श्वे० आचार्यों की परम्परा तथा धीरराज के वंशजों का उल्लेख है। यह प्रशस्ति २४ छदों की है जो अविकल रूप से यहाँ से प्रस्तुत की जा रही है जिसका सारांश निम्न प्रकार है।

श्री माल वश में खोवड नाम के मंत्री थे जो सर्वगुण सम्पन्न थे. वही छाडा नाम के साहू थे जो बड़े पुण्यात्मा थे उनके नयण और नरदेव नाम के दो पुत्र थे जो धर्मात्मा तथा बुराइयों को मिटाने वाले थे। नयण का पुत्र पेथड़ था जो जैन धर्म का मर्मज्ञ था। दूसरे पुत्र नरदेव की पत्नी देवल देवी इन्द्राणी सदृश सुन्दरी और प्रिय थी। नरदेव और देवल देवी से जयसिंह, गुणिया, राघव मेघराज, गणपति, कर्म और धर्मसिह नाम के सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनमें से चौथे पुत्र गणपति की पत्नी गंगा देवी से वीरम और नाल्हराज नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए।

सातवें पुत्र धर्मसिंह की दो पत्नियाँ थी, प्रथम पत्नी राल्ह से धीर नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसने यह कल्प सिद्धान्त लिखवाया था। धर्मसिंह की दूसरी पत्नी का नाम फालू था जिससे नाथू नाम का पुत्र तथा लाडकि, जोविणि और हक्कू नाम की पुत्रियां उत्पन्न हुई थी। इन धर्मसिंह ने शत्रुंजयादि तीर्थों की यात्रा करके तथा महादान देकर संघाधिपति की उपाधि धारण की थी। इन्हीं धर्मसिंह की प्रथम पत्नी राल्ह से उत्पन्न धीरराज की पत्नी का नाम पूरी था जो बड़ी पुण्यात्मा थी, इनके रमा, ईती, अतू, और नीनी नाम की चार पुत्रियाँ थीं।

इन्हीं धीरराज ने मंडपाचल (मांडू इंदौर) में आकर एक सुन्दर विहार बनवाया था तथा एक विशाल पोषध शाला भी बनवाई थी जहाँ साधु लोग रहा करते थे। इतना तो धीरराज साहु का वंश वर्णन हुआ आगे आचार्यों की परम्परा दी हुई है।

वर्धमान स्वामी के पद पर सुधर्माचार्य गणधर हुए उनके वंश की चन्द्र शाखा में उद्योतन सूरि हुए तत्पश्चात् वर्धमान सूरि, जिनेश्वर सूरि जिनचन्द्र सूरि अभयदेव सूरि जिन वल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि, जिनचन्द्र सूरि, जिन पत्ति सूरि, जिनेश्वर सूरि, जिन प्रबोध सूरि, जिन चन्द्र सूरि, कुशल सूरि जिन पद्म सूरि, जिन लब्धि सूरि, जिन चन्द्र सूरि, जिनोदय सूरि, जिनराज सूरि, जिनवर्द्धन सूरि, जिन चन्द्र सूरि जिन सागर सूरि और जिन सुन्दर सूरि आदि इन गुरुओं के उपदेशामृत का पानकर धीरराज ने जो सिद्धान्त ग्रंथों के लिखाने में सदा सावधान रहते थे, सं० १५२३ मगसिर शुक्ल ५ को कल्पसिद्धान्त की पुस्तक स्वर्ण वर्णों मे लिखाई। सो उस ग्रंथ को प्रति वर्ष पढ़ते पढ़ाते हुए चतुर्विध सघ का कल्याण होवे।

## प्रशस्ति की मूललिपि

श्रेयसे भूयसे भूयान्नाभि सुनुस्तनूमतां।
यन्नाम कामदं सम्यग् सुरद्रुमइवावनी ॥१॥
श्रीमाल इति नाम्ना भूद्वंशो वंश इवोत्तमो।
सुपर्वालुर्येऋजो यत्रोत्पत्तिः स्यान्मौक्तिकं श्रियः ॥२॥
खोवडाख्यभूत्रत्रामात्यं चित्र करं सतां।
संख्यातिगाः गुणा. यस्य शम्य काम्याभवन्नहि ॥३॥
तत्र छाडाभिधः साधुः साधी यो गुण सेवधिः।
यस्त्वकृतार्थयामासात्सुकृतिः सुकृतीचिरं ॥४॥

तस्य सुतौ नयणाख्य नरदेवाभिधौ सुतौ ।
मूर्त मंतौ धर्मभेदाविवाशिवभवापहौ ॥५॥
नयणाख्यस्यात्मजो जज्ञे पृथियान् पेथड: श्रिया ।
जिन श्रेयन्मनोभोजे राजहंसीव खेलति ॥६॥
प्रियाश्रिया शची वासीन्नरदेवस्य शस्य धरस्य ।
देवल देवीति धर्म कर्म सुकर्मण: ॥७॥
सप्त मूर्ता: इवाभवन् सुखभेदाम्नायो: सुता: ।
तत्राद्यो जयसिंहाख्यो द्वितीयो गुणियाभिधः ॥८॥
राघवो मेघराजश्च ततोगणपतिर्वरः ।
षष्ठ: कर्माभिध: साधुधर्मसिंह: सुसप्तम: ॥९॥
पुत्रौ गणपतेर्गंगादेवि कुक्षि समुद्भवौ ।
वीरमोनाल्हराजश्च पुत्रसंतति. संश्रितौ ॥१०॥
प्रियाद्या धर्मसिंहस्य राल्ह धीराभिध. सुत. ।
फालू नाम्नाद्वितीयातु नाथू (थू) संज्ञस्त दात्मज: ॥११॥
लाडकि जीविणिश्चैव हक्कू मंज्ञाश्च पुत्रिका: ।
धर्मसिंह: क्षितौ भातीत्यादि संतति शोभित: ॥१२॥
शत्रुंजयादि तीर्थेषु यात्रां कृत्वाति विस्तरां ।
धर्मसिंहो महादानैर्धन्य: संघाधिभूरभून ॥१३॥
धीराख्यस्य प्रियापूरी पुण्य संभारपूरिता ।
रमा ईती अतू नीनी पुत्रीभि: परिवारित: ॥१४॥

साधु: श्री धीरराजे नागत्य श्री मंडपाचले ।
विहार: कारयामास मनोहारी मनस्विनां ॥१५॥
रम्यां पौषधशाला च विशालां पुण्य संपदाम् ।
कारयित्वाकारि स्वकीय गण संस्थिति ॥१६॥
इतश्च श्रीवर्धमान पट्टेऽभूत्सुधर्मागणभृद्वर: ।
तद्वंशे चन्द्रशाखायां सूरि उद्योतनो भवेत् ॥१७॥
श्री वर्धमानसूरिर्जिनेश्वर: सूरिराज जिनचंद्र ।
अभयादिदेव सुगुरुर्जिन बल्लभसूरि: जिनदत्तौ ॥१८॥
जिनचन्द्र: सूरीन्द्रो जिनपत्ति जिनेश्वरौ गणाधीशौ ।
सूरिर्जिनप्रबोधो जिनचन्द्र: सुजिन कुशलेशा: ॥१९॥
जिनपद्म जिनलब्धि जिनचंद्रजितोदयादिसूरीन्द्रौ ।
जिनराजो जिनवर्द्धन सूरिजिनिचंद्र सुगुरुश्चा ॥२०॥
श्री जिनसागर सूरि: सागर इव भातिलब्धिरत्नोधि: ।
श्री जिनसुन्दर सूरिर्विजयी जिनहर्ष सूरीश: ॥२१॥
एतद्गुरूणां उपदेशे तेषां पीयूषयूपपरिपीय तोषान् ।
श्रीधीरराजो भुविलक्षयुद्धसिद्धान्तमंलेखनसावधान: ॥२२॥
संवत्सरे नेत्र करेन्द्रियेन्दुभि: ते मार्ग सित पंचमेह्नि ।
अली लिखत सारसुवर्णवर्णै: श्रीकल्पसिद्धान्तसुपुस्तकौ ॥२३
वाचंयमै: वाच्यमान: प्रत्यब्दं पुस्तकं त्विदं ।
नंदता गुरुतांश्चात्र संघेश्रेय: परं परं ॥२४॥

इति प्रशस्ति श्री:

---

# अतिशय क्षेत्र अहार

श्री नीरज जैन

अहार के मन्दिर में स्थित, तेरहवीं शताब्दी (१२३७ विक्रमाब्द) की प्रतिष्ठित, चक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान शान्तिनाथ की बारह हाथ ऊँची खड्गासन प्रतिमा के कारण यह क्षेत्र अपना अनूठा महत्व और विशेष स्थान रखता है। अमर शिल्पी पापट द्वारा निर्मित, अपनी ओपदार पालिश के कारण आज भी चमचमाती हुई यह शानदार और लासानी मूर्ति इतनी आकर्षक और विशाल लगती है कि इसे उत्तर भारत का गोम्मटेश्वर कहा जा सकता है !

अहार किसी जमाने में भले ही एक विशाल और समृद्ध नगर रहा हो पर काल के चक्र में उलझ कर यह स्थान पूरी तरह ओझल लुप्त और हो गया तथा बहुत समय तक विस्मृति के गर्भ मे अपनी कलानिधियों के साथ हमारी दृष्टि के परे पड़ा रहा। आज से लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व इस स्थान का ज्ञान पास पड़ोस के श्रावकों को हुआ और झाड़ झंखाड़ से घिरा यह प्राचीन मन्दिर धीरे धीरे प्रकाश में आना प्रारम्भ हुआ। यहां की व्यवस्था तथा तात्कालिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय देते हुए श्री यशपाल जैन ने आज से पच्चीत वर्ष पूर्व (अनेकात अप्रैल १९४१) में लिखा था कि जिन सज्जनों को उक्त तीर्थ की यात्रा करना हो वे टीकमगढ से या तो पैदल जाएँ या बैलगाड़ी से। मोटर का सहारा तो भूलकर भी न लें। इतने धक्के लगते हैं कि सारा शरीर चकनाचूर हो जाता है।।" उस समय तक अहार में यात्रियों के ठहरने की भी कोई व्यवस्था नहीं थी, पर अब स्थिति वह नही रही है। अब तो क्षेत्र के परकोटे तक पक्की सड़क बन गई है और टीकमगढ़ तथा छतरपुर से प्रतिदिन बिना धक्के की मोटरे आती हैं। दर्शनार्थियों को ठहरने के लिए भी धर्मशाला, रसोईघर कुआं आदि की पर्याप्त और अच्छी सुविधा है।

## शांतिनाथ मन्दिर

इस मन्दिर का निर्माण एक ऊँचे अधिष्ठान पर स्थानीय दानेदार पत्थर (ग्रेनाइट स्टोन) से हुआ था। शिखर तथा मण्डप से सज्जित नागर शैली का यह एक पंचायतन मन्दिर रहा होगा। किसी समय मूल मन्दिर के क्षतिग्रस्त हो जाने पर ईंट चूने से (सम्भवतः १७वीं शताब्दी में) इस देवालय का पुनर्निर्माण हुआ होगा जो शीघ्र ही फिर जीर्ण हो गया और उपेक्षित पड़ा रहने के कारण वन के लता गुल्मों से आच्छादित हो गया। इधर जैसे जैसे यह क्षेत्र प्रकाश में आया, मन्दिर की मरम्मत आदि होती रही पर उसे इतनी विशाल और सौम्य मूर्ति के अनुरूप भव्य नहीं बनाया जा सका। अत्यन्त हर्ष की बात है कि श्रावक शिरोमणि, दानवीर साहु शान्तिप्रसाद जी की उदार दृष्टि इस ओर दिलाई गई और उनकी सहायता से इस मन्दिर का पुनर्निर्माण प्रारम्भ हुआ है। गर्भगृह तो शिखर सहित निर्मित भी हो चुका है, केवल मण्डप और प्रदक्षिणा पथ का कार्य शेष है जो यथा सम्भव शीघ्र सम्पन्न होगा ऐसी सम्भावना है। यह निर्माण देशी लाल बलुआ पत्थर से उसी प्राचीन शैली से हुआ है और उसमें मध्ययुगीन वास्तुकला की भव्यता बहुत कुछ सुरक्षित रह सकी है।

## अतिशय मनोहर मूर्ति—

इस मन्दिर के गर्भगृह में मूलरूप मे तीन खड्गासन प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं। बीच में बारह हाथ के शान्तिनाथ तथा दोनों ओर आठ हाथ ऊँचे कुंथुनाथ और अरहनाथ। कुंथुनाथ की प्रतिमा सम्भवत मन्दिर के क्षतिग्रस्त होने पर उसी के साथ नष्ट हो गई होगी। यहाँ अब उसी आकार की एक नवीन मूर्ति स्थापित कर दी गई है। शेष दोनो मूर्तियों के कुछ अंगोपांग खण्डित हो गए थे जिनकी मरम्मत सीकर के एक दक्ष शिल्पी श्री श्रीनारायण द्वारा बड़ी कुशलता के साथ कर दी गई है।

वास्तव में बड़ी मूर्ति में नये अग जोड़कर उसका पालिश मिला देना एक कठिन कार्य था जो इस शिल्पी ने बड़ी सफलता पूर्वक कर दिया है। मन्दिर का निर्माण भी श्रीनारायण के निर्देशन में ही हो रहा है।

## एक गौरवपूर्ण मूर्तिलेख—

भगवान शांतिनाथ का इस मूर्ति पर नीचे जो शिला लेख अंकित है वह कई दृष्टियों से विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। यह लेख दो शिल्पियों ने अंकित किया है, जिनमें ऊपर की पंक्तियां बड़े सुडौल और सजावट पूर्ण अक्षरों मे उत्कीर्ण है। अन्त की ३–४ पंक्तियों के अक्षर साधारण हैं और ऐसा लगता है कि प्रतिष्ठा के उपरान्त यह पक्तियां उत्कीर्ण की गई होंगी।

लेख की भाषा अत्यन्त ललित और अलकृत है तथा कवित्व शक्ति का एक अच्छा उदाहरण है। किसी की कीर्ति का तीनों लोको के भ्रमण-श्रम से थक कर जिनायतन के बहाने स्थिर हो जाना—(**कीर्तिजगत्रय परिभ्रमण श्रमार्त्ता यस्य स्थिराजनि जिनायतनच्छलेन**)) तथा मुक्ति लक्ष्मी का वदन विलोकने के लोलुप—(**मुक्तिश्रियो वदन वीक्षण लोलुपाभ्यां**) आदि ऐसे प्रयोग हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शिलाङ्कित श्लोकों की रचना भी भाषा, पिंगल ज्ञान और साहित्य में निष्णात किसी अच्छे विद्वान द्वारा की गई है। इस मूर्ति और मन्दिर के निर्माताओं द्वारा अन्यत्र (वाणपुर में) सहस्रकूट जिन चैत्यालय निर्माण कराने के उल्लेख से भी तात्कालिक इतिहास की एक कड़ी उपलब्ध होती है। अत्यन्त आदर पूर्ण शब्दों में मूर्तिकार के नाम का उल्लेख तो एक ऐसी विशेषता है जो निश्चित ही बहुत विरल शिलालेखों में पाई जाती है।

अहार के सभी शिलालेख अर्थ सहित श्रीमान पं० गोविन्ददास जी कोठिया द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित कराये जा चुके है। अनेकान्त वर्ष ९–१० मे भी क्रमशः उनका प्रकाशन हुआ है, पर इस बार प्रोफेसर खुशालचन्द्र गोरावाला तथा विद्यार्थी नरेन्द्र जी के साथ वहां जाकर हम लोगों ने इसे जिस प्रकार पढ़ा वह पाठ यहां दिया दिया जाता है। इसमें पांच जगह छोटे छोटे भेद कोठिया जी के दिए पाठ से मिलते हैं पर तीसरे श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण भेद मिला है—जो विद्वानों की दृष्टि आकर्षित करेगा।

श्री कोठियाजी के अनुसार तीसरे श्लोक का तीसरा चरण **येन श्री मदनेशसागरपुरे तज्जन्मनो निर्म्मिमे**—पढ़ा गया है जिसका अर्थ भी उन्होंने—"अपने जन्मस्थान श्री मदनेश सागर पुर में बनवाया था" ऐसा किया है। जनश्रुति के अनुसार यह मन्दिर पाणाशाह नामक श्रेष्ठि ने बनवाया था। इस स्थान पर पड़ाव डालने पर कहा जाता है कि उसका सारा रांगा चांदी में परिणत हो गया था अतः उसी द्रव्य से इसका निर्माण हुआ। यदि इस श्रुति में जरा भी तथ्य है तो वह पाणाशाह एक ऐतिहासिक महापुरुष और प्रसिद्ध व्यापारी थे; परन्तु उनका जन्म स्थान मदनेश सागरपुर नहीं, चंदेरी था। हो सकता है उन्हीं का दूसरा नाम गल्हण रहा हो जिसका उल्लेख इस लेख में हुआ है। लेख में **तज्जन्मनो** शब्द बहुत स्पष्ट नही है और उसे **जन्मनो** की अपेक्षा **हृन्ननो** अधिक स्पष्टता से पढ़ा जा सकता है। ऐसा पढने पर उसका अर्थ भी अधिक युक्त संगत 'जिसने अति हर्ष पूर्वक श्रीमदनेश सागर पुर में बनवाया" हो जायगा, तथा इतिहास विरोधी भी नहीं रहेगा,

टीकमगढ़ के प्रतिष्ठित विद्वान स्व० पण्डित ठाकुरदास जी ने भी यह शिलालेख "मधुकर" में प्रकाशित कराया था, पर वह लेख इस समय मुझे उपलब्ध न होने से उनकी धारणा ज्ञात नहीं की जा सकी। लेख इस प्रकार है —

**ॐ नमो वीतरागाय ॥**

**गृहपतिवंश सरोरुह सहस्ररश्मि: सहस्र कूटं यः।**
**वाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानिह देवपाल इति ।।१।**
**श्रीरत्नपालकृति तत्तनयो वरेण्यः।**
**पुण्यैक मूर्तिरभवद् वसुहाटिकायाम् ॥**
**कीर्तिर्जगत्रय परिभ्रमण श्रमार्त्ता।**
**यस्य स्थिराजनि जिनायतनच्छलेन ॥२॥**
**एकस्तावदनून बुद्धिनिधिना श्रीशांति चैत्यालयो–।**
**दृष्ट्यानन्द पुरे परः परनरानन्द प्रदः श्रीमता ॥**
**येन श्रीमदनेशसागरपुरे तद्हृन्ननो निर्म्मिमे।**
**सोऽयं श्रेष्ठि वरिष्ठ गल्हण इति श्रीरल्हणख्यादि भूत ।।३।।**

तस्माद जायत कुलाम्बर पूर्णचन्द्रः,
श्रीजाहडस्तदनुजोदय चन्द्रनामा ।
एकः परोपकृति हेतु कृतावतारो;
धर्मात्मकः पुनरमोघ सुदानसारः ॥४॥
ताभ्यामशेष दुरितौघ शमैकहेतुं—
निर्म्मापितं भुवनभूषण भूत मेतत् ।
श्रीशांति चैत्यमति नित्य सुख प्रदाता ।
मुक्ति श्रियो वदन वीक्षण लोलुपाभ्याम् ॥५॥
सम्वत् १२३७ मार्गसुदी ३ शुक्रे श्रीमत्परमर्द्धिदेव विजय-राज्ये ।
चन्द्र भास्कर समुद्र तारका, यावदत्र जनचित्त हारका ।
धर्मकारिकृत शुद्ध कीर्तनं, तावदेव जयतात् सुकीर्तनम् ।
वल्हणस्य सुतः श्रीमान् रूपकारो महामतिः ।
पापटो वास्तु शास्त्रज्ञस्तेन बिम्बं सुनिर्मितम् ॥

इस लेख मे दो तीन स्थानो पर किनारे के अक्षर क्षतिग्रस्त हो गए हैं पर उन्हें बहुत स्पष्ट पढ़ा या अनुमानित किया जा सकता है अतः इस लेख तथा अहार की अन्य सामग्री पर शोध करने हेतु मैं विद्वानों को सादर आमंत्रित करता हूँ ।

भगवान शांतिनाथ की यह उत्तुंग और सौष्ठवपूर्ण प्रतिमा सचमुच बड़ी ही आल्हाद दायिनी है। इस पर तेरहवीं शताब्दी में निर्माण के समय जो पालिश किया गया था वह आज भी वैसा ही चमकदार और टटका है। मरम्मत के समय उसकी जोड़ का पालिश बनाने के लिए पन्ना आदि अनेक बहुमूल्य पदार्थ एकत्र करने पड़े थे ऐसा क्षेत्र के मंत्री और उद्धारक कार्य कर्ता राजवैद्य श्री बारे लाल जी ने मुझे बताया था। श्री नारायण शिल्पी ने तो सूक्ष्म वेक्षण यंत्र से इस पालिश मे हीरक कण भी मुझे दिखाये थे। गुप्तकाल के बाद इतना अच्छा और ओपदार पालिश प्रायः कहीं नहीं पाया जाता अतः उस दृष्टि से प्रतिमा का बड़ा महत्त्व है। कला की दृष्टि से भी इस मूर्ति में साम्य, सौम्य, वीतरागता तथा आत्म केन्द्रन आदि भावों का जो प्रदर्शन देखने को मिलता है वह दर्शक को को मुग्ध कर लेता है और मूर्ति कर पापट की कला साधना के प्रति भी उसका मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

इस क्षेत्र पर "श्री शांतिनाथ संग्रहालय" नाम से पुरातत्त्व का एक संग्रहालय भी चल रहा है जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण शिल्पावशेष संकलित है। इस संग्रहालय का संक्षिप्त परन्तु सचित्र परिचय मैं अपने अगले लेख में प्रस्तुत करूँगा।

—:०:—

# श्री मोहनलालजी ज्ञानभंडार, सूरत की ताड़पत्रीय प्रतियाँ

**श्री भंवरलाल नाहटा**

मानव को प्रकृति ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ और शक्तियाँ दी हैं, उनमें मन और बुद्धि प्रधान है। मानसिक शक्ति से वह विचार करता है और बुद्धि के द्वारा उलझनों को सुलझाता है और नये-नये आविष्कार करता है। मन की प्रधानता से ही उसका नाम 'मानव' पड़ा। मन ही बंध और मोक्ष इन दोनों का प्रधान कारण है "मन एव मनुष्यानां कारणं बंधमोक्षयो।" वाचिक शक्ति यद्यपि अन्य प्राणियों को भी प्राप्त है पर मनुष्य ने उसका विकास एवं उपयोग बहुत ही विशिष्ट रूप से किया है। भाषा के द्वारा भावाभिव्यक्ति, जितने परिमाण में मनुष्य ने की है, अन्य कोई भी प्राणी नहीं कर सका। असंख्य शब्द उसने गढ़े और बहुत ही उच्च श्रेणी के विचार और विविध व्यवहार उसकी वाचाशक्ति के परिणाम है। यदि मनुष्य अपने भाव दूसरों को बता नही सकता और दूसरे के भावों को स्वय ग्रहण नहीं कर सकता, तो विचारों की सम्पदा जो आज हमे प्राप्त है और दिनोदिन उसके आधार से नये-नये विचार उद्भव होते है वह सम्भव नहीं हो पाता। इसी तरह का एक और आविष्कार मानव ने किया जिससे विचारों को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखा जा सके। जो भी घटनाएँ घटती है, एक दूसरे को जो कुछ भी कहते सुनते है उस सभी को स्थायित्व देने के लिए लिपिविद्या का आविष्कार

किया। थोड़े से अंकों और अक्षरों ने अनन्त ज्ञान को समेट रखने में गजब का काम किया है। मनुष्य की प्रत्येक ध्वनि को अक्षरों के सांचे में ढाल देने का यह महान् प्रयत्न, वास्तव में ही अद्भुत है।

जैन धर्म, भारत का एक प्राचीन धर्म है उस धर्म के प्रवर्तक सभी तीर्थंकर इसी भारत में जन्मे। उनकी साधना उपदेश, कार्य एवं निर्वाणक्षेत्र भी भारत है। जैनधर्म के अनुसार बहुत प्राचीन काल में, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए। उस अवसर्पिणि काल के सबसे पहले राजा, भिक्षु और केवल ज्ञानी हुए, तथा सभी प्रकार की विद्याओं और कलाओं के भी वे सबसे पहले आविष्कारक थे। पुरुषों का ७२ और स्त्रियों की ६४ कलाएं उन्होंने अपने-पुत्र-पुत्रियों और लोगों को सिखाई। उनके बड़े पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। वे सबसे पहले चक्रवर्ती सम्राट् थे। भगवान ऋषभदेव की २ पुत्रियाँ थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। जिनको उन्होंने अक्षर और अंकविद्या सिखाई। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि विद्या सिखाई अतः उसी के नाम से 'ब्राह्मी लिपि' प्रसिद्ध हुई। उसके बाद समय समय पर अन्य कई लिपियाँ प्रकाश में आईं। अब से २॥ हजार वर्ष पहले भगवान महावीर के समय में १७ प्रकार की लिपिया प्रसिद्ध होने का जैनागमों में उल्लेख है[२]। पुस्तकें किस तरह लिखी जाती थीं उनका भी जैनागमों में उल्लेख है।

प्राचीनकाल में मनुष्य की स्मृति बहुत तेज थी इसलिए मौखिक परम्परा से ही शिक्षादि व्यवहार होते रहे है। लिखने का काम बहुत थोड़ा ही पड़ता होगा और जो कुछ लिखा जाता था, वह भी थोड़े समय टिकनेवाली वस्तुओं पर। इसी से प्राचीन लिखित ग्रंथ आदि अब प्राप्त नहीं है। मोहनजोदड़े आदि स्थानों में प्राप्त पुरातत्त्व पर जो लिपि खुदी हुई है उसको अभी ठीक से पढ़कर समझी नहीं जा सकी। ब्राह्मी लिपि के उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों में शायद सबसे पुराना वीर भगवान के ८४ वर्ष के उल्लेख वाला अजमेर म्यूजियमवाला लेख है। उसके बाद अशोक के अनेक शिलालेख और खारवेल आदि के लेख प्राप्त है। पर कोई ग्रंथ उस समय का लिखा हुआ अभी भारत में प्राप्त नहीं हुआ फिर भी 'राय पसेणी' सूत्र में उल्लिखित देवविमान पुस्तक का जो विवरण प्राप्त है वह बहुत कुछ ताडपत्रीय प्रतियों की लेखनपद्धति से मिलता जुलता है। यद्यपि ताडपत्रीय प्रतियां उतने प्राचीन समय की अब हमें प्राप्त नहीं है। जैनागम फुटकर रूप में कुछ पहले लिखे गये हों तो दूसरी बात है पर सामूहिक रूप में उनके लिपिबद्ध होने का समय वीरात् ९८० है। यद्यपि उस समय की भी लिखी हुई कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है। मालूम होता है कि उस समय तक पुस्तकों को अधिक से अधिक समय तक टिकाये रखने की कला का उतना विकास नहीं हुआ था। फलतः जो प्रतियां लिखी गई वे कुछ शताब्दियों में ही नष्ट हो गई। उस अनुभव से लाभ उठाकर ताड़पत्र कहां के सबसे अच्छे और लिखने के उपयुक्त और टिकाऊ हैं और किस तरह उनकी घुटाइ के लिखने से कैसे सुन्दर लेखन[३] हो सकता है और वे अधिक समय तक टिक सकते हैं। इसी तरह स्याही भी किस तरह की बनाने से चमकीली और टिकाऊ बन सकती है इत्यादि बातों पर विचार किया गया होगा। इसके फलस्वरूप इन प्राचीन प्रतियो की अपेक्षा पीछेवाली प्रतियां अधिक स्थायी रह सकी। अबसे १७ वर्ष पूर्व जब हम जेसलमेर के भडारों का अवलोकन करने गये थे तो उस समय बहुत सी जर-जरित और टूटी हुई प्रतियों के ऐसे बहुत से टुकड़े हमने देखे थे जिनकी लिपि ९वीं से १०वीं शताब्दी की थी। इससे पहले तो न मालूम ऐसी प्राचीन प्रतियों के कितने टुकड़े इधर उधर नष्ट किये जा चुके होंगे। दूसरी बार जाने पर हम पहले के देखे हुए वे छोटे छोटे टुकड़े देखने को नही मिले और कई प्रतियां आदि भी पहली और दूसरी बार जाने पर देखी हुई अब अन्यत्र चली गई हैं। खैर! अब तो जेसलमेर भंडार में 'विशेषावश्यक भाष्य' की ताड-पत्रीय प्रति ही सबसे पुरानी है जिसका समय मुनि पुण्य-विजयजी ने १०वीं शताब्दी के करीब का माना है। १२

१. देखो नागरी प्रचारिणी, ५७, अक ४ में प्रकाशित मेरा लेख,

२. 'अवन्तिका' में प्रकाशित मेरा लेख पुस्तक शब्द की प्राचीनता।

३. दे० पु० मुनि पुण्यविजयजी की 'भारतीय श्रमण संस्कृति अने० लेखन कला।

वीं शताब्दी से तो १५वीं के प्रारम्भ तक की करीब १०० ताडपत्रीय प्रतियां जैसलमेर, पाटण, खम्भात बडोदा, पूना आदि स्थानों में प्राप्त है। अन्य भंडारों में कही कहीं एक दो प्रतियां ही मिलती हैं। जैसलमेर के बड़े भंडार के अतिरिक्त तपागच्छ भंडार और खरतर गच्छ के बडे उपासरे के पंचायती भंडार तथा आचार्य शाखा के भंडार की प्रतियां हमने अपनी प्रथम जैसलमेर यात्रा में देखी थीं इनमें से स्वर्गीय चिमनलाल दलाल और लालचंद गांधी सम्पादित 'जैसलमेर भांडागारीय सूची' में बड़े भंडार और तपागच्छ भंडार की ताडपत्रीय प्रतियों का भी विवरण छपा था। बड़े उपासरे के पंचायती भंडार और आचार्य शाखा भंडार की ताडपत्रीय प्रतियों की जानकारी हमने सर्व प्रथम प्रकाशित की। पाटण, खम्भात पूना की प्रतियों का विवरण प्रकाशित हो ही चुका है। दक्षिण भारत में तो ताडपत्र पर टंकित लिपि की लक्षाधिक प्रतियां सुरक्षित है। पर उत्तर भारत में जैन भंडारों के अतिरिक्त अन्य संग्रहालयों में ताडपत्रीय प्रतियां क्वचित् ही है। इसलिए उपरोक्त प्रसिद्ध जैन भंडारों के अतिरिक्त अन्य छोटे मोटे जैन भंडारों में जो भी ताडपत्रीय प्रतियां सुरक्षित है उनकी जानकारी प्रकाश में आना अत्यावश्यक है। इन प्रतियां में बहुत सी ऐसी रचनाए भी हैं जिनकी अन्य कोई भी प्रति कहीं भी प्राप्त नहीं है। वे तो महत्त्वपूर्ण हैं ही पर प्रसिद्ध ग्रंथों की भी प्राचीन और शुद्ध प्रतियां, इन ग्रंथों के शुद्ध एवं प्राचीन पाठ के निर्णय तथा सम्पादन के लिए बड़े महत्त्व की हैं।

अभी अभी मेरा सहयोगी भतीजा भंवरलाल सूरत गया तो श्री मोहनलालजी जैनभंडार में उसे ८ ताडपत्रीय प्रतियां देखने को मिली। थोड़े समय में उनका जो भी विवरण वह लिख सका वह उसने मुझे लिख भेजा है और उसे इस लेख में प्रकाशित किया जा रहा है। पूज्य निपुण मुनिजी की कृपा से कुलकादि फूटकर ३४ रचनाओं का एक संग्रह-प्रति तो वह अपने साथ कलकत्ते ले गया और केवल ३-४ दिन में ही उसकी प्रेसकापी उसने स्वयं कर ली, जो अभी हमारे संग्रह में है। अब उन आठों प्रतियों-का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

'विविध तीर्थकल्प'—१. जिन प्रभसूरि, पत्र १३७, संवत १४४३, पाटण में लिखित। इस प्रति के साथ प्रशस्ति के अनुसार ज्योतिषकरण्डविवृत्ति एवं चैत्यवन्दन चूर्णि की प्रति भी लिखी गई थी, पर पता नहीं वे अब किसी अन्य भंडार में हैं या नष्ट हो गई। त्रुटित प्रशस्ति इस प्रकार है—"······श्वमलय सिंहाख्यः देवगुरुपु भक्तौ 'डेरंडक' नगर मुख्य तमडनु तस्य च भार्या साऊ धर्मासक्ता सुशील संयुता······

सहिताश्च खेतसिंहाभिधः मेधाभ्याम् सुगुणाभ्याम् (४) पुत्र्यस्तथा च देऊः सीरु घटणूष्टमूश्च। पांचूश्च रूडी मातृ नाम्नी सप्रति [?] सशील संयुक्ताः (५) सूरि श्री श्रीमन्तपागच्छधप देवसुन्दर गुरुणां उपदेशतो धसस्था धर्मो-परिज्ञाय।६। 'सीऊ' सुश्राविकी सौव पुत्र पुत्री परीवृता पत्युर्मलयसिंहस्य श्रेयसे शुद्ध वासना ७. ज्योतिः करण्ड विवृति, तीर्थ कल्पांश्च भूरिश्च। चैत्यवंदन चूर्ण्यादि श्री ताडपुस्तकत्रये ८. लिलिखे······नेवादिर्दूये भूमिते १४४३ वत्सरे लेखयामास नागशर्म्म द्विजन्मना॥ शिवमस्तु॥

२. योगशास्त्र सोपज्ञवृत्ति हेमचंद्र, पत्र १०३, प्रशस्ति त्रुटित—"······काइ(य)स्थ···कीर्तिपालेन लिखितं।"

३. योगशास्त्र, हेमचंद्र, पत्र ८२ संवत् १२५६ लिखित।

४. ललित विस्तरा-चैत्यवन्दनवृत्ति, हरिभद्र-रचित, पत्र ११६, ग्र. १२७०

५. तिलकमंजरीसार, धनपाल-विरचित, विश्राम, पत्र १०३ अंतिम पत्र बीच में कटा, विश्रामों के नाम और पद्य संख्या इस प्रकार है—

(१) लक्ष्मी प्रसादनो नाम प्रथमो विश्रामः श्लोकः १०६, पत्र १० (२) मित्रसमागमो नाम द्वितीयः विश्रामः श्लोक १३२, पत्राक २० (३) चित्रपरदर्शनो नाम तृतीयो विश्राम. श्लोक १३९, पत्राक ३२ (४) इति धनपाल विरचिते तिलकमंजरी सारे पुर-प्रवशनो नाम चतुर्थो विश्रामः श्लोक १२६, पत्रांक ४३ (५) इति लघु धनपाल विरचित तिलक-मंजरीसारे नौ वर्णणो नाम पंचमो विश्राम श्लोक २६ पत्रांक ५८, (६) मल्य मुन्दरीवृत्तांतो नामः षष्ठो विश्रामः, श्लोक १४३ पत्रांक ७० (७) गन्धर्वकशापागमो नाम सप्तमो विश्रामः श्लोक १६२ पत्रांक ८४ (८) प्राग्भवपरिज्ञानो नाम अष्टमो विश्रामः श्लोक २४२ पत्रांक ९६ (९) इति श्रीधन-पालविरचिते तिलकमंजरीसारे राज्यद्वय लाभो नाम नवमो

विश्राम: श्लोक ६२ पत्रांक १०३।

६ लोक तत्त्व निर्णय—१. भगवतः हरिभद्रसूरि कृत पत्र १०। फिर पत्र ११ से १८ में अनेकांत वाद सम्बन्धी कोई रचना है, जिसके प्रारम्भ में "नामोऽनेकांत वादाय। पूर्वापर स्वभाव परिहारो वादीन लक्षण परिणामवतो भावा:" अंत में "ले. सोहडेन लिखितेति।" फिर भिन्न अक्षरोमें "आगमिक श्रीजिनप्रभसूरिणां वादस्थल पुस्तिका।"

७ प्रतिष्ठादि विषयक वादस्थल-एवं अपौरुषेय वेद निराकरण। आदि अंत इस प्रकार है—"महादिमाहे मातंग कुंभ भृंगे मगाधिपम्।

*आदी वादि जिनतत्त्वा मोहोन्मूलन उच्यते ॥१॥* पत्र २६ में–श्रीमंतोजित देवसूरि मुनि सौवर्णिकाया पुरी। प्रोक्ता स्नातक संज्ञितेन परम श्राद्धने सुधान्मना। सिद्धान्तोक्त विविक्त युक्तिकलितं चक्रूविना मत्सरम्। वाद स्थानक गद्य पद्य पदवी संभूषिते श्रेयसे। स्मर मैर वसु रुद्रोंके प्रमाणे—गतेब्द्रे समजनि जनचेतो मदमोहे प्रदायि। इदमदगत तत्त्वैः सूरिभिः शोधनीयं खलति यदिहं बुद्धि-कल्पनोमीदशस्या।चतन कमक्त सेवा मादृशे प्राप्य यस्य, श्रतुपद मकरंद स्पंद विंदु प्रदात्री,

भुवन सरसिशोभा लम्पते राजहंसी।

स जयति मुनिचंद्र श्री मूनीन्द्रः कवीन्द्रः ॥

श्री अजयदेव सूरि माहेम्मूलण विहाण दुल्लविया।

पीवंति सिद्ध बहु मुक्क सरललोयम करकहया ॥६॥

पत्र ४७ में—इति श्रीयशोवर्द्धमानान्तेवासिना यशोदेवस्य त्रिवर्गपग्हिारित स्पौरुषेय वेदनिराकरणं ॥ श्री। मंगलं महा श्री—

पत्र ४८ से—इहाई *महामोह तिमिरभरान्तरित-विश्व* वस्तु तत्त्व-दर्शन समर्थ।

पत्र ६१ से—कृतिर्यं पंडित यशोवर्द्धनांनेवासिनो यशोदेवसाध्यैरिति। कुलकादि संग्रह, रत्नसिंहसूरि व पद्मनाभ (जो शायद आचार्य पद से पहले का दीक्षा नाम हो) ३४ रचनाएं, पत्र ७३, सूची —

| क्र०सं० | आदि पदः | गाथा | कृति नाम | कर्ता | ताड पत्रांक | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | कल्याणशस्य पाथोदं | २४ | आत्मचिन्ता भावना चूलिका | रत्नसिंह सूरि | १ | १ |
| २ | प्राकृत सस्कृतो वापि | २५ | आत्मानुशास्ति | ,, | ४ | २ |
| ३ | जय जय भुवन दिवायर | ३० | ऋषभदेव विज्ञप्तिका | ,, | ६ | ४ |
| ४ | सिरि धम्मसूरि सुगुरु | ५६ | अप्पाणुशासनं | ,, | २० | ६ |
| ५ | जइ जीव तुज्झ सम्मं | १२ | हितशिक्षाकुलक | ,, | १६ | ६ |
| ६ | नारीण बहिरंगे | १२ | संवेगचूलिकाकुलकम् | ,, | १७ | १० |
| ७ | अमिय मऊहं नेमिं | १३ | नेमिनाथस्तोत्र | ,, | १६ | १० |
| ८ | मंगलवरतरुकंदं | ११ | पार्श्वनाथस्तोत्रम् | ,, | २१ | ११ |
| ९ | सिरि पासतिजय सुदर | १३ | श्री पार्श्वनाथ स्त. | ,, | २२ | १२ |
| १० | जय जय नेमि जिणिंद तुह | १३ | श्री नेमिनाथ स्त. | ,, | २३ | १३ |
| ११ | ...............पहु | ८ | श्री नेमिनाथ स्त. अणहिलवाडा | ,, | २५ | १३ |
| १२ | सिरि नेमिनाह सामिय जइवि | १२ | श्री नेमिनाथ स्त. | ,, | २६ | १४ |
| १३ | मूर्तयस्ते न क्षंपते | ८ | ,, | ,, | २७ | १५ |
| १४ | जयइ सज एक्कदीवो | ३६ | श्रीधर्मसूरि स्तवनषट्त्रिंशिका | ,, | २८ | १५ |
| १५ | निय गुरुपाय पसाया | ३२ | आत्महित चिन्ताकुलक | ,, | ३२ | १७ |
| १६ | सिरि धम्मसूरि पहुणो | ४४ | मनोनिग्रह भावनाकुलक | पउमनाह | ३५ | १८ |
| १७ | नमिउं गुरुपयपउमं | ३४ | गुरु भक्ति कुलक | रत्नसिंह सूरि | ४० | २२ |
| १८ | सुहिजो वा दुहिओ वा | १६ | पर्यन्तसमयाराधनाकुलक | ,, | ४४ | २४ |

| क्र० सं० | आदि पद | गाथा | कृतिनाम | कर्ता | ताड पत्रांक | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १६ | चित सु उवाय मेस | १६ | उपदेशकुलक | रत्नसेन सूरि | ४६ | २५ |
| २० | सयल तियलोक्कतिलयं | २७ | नेमिनाथ | ,, | ४८ | २६ |
| २१ | पणमिय पढम जिणंद | १० | श्री पुण्डरीकगणधर स्तोत्र | पउमनाह | ५१ | २८ |
| २२ | सिरि चरिम तित्थनाह | ११ | अणहिलपुर रथ यात्रा स्त. | ,, | ५२ | १८ |
| २३ | यन्नामस्मृतिरप्यशेष | ६ | श्री भरुयच्छ मुणिसुव्रत स्त. | रत्नसिंह सूरि | ५३ | २६ |
| २४ | तिहुयणजनमनलोयणे | १३ | बावतरि जिनकुमरविहार स्त. | ,, | ५५ | ३० |
| २५ | चउवीसंपि जिणिंदे | १४ | पार्श्वजिन स्त० | पउमनाह गणि | ५६ | ३१ |
| २६ | जय जय पास सुहायर | १५ | श्री धर्मसूरि देसणा गीत | रत्नसिंह सूरि | ५७ | ३१ |
| २७ | सिरि तिलसूरिगुरुगणहरह | २१ | श्री संखेश्वर पार्श्व स्त. | ,, | ५८ | ३२ |
| २८ | जय जय संखेसर तिलय | १३ | ,, | ,, | ६१ | ३४ |
| २६ | सिरि संखेसर संठिय निट्ठिय | १३ | ,, | ,, | ६३ | ६४ |
| ३० | संखेसर पुर संठिया निट्ठिय | १३ | ,, | ,, | ६४ | ३५ |
| ३१ | संखपुरे सिखिदहु देउ | ६ | ,, | ,, | ६५ | ३६ |
| ३२ | यस त्रैलोक्यं गतं, ततं गुरुतम | ११ | ,, | ,, | ६६ | ३६ |
| ३३ | सिरि धर्मसूरि चंदो | ६ | श्री धर्मसूरि छप्पय | पउमनाह | ६६ | ३८ |
| ३४ | चउवीसंपि जिणिंदे | ११ | शासनदेवी स्तोत्र | रत्नसिंह सूरि | ७३ | ३६ |

५ कृतियो में पदमसिंह गणि का नाम है, यह रत्नसिह सूरि का आचार्य पद पूर्व का नाम है या अन्य कवि है, अन्वेषणीय है।

इनमें से कई रचनाएं श्री रिषभदेव केसरिमल पेढी से प्रकाशित—प्रकरण समुच्चय में नम्बर १, २, ३, ४, १५, १६, १७, १८, १६ तो प्रकाशित हो चुकी हैं। रत्नसिह सूरि की ३—४ और भी रचनाएं प्रकरण समुच्चय में छपी है जो इस प्रति मे नहीं है। फिर भी इस प्रति में कई ऐसी महत्वपूर्ण रचनाए है जो विविध दृष्टियो से महत्त्व की हैं। उदाहरणार्थ—धर्मसूरि सम्बन्धी रचनाएं और कतिपय स्तवन उनमे से धर्मसूरि गुणस्तुति पट्त्रिंशका की दो गाथाए धर्मसूरि के संबंध में ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करती हैं उनके अनुसार ६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ली, ६ वर्ष सामान्य साधु के पर्याय में रहे और ६० वर्ष सूरिपद पर। इस तरह कुल ७८ वर्ष की आयु में सवत १२३७ के भादवा सुदी ११ को वे स्वर्ग प्राप्त हुए।

नव नव वरिसे ठाउं, गिहवासे साहु भावाएज्जाए।
सट्ठि सूरि पंयमी, अडसयरि सव्व—अउंमि ॥३३॥
बारस सत्ततीसे सुद्धाए एकारसीइ भद्दवरु।
चदं दिणे सामि तुमं, सुर मंदिर मंडणं जाओ ॥३४॥

उपरोक्त राचनाओं में से कुछ प्राकृत, कुछ संस्कृत और कुछ अपभ्रंश में है। रचना संवत के उल्लेखवाली तो केवल एक ही रचना है "आत्मानुशासन" जो सवत १३३६ वैसाख सुदी ५ को अणहिलपुर-पाटण में रची गई है। नेमिनाथ-स्तव में अणहिलवाड को स्वर्गपुरी बतलाया अणलिपुर रथयात्रा स्तवन में 'कुमर नरिंद और बावतरि जिन स्तवन में कुमर विहार का महत्वपूर्ण उल्लेख है।

# अपभ्रंश भाषा की दो लघु रासो-रचनाएँ

डा० देवेन्द्रकुमार, शास्त्री

भारतीय साहित्य मूलतः कथा-साहित्य है जिसमें विभिन्न काव्य-विधाओं में रचे गये एक-से-एक सुन्दर ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। इसका कारण धार्मिक तथा जातीय चेतना है जो भारतवर्ष की प्रायः सभी साहित्यिक रचनाओं में व्याप्त है। और कथात्मक तथा पौराणिक रचनाओं में तो यह अधिक स्पष्ट है। जैन-साहित्य में ऐसी छोटी-छोटी अनेक रचनाएँ हैं जो किसी घटना या घटनात्मक इतिवृत्त को लेकर लिखी गई हैं। इन रचनाओं में जहाँ हमें लोक-संस्कृति की झलक मिलती है वहीं उस युग की बोली जाने वाली भाषा का वास्तविक रूप भी मिलता है। इन रचनाओं के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि ये सहज और स्वाभाविक हैं, इनको लिखने में बौद्धिक तथा भाषा-शास्त्रीय आयाम व्यायाम की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

अपभ्रंश का रासा-साहित्य अधिकतर परवर्ती युग का है। बारहवीं शताब्दी के पूर्व की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। अधिकतर तेरहवीं और चौदहवी सदी के रासो काव्य मिलते है। मुख्य रासा-रचनाएँ इस प्रकार हैं—

आसिक कवि कृत "जीवदयारास" (सं० १२५७), जिनदत्तसूरि-उपदेशरसायनरास १२वी शताब्दी), जिनवरदेव-बुद्धिरसायणरास, जिनप्रभसूरी-अन्तरंगरास, जल्हिग-अनुप्रेक्षारास, देल्हड-गयसुकुमालरास (बारहवीं शताब्दी), धर्मसूरि-जम्बूस्वामीरास (सं० १२६६), प्रज्ञातिलक-कच्छूली रास (सं० १३६३), विजयसेनसूरि-रेवंतगिरिरास (सं० १२८८), अम्बदेवसूरि-समरारास (सं० १३७१), अब्दुलरहमान-सन्देशरासक (चौदहवीं शताब्दी), विनयचन्द-चूनडीरास, कल्याणकरास (तेरहवीं शताब्दी), शालिभद्रसूरि-भरतबाहुबलिरास (सं० १२४१), पंचपाण्डव-चरितरास (सं० १४१०), योगीरासो (योगीन्द्रदेव) इत्यादि।

पृथ्वीराजरासो और बीसलदेव तथा रतनरासो आदि इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। इन रासो काव्यों में अधिकतर गेय-परम्परा का प्रकृत रूप दिखलाई पड़ता है। और गीति की परम्परा का आरम्भ प्राकृत काव्यों से हुआ है। अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में यह गीतिमूलक प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। पुष्पदन्त, धनपाल, साधारण सिद्धसेन और विबुध श्रीधर आदि ने अपने प्रबध-काव्यों में सुन्दर गीतियों की संयोजना की है। यही परम्परा हमें आगे चलकर हिन्दी के कथा तथा चरितकाव्यों में एवं सूफी काव्यों में लक्षित होती है। हिन्दी में ही नहीं गुजराती, राजस्थानी और मैथिली साहित्य में भी यह परम्परा आज तक सुरक्षित है और इसका मूल स्रोत प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य ही है। विशेष रूप से अपभ्रंश मे ही ऐसी रचनाएँ मिलती है; प्राकृत में नहीं। इसलिए इनका विकास अपभ्रंश से ही मानना पड़ता है। यद्यपि प्राकृत में बीज रूप में यह प्रवृत्ति मिलती है परन्तु स्वतन्त्र विधा के रूप में अपभ्रंश में ही रास, फागु, चर्चरी, बेलि, गीति आदि विभिन्न रूपों में यह मुखरित हुई है। इन रासो-रचनाओं का कई बातों में महत्व है। कुछ बातें इस प्रकार है—

(१) गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी का आदि-कालीन काव्य अधिकतर रासा-साहित्य है। यह उस युग की प्रवृत्ति विशेष का परिचायक है।

(२) यह साहित्य अधिकतर बारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक लिखा गया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में लिखा गया साहित्य दसवीं शताब्दी के पूर्व का उपलब्ध नहीं होता। इससे दसवी शताब्दी से पहले हिन्दी भाषा या साहित्य की स्थिति काव्य-जगत् में मानना केवल कपोल कल्पना ही होगी।

(३) अपभ्रंश का साहित्य आठवीं सदी से लेकर सतरहवीं सदी तक का लिखा हुआ मिलता है। परन्तु रासो-रचनाएँ बारहवीं शताब्दी से मिलने लगती है। इससे हिन्दी-साहित्य का इतिहास लगभग दो-तीन सौ वर्ष और आगे खिसक जाता है।

(४) रचना-प्रकार, आकार और रस-संयोजना आदि सभी बातों में रासो नामधारी-रचनाएं विभिन्न रूपों में मिलती हैं। परन्तु इन सभी में गेयता किसी-न-किसी रूप में समाहित है।

(५) ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में मन्दिरों में मूर्तियों के समक्ष भक्ति-भाव प्रकट करने के लिए विविध धार्मिक उत्सवों के अवसर पर ताल, लय और गीति के अनुकरण एवं सादृश्य पर इस प्रकार की रचनाएँ लिखी गई होगी।

(६) भाषा की दृष्टि से इनका अत्यन्त महत्व है। क्योंकि इनमें लोकबोलियों की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार अपभ्रंश को गुजराती विद्वान् गुजरात की, राजस्थान के लोग राजस्थान की और मिथिला के साहित्यिक मिथिला की तथा बंगाल के विद्वान् बंगला भाषा समझते रहे हैं और उसे जूनी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, प्राचीन बंगला और पुरानी मराठी तथा पुरानी हिन्दी मानते रहे हैं इसी प्रकार कुछ लोग नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेवरास" को गुजराती समझते है। क्योंकि उसकी भाषा पर पुरानी राजस्थानी और गुजराती का प्रभाव बराबर बना हुआ है।

(७) भारतीय साहित्य में उपलब्ध रासो-रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता कि इसका अधिकतर साहित्य गुजरात और राजस्थान में लिखा गया, और आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व जूनी गुजराती और पुरानी राजस्थानी दोनों एक थीं।

(८) रासो-रचनाएँ गेय होने के कारण अधिकतर श्रुति या मौखिक रूप में प्रचलित रहीं। इसलिए अलग-अलग युग की बोलियों का पानी उन पर चढ़ता रहा है।

(९) वस्तुतः "रासो" नाम से हमें किसी काव्य विशेष का बोध नहीं होता। यह भ्रम मात्र है कि रासो रचनाएँ वीररस प्रधान होती हैं। मुख्य रूप से शृङ्गार, शान्त और वीररस में रासो रचनाएँ लिखी गई हैं।

(१०) अपभ्रंश की इन रचनाओं को पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के शब्दों में "पुरानी हिन्दी" की रचनाएँ कहने से यही प्रतीत होता है कि ये परवर्ती कालीन अपभ्रंश की रचनाएँ हैं जिनपर जूनी गुजराती या पुरानी राजस्थानी का प्रभाव है।

इस प्रकार अपभ्रंश की इन लघु रास-रचनाओं का अध्ययन भारतीय आर्य भाषाओं की आधुनिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है।

यहाँ पर अपभ्रंश की दो लघु रासो-रचनाओं का परिचय प्रस्तुत है। लेखक को ये दोनों रचनाएँ देहली के श्री दि० जैन सरस्वती भवन, पंचायती मन्दिर, मसजिद खजूर में देखने को मिलीं। ये दोनों रचनाएँ गुटका सं० ३७ में लिखी हुई हैं। पहली रचना नेमिनाथरासा है। इसके लेखक काष्ठासंघ के मुनि कुमुदचन्द्र है। काष्ठासंघ के अधिकतर आचार्य एवं मुनि अपभ्रंश और जैन-साहित्य के लेखक थे। ये सभी मध्यकाल में हुए। लगभग पाँच-छः सौ वर्षों की एक लम्बी परम्परा मिलती है।

इस देश में विभिन्न सम्प्रदाय हैं। उनमें भी अलग-अलग शाखाएँ एवं पन्थ हैं। प्राचीन-परम्परा के अनुसार जैनों के चौरासी गच्छ कहे जाते है। कालान्तर में जैन संघ में कई संघ बनने लगे थे जिनमें देवसंघ, गौडसंघ, नंदिसंघ मूलसंघ, यापनीयसंघ, काष्ठासंघ आदि मुख्य थे। काष्ठासंघ की मध्य युग में चार शाखाएँ थीं—नन्दि-तट, माथुर, बागड और लालबागड। और इसी प्रकार पुष्करगण, बलात्कारगण, देसीगण और सरस्वतीगच्छ, माथुरगच्छ, पुस्तकगच्छ और नन्दीतटगच्छ—ये चार गच्छ थे। मुनि कुमुदचन्द्र माथुरान्वय पुष्करगण में उत्पन्न हुए थे[१]।

१. श्रीपार्श्वचैत्यगेहे काष्ठासंघे च माथुरान्वयके।
पुष्करगणे बभूव भट्टारकमणिकमलकीर्त्याह्वः ॥२॥
तत्पट्टकुमुदचन्द्रो मुनिपतिशुभचन्द्रनामधेयो भूत्।
जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० २२२।

काष्ठासंघ की पट्टावली से यह तो पता लगता है कि इस संघ की उत्पत्ति लगभग दसवीं सदी के मध्य भाग में हुई थी१ परन्तु पुष्करगण कब और कैसे बना इसका उल्लेख नहीं मिलता। बृहत्सिद्धचक्रपूजा की प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि पुष्करगण के भट्टारक कमलकीर्ति कुमुदचन्द्र के पट्टधर भट्टारक यशसेन थे। यशसेन की शिष्या राजश्री थी। और राजश्री के भ्राता नारायणसिंह थे। नारायणसिंह के पुत्र पण्डित जिनदास थे। उनके आदेश से कवि वीरु ने वि० सं० १५८४ में देहली के मुगल बादशाह बाबर के राज्यकाल में रोहितासपुर (रोहतक) के पार्श्वनाथमन्दिर में बृहत्सिद्धचक्रपूजा लिखी थी२। इससे इतना निश्चय है कि मुनि कुमुदचन्द्र पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व हुए। परन्तु कितने वर्षो के पूर्व हुए, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भट्टारक यशसेन के सम्बन्ध मे भी यह जानकारी नही मिलती कि वे कब हुए थे। अनुमानतः ये तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध या चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के जान पड़ते हैं। क्योंकि रासो में प्रयुक्त भाषा हिन्दी के निकट है, जिसे उत्तरकालीन अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है।

अथ नेमिनाथरासा लिख्यते ॥

पहिलउं पणमउ नेमिनाहु सरस घणिहिं वासो।
सामल वर्ण शरीर तासु बहु गुणह सहासो।
सोरठु देसु सुहावणउं बहु मगल सावो।
घर घर गावइ कामिणी णं कोइल नावो।
जूनागढ़ रलीयावणउं जहिं विविह वाणीय।
देहि रासु ए लहुडा वाल णं सुख विण्णीय॥ ॥

पहिरि चीर बखाणउ एहु उरि चन्दन लायउ।
रयणिहिं जडाय सहुं चलीय पय णेउर वायउ।
मुखि तंबोल सुमाणि करि सिरि खूर३ भरायउ।
वाजहि मद्दल संख भेरि मुहि कुंकुम लायउ॥२॥

जल चंदणपुप्फक्ख एहि नेवजिहि भराविउ।
अगर कपूरह बहु फलिहि तहि परिमलु आयउ।
चालिय बाल मणि हस तिजि (तजि) णवर पय भत्ती।
ठाइं ठाइं तिहि विति रासु सुर वर (नर) मोहंती॥३॥
सुवणरेह नदी वहइ जहि खेलहि हंस......।
गरुडि चडिउं तहि दाहिणइं दामोदर दासो।
रलियइ पूजिउं तहि मुरारि चम्पे करि माला।
वामइ देखिाव काल मेघु अलि धार लिय माला॥४॥
चडिय पाज तहि पमाउ करि पउ दीजइ तित्थु।
अंबारायण फलिय जित्थु कोइल सुम हूकइ।
चउतह पाज सुमनु रलइं लहर डीयऊ बूकइ॥ ॥
दीवउ जादव वारणउ तोरणह सजुत्ती।
ऊपरि घालो फूलमाल तोरणि झलकती।
आगइ कामिणी रासु१ देहिं जहिं सुवण्ण वाडउ।
गायण जणह तबोलु देहिं रगमडपि ताडउ॥६॥
हत्थिहिं चउसरु मिलिउ संघु जिण भुवणि परायउ।
आपु आपु कहि पूज मनु-जिणवरु लायउ।
न्हवण महाच्छव ध्वजा पूज नेमि जिणह करायउ।
राजुल आगइ जाइ करि सखीयणु पहिरायउ॥७॥
ऊपरि अंबिक देवि तिथु जिणसासण भत्ती।
पूजिवि अंबिक कणय कुंवि (?) पजन्नि पहुत्ती।
आलोयण सिहरिहि चडेवि रहणेमिहिं पूजवि।
सग्गिणि सेणिय स्वामी तित्थु बहु भावि जोइवि॥८॥
काष्ठसंघि मुणि कुमुदचन्द इहु रास, पयासइ।
मणतहं गुणतह भवियणह घरि संपइ होसइ।
णेमिनाथ कउ रासु एहु जो परि कहि गावइ।
जाण तणउ फलु होइ तासु जो जिणवर भावइ॥९॥
इति श्रीनेमिनाथरासकं समाप्तम्।

## चैतिरासा

चैतिरासा के लेखक ब्र० ऊदू हैं। जैन-साहित्य में यह नाम सर्वथा नवीन है। इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नही है। उक्त रचना से यह अर्वाचीन जान पड़ती है।

जिणरासउ जे गावहि चहतालइ सब जाइ।
तिन कहुं कूंकूं चन्दनु, माथइ टिकुली लाइ।

---

१. देखिए, पं० परमानन्द शास्त्री का लेख "काष्ठासघ स्थित माथुरसंघ गुर्वावली" शीर्षक, प्रकाशित "अनेकान्त", वर्ष १५, किरण २, पृ० ७९।

२. जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग प्रस्तावना, पृ० ६४।

३. माथे पर कुंकुम आदि का तिलक लगाया था।

१. गोलाकार मण्डल में नृत्य पूर्वक गीतों का गायन करना।

जे नरनारी गावहिं, जिण-चइतालइ आइ।
नेमि कुंवरु तिन तोषउ, तूसउ सारद माइ।

अथ चैत्यरासा बारहमासा लिख्यते :—

पलिगि बइठे दुइ जण, करहिं मणोरह बाता।
चइतहिं चित्तु उ माहिउ, पिय चालहु जिण जाता ॥१॥
बइसाखिहिं वर वारिहिं कंचण कलस भराए।
सावण पुण्णहं आगली जिणहु वणु करण ॥२॥
चंदण भरीय कचोलडी१, अरु घालिय कपूरो।
जेठहं सव्वहुं जेठउ, बरचहु सावल धोरो ॥३॥
आषाढहं अक्खयह सार, वर थाल भराए।
तिनि खण जिणवरु पुज्जियउ, लहु पुज्ज कराए ॥४॥
कुंजउ मरुवउ सेवती, अवरु सुयंधी जाए।
सावणु जिणवरु पुज्जियउ, सुमणस माल चडाए ॥५॥
षडरस पुण्णउं सालि भोज, अरु उप्पु (?) अपारो।
भावव जिणवरु पुज्जियउ, तिनि घण कियउ सिंगारु ॥६॥
घंटा झल्लरि भेरि तूर, बहु पटह बजाए।
आसउजिहिं२ घण चाली, जिणहरि दीव चडाउ ॥७॥
कातिगमासु सुहावणउ, घरि घरि मंगल चारु।
सा घण जिणवरु पूजइ, खेवइ अगरु अपारु ॥८॥
बाल विजउरा राइणी, अरु चिरज सुहाए।
मगसिरहं बहु मान हइ, लइ जिणहं चडाउं ॥९॥
घण पिउ पूजिवि, एक ठाइं कुसुमंजलि दिण्णी।
पूसहं पोसिउ सयलु लोउ, सा सीलि सउण्णी ॥१०॥
माघइ महुरस पूर करि, बहु भोज कराए।
सा घण संघहु देइ दाणु, अम्बर पहिराए ॥११॥
धनि जननी धनि बापु जेण, सुह लक्खण जाई।
धणि कणि पुत्तहं आगली, धनि जिनि करि लाई ॥१२॥
तोल्हउ दे गुण आगली, फागुण पूनी आसा।
बंभयारि कवि ऊदू, गाए बारहमासा ॥१३॥

॥इति॥

उक्त दोनों रासो-रचनाओं को ध्यान से पढने पर प्रतीत होता है कि दोनों में नेमिनाथ और राजुल के इतिवृत्त को ग्रहण कर कवि ने गेय काव्य के रूप में रासो-रचनाएँ लिखी हैं। जैन-साहित्य मे नेमिनाथ और राजुल का वृत्त अत्यन्त ख्यातवृत्त है। इसलिए वियोग-वर्णन तथा बारहमासों का वर्णन करते हुए विभिन्न कवियों ने विभिन्न भाषाओं में राजुल का विरह-वर्णन किया है।

बारहमासा की परम्परा का विकास षड्ऋतु-वर्णन से हुआ जान पडता है। महाकवि कालिदास के "ऋतुसंहार" में हमें सबसे पहले छः ऋतुओं का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। लोक-साहित्य की मौखिक परम्परा में आज तक बारहमासा की स्वतन्त्र विधा प्रचलित है। अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में लिखे गये नेमि-बारहमासा आज भी देश के विभिन्न भागों में सुने जा सकते हैं। हिन्दी की मध्ययुगीन काव्यधारा में षड्ऋतु-वर्णन और बारहमासा की प्रवृत्तियों का विशेष रूप से समाहार हुआ है। इस सन्दर्भ में अब्दुल रहमान के सन्देशरासक और जायसी के पद्मावत में विशेष साम्य-लक्षित होता है३।

अपभ्रंश में केवल इतिवृत्तात्मक या वर्णनात्मक रासो रचनाएँ ही नहीं लिखी गईं। इसमें भावों तथा प्रतीकों को लेकर भी कुछ रासो-रचनाएँ मिलती हैं। अधिकतर रासो रचनाएँ गुजराती में लिखी गई हैं। गुजराती का मूल साहित्य रासो-साहित्य ही है—जो अपभ्रंश के अधिक निकट है। गुजराती का उपलब्ध रासा-साहित्य इस प्रकार है—विजयदेवसूरिरास, चन्द्रकुमाररास, शालिभद्ररास (मतिसार), हीरविजयसूरिरास (ऋषभदास), हरिबलरास (कुशलसंयम), हरिबलरास (लब्धिविजय), श्रीपालरास (गुणसुन्दर), श्रीपालरास (ज्ञानसागर), श्रीपालरास (जिनहर्ष), श्रीपालरास (विनय विजय), श्रीपालरास (यशोविजय) सुरसुन्दरीरास (नयसुन्दर), हंसराजवच्छराजरास (जिनोदयसूरि), सुदर्शनरास (उदयरत्न), सुमतिविलासरास (उदयरत्न), सिद्धचक्र-रास (ज्ञानसागर) सुजानदेरास (भीम), शालिभद्ररास (साधुहंस), विमलमन्त्रीरास (लावण्यसमय), शत्रुंजय-रास (समयसुन्दर), शीलरास (विजयदेवसूरि), हूक-

---

१. कटोरी।

२. आसोज,।

३. विशेष जानकारी के लिए लेखक का "सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्य-धारा शीर्षक प्रबन्ध दृष्टव्य है।

रास (रत्नविजय), विक्रमरास (नरपति), विक्रमरास (श्यामवर्द्धन), रोहिणीरास (ऋषभदास), रत्नरास (मोहनविजय). जम्बूस्वामीरास (देपाल, मल्लिदास, यशोविजय, ज्ञानविमलसूरि, नयविमलसूरि और रत्नसिंह-सूरिकृत)।

इनके अतिरिक्त महीराज कृत "नल-दवदन्तीरास", विक्रमचरितरास (उदयभान), श्रीपालरास आदि कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु अब भी अज्ञात रचनाएँ विपुल-परिमाण में हैं। अपभ्रंश की प्राचीनतम रचनाओं में "नेमिरास" वि० सं० १२६७ का लिखा हुआ कहा जाता है जो पाटन के भण्डार में है। परन्तु शालिभद्रसूरि कृत "भरत-बाहुबलिरास" वि० स० १२४१ की रचना है जो पुरानी गुजराती में लिखी हुई है। इस प्रकार रासो-साहित्य का आरम्भ गुजरात की परम्परा जान पड़ती है।

अपभ्रंश में रूपक काव्य की विधा में तेरहवी सदी से अठारहवीं सदी तक लिखे गये कई रूपक-काव्य उपलब्ध होते हैं। मुख्य रूपक काव्य हैं—मयणपराजयचरिउ१ (कवि हरिदेव), मनकरहारास (कवि पाहल), मयण-जुंज्झ (बुच्चराय) आदि। संस्कृत में प्रबोधचन्द्रोदय, मोहराजपराजय, ज्ञानसूर्योदय, प्रबन्धचिन्तामणि, सकल्प-सूर्योदय, चैतन्यचन्द्रोदय तथा मायाविजय आदि नाटक इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अपभ्रंश की उक्त दोनों लघु रासो-रचनाओं के अतिरिक्त उसी गुटके में एक और रासो-रचना उपलब्ध हुई है जो रूपक काव्य और रासो से कुछ भिन्न है। इसका नाम "समाधिरास" है। लेखक चारितसेन मुनि हैं। इसमें कुल पचास पद्य हैं। रचना में समाधि की विधि का वर्णन है। यह पत्र संख्या ५२-५४ में लिखित है। प्रारम्भ है—

> गणहर भासिय जि संत समाधि,
> दंसण णाण चरित समाधि।
> समाधी जिणदेवंहि दिट्ठि, जो करए सो सम्मादिट्ठि ॥
> ॥समाधी० ॥१॥
>
> चारितसेण मुणि समाधि पढंतउ,
> भवियहु करनु कलंकु डहंतउ। टेक ॥४७॥
> णंमिसमाधि सुमरइ जिय विसु नासइ,
> तिम परमर करि पाप पणासइ ॥ टेक ४८॥
> सोहणु सो दिवसु समाधि मरीजइ,
> जम्मण मरणह पाणिउ दीजइ ॥ टेक ४९ ॥
> अइसी समाधि जो अणुदिणु झावइ,
> सोय जरामरु सिवसुहु पावइ ॥ टेक ५० ॥

१. मयणपराजचरिउ (कवि हरिदेव) "भारतीय ज्ञान-पीठ", काशी से प्रकाशित हो गया है। इसका हिन्दी अनुवाद अपभ्रंश के अधिकारी विद्वान् डा० हीरा-लाल जैन ने किया है।

# निश्चय और व्यवहार के कषोपल पर षट्प्राभृत : एक अनुशीलन

मुनिश्री रूपचन्द्र

आचार्य कुन्द-कुन्द जैन-धर्म की श्रुत-सम्पन्न परम्परा में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने परम्परा-गत चले आ रहे सत्य के मान-दण्डों में नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा की। उनकी दृष्टि निश्चयपरक थी। आत्मा की शुभ परिभाषा में वे व्यवहार को अभूतार्थ मानते थे। उन्होंने कहा—आत्मा का शुद्ध स्वरूप केवल उसका ज्ञायक भाव है। इस दृष्टि से आत्मा का कर्म-पुद्गल से स्पृष्ट होने का अनुभव होना, देव, नरक, मनुष्य आदि विविध पर्यायों में उसके भिन्न-भिन्न रूप प्रतीत होना, उसमें दीर्घता, ह्रस्वत्व, वृद्धि और हानि की अनुभूति होना उसे दर्शन-मय, ज्ञान-मय देखना ये सब असद्-अभूतार्थ है। उसकी ये पर्यायें हैं और पर्याय कभी भूतार्थ कैसे हो सकती है। उन पर्यायों के पार जो अपर्यय है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है१ जो कि सर्वथा अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य

१. समय-सार, श्लोक १४

> जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णयं णियदं।
> अविसेस मसंजुत्तं तं सुद्ध-णयं वियाणीहि ॥

नियत, अविशेष और असंयुक्त—संयोग रहित है और वही भूतार्थ है।

नव तत्वों के सम्यक्त्व का विश्लेषण देते हुए उन्होंने कहा—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये समस्त जीव की ही पर्यायें हैं। शुद्ध जीव द्रव्य के स्वभाव की अनुभूति में इन सब को कोई स्थान नहीं है। अनादि-बन्धन पर्यायों से संश्लिष्ट हम जीव और पुद्गल में जो एक-भूतता देखते हैं, उस दृष्टि से हम इन्हें भूतार्थ मान लेते हैं। किन्तु यह व्यवहारनय की दृष्टि से भूतार्थ है, वस्तुतः भूतार्थ नहीं। कुण्डी घट, कलश, खिलौने आदि एक मिट्टी की ही अनेक पर्याय होने से पर्याय-भेद के अनुभव में हम इन्हें भले ही भूतार्थ मान ले, किन्तु मिट्टी-द्रव्य के स्वभाव की अनुभूति में ये भूतार्थ नहीं रह सकती। अतः नव तत्वों का भूतार्थता से ज्ञान होना ही सम्यक्त्व है।[१]

इस प्रकार हम देखते है कि उनकी दृष्टि भूतार्थ-निश्चय नय पर टिकी है। इतना ही नहीं, वे अभूतार्थो मे भी अपनी निश्चय दृष्टि का आरोप करते हुए उनसे भूतार्थता का स्थापन करवाना चाहते हैं। ज्ञान, सम्यक्त्व, तप, आत्मा आदि शब्दों के व्यवहार पक्ष को गौण करते हुए वे इन्हें शुद्ध आध्यात्मिक परिभाषा तो देते ही है, चैत्य, विम्ब, प्रतिमा, मुद्रा आदि भौतिक उपकरणात्मक शब्दों में भी वे अभौतिकता स्थापित करना चाहते हैं।[१] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वे अभूतार्थ को नकारते हैं? व्यावहारिक भूमिका में जीते हुए भी वे क्या उससे अपने आपका संरक्षण करना या बचना चाहते हैं[२] इसके समाधान में हमारे समक्ष एक विचार यह आता है कि सचमुच ही वे व्यवहार-परांगमुख थे। उन्होंने सदैव चतुर्दश-गुणस्थानों का भेद कर ऊपर उठ जाने वाली आत्मा को ही अपने प्रतिपादन का विषय बनाया। उनकी दृष्टि में यह समस्त चराचर जगत इसलिए असत् है कि आत्मा के स्वभाव में यह उपस्थित नहीं रह सकता।

यह तो स्पष्ट ही है कि उनका दृष्टिकोण निश्चय-प्रधान था। पर इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि उन्होंने व्यवहार को नकारा हो। वे पर्याय जगत् को व्यवहार नय की दृष्टि से भूतार्थ मानते हुए भी दिखलाई पड़ते हैं।[१] उनका इतना अवश्य आग्रह रहा था कि व्यवहार-जगत् में जीते हुए भी हम यथार्थ जगत को न भूलें। हमारा दृष्टिकोण लक्ष्य के प्रति सम्यग् हो और उसमें व्यवहार का सम्मिश्रण न हो। किन्तु उन्होंने व्यवहार का खण्डन किया हो, ऐसा हम नहीं कह सकते। सच तो यह है कि निश्चय की तरह उन्होंने व्यवहार को स्वीकार ही नहीं किया, उसका विस्तृत विधान भी दिया। षट् प्राभृत में उनके चरण-पाहुड, मोक्ख-पाहुड आदि छह पाहुडों का संकलन है। प्रस्तुत निबन्ध में व्यवहार और निश्चय के संदर्भ में ही उनका अनुशीलन करना चाहूँगा।

मोक्ष-प्राभृत में आचार्य व्यवहार का सर्वथा खण्डन करते दिखाई पड़ते हैं—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥

—जो व्यवहार में सुषुप्त है, वह आत्म-कार्य में जागृत रहता है। जो व्यवहार में जागृत होता है, वह अपनी आत्मा के लिए सुषुप्त होता है। यह जानते हुए योगी व्यवहार का सर्वथा त्याग कर दे—इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।

निश्चय का समर्थन करते हुए वे आगे लिखते हैं—

चरणं हवेइ सधम्मो, धम्मो सो हवइ अप्प-समभावो।
सो राग-रोस-रहिओ, जीवस्स अणण्ण परिणामो॥

—चरित्र का स्वरूप स्व-धर्म होता है। धर्म का स्वरूप है आत्मा का सम-भाव। वह (सम-भाव) राग और रोष रहित जीव का अनन्य परिणाम है। जैसे स्फटिक मणि अपने में विशुद्ध होने पर भी पर-द्रव्य के संयोग से भिन्न—अशुद्ध प्रतीत होती है, वैसे ही राग आदि से

१. वही १३

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च।
आसव-संवर-णिज्जर-बन्धो मोक्खो य सम्मत्तं॥

२. देखिये, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित—बोध-प्राभृत।

२. समय-सार-श्लोक १३, टीका।

तत्र द्रव्य-पर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति—तदुभयमपि द्रव्य-पर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्।

संयुक्त जीव अन्यान्य प्रकार से दिखलाई पड़ता है। अपने में वह सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और निर्विकार है।

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु निश्चय-नय में ये सब आत्मा में ही स्थित हैं। अतः आचार्य अपनी आत्मा की ही शरण ग्रहण करते हुए कहते हैं—

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते विहु चिट्ठहि आदे तम्हा आदाहु मे शरण।१०४।
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे शरणं॥१०५॥

बोध-प्राभृत में प्रतिमा विम्ब, चैत्य, मुद्रा आदि शब्दों की लोक-प्रचलित व्याख्याओं को अस्वीकार करते हुए वे इन सबकी आध्यात्मिक परिभाषाएँ प्रस्तुत करते है। भारतीय समग्र साहित्य परम्परा में 'प्रतिमा' शब्द मंदिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों के लिए ही प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिन-प्रतिमा उसे कहा जो विशुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र युक्त, निर्ग्रन्थ वीतराग, भाव जिन है१।

संयत-प्रतिमा वे मुनि है जो शुद्ध चारित्र का पालन करते हैं और शुद्ध सम्यक्त्व को जानते व देखते है।

व्युत्सर्ग-प्रतिमा वे सिद्ध है जो निरुपम, अचल, क्षोभ-रहित, स्थिर रूप से निर्मापित तथा सिद्ध-स्थान मे स्थित है२।

इसी तरह 'आयतन' शब्द साधारणतया मकान या स्थान के अर्थ में रूढ़ है। आचार्य उस सयमी आत्मा को आयतन बतलाते है, जो प्रव्रज्या-गुण से समृद्ध, ज्ञान-सम्पन्न तथा मन-वचन, काय और इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं है। उस संयत-रूप को भी आयतन कहा है, जिसके मद, राग, द्वेष मोह, क्रोध और लोभ आयत—अपने अधीन है और जो पंच महाव्रतधारी महर्षि है।

सिद्धायतन की सर्वथा नवीन और उत्-शृंखल व्याख्या देते हुए वे कहते है—जिस मुनि-वृषभ के समग्र सदर्थ सिद्ध हो गए हैं, जो विशुद्ध ध्यान और ज्ञान से परिवृत है, वह सिद्धायतन है१।

इसी प्रकार अनेकों जड़ शब्दों को उन्होंने आध्यात्मिक परिभाषाएँ देकर उन्हें चेतना-वान बनाया है उपरोक्त उद्धरणों से यह भी प्रतिभासित होता है कि सचमुच ही वे एक अव्यावहारिक या व्यवहार का लोप करने वाले पुरुष थे। किन्तु वस्तु सत्य यह नहीं है। जहां उन्होंने सम्यक्त्व की परिभाषा देते हुए यह कहा कि जो आत्मा आत्मा में रत है, वह सम्यग्दृष्टि है२, वहां यह भी कहा३ कि छह द्रव्य, नव पदार्थ पांच अस्तिकाय और सात तत्त्वों पर जो श्रद्धा करता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भाव प्राभृत में कहा गया है कि जो व्यक्ति जिन प्ररूपित भावनाओं से वर्जित है, वह वस्त्र-हीन होने पर भी दुःख पाता है, ससार-सागर में भ्रमण करता है और उसे बोधि लाभ नही होता४। यह निश्चय की भूमिका को स्पष्ट करता है कि वह नग्न होने पर भी यदि जिन-प्रणीत भावनाओं से शून्य है, तो उसका इष्ट लक्ष्य उसे नहीं मिल सकता पर इसके ठीक विपरीत लक्ष्य-प्राप्ति के लिए व्यवहार की अनिवार्यता दिखलाते हुए वे कहते है—वस्त्र-धर व्यक्ति सिद्धि को नहीं पा सकता, चाहे वह फिर तीर्थंकर ही क्यों न हो। जिन शासन में नग्नता ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है५।

बाह्य तपस्या, साधु की क्रिया-आचारों का विधान भी हमें अनेक स्थलों पर मिलता है। भाव-प्राभृत के ७८वे श्लोक मे कहा गया है—मुनि प्रवर! बारह प्रकार के तप का आचरण कर, त्रिकरण-शुद्धि से तेरह प्रकार की क्रियाओं—पंच नमस्कार, छह आवश्यक, मन्दिर में प्रवेश करते समय 'निसिही-निसिही' शब्द और बाहर

---

१. बोधप्राभत, श्लोक १०. ११, १३
२. ............।

---

१. बोध-प्राभत, श्लोक ५–७
२. भाव प्राभृत, श्लोक ३१
अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेई
३. दर्शन प्राभृत श्लोक १६
छदव्व णव पयत्था पचत्थी सत्त तच्च णिदिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥
४. भाव प्राभृत ६८
५. सूत्र प्राभृत, २३
ण वि सिज्झइ वत्थधरो, जिण सासणे जइ वि होइ
तित्थयरो णग्गो विमोक्ख-मग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।

जाते समय 'असिही-असिही' शब्द का उच्चारण अथवा पाँच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का चिन्तन कर और ज्ञानांकुश से विषय-कषायों में दौड़ते हुए मनोमत्त हाथी को वश में कर।१

दशवैकालिक में हमें मिलता है 'एवं धम्मस्स विणओ मूलं' धर्म विनय का मूल है। इसी भावना का समर्थन हमें एक गाथा में इस प्रकार मिलता है कि मन, वचन और शरीर के योग से विनय के पांच प्रकारों—पादपतन, अभ्युत्थान, स्वागत-भाषण आदि का पालन कर। क्योंकि अविनीत मनुष्य कभी भी सुविहित मुक्ति को नहीं पा सकता२।

वैयावृत्य के प्रकरण में कहा गया है कि मुनि आचार्य, उपाध्याय तपस्वी, ग्लान, शैक्षण, कुल, संघ चिर-प्रव्रजित मुनि और लोक-सम्मत विद्वान् असंयत सम्यग् दृष्टि की भी वैयावृत्य करे।

निर्वाण प्राप्ति के लिए यह आवश्यक माना गया कि साधक के जीवन में ज्ञान और तपस्या दोनों का समान महत्व रहे। जो ज्ञान तप-रहित है अथवा जो तप ज्ञान-रहित है, वह अकृतार्थ-लक्ष्य को साधने वाला नहीं है। जो ज्ञान और तप से संयुक्त है, वही निर्वाण को प्राप्त करता है३।

आहार-विजय, आसन-विजय तथा निद्रा-विजय कर साधक गुरुप्रसाद से अपनी आत्मा को जानकर ध्यान कर४। यद्यपि आत्मा स्वयं चरित्रवान, दर्शनवान और ज्ञानवान है पर साधक गुरु-प्रसाद से उसे जानकर उसका चिन्तन करे। साधक क्रमशः धीमे-धीमे आहार में कमी करता जाए, पद्मासन आदि आसनों का काल-मान क्रमशः बढ़ाए, नींद भी क्रमशः कम ले—पार्श्व-परिवर्तन न करे। आहार-विजय आसन-विजय और निद्रा-विजय का इस प्रकार क्रम भी दिया गया।

मन, वचन और शरीर की अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले दोषों की मुनि गुरु के पास गर्हा करे। गारव और माया से दोषों को छिपाने का प्रयत्न न करे। पूजा-लाभ की इच्छा न रखते हुए मुनि बहिः शयन, आतापन आदि उत्तरगुणों को पालन करे१। जिस प्रकार जल मे दीर्घकाल तक स्थित रहने पर भी पत्थर जल से भेदा नही जाता, मुनि उसी प्रकार उपसर्ग और परीषहों से भेद को प्राप्त न करे२। मुनि! यद्यपि तुम सर्वव्रती हो, फिर भी तुम नव पदार्थ, सात तत्व, जीवसमास और चतुर्दश गुणस्थानो से अपने को भावित करो। मुनि छयालीस प्रकार के आहार दोषों से रहित भोजन ग्रहण कर। कंद मूल आदि सचित वस्तुओ का सेवन न करे। केश- लुचन, अस्नान, भूमि-शयन, विनय, पाणि-पात्र-भोजन आदि इन समस्त व्यावहारिक चर्याओं को सार मानता हुआ इनका सम्यक्तया पालन करे।

इस प्रकार अनेक व्यावहारिक विधानों का उल्लेख हमें इन पाहुडों में मिलता है। इनसे यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द जहाँ निश्चय के परिपोषक थे, व्यवहार को भी उन्होंने सदा मुख्यता दी। केवल उनकी निश्चय दृष्टि को पकड़ कर व्यवहार की अवहेलना करना उनके साथ न्याय नहीं होगा। वे निश्चित रूप से व्यवहार के उतने ही समर्थक रहे है, जितने कि निश्चय के। अपेक्षा इस बात की है कि उनके दृष्टिकोण का सम्यग् मूल्यांकन हो और उसके सही रूप को प्रकाश में लाया जाए।

---

१. भाव-प्राभृत ७८
वारसविहतपयरण तेरस किरियाओ भाव-तिविहेण।
धरहि मणमत्त दुरियं णाणांकुसएण मुणि-पवर॥

२. वही, १०२
विणयं पंच-पयारं पालहि मण-वयण-काय जोएण।
अविणय-नरा सुविहियं तत्तो मुत्ति न पावंति॥

३. मोक्ष-प्राभृत ५६
तव-रहियं जं णाणं, णाण-विजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाण-तवेणं संजुत्तो लहइ निव्वाणं॥

४. वही, ६३

१. भाव-प्राभृत १११
वाहिर सवणत्तावण तरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भाव-विसुद्धो पूयालाहं अनीहंतो॥

२. वही, ९३
जह पत्थरो न भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकाल मुदएण।
तह साहु ण विभिज्जइ उवसग्ग-परीसहेहिंतो॥

# साहित्य-समीक्षा

१. 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो।' लेखक मुनि श्री नथमल, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ संख्या १०२ मूल्य सजिल्द–प्रति का, दो रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में मुनि श्री नथमलजी के २३ विचारात्मक संक्षिप्त निबन्धों को प्रकाशित किया गया है। जो योग विद्या के साधक हैं। योग विद्या के साधक को उससे सम्बन्धित अनेक विषयों का परिज्ञान आवश्यक होता है। योग विद्या के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। उसका अभ्यासी ब्रह्मचर्य का यथाशक्य पालन करता है; क्योंकि मानव को जब तक अपनी अनन्त शक्ति के स्रोत का पता नहीं चलता, जब तक वह इन्द्रिय-विषयों के पास से अपने को छुड़ाने का यत्न नहीं करता। किन्तु उनके व्यामोह में ही रात-दिन लगा देता है। मन बड़ा चंचल है वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, मन राजा है और इन्द्रियां उसकी दास हैं उसकी प्रेरणा से इन्द्रियाँ अविषय में प्रवृत्त हो जाती हैं, आत्मा की निर्बलता में वे अधिक उपद्रव करती हैं, आवेग और उद्वेगों से व्यथित आत्मा अपनी सुध-बुध खो बैठता है। इसलिए साधक को अपने आत्मबल को बलिष्ठ बनाने और शरीर को जड समझकर उससे अन्तरंगराग छोड़ने का यत्न करना आवश्यक है। ऐसा करने पर वह मन की चंचलता को स्थिर करने में समर्थ हो सकता है तभी वह ध्यान की सिद्धि करता हुआ अन्त में स्वात्मोपलब्धि का पात्र बनता है।

मुनिजी विचारशील विद्वान हैं उनके उपयोगी विचार पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। भारतीय ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन सुन्दर है।

२. क्या धर्म बुद्धिगम्य है? लेखक, आचार्य तुलसी। प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य दो रुपया।

इस पुस्तक का विषय उसके शीर्षक से स्पष्ट है। इसके लेखक तेरापंथी संघ के नायक आचार्य तुलसी हैं, जो सुलझे हुए विद्वान और सुलेखक हैं। आचार्य तुलसी ने धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और वे अपने अनुभवाधार से जिस नतीजे पर पहुँचे, उसका अच्छा विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया है। पाठकों को चाहिए कि वे जिज्ञासा दृष्टि से उस पर विचार करें, और धर्म के अन्तर्बाह्यस्वरूप पर विचार करते हुए तर्कणा से रहित एकांत मे उसके स्वरूप पर गहरी दृष्टि डालें, तब अनेकान्त दृष्टि से आपको उस प्रश्न का उत्तर स्वयमेव मिल जायगा। लेखक ने जहाँ धर्म के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये है वहाँ उन्होंने धर्म के साधनों पर भी दृष्टि डाली है। जब मानव में सहिष्णुता और विवेक जागृत हो जाता है तब सत्ता में स्थित विश्वास उद्बुद्ध होने लगता है, उस समय धर्म उसे अत्यन्त प्रिय लगता है, उस पर उसकी आस्था सुदृढ हो जाती है। पुस्तक उपयोगी है। भारतीय ज्ञान पीठ इस सुन्दर प्रकाशन के लिए धन्यवाद की पात्र है।

३. हिन्दी-पद संग्रह—सम्पादक डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, प्रकाशक-साहित्य-शोध विभाग श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजी, जयपुर (राजस्थान) पृष्ठ संख्या ५००, मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत पद संग्रह में हिन्दी के विभिन्न जैन कवियों के पदों का संकलन किया गया है। अन्त में उनका शब्दकोष भी दे दिया गया है। पदों की संख्या ४०० है। उनमें उन कवियों का संक्षिप्त परिचय भी निहित है, जिनकी रचनाओं का उक्त पुस्तक में संकलन हुआ है। ग्रंथ का प्राक्कथन डा० रामसिंहजी तोमर ने लिखा है। और सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में पदों की भाषा शैली एवं कवित्व के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में अभी अन्वेषण करना आवश्यक है कि हिन्दी में पदों की रचना कब शुरू हुई। जैन कवियों में अनेक पद भक्ति और अध्यात्म प्रधान पाये जाते हैं। कुछ पद तो भाव भाषा और रस में उच्चकोटि के प्रतीत होते है। वैसे पद अन्य भारतीय कवियों के नहीं पाये जाते। हिन्दी भाषा के इन पदों में जहाँ भक्ति का सुन्दर स्वरूप मिलता है वहाँ उनकी भाषा प्रांजलिता को लिए हुए गंभीर अर्थ की द्योतक है। ऐसे ग्रंथों का सर्व साधारण में प्रचार होना चाहिए। इसके लिए डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल और महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी के संचालकगण धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

## समाधितन्त्र और इष्टोपदेश का तृतीय संस्करण

स्वाध्याय प्रेमियों के द्वारा पिछले वर्ष इस ग्रन्थ की बहुत मांग की थी। और उन्ही के अनुरोध से यह संस्करण प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद, की एक सुन्दर कृति है। इस अध्यात्म प्रधान रचना में आचार्य ने आत्म स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। पिछले दो संस्करणों से यह संस्करण शुद्ध निकला है। दोनों की संस्कृत टीकाएं और परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका साथ मे दी गई है मुमुक्षु स्वाध्यायी सज्जनों के लिए यह संस्करण अत्यन्त मूल्यवान है मुमुक्षु सज्जनों को चाहिए कि वे पूज्यपाद की अनुभवपूर्ण कथनी को हृदयंगत कर, तथा इष्ट उपदेश का स्मरण कर समाधि का उपाय प्राप्त कर सकेंगे। सजिल्द प्रति का मूल्य ४) रुपया है। वह संस्था के नियमानुसार पौने मूल्य में प्राप्त कर सकेंगे।

व्यवस्थापक—
**वीर सेवामन्दिर**
**२१, दरियागंज, दिल्ली।**

---

## वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५० ) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१० ) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62.

## सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक के सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ।॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ।॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ।॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ... ४)

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शा० की हिन्दी टीका सहित मूल्य ४)

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (१६) महावीर पूजा ।)

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१७) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १)

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स० प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२)

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५)

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०)

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

---

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित

द्वैमासिक | दिसम्बर १९६५

# अनेकान्त

स्व० प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री
जन्म २ अक्टूबर १९०४ --- मृत्यु ११ जनवरी १९६६

## समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

## विषय-सूची


| विषय | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. | आचार्य परमेष्ठी (धवला टीका से) | १६३ |
| २. | मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्ताभक्ति —डा० प्रेमसागर जैन एम. ए., पी-एच.डी. | १६४ |
| ३. | यशस्तिलक में वर्णित वर्णव्यवस्थाऔरसमाजगठन —डा० गोकुलचन्द जैन आचार्य एम. ए. | २१३ |
| ४. | अहार का शान्तिनाथ संग्रहालय —श्री नीरज जैन | २२१ |
| ५. | कारंजा के भट्टारक लक्ष्मीसेन —डा० विद्याधर जोहरापुरकर, मंडला | २२३ |
| ६. | साहित्य में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर —श्री प० नेमचन्द धन्नूसा जैन न्यायतीर्थ | २२४ |
| ७. | वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ —डा० राजकुमार जैन एम.ए. पी-एच डी. | २३० |
| ८. | श्री लालबहादुर शास्त्री—यशपाल जैन | २३७ |
| ९. | जौनपुर में लिखित भगवती सूत्र —अगरचन्द भँवरलाल नाहटा, कलकत्ता | २३८ |
| १०. | साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर, परमानन्द शास्त्री | २३६ |


## दुःखद वियोग

१ श्रीमान बाबू लक्ष्मीचन्द सुमति प्रसाद जी शहादरा की धर्मनिष्ठा पूज्यनीया माता श्रीमती सुनहरी देवी का ८० वर्ष की अवस्था मे, स्वर्गवास हो गया। आप के इस कौटुम्बिक वियोग में अनेकान्त परिवार अपनी हार्दिक सवेदना प्रगट करता है। और दिवंगत आत्मा की परलोक में सुखी होने की कामना करता है।

## अनेकान्त को सहायता

श्री लाला चेतनलाल जी सर्राफ बड़ौत के सुपुत्र चि० राजेन्द्रकुमार एवं आयुष्यमती शशिरानी सुपुत्री श्री लाला प्रकाशचन्द जी शीलचन्द्रजी जौहरी दिल्ली के पाणि ग्रहण सस्कार के समय निकाले गए दान में से ११) रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए।

५) श्री सेठ गभीरमल गुलाबचन्द जी टोंग्या ८ हुकमचन्द मार्ग इन्दौर द्वारा चि० सुरेशचन्द टोंग्या के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान में से पाच रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

१८) श्री बाबू लक्ष्मीचन्द जी आनरेरी मजिस्ट्रेट और बा० सुमतिप्रसादजी ने अपनी पूज्या माता श्रीमती सुनहरीदेवी के स्वर्गवास के समय निकाले हुए २१००) के दान में से वीरसेवा मन्दिर को ११) रुपया और अनेकान्त को ७ रुपया, कुल १८) रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

४) श्री सुरेशचन्द जी जैन पानीपत ने अपने पूज्य पिता पण्डित रूपचन्द जी गार्गीय के स्वर्गारोहण के समय निकाले हुए दान में से चार रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

—व्यवस्थापक

**अनेकान्त**

**वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।**

★


**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**

**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०**




★

# जैन समाज पर अनभ्र वज्रपात

जैनधर्म और जैन संस्कृति के अनन्य प्रेमी और वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली के प्राण बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता का लम्बी बीमारी के बाद २६ जनवरी के प्रातःकाल सत्तर वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। आप उच्चकोटि के साहित्यिक और इतिहास तथा पुरातत्त्व के विद्वान् थे। आपने अनेक स्थानों का भ्रमण करके वहां के बहुमूल्य पुरातत्त्व के चित्रादि लिये और उनके सम्बन्ध में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जो प्रकाशित होने की बाट जोह रही थी। उन्होंने वीर-शासन-संघ से अनेक ग्रंथों का प्रकाशन किया था। वीर-सेवा-मन्दिर ने तो उनके आर्थिक सहयोग से ही इतनी प्रगति की थी, उन्होंने अपनी बीमारी की अवस्था में भी तन-मन-धन से वीर-सेवा-मन्दिर की सेवा की, जो चिर स्मरणीय रहेगी। दरियागंज दिल्ली में वीर-सेवा-मन्दिर का विशाल भवन उनकी सेवाओं का सजीव स्मारक है।

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी को आगे बढ़ाने में उन्हीं का हाथ था। ऐसे सच्चे सेवक के असमय में उठ जाने से समाज की जो महान् क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना असंभव है। वीर-सेवा-मन्दिर तो उनका चिर ऋणी रहेगा ही।

भगवान् से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा परलोक में सुख-शान्ति प्राप्त हो और उनके कुटुम्बी जन इस वियोग-जन्य दुःख के सहने में सक्षम हों।

शोकाकुल :
प्रेमचन्द्र जैन
मंत्री, वीर-सेवा-मंदिर

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १८ किरण-५ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण सवत् २४९२, वि० स० २०२२ { दिसम्बर सन् १९६५

## आचार्य परमेष्ठी

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो ।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥
देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयणव्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥
संगह-णिग्गह-कुसलो सुतत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥

अर्थ—प्रवचनरूपी समुद्र-जल के मध्य मे स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति मे छह आवश्यकों का पालन करते है, मेरु पर्वत के समान निष्कम्प धैर्यमूर्ति है, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह से रहित है। आकाश के समान निर्मल है ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते है। जो सघ के सग्रह-दीक्षा और निग्रह—शिक्षा या प्रायश्चित्य देने मे कुशल है, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ विशारद है, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण—निषेध और साधन व्रतों की रक्षा करनेवाली क्रियाओं मे निरन्तर उद्युक्त है, वे आचार्य परमेष्ठी है। उन्हें मेरा नमस्कार हो।

# मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्ताभक्ति

डॉ० प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०

पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य में अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नहीं माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया तब से अभी तक उसकी गणना रसो में होती चली आ रही है। उसे मिला कर नौ रस माने जाते है। जैनाचार्यों ने भी इन्ही नौ रसो का स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने 'शृंगार' के स्थान पर शान्त को रसराज माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, रागद्वेष नामक मनोविकार के उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष से सम्बन्धित अन्य आठ रसो के स्थायी भावो से उत्पन्न हुए आनन्द में वह गहरापन नही होता, जो शान्त में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एक मात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो सान्त रसनिकौ नायक[१] माना है। उन्होंने नो आठ रसो का अन्तर्भाव भी शान्तरस मे ही किया है। डा० भगवानदास ने भी अपने 'रस मीमांसा' नाम के निबन्ध में अनेकानेक संस्कृत उदाहरणों के साथ, 'शान्त' को रसराज सिद्ध किया है।

जहाँ तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर में 'परानुरक्तिः' तभी हो सकती है, जब अपर की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मनःप्रवृत्ति संसार के अन्य पदार्थो से अनुराग-हीन होकर, ईश्वर मे अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नही। और संसार को असार, अनित्य तथा दुखमय मान कर मन का आत्मा अथवा परमात्मा में केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भांति ईश्वर मे 'परानुरक्तिः, का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेवजी ने अपने 'भाव भक्ति की भूमिकाएँ' नामक निबन्ध मे लिखा है, "भगवदनुराग बढ़ने से अन्य वस्तु और व्यक्तियो के प्रति मन में वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्ति-शास्त्र में भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक अवस्था का नाम ही 'शान्तभाव' है[२]" नारद ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च' को भक्ति माना है।[३] इसमे पडे हुए 'परमप्रेम' से यह ही ध्वनि निकलती है कि ससार से वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाये। शान्ति मे भी वैराग्य की ही प्रधानता है। भक्तिरसामृतसिन्धु में 'अन्याभिलाषिताशून्यं कृष्णानुशीलनं उत्तमा भक्तिः'[४] उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि अनुरक्ति

---

१. "प्रथम सिगार वीर दूजो रस,
तीजो रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम,
छट्ठम रस बीभच्छ विभायक ॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत,
नवमों सान्त रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक,
जो जहं मगन सोई तिहि लायक ॥"

बनारसीदास: नाटक समयसार, प० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३९१।

२. स्वामी सनातनदेव जी, भावभक्ति की भूमिकाएँ, कल्याण, भक्तिविशेषांक, वर्ष ३२, अंक १ पृ० ३९९।

३. देखिए 'नारद प्रोक्तं भक्तिसूत्रं', खेलाड़ीलाल एण्ड स ज, वाराणसी, पहला सूत्र।

४. भक्ति रसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण।

में सदैव जलन होती है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा संसार के, क्योंकि दोनों मे महदन्तर है। सासारिक अनुरक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली मे जलन है, तो दूसरी में शीतलता, पहली मे अपावनता है, तो दूसरी में पवित्रता और पहली में पुनः-पुनः भ्रमण की बात है, तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने एक मन से, राग-द्वेषों से विमुख होकर वीतरागी पथ पर बढने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय है—तत्त्व-चिन्तन और वीतरागियों की भक्ति। वीतराग में किया गया अनुराग साधारण राग की कोटि मे नहीं आता। जैनों ने शान्तभाव की चार अवस्थाएँ स्वीकार की है—प्रथम अवस्था वह है जब मन की प्रवृत्ति, दुःखरूपात्मक संसार मे हट कर आत्म-शोधन की ओर मुड़ती है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था में उस प्रमाद का परिष्कार किया जाता है, जिसके कारण संसार के दुःख-सुख सताते है तीसरी अवस्था वह है जबकि विषय-वासनाओं का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहते है। ये चारो अवस्थाये आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कही गई युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशाओं के समान मानी जा सकती है१। इनमें स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने 'मुक्ति दशा' में 'रसना' को स्वीकार नही किया है, यद्यपि वहां विराजित पूर्ण शान्ति को माना है। अर्थात् सर्वज्ञ या अर्हन्त जब तक इस संसार मे हैं, तभी तक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नहीं। अभिधान राजेन्द्र कोश मे रस की परिभाषा लिखी है, "रस्यन्तेऽन्तरात्मानुभूयन्ते इति रसाः"२ अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं। सिद्धावस्था में अन्तरात्मा अनुभूत से ऊपर उठ कर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अतः अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालंकार' में रस का निरूपण करते हुए लिखा है, "विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। आरोप्यमाण उत्कर्षः स्थायीभाव. स्मृतो रसः"३ अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव हो रस कहलाता है। सिद्धावस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावो के अभाव मे रस नहीं बन पाता।

जैन आचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियों की भाँति ही 'शम' को शान्त रस का स्थायीभाव माना है। आ० अजितसेन ने 'अलंकार चिन्तामणि' मे 'शम' को विशद करते हुए लिखा है, "विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्वं शमः", अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकारी होना शम है४। यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस' का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होंने "तत्त्वज्ञान जन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्" लिखकर निर्वेद को शम रूप ही स्वीकार किया है५। आचार्य विश्वनाथ ने 'शम' और 'निर्वेद' में भिन्नता मानी है और उन्होंने पहले की स्थायी भाव में तथा दूसरे की संचारी भाव मे गणना की है६। जैनाचार्यों ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने है—तत्त्वज्ञान, इष्ट वियोग-अनिष्ट सयोग। इसमे पहले से उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा सचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ

---

१. युक्त वियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः। रसनामेति तदस्मिन्सचार्यादे. स्थितश्च न विरुद्धा॥ आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्री की हिन्दी व्याख्या सहित, लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९९१, ३।२५०, पृ० १९८।

२. अभिधान राजेन्द्रकोश, 'रस' शब्द।

३. देखिए आचार्य वाग्भटकृत वाग्भटालकार।

४. अजितसेनाचार्य, अलंकार चिन्तामणि।

५. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश चौखम्बा संस्कृतमाला, सख्या ५९, १९२७ ई०, चतुर्थ उल्लास, पृ० १६४।

६. आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्री की व्याख्या सहित, लखनऊ, ३।२४५–२४९, पृ० १९६।

की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैन मन्दिर, जैन तीर्थ क्षेत्र, जैन मूर्त्ति और जैन साधु को उद्दीपन, धृत्यादिको को संचारी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह के अभाव अर्थात् सर्व समत्त्व को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते हैं। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सांसारिक द्रव्यों का अर्जन और उपभोग बुरा नहीं है; किन्तु उसमें आसक्त होना ही दुखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अरति भाव से पी गई मदिरा नशा उत्पन्न नही करती, वैसे ही अनाशक्त भाव से द्रव्यों का उपभोग कर्मो का बन्ध नहीं करता१। कर्मो का बन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह बन्ध जिनेन्द्र के चरणो की स्तुति से स्वत. उपशम हो जाता है जैसे कि मन्त्रो के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाता है २ जैसे ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतप्त हुए जीव को जल और छाया मे शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दुखो से बेचैन प्राणी भगवान के चरण कमलों में शान्ति पाता है३। मुनि शोभन शाश्वत शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है४। आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते है। वही भव दुख रूपी अग्नि पर घनामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान शान्तिनाथ प्रदान कर सकते हैं।

**"भव दुःखानलाशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनित जनशान्तिः।**
**शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः५॥"**

जैन ग्रन्थों के अन्तिम मंगलाचरण प्रायः शान्ति की याचना में ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नही, संघ, आचार्य, साधु, धार्मिक जन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का "संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्। देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञःकरोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्रः६।" इसी का द्योतक है। पं० श्री मेधावी के धर्मसंग्रह श्रावकाचार का मंगलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी राजा प्रजा और मुनि सभी के लिए शान्ति चाही है७।

शान्ति दो प्रकार की होती है—शाश्वत और क्षणिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का भौतिक

१. जहमज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे, अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटनी दि० जैन ग्रंथमाला, मारौठ, मारवाड़, १६५३ ई०, १६६वी गाथा, पृ० २६६।

२. क्रुद्धाशीविषदष्ट दुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,
विद्याभेषज मन्त्रतोय हवनैर्याति प्रशान्ति यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुग स्तोत्रोन्मुखाना नृणाम्।
विघ्ना कायविनाशकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतशान्तिभक्ति, 'दशभक्तिः', शोलापुर, १६२१ ई०, दूसरा श्लोक, पृ० ३३५।

३. न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजाः,
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मि निकरव्याकीर्ण भूमडलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दु पादसलिलच्छायानुरागं रविः॥
आचार्य पूज्यपाद, सस्कृतशान्तिभक्ति, दशभक्त्यादि-संग्रह, सलाल, साबरकांठा, गुजरात, पहला श्लोक, पृष्ठ १७४।

४. शान्ति वस्तनुतान्मिथोऽनुगमनाद्यन्नै गमाद्यैर्नयै,
रक्षोभं जन हे तुलां जितमदोदीर्णाग जालं कृतम्।
तत्पूज्यैर्जगता जिनैः प्रवचन द्रप्यत्कुवाद्यावलो,
रक्षोभजन हेतुलांछितमदो दीर्णाग जालकृतम्॥
मुनिशोभन, चतुर्विंशति जिनस्तुतिः, काव्यमाला, सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तीसरा श्लोक, पृ० १३३।

5. K. K. Handiqui, yasastilak and Indian culture, Sholapur, 1949, P. 311.

६. दशभक्त्यादि संग्रह, १४वाँ श्लोक, पृ० १८१।

७. शान्तिस्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिनृपाणां सदा,
सुप्रजाशांतयोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां सदा।
श्रोतृणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः,
शांति शांतिरथाग्नि जीवनमुचः श्रीमज्जनस्यापि च॥
पडित श्री मेधावी, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, अन्तिम-प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, १६५० ई०, ३५वाँ श्लोक, पृ० २५।

संसार से। भक्त जन दोनों के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की अनुकम्पा से उन्हें दोनों की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा में जैन मंत्रों का महत्वपूर्ण योग रहा है। जैनों का प्राचीन मंत्र 'णमो अरिहन्ताणं' मन्त्र है। इसमें पच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मंत्र है "णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।" इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मन्त्र मे अपूर्व शक्ति स्वीकार की है। भद्रबाहु स्वामी ने अपने 'उवसग्गहर स्तोत्र' में लिखा है, "तुह सम्मत्त लद्धे चिंतामणिकप्प पायब्भहिए। पावंति अविग्घेणं जीवा अजरामर ठाण१ ॥" इसका तात्पर्य है कि पचनमस्कार मन्त्र से चिंतामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्त्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीव को मोक्ष मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है, "अरुहा, सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठि। एदे पंचणमोयारा भवे भवे मम सुह दिंतु२ ॥" अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु मुझे भव-भव में सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पंच नमस्कार' का मन्त्र सब पापो को नष्ट करनेवाला है और जीवों का कल्याण करने मे सबसे ऊपर है३। मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' मे लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मन्त्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है४।"

श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' के 'पंच-परमेष्ठि नमस्कार कल्प' में स्वीकार किया है, "इस मन्त्र की आराधना करनेवाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक ही नहीं, किन्तु सहस्रों पापों का सम्पादन करनेवाले तिर्यञ्च भी इस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग मे पहुँच जाते हैं५।" जैनाचार्यों ने 'णमोकार मंत्र' की शक्ति को देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित है। वह मोहके दुर्गमन को रोकने में पूर्ण रूप से समर्थ है६। जैन परम्परा में यह मन्त्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान महावीर से पहले 'चौदह पूर्वों' का अध्ययन अध्यापन प्रचलित था। भगवान ने अपने गणधरों को इनकी विद्या प्रदान की थी७। उनमें

---

१. जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, वि० स० १९९२, 'उवसग्गहर स्तोत्र', चौथी गाथा, पृ० ११।

२. 'पचगुरुभक्ति', 'दशभक्तिः', शोलापुर, १९२१ ई० सातवीं गाथा, पृ० ३५८।

३. "एष पंचनमस्कारः सर्वपाप प्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ॥"
देखिए वही, सातवाँ श्लोक, पृ० ३५३।

४. 'प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यं।
कः संदेहो यदुपलभते वासव श्री प्रभुत्व
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्र ॥"
एकीभावस्तोत्र, काव्यमाला सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १२वाँ श्लोक, पृ० १९।

५. "एतमेव महान्त्र समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परम पदम् ॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तु शतानि च।
अमु मन्त्र समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गता ॥"
जिन प्रभसूरि, 'पचपरमेष्ठिनमस्कारकल्प', विविधतीर्थकल्प, मुनि जिन विजयसम्पादित, शान्तिनिकेतन, १९३४ ई०, प्रथम भाग, ५-६ श्लोक, पृ० १०८।

६. "स्तम्भ दुर्गमन प्रति प्रयत्नतो मोहस्य सम्मोहन,
पायात्पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥"
धर्मध्यानदीपक, मागीलाल हुकुमचन्द्र पाण्ड्या संपादित, कलकत्ता, 'नमस्कारमन्त्र', तीसरा श्लोक, पृ० २।

7. "The original doctrine was contained in the fourteen Purvas "old texts", which Mahavira himself had taught to his Ganadharas." Dr. Jagdish Chandra Jain, Life in ancient India as depicted in the Jain canons, New Book Company Ltd., Bombay, 1947, P. 32.

विद्यानुवाद नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था१। श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैन मन्त्र-शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है२। हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय में भी '१४ पूर्व' पहले से आई हुई विद्या' के रूप में प्रतिष्ठित रहे हों। उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर णमोकार मंत्र' का प्राचीनतम उल्लेख हाथी-गुम्फ के शिलालेख में प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारबेल ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए है३।

'शान्ति' का आधार केवल 'णमोकार मन्त्र' ही नहीं है, अन्य अनेक मन्त्र भी हैं। यहाँ सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे एक पृथक निबन्ध का विषय हैं। मन्त्र क्षेत्र में यन्त्रो की भी गणना होती है। उनमें एक शान्ति यन्त्र भी है। मन्दिरों में इसकी स्थापना की जाती है और उसकी पूजा-अर्चा होती है। 'मन्त्राधिराज कल्प' नाम के ग्रन्थ में शान्ति यन्त्र' की पूजा दी हुई है। इसके रचयिता एक सागरचन्द्र सूरि नाम के साधु थे। उनका समय १५वी शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के संबंध में लिखा है, "शमयतिदुरितश्रेणि दमयत्यरिसन्तति सततममौ। पुष्णाति भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधि सम्बाधाम्४॥" तात्पर्य है—शान्ति यन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधियाँ उपशम हो जाती हैं, और सौभाग्य का उदय होता है। शान्ति के लिए 'शान्ति पाठ' भी किये जाते हैं। वे मन्त्र-गर्भित होते हैं। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानों पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मन्त्र-यन्त्रों में इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है; किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूल स्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नही। यह ही कारण है कि उनमें वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मांस वाली बात नहीं पनप सकी। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्तिरूपा थीं। उन्हे मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता था। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन मंत्रो के साथ नीच कुलोत्पन्न कन्याओं के आसेवन की बात चली हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात में एक सौ सोलह कुंआरी, सुन्दरी कन्याओं की बलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हो। वे कराला थी, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मास से से तृप्त नही होती थी। सतगुणों का प्रदर्शन ही उन्हें सन्तुष्ट बना सकता था। इसी भांति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारंगत विद्वान थे, किन्तु उन्होने राग सम्बन्धी पदार्थों में उनका कभी उपयोग नही किया। जैन मन्त्र सांसारिक वैभवों के देने मे सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। उसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नही।

जैन भक्ति काव्य और मन्त्रों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियों और संगतियों में भी वे शान्तरस से दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओट में शृंगारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय

---

१. कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईस्वी) के विद्यानुशासन मे विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र-भण्डारों में मौजूद है।

2. "Mr. Jhaveri thinks that the Mantrasastra among the Jains is also of hoary antiquity. He claims that its antiquity goes back to the days of Parsvanatha, the 23rd Tirthankara, who flourished about 850 B.C."
Dr. A.S. Altekar, 'Mantra Shastra and Jainism', Jain Cultural Research Society, Banaras Hindu University, Banaras, P. 9.

3. V.A. Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P. 38, N.I.

४. श्री सागरचन्द्र सूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्र संदोह, भाग २, मुनि चतुरविजयसम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६, ३३वां श्लोक, पृ० २७७।

नहीं दिया। दाम्पत्य रति-मूला भगवद्भक्ति बुरी नहीं है। यह भी भक्ति की एक विद्या है। जैन काव्यों के आध्यात्मिक विवाह इसी कोटि में आते हैं। नेमीश्वर और राजुल को लेकर शतशः काव्यों का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमें कहीं भी जगन्माताओं की सुहागरातों का नग्न विवेचन नहीं है। जिसे मां कहा, उसके अंग-प्रत्यंग में मादकता का रंग भरना उपयुक्त नहीं है। इससे मां का भाव लुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनाश्लेष मे आबद्ध दम्पति भले ही दिव्यलोक-वासी हों, पाठक या दर्शक में पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अँगूठों पर खड़ा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनों के कारण उनके हाथ की पूजा-थाली के पुष्पों का बिखर जाना कहाँ तक भक्ति परक है।[१] राजशेखर सूरि के 'नेमिनाथफागु' में राजुल का अनुपम सौन्दर्य अंकित है, किन्तु उसके चारों ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा खिंची हुई है, जिसमे विलासिता को सहलन प्राप्त नही हो पाती। उसके सौन्दर्य में जलन नहीं, शीतलता है। वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है। उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिंदी जैन भक्ति काव्य और कवि' में लिखा है, "जबकि भगवान के मंगलाचरण भी वासना के कैमरे से खींचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुल मे सम्बन्धित मांगलिक पद दिव्यानुभूतियों के प्रतीक भर ही रहे। उन्होंने अपनी पावनता का परित्याग कभी नहीं किया।[३] जिन पद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[२] में कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओं का चित्र खींचा गया है। युवा मुनि स्थूलभद्र के संयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन में अधिकाधिक प्रयास किया, किंतु कृतकृत्य न हुई। कवि को कोशा की मादकता निरस्त करना अभीष्ट था, अतः उसके रति-रूप और कामुक भावो का अंकन ठीक ही हुआ। तप की दृढ़ता तभी है, जब वह बड़े से बड़े सौंदर्य के आगे भी दृढ़ बना रहे। कोशा जगन्माता नही, वेश्या थी। वेश्या भी ऐसी-वैसी नही, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या। यदि पद्मसूरि उसके सौंदर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमत्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती। उससे एक मुनि का संयम सुदृढ़ प्रमाणित हुआ। इसमें कही अश्लीलता नही है। सच तो यह है कि दाम्पत्य रति के रूपक को रूपक ही रहना चाहिए था, किंतु जब उसमे रूपकत्त्व तो रहा नहीं, रति ही प्रमुख हो गई, तो फिर अशालीनता का उभरना भी ठीक ही था। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे। इसी कारण उनकी शांतिपरकता भी बची रही।

हिंदीके जैनभक्त कवियोंने संस्कृत-प्राकृतकी शांतिधारा का अनुगमन किया। बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' में 'नवमो शांत रसनिकौनायक' स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनायें इसकी प्रतीक है। आगे के कवि उनसे प्रभावित हैं। हिंदी के इन जैन कवियों का मंत्र, यंत्र और शांति पाठों की रचना मे मन न लगा। इनसे संबंधित हिंदी काव्य संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद भर है। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि मंत्राधिष्ठात्री देवियों की स्तुतियाँ भी पूर्व काव्यों की छाया ही है। इनका मन लगा संसार की आकुलता और राग-द्वेषों के चित्रांकन मे उन्होंने पुनः-पुनः मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा मे उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियों के समन्वय ने उसे भाव-भीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतियाँ हैं। उनमे उपदेश की रूक्षता तो किञ्चितमात्र भी नहीं है। कोई भी बात, चाहे उपदेश-परक ही क्यों न हो, भावों के सांचे में ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिंदी के प्रबंध और खण्ड काव्यों का भी मूल स्वर शांत रस ही है। अन्य रस भी हैं, किन्तु उनका समाधान शान्तरस में ही हुआ है। ऐसा करने मे

---

१. "पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातुव.॥"
श्रीहर्ष, रत्नावली, प्रथम मंगलाचरण।

२. यह काव्य प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला ३, सं० २०११, पृ० ३-७ पर प्रकाशित हो चुका है।

३. देखिए 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४।

कहीं भी खींचतान नहीं है, सब कुछ प्रासंगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिंदी के भक्ति-काव्यों में यदि एक ओर सांसारिक राग-द्वेषों से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान से चरम शांति की याचना। उनको शांति तो चाहिए किंतु अस्थायी नहीं। वे उस शांति के उपासक हैं जो कभी पृथक् न हो। जब तक मन से दुविधा न मिटेगी, वह कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा जिननाथ निरंजन के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं, "न जाने कब हमारे नेत्र-चातक अक्षय-पद रूपी घन की बूंदें चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शांति मिलेगी। और न जाने वह घड़ी कब आयेगी जब हृदय में समता भाव जगेगा। हृदय के अंदर जब तक सुगुरु के वचनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ सुख नहीं मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमें घर छोड़ कर बन में जाने का भाव उदित हुआ हो१।

कवि बनारसीदास ने 'शांतरस' को आत्मिक रस कहा है, उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन के समान समझना चाहिए२। इस आनन्द को साक्षात् करने वाला चेतन जिसके घट में विराजता है, उस जिनराज की बनारसीदास ने वंदना की है ३।

यह जीव संसार के बीच में भटकता फिरता है किन्तु उसे शांति नहीं मिलती। वह अपने अष्टादश दोषों से प्रपीड़ित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदास का कथन है, "हे जीव! इस संसार के असंख्य कोटिसागर को पीकर भी तू प्यासा ही है और इस संसार के दीपों में जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषों के कारण है। वे तभी जीते जा सकते हैं जब तू भगवान जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी पथ का अनुसरण करे, जिस पर वे स्वय चले थे४। भैया की दृष्टि से अष्टादश दोष ही अशांति के कारण हैं और वे भगवान जिन के ध्यान से

---

१. कब जिननाथ निरंजन सुमिरौं,
तज सेवा जन-जन की,
दुविधा कब जैहै या मन की ॥१॥
कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक,
बूंद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि,
करूँ न ममता तन की, दुविधा० ॥२॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर,
दृढ़ता सुगुरु वचन की,
कब सुख लहौं भेद परमारथ,
मिटै धारना धन की, दुविधा० ॥३॥
कब घर छांड़ होहुँ एकाकी,
लिये लालसा वन की,
ऐसी दशा होय कब मेरी,
हौं बलि-बलि वा छन की, दुविधा० ॥४॥
बनारसीविलास, जयपुर १६५४, अध्यात्मपद पंक्ति,

२. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है॥
बनारसीदास, नाटक समयसार, बम्बई, ३८ उत्थानिका, १६वाँ पद्य, पृ० १७-१८।

३. सत्य-सरूप सदा जिन्ह कै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात निकंदन।
सांत दसा तिन्ह की पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि बंदन॥
वही छठा पद्य पृ० ७।

४. जे तो जललोक मध्य सागर असंख्य कोटि
ते तो जल पियो पै न प्यास याकी गयी है।
जे ते नाज दीप मध्य भरे हैं अवार ढेर
ते ते नाज खायो तोऊ भूख याकी नई है।
तातै ध्यान ताको कर जातै यह जाय हर,
अष्टादश दोष आदि ये ही जीत लई है।
वहै पंथ तू ही साज अष्टादश जांहि भाजि,
होय बैठि महाराज तोहि सीख दई है॥
भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, १६२६ ई० शत अष्टोत्तरी १६वाँ कवित्त, पृ० ३२।

जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शांति का अनुभव करेगा, जो भगवान जिनेन्द्र में साक्षात् ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष में प्रेम करने के ही कारण यह जीव अपने परमात्म-स्वरूप के दर्शनों का आनन्द नहीं ले पाता अर्थात् वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोह के निवारण से राग-द्वेष स्वय नष्ट हो जायँगे, और राग-द्वेषों के टलने से मोह तो यत्किंचित् भी न रह पायेगा। कर्म की उपाधि को समाप्त करने का भी यह ही एक उपाय है। जड़ के उखाड़ डालने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है। और फिर तो उसके डाल-पात, फल फूल भी कुम्हला जायँगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था में अनन्त सुख विलस सकेगा।

**मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारे जांहि,**
**राग-द्वेष टारें मोह नेकहू न पाइए।**
**कर्म की उपाधि के निवारिवे को पंच यहै,**
**जड़ के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइए।**
**डार-पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जायं,**
**कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइए।**
**तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,**
**विलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइए[१]॥**

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक सुन्दर से पद मे जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शांति की बात करने वाले ही ज्ञानी है, अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायगे[२]।

भूधरदासजी के स्वामी की शरण तो इसीलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणो से युक्त है। भूधरदास को उनका बहुत बड़ा भरोसा है। उन्होंने जन्म-जरा आदि बैरियों को जीत लिया है और मरन की टेव से छुटकारा पा गये है। उनसे भूधरदास अजर और अमर बनने की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि जब तक यह मनुष्य ससार के जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पायेगा, शान्ति प्राप्त नही कर सकता। जैन परम्परा में देवों को अमर नहीं कहते। यहाँ अमरता का अर्थ है मोक्ष, जहाँ किसी प्रकार की आकुलता नही होती ऐसी शान्ति वह ही दे सकता है, जिसने स्वयं प्राप्त कर ली है। वे संसारी 'साहिब', जो बारम्बार जनमते हैं, मरते हैं, और जो स्वयं भिखारी हैं, दूसरों का दारिद्रय कैसे हर सकते हैं[३]। भगवान 'शान्तिजिनेन्द', जो स्वयं शान्ति के प्रतीक हैं, सहज में ही अपने सेवकों के भाव-द्वन्द्वों को हर सकते हैं। भूधरदास उन्ही से ऐसा करने की याचना भी करते है[४]। यह जीव संसारिक कृत्यों के करने में तो बहुत ही उतावला रहता है, किन्तु भगवान के सुमरन में सीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल मिलते हैं। कर्म करता है अशान्ति और आकुलता के, किन्तु फल में शांति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्णरीत्या असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नही हो सकता। जैसे यह जीव विषयों के बिना एक क्षण भी नही रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरन्तर जपे तो सासारिक अशांति को पार कर निश्चय शांति पा सकता है[५]।

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे सांसारिक वैभवों की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते है और उसमें-से शांति की ध्वनि, संगीत की झंकार की तरह से फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद मे उन्मत्त जीवो को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गंवार नर ! तुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस ससार मे जीवित रहना है। हे नर ! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब

१. वही मिथ्यात्वविध्वंसन चतुर्दशी ८वां कवित्त पृ० १२१।

२. शान्तरसवारे कहैं मत को निवारे रहैं।
वेई प्रानप्यारे रहैं और रसवारे हैं।
वही, ईश्वर निर्णय पच्चीसी छठा कवित्त, पृ० २५३।

३. भूधरदास, भूधरविलास कलकत्ता ५३वाँ पद। पृ० ३०

४. भूधरविलास, ३४वाँ पद, पृ० १९।

५. वही, २२वाँ पद, पृ० १३।

छोड़ दे। क्षण-क्षण पर तेरे बंध बढ़ते जायेंगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।[१]" भूधरदास ने एक दूसरे पद में परिवर्तन-शीलता का सुन्दर दृश्य अंकित किया है। उन्होंने कहा, "इस संसार में एक अजब तमाशा हो रहा है, जिसका अस्तित्व-काल स्वप्न की भाँति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायगा। एक के घर में मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मंगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर में किसी के वियोग के कारण नैन निराशा से भर-भर कर रोते है। जो तेज तुरंगों पर चढ़ कर चलते थे, और खासा तथा मलमल पहनते थे, वे ही दूसरे क्षण नंगे होकर फिरते है, और उनको दिलासा देन वाला भी कोई दिखाई नही देता। प्रातः ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ प्रसन्न-बदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन मे जाकर निवास करना पड़ा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं, जैसे पानी का बताशा। भूधरदास जी कहते है कि इनका जो गर्व करता है उसके जन्म को धिक्कार है।[२]" यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अंधा बनता है। इसने भरे यौवन मे पुत्र का वियोग देखा, वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग में जाते हुए निरखा, और इसने उन पुण्यवानों को, जो सदैव मान पर चढ़े ही दिखाई देते थे, रंक होकर बिना पनही के मार्ग मे पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नही घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूमे की अँधेरी से राजरोग का कोई इलाज नही है।

**"देखो भरि जोवन में पुत्र वियोग आयो,**
**तैसे ही निहारी निज नारी काल मग में।**
**जे जे पुण्यवान जीव दीसत है यान ही पै,**
**रंक भये फिरै तेऊ पनही न पग में।**
**ऐते पै, अभाग धन जीतब सौं धरै राग,**
**होय न विराग जानै रहूँगो अलग मैं।**
**आंखिन विलोकि अन्ध सूसे की अंधेरी,**
**करै ऐसे राजरोग को इलाज कहाँ जग में॥"[३]**

एक वृद्ध पुरुष की दृष्टि घट गयी है, तन की छबि पलट चुकी है, गति बंक हो गयी है और कमर झुक गयी है। उसकी घर वाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रंक होकर पलंग से लग गया है। उसकी नार (गर्दन) काँप रही है और मुंह से लार चू रही है। उसके सब अंग-उपांग पुराने हो गये हैं, किन्तु हृदय में तृष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है[४]। जब मनुष्य की मौत आती है, तो उसने संसार में रच-पच के जो कुछ किया है, सब कुछ यहाँ ही पडा रह जाता है। भूधरदास जी ने कहा है, "तीव्रगामी तुरंग, सुन्दर रगों से रंगे हुए रथ, ऊँचे-ऊँचे मत्त मतंग, दास और खवास, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ और करोड़ों की सम्पत्ति से भरे हुए कोश, इन सब को यह नर अंत में छोड़ कर चला जाता है। प्रासाद खड़े-के-खड़े ही रह जाते है, काम यहाँ ही पड़े रहते हैं, धन-सम्पत्ति भी यहाँ ही डली रहती है और घर भी यहाँ ही धरे रह जाते हैं।"

**"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतग खरे ही।**
**दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥**
**एसे बढ़े तो कहा भयौ हे नर, छोरि चले उठि अन्त छरेही।**
**धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥"[५]**

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शांति प्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण में इसलिये गये हैं कि शांति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होंने कहा "हम तो नेमिजी की शरण में जाते हैं, क्योकि उन्हे छोड़कर और कही हमारा मन भी तो नहीं लगता। वे संसार के पापों की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान हैं। उनका विरुद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते है। उनको सुख मिलता है और

१. वही, ११वाँ पद, पृ० ७।
२. वही, ६वाँ पद, पृ० ६।
३. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ३५वाँ पद, पृ० ११।

४. "दृष्टि घटी पलटी तनकी छबि बंक भई गति लंक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति, रंक भयौ परियंक लई है॥
काँपत नार वहै मुख लार महामति संगति छारि गई है।
अंग उपंग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है॥"
जैनशतक, कलकत्ता, ३८वाँ सवैया, पृ० १२।
५. वही, ३१वाँ पद, पृ० ११।

दुःख दूर हो जाता है।"[1] यहाँ बादल से झरने वाली शीतलता परम शांति ही है। शांति को ही सुख कहते हैं और वह भगवान् नेमिनाथ के सेवकों को प्राप्त होती ही है। द्यानतराय की दृष्टि में भी राग-द्वेष ही अशांति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावैगा', अर्थात् उसको शांति मिलेगी। अरहंत का स्मरण करने से राग-द्वेष विलीन हो जाते है, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मन को सम्बोधन करते हुए कहते है, "हे बावरे मन ! अरहत का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोड़कर अपने अंतर में प्रभु की लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ में ही खो रहा है और विषय-भोगों को प्रेरणा दे-देकर बढ़ा रहा है। प्राणों के जाने पर हे मानव ! तू पछतायेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरंग और रथ में तेरा जो चाव है, वह ठीक नहीं है। ये सामारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भाँति है, और आँख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते है। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मंगल-गीत गा ले। और अधिक कहाँ तक कहा जाये फिर उपाय करने पर भी सध नहीं सकेगा।"[2]

शुक्लध्यान में निरत तीर्थंकर शांति के प्रतीक होते है। उनमें से सभी प्रकार की बेचैनियाँ निकल चुकी होती हैं। उन्हें जन्म से ही पूर्व संस्कार के रूप में वीतरागता मिलती है। उसी स्वर में वे पलते, बढ़ते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते है। कभी विलासों में तैरते-उतराते, कभी राज्यों का संचालन करते और कभी शत्रुओं को पराजित करते; किन्तु वह स्वर सदैव पवन की भाँति प्राणों में भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हें वन-पथ पर ले छोड़ता। चिंताएँ स्वतः पीछे रह जातीं। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप में फूल उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिंताभिनिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती ही रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्था में प्रकट हो जाता। उसकी झलक से तीर्थंकर का सौंदर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तों का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उन परमशांति का अनुभव करने तीर्थंकर के दर्शन मे 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नही सकता था। फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो तो ग़लत क्या है। जगराम ने लिखा है—

**निरखि मन मूरति कैसी राजै।**
**तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै।**
**नासा अग्र दृष्टि कौं धारै, मुख मुलकित मा गाजै।**
**अनुभव रस झलकत मानौ, ऐसा आसन शुद्ध विराजै।**
**अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक में छाजै।**
**जाकी छबि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै।**
**धरि अनुराग विलोकत जाकों, अशुभ करम तजि भाजै।**
**जो जगराम बनै सुमिरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥३**

संसार के दुःखों से त्रस्त यह जीव शांति चाहता है। यहाँ शांति का अर्थ शाश्वत शांति से है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनों ही मे उसे शांति नहीं मिलती। अथवा वह सांसारिक वैभवों से उत्पन्न सुख-विलास को शांति नही मानता। राग चाहे सम्पत्ति से सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक से, सदैव दाहकारी ही होता है। मखमल

---

1. "अब हम नेमिजी की शरन।
   और ठौर न मन लगत है, छांडि प्रभु के शरन॥१॥
   सकल भवि-अघ-दहन वारिद, विरद तारन-तरन।
   इन्द्र चंद्र फनिन्द ध्यावैं, पाय सुख दुःख हरन॥२॥"
   द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पृ० २

2. अरहन्त सुमर मन बावरे !
   ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे।
   नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय भोग जु बढाव रे।
   प्राण गये पछितैहै मनवा, छिन-छिन छीजै आव रे।
   युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरग रथ चाव रे।
   यह संसार सुपन की माया, आख मीचि दिखराव रे।
   ध्याव-ध्याव रे अब है दावरे, नाही मगल गाव रे।
   द्यानत बहुत कहाँ लौं कहिये, फेर न कछू उपाव रे।
   द्यानत पद संग्रह, ७०वाँ पद, पृष्ठ २९-३०।

3. पद संग्रह नं० ४९२, पत्र ७९, बधीचन्द जी का मंदिर जयपुर।

और कमख्वाब के गद्दों पर पड़े लोगों को भी बेचैनी से तड़फते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन-जैसी जहरीली होती ही है। भूधरदास की यह पंक्ति "कहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान" देश-काल से परे एक चिरंतन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से संतप्त यह जीव भगवान की शरण में पहुँचता है और जो शांति मिलती है, वह मानो सुधाकर का बरसना ही है, चिंतामणिरत्न और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे आगे कल्पतरु लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओं के पूर्ण होने का अर्थ है कि सांसारिक रोग और संताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते हैं। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उसमे अनस्यूत शांति भी कभी घटती-बढ़ती नहीं। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शांतरस की प्रतीक है—

**प्रभु पायं लागौं करूं सेव थारी**
**तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।**
**घणौं कस्ट करि देव जिनराज पाम्यो**
**हूं सबं संसारनौं दुख वाम्यो।**
**जब श्री जिनराजनो रूप वरस्यो।**
**जबं लोचना सुष सुधाधार वरस्यौ॥**
**लह्या रतनचिंता नवनिधि पाई।**
**मानौं आगणं कलपतर आजि आयो।**
**मनवांछित दान जिनराज पायो।**
**गयो रोग संताप मोहि सरव त्यागी॥१**

संसार की परिवर्तनशील दशा के अंकन मे जैन कवि अनुपम है। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—क्षणिकता, विनश्वरता। संसार का यह स्वभाव है। अत यदि यहाँ संयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दुःख-संतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्म-मरण, सपत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख चिरसहचर है। संसार मे यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओं को भोगता हुआ चक्कर लगाता है। वह नट की भाँति नाना वेष और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी, 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल' शीर्षक पद में भली भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का संसार के चक्कर में फँसना और तज्जन्य सुख-दुःख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर में फँसा है, उसे नाचना पड़ेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझकर सहज रूप में उनसे उदासीन हो जावे तो वह ज्ञानी कहलाये और शांति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुख दुःखे समे कृत्वा' जैन-शासन में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

**जहाँ है संयोग तहाँ वियोग सही,**
**जहाँ है जनम तहाँ मरण कौ वास है।**
**संपति विपति दोऊ एकही भवनवासी**
**जहाँ बसं सुष तहाँ दुष को विलास है।**
**जगत में बार-बार फिरं नाना परकार,**
**करम अवस्था झूंठी थिरता की आस है।**
**नट कैसे भेष और रूप होंहि तातं**
**हरष न सोग ग्याता सहज उदास है॥२**

संसार मे आनेवाला यह जीव एक महार्घ तत्त्व से सम्बन्धित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमें परमात्म-शक्ति होती है। वह अपने आत्मप्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किंतु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे संसार मे नृत्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार भवन में 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल बीत जाता है। उसे सम्बोधन कर पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है— अहो जगत के राय! तुम क्षणिक इन्द्रिय-सुख में लगे हो, विषयों में लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नहीं। विषयों का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढ़ती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र ही होती है। तुम व्यर्थही इन दुखो को झेल रहे हो। अपने घर को क्यों नही सँभालते। अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना-पर भूल गये हो। तुम इस

१. देखिए गुटका नं० १३३, लेखनकाल वि०सं० १७७६, मदिर ठोलियान, जयपुर।

२. अनित्यपचाशत (पाण्डुलिपि), लेखनकाल वि० सं० १६५२, गुटका नं० ३५, लूणकरण जी का मंदिर, जयपुर।

संसार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण हो जाये कि वह स्वयं भगवान है तो संसार के सभी दुख स्वतः उपशम हो जायें—जहाँ के तहाँ पड़े रहें। संसार में जन्म लेने के साथ ही यह जीव विस्मरणशील मनोवेग साथ लाता है। कस्तूरीमृग को यह विदित नहीं रहता कि वह सुगन्धि उसकी नाभि में मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है। मन्दिर, मस्जिद और काबे में परमात्मा को ढूंढ़नेवाला यह जीव नही जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है। इसीलिए जीव अज्ञानी कहलाता है। इसीलिए वह सांसारिक आकुलताओं में व्याकुल बना रहता है। उसकी शांति का सबसे बड़ा उपाय है कि वह अपने को पहचाने। पाण्डे रूपचन्द्र ने लिखा है—

**अपनो पद न विचारहु, अहो जगत के राय।**
**भव वन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि बिसराय॥**
**भव-भव भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।**
**अब किन घरहिं संवारहु, कत सुख देखत वादि॥**
**परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहि गयो सुलभाय।**
**किंचित इन्द्रिय सुख लगे, बिषयन रहे लुभाय॥**
**विषयन सेवत हो भले, तृष्णा तो न बुझाय।**
**जिया जल खारो पीवतें, बाढ़े तिसअधिकाय॥१**

श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'परिवर्तन' में लिखा है, "मूंदनी नयन मृत्यु की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिशिर की सर्व प्रलयकर बात, बीज बोती अज्ञात।" उनका तात्पर्य है कि मौत मे जन्म और जन्म मे मौत छिपी है। यह ससार अस्थिर है। जीवन अमर नही है। संसार के सुख चिरन्तन कहीं हैं। श्री पंत जी की कविता का यह स्वर जैन 'टोन' है। यदि यह कहा जाय कि पत जी की अन्य कविताओं का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा से हू-बहू मिलता-जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी। जैन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे उन सवका अध्ययन होना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) मे एक जैन कवि पं० मनोहरदास हुए है। भावधारा की दृष्टि से उन्हें श्री पंत जी का पूर्व संस्करण ही कहा जा सकता है। उन्होने एक जगह लिखा है, "हे लाल! दिन-दिन आव घटती है, जैसे अंजली का जल शनैः शनैः रिस कर नितांत चू जाता है। ससार की कोई वस्तु स्थिर नही है, इसे मन में भली भाँति समझ ले। तूने अपना बालपन खेल में खो दिया। जवानी मस्ती मे बिता दी। इतने राग-रंगों में मस्त रहा कि वृद्धावस्था में शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लूँगा, तो वह तेरा अनुमान असत्य की छाया ही थी। तू संसार के उन पदार्थों में तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वे सेमर के फूल की तरह झूठे हैं। प्रातः के ओसकणों की भाँति शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पंक्तियाँ है—

**दिन दिन आव घटै है रे लाल,**
**ज्यों अंजली को नीर मन माँहि ला रे।**
**कीयो जाय ठोकर लै रे लाल,**
**थिरता नहीं संसार मन माँहि ला रे॥**
**बालपणा खोयो ख्याल मैरे लाल,**
**ज्वांणपणौं उनमान मन माँहि ला रे।**
**वृद्धपणो सकति घटी रे लाल,**
**करि करि नाना रंगि मन माँहि ला रे।**
**समकित स्यौं परच्यौ करौ रे लाल,**
**मिथ्या संगि निवारि मन माँहि ला रे।**
**ज्यौं सुष पावै अति घणा रे लाल,**
**मनोहर कहैय विचारि मन माँहि ला रे॥२**

भारतीय मन सदैव भक्ति-धारा से सिञ्चित होता रहा उसके जन्म-जन्म के सस्कार भक्ति के साँचे मे ढले हैं। हो सकता है कि उसकी विधायें विकृत दिशा की ओर मुड़ गई हों। किन्तु मूल में विराजी भक्ति किंचिन्मात्र भी इधर से उधर नही हुई, यह सच है। एक विलायत से लौटा भारतीय भी मन से भक्त ही होता है। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में डूबा वैज्ञानिक भगवान को निरस्त नहीं कर पाता। आधुनिकता के पैरोकार परमपिता का नाम लेते देखे गये हैं। वैदिक और श्रमण दोनो परम्परायें

१. देखिए पाण्डे रूपचन्द्र रचित परमार्थी दोहा शतक। यह 'रूपचन्द्र शतक' के नाम से जैन हितैषी, भाग ६, अंक ५-६ में प्रकाशित हो चुका है।

२. देखिए सुगुरुसीप, पं० मनोहरदास रचित, गुटका नं० ५४, वेष्टन न० २७२, जैन मंदिर, बड़ौत (मेरठ)।

भगवान के नाममें अमित बल स्वीकार करती हैं। सच्चे हृदय से लिया गया नाम कभी निष्फल नहीं जाता। उससे विपत्तियां दूर हो जाती हैं। बेचैन, व्याकुल और तड़फता मन शांति का अनुभव करता है यह केवल अतिशयोक्ति नहीं है कि गणिका, गज और अजामिल नाम लेने मात्र से तर गए थे। अवश्य ही उसने उनके हृदय में परम शांति को जन्म दिया होगा। परम शांति ही परम पद है—मोक्ष है, संसार से तिरना है। यह बात केवल तुलसी और सूर ने ही नहीं लिखी, जैन कवि भी पीछे नहीं रहे। महा कवि मनराम ने लिखा, "अर्हन्त के नाम से आठ कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं।"१ यशोविजय जी का कथन है, "अरे ओ चेतन! तू इस संसार के भ्रम में क्यों फँसा है। भगवान जिनेन्द्र के नाम का भजन कर। सद्-गुरु ने भी भगवान का नाम जपने की बात कही है।"२ द्यानतराय का अटूट विश्वास है, "रे मन! भज दीन-दयाल। जाके नाम लेत इक छिन में, कटै कोट अघ-जाल।"३ कवि विश्वभूषण की दृष्टि में इस बौरे जीव को सदैव जिनेन्द्र का नाम लेना चाहिए। यदि यह परम तत्त्व प्राप्त करना चाहता है, तो तन की ओर से उदासीन हो जाये। यदि ऐसा नहीं करेगा तो भव-समुद्र में गिर जायगा और उसे चहुँगति मे घूमना होगा। विश्वभूषण भगवान के पदपकज में इस भांति राँच गए है। जैसे कमलों में भौंरा—

**"जिन नाम लै रे बौरा, जिन नाम लै रे बौरा।**
**जो तू परम तत्त्व कौं चाहै तौ तन कौ लगै न जौरा॥**
**नातर कै भवदधि में परिहै भयो चहुँगति दौरा।**
**विसभूषण पदपंकज राच्यौ ज्यों कमलन बिच भौंरा॥४**

'भैया' भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में भगवद्नाम की महिमा का नानाप्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि और पारस के समान है। उससे इस जीव की इच्छायें भरती है। कामनायें पूर्ण होती हैं। चिंता दूर हो जाती है और दारिद्रय डर जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात् मृत्यु की आशंका नहीं रह पाती। यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ़ जाता है। मौत का भय ही दुख है। उसके दूर होने पर सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जो क्षीण नही होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते हैं। किंतु वीतरागताकी ओर बढ रहा है।"५ ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति विवेचन' में भी लगायी है।६ उनकी दृष्टि में हर कोई भगवान का नाम नही ले सकता। पहले उसमे नाम लेने की पात्रता चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नही उठती। उसके लिए एक जैन परिभाषिक शब्द है 'भव्य' उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की

१. "करमादिक अरिन कौ हरै अरिहंत नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।"
मनराम विलास, मनराम रचित, मन्दिर ठोलियान, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

२. 'जिनवर नामसार भज आतम, कहा भरम ससारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्द घन उपगारे॥"
आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन, आनन्दघन बहत्तरी, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

३. द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, ६६वाँ पद, पृ० २८।

४. पद संग्रह नं० ५८, दि० जैन मंदिर, बड़ौत, पन्ना ४८।

५ "तेरो नाम कल्प वृक्ष इच्छा को न राखे डर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तै जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुख मूल दुख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है॥"
सुपथ-कुपंथ पचीसिका, ब्रह्मविलास, भैय्या भगवतीदास, पृ० १८०।

६. "भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानी॥"
देखिये रामचरित मानस, ज्ञान भक्ति विवेचन।

ताकत। जिसमें वह नहीं उस पर भगवान की कृपा नहीं होती। भव्यत्त्व उपार्जित करना अनिवार्य है। यदि भगवान के नाम को कोई भव्य जीव लेता है तो उसके भवसागर तरने में कोई कमी नहीं रहती। इस भव्यत्त्व को वैष्णव और जैन दोनों ही कवियों ने स्वीकार किया।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवों को छोटा दिखाया जाये। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्मा, शिव, सनक, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करते है। तुलसी ने यहाँ तक लिखा है कि जो स्वय भीख माँगते है वे भक्तों की मनोकामनाओं को कैसे पूरा करेंगे। सूरदास ने अन्य देवों से भिक्षा माँगने को रसना का व्यर्थ प्रयास कहा।१ तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश है, उनकी शरण में जाना व्यर्थ है।२ तुलसी की दृष्टि में राम ही शील, शक्ति, और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता है। कृष्ण भी वैसे नहीं हो सकते। सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन में ही खपा-सा प्रतीत होता है जैन कवियो ने भी सिवा जिनन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नहीं माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिंदी भक्ति काव्य और कवि' मे भक्ति-धारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त कवियों ने यह काम आराध्य में एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'एकनिष्ठता' की ओट मे वैष्णव और जैन दोनो ही कड़वाहट नही रोक सके। दोनों ने शालीनता का उल्लंघन किया। फिर भी अपेक्षाकृत जैनकवि अधिक उदार रहे। उनमें अनेक ने तो पूर्ण उदारता-बरती। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि प्रभास पट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार मे सम्राट् कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था। हेमचन्द्र ने बिना तरतमांश के उस देव को नमस्कार किया, जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हों, फिर वह देव ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो। उनका एक श्लोक है—

**"भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥**
**यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।**
**वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते॥"**३

इसी भांति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियों की निन्दा न कर सका। उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगमता मे तारा, शैवागम में गौरी, कौलिक शासन मे वज्रा और सांख्यागम में प्रकृति कहलाती है। उनमें कोई अन्तर नहीं है। कोई छोटी-बड़ी नहीं है। कोई महान लघु नहीं है। सब समान है। सब की शक्तियाँ समान हैं। उस माँ भारती से समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है। जिसमें दूसरों के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया, वह सात्त्विकता की बात नहीं कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति क्षेत्र में भी पार्टीबन्दी की बात की वह भक्त नहीं और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नहीं हो सकता। उसका काम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियों की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए यदि ऐसी नहीं हुई तो वह भक्त के भावों को विकृति ही माननी पड़ेगी। किन्तु इस क्षेत्र में बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला, यह मिथ्या नहीं है। उपर्युक्त श्लोक है—

**"तारा त्वं सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।**
**वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥**
**गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे।**
**मातर्भारति! किं प्रभूत भणितं, व्याप्तं समस्तं त्वया॥"**४

---

१. "जाँचक पै जाँचक कह जाँचै।
जो जाँचै तो रसना हारी॥"
सूर सागर, प्रथम स्कंध, ३४वाँ पद, पृ० ३०।

२. "देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-विवस विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुन पौ हारे॥"
विनय पत्रिका, पूर्वार्ध, १०१वाँ पद, पृ० १९२।

३. आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', पहला अध्याय पृ० १२

४. पद्मावती स्तोत्र, २०वाँ श्लोक, भैरव पद्मावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृष्ठ २८।

यह पावनता जैन हिन्दी कवियों में भी पनपी। उनके काव्य में अपने आराध्य की महत्ता है। अन्य देवों की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमांश से ऊपर उठे है, या उन्हें बचाकर निकल गए हैं। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखंड सत्य था। अखंड सत्य वह है जो अविरोधी हो, अर्थात् उसमें किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श, जिसका दूसरे धर्मो से विरोध हो, अपने को अखण्ड सत्य नही कह सकते। वे खण्ड रूप से सत्य हो सकते हैं। आनन्दघन का ब्रह्म राम, रहीम, महादेव, ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमें आपस में कोई विरोध नहीं था। वे सब एक थे। न उनमें तरतमांश था और न उनके रूप में भेद था। महात्मा जी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामो से पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा मे विभिन्न कल्पनाओं के कारण अनेक नामों की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि से निज पद मे रमने वाला राम है रहम करने वाला रहमान है, कर्मो का कर्षण करने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है, ब्रह्म को पहचानने वाला ब्रह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—

**"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।**
**पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।**
**भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।**
**तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री।**
**निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।**
**कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।**
**परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।**
**इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥"१**

इस प्रकार की उदार परम्पराओं ने जैन काव्यो में शान्ता भक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ मे माया की बात भी आ जाती है। माया, मोह और शैतान पर्यायवाची है। संत, वैष्णव और जैन तीनों ही कवियों ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान का प्रतीक है। उसके कारण ही यह जीव संसार के आवागमन मे फंसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्म रूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। सांख्यकारिका में एक अत्यधिक मनोरंजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने मे निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो वह लज्जा से अपना बदन ढँक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह प्रकृति माया पलायन कर जाती है२। जैन सिद्धांत मे ज्ञान ही आत्मा है। यहाँ आत्मा का अर्थ है विशुद्ध आत्मा अर्थात् जब जीवात्मा मे विशुद्धता आती है तो मोह स्वतः ही हटता जाता है। जैन आचार्यो ने आठ कर्मों मे मोहनीय को प्रबलतम माना है। 'स्व' को सही रूप मे पहचानने मे वह ही सबसे बड़ा बाधक है। उसकी जड को निर्मूल करने में ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया वेली जेती तेती रेते में धारेती सेती, फंदा ही को कदा खोदे खेती को सो जोधा है।३ साख्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' में कही है। उन्होने लिखा कि काया रूपी नगरी में चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह माया रूपी रानी में मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया-सी जु नगरी मे चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।"४ कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पड़ी। उनका भेद पाना ज्ञान प्राप्त करना ही है।

---

१. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघन पद सग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, बम्बई, ६७वाँ पद।

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥" सांख्यकारिका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९९७, ६१वाँ श्लोक।

३. नाटक समयसार, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य।

४. शत अष्टोत्तरी, २८वाँ सवैया, ब्रह्मविलास, पृ० १४।

ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ संसारी जीव को पकड़े रहती है।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्बन्ध में रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका में लिखा है, "माधव अस तुम्हारी यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया१।" जैन कवि भूधरदास ने मोह-पिशाच को नष्ट करने के लिए 'भगवन्त-भजन' पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उन्होंने लिखा है। " मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निजकर कंध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर दो दुरमनि सिर धूला रे। भगवंत भजन क्यों भूला रे२।" कबीर की दृष्टि में माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीरने सतगुरु को गोविन्द से बड़ा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती। क्योंकि वह मीठी शक्कर की भांति शीरनी होती है३। जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा को महत्त्वपूर्ण समझा था। उन्होंने लिखा है कि जबतक कोई गुरु को नहीं पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है। जब पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते है। उनका मध्यान्तर मिट जाता है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया जन्य ही है४। भैया भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनों से मोह बिलीन होता है और आत्मरस प्राप्त होता है५। बनारसीदास ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह जन्य बेचैनी दूर होने का एक मात्र उपाय गुरु का आदेश है। यदि आत्मा 'अलख अखय निधि' लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सद्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है, "गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै। कहत बनारसि है करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै६।" इस घट में सुधा-सरोवर भरा है। जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं। उस सरोवर का पता लगना आवश्यक है। वह सतगुरु से लग सकता है। सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते है। उनपर मन केन्द्रित करना पडता है। कवि विनयविजय ने लिखा—

**"सुधा सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय।**
**विनय कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय॥**
**प्यारे काहे कूं ललचाय॥"७**

आत्मरस ही सच्ची शांति है। वही अलख अखयनिधि है। वह अनुभूति के बिना नहीं होता। ब्रह्म की, भगवानकी या परमात्माकी अनुभूतिही आत्मरस है। अनुभूतिके बिना लाखों-करोड़ों भवों में जप-तप भी निरर्थक हैं। एक स्वांस की अनुभूति जितना काम करती है। भव-भव की तपस्या और साधना नहीं। द्यानतरायने लिखा है, "लाख कोटि भव तपस्या करतै, जितो कर्म तेरो जर रे। स्वास उस्वास माहिं सो नासै जब अनुभव चित धर रे॥"८ बनारसीदास ने अनुभूति को अनुभव कहा है। उसका आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि के समान है। उसका स्वाद पंचामृत भोजन-जैसा है९। कवि रूपचन्द ने 'अध्यात्मसवैया' में स्वीकार

१. विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वां पद।

२. भूधरविलास, कलकत्ता, १६ वां पद, पृ० ११

३. कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तो करती भांड।"
माया कौ अंग, ७ वीं सारवी, कबीर ग्रन्थावली, काशी चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।

४. "जब लगि गुरु कौ लहा न चीन्हा।
कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जित जीवन सब सोई॥"
देखिए जायसी कृत पद्मावत।

५. सतगुरु वचन धारिले अबके, जातें मोह विलाय।
तब प्रगटै आतमरस भैया, सो निश्चय ठहराय॥"
भैया भगवतीदास, परमार्थपदपंक्ति, २५ वां पद
ब्रह्मविलास, पृ० ११८।

६. बनारसीदास, अष्टपदीमल्हार, ८ वां पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३९।

७. विनयविजय, 'प्यारे काहे कूं ललचाय' शीर्षक पद, अध्यात्मपदावली, काशी, पृ० २२१।

८. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वां पृ० ३१।

९. बनारसीदास, नाटकसमयसार, बम्बई, १९ वां पद्य, पृ० १७-१८।

किया है, "आत्म ब्रह्म की अनुभूति से यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमें अनन्तज्ञान प्रकट होता है और यह अपने आप में ही लीन होकर परमानन्दका अनुभव करता है१।" आत्मा के अनूपरस का संवेदनकरने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिससे बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अनुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूतिसे प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुखको विलसने में समर्थ हो जाता है। पं० दीपचन्द शाह ने ज्ञान-दर्पण में लिखा है, "अनुभौ विलास में अनंत सुख पाइयतु। भव की विकारता की भई है उछेदना।।" उन्होंने एक दूसरे स्थान पर लिखा, " अनुभौ उल्हास में अनंतरस पायौ महा।।" यह अखण्ड रस और कुछ नहीं साक्षात् ब्रह्म ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ब्रह्म ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाती है। अनुभव से संसार का आवागमन मिटता है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, कोटिक जुगातर जो महातप कीने हैं। अनुभौ अखण्डरस उरमें न आयौ जो तो, सिव-पद पावै नाहिं पररस भीने हैं२।" किन्तु यह महत्त्वशाली तत्त्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। महात्मा आनन्दघन का कथन है, "मोकौ दे निज अनुभव स्वामी- निज अनुभूति निवास स्वधामी३।" इस अनुभूति से जो संयुक्त है वही अनंत गुणातम धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही भगवान नाम भी दुख हरण करने वाला और अतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन है कि प्रभु के समान और कोई नटवा नही है। उसमे से हेयोपादेय प्रकट होते हैं। अनुभव रसका देनेवाला इष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और सब कष्टों से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्र की भ्रांति को हर सकती है। वही सूर्य की किरण की भांति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काट कर दिन के प्रकाश को जन्म देती। वह मोहासुर के लिए काल-रूपा है—

**"या अनुभूति रावरी हरै चित्त की भ्रान्ति।**
**सा शुद्धा तुव भानु की किरण जु परम प्रशान्ति।।**
**किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु कौं नासै।**
**माया यामिनि मेटि बोध दिवसैं जु विभासै।।**
**मोहासुर सयकार ज्ञानमूला जु विभूती।**
**भाखै दौलति ताहि रावरी या अनुभूती।।"४**

जैन कवियों के प्रबन्ध और खण्ड काव्यों में 'शान्त-रस' प्रमुख है। अन्य रसों का भी यथा-प्रसंग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु वे सब इसके सहायक भर हैं। जिस प्रकार अवान्तर कथायें मुख्य कथा को परिपुष्ट करती है उसी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ़ करते हैं। एक प्रबन्ध काव्य में मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसों की उससे कम नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओं को रस की पिचकारियां कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते है। वे अवान्तर कथाओं और प्रासंगिक घटनाओं के संघटन में सन्निहित होते हैं और वहां ही काम करते है। एक महानद के जल प्रवाह में सहायक नदियों के जल का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, वैसे ही मुख्य रस की गति भी अन्य रसो से परिपुष्ट होती हुयी ही वेगवती बनती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुख्य रस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नही। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और बलवान होता है किन्तु उसके अन्तरंग में मुख्य रस का स्वर सदैव हलके सितार की भांति प्रति-ध्वनित होता ही रहता है। एक प्रबन्ध काव्य में घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसंग होते हैं, जिनमें मानव-जीवन के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति रहती है किन्तु उनके जीवन में मुख्य रस एक प्राण तत्त्व की भांति भिदा रहता है और उनमें मानव की मूल मनोवृत्तियों को खुला खेलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्य रस और मुख्य कथा भी होती है। दोनों में कोई विरोध नही होता। दोनों दूध-पानी की भाँति मिले रहते हैं। अतः जैन काव्यों के

१. रूपचन्द्र, अध्यात्मसवैया, मन्दिर बधीचंद्र जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

२. दीपचदशाह, ज्ञानदर्पण, तीनों उदाहरण-क्रमश. पद्य न० १८१, १७५, १२६, संकलित अध्यात्म पचसंग्रह, प० नाथूलाल जैन सम्पादित, तुकोगंज, इन्दौर- वि० सं० २००५, पृ० ६१,५६, ४४ क्रमश.।

३. महात्मा आनन्दघन, आ० पद सग्रह बम्बई २१वा पद।

४. पं० दौलतराम, अध्यात्मबारहखड़ी, दि० जैन पचायती, मन्दिर, बड़ौत, ११८वां, पद्य।

विषय में डा० शिवप्रसादसिंह का यह कथन, "जैन काव्यों में शांति या शम की प्रधानता है अवश्य किंतु वह प्रारम्भ नहीं परिणति है। सम्भवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है।"१ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अन्य काव्यों की भांति ही जैन काव्य हैं। इसमें भी एक मुख्य रस और अन्य रस रहते हैं। केवल शम को मुख्य रस मान लेने से प्रकृति का विरोध है, शृङ्गार या वीर को मानने से नहीं। यह एक विचित्र तर्क है, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महा काव्य शांति के प्रतीक हैं। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओं को दबा दिया गया है या छोड़ दिया गया है और इस प्रकार वहां अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहां तक जैन अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों का सम्बन्ध है, उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महापुराण' वीर कवि का 'जम्बूस्वामी चरिउ' और हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैली में तथा धनपाल धक्कड़ की 'भविसयत्तकहा', पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ और नयनंदि का 'सुदमणचरिउ' रोमांचिक शैली में लिखे गये हैं। हिन्दी के जैन प्रबन्ध काव्यों में पौराणिक और रोमाचिक शैली का समन्वय हुआ है। सधारु का 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वरसूरि का 'ललितांगचरित्र', ब्रह्मरायमल्ल का 'सुदर्शनरास', कवि परिमल्ल का 'श्री पालचरित्र', मालकवि का 'भोजप्रबन्ध', लालचन्द लब्धोदय का पद्मिनीचरित्र', रायचन्द्र का 'सीताचरित्र' और भूधरदास का 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही प्रबन्ध काव्य है२। इनमें 'पद्मिनीचरित्र, की जायसी के 'पद्मावत' से और 'सीताचरित' की तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है३।

स्वम्भू के 'पउमचरिउ' की, महापण्डित' राहुल सांकृत्यायन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी बाबा का रामचरित मानस, 'पउमचरिउ' से प्रभावित है४। पुष्पदन्त के महापुराण का डा० पी० एल० वैद्य ने सम्पादन किया है। इनकी मान्यता है कि महाकाव्यों में वह एक उत्तम कोटि का ग्रन्थ है। 'भविसयत्तकहा' की खोज का श्रेय जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जेकोबी को है। उन्होंने अपनी भारत यात्रा के समय इस काव्य को अहमदाबाद से सन् १९१४ में प्राप्त किया था। यह सबसे पहले श्री सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादन में गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ। जैकोबी ने भाषा की दृष्टि से और दलाल ने काव्यत्व की दृष्टि से इसे समूचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनित्स ने लिखा है कि इसकी कथा में थोड़े में अधिक कहने का गुण कूट कूट भरा है। कार्यान्विति आदि से अन्त तक बराबर बनी हुई है५। णायकुमारचरिउ की भूमिका में डा० हीरालाल जैन ने उसे उत्तमकोटि का प्रबन्ध काव्य प्रमाणित किया है।६ सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के प्रकाशन में डा० माताप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्जवल तथा मूल्यवान रत्न माना है।७ भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध पं० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौदर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है। लालचन्द्र लब्धोदय के

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, विद्यापति, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीयसंस्करण, सन् १९६१ ई०, पृ० ११० ।

२. इनका विशद परिचय मेरे ग्रंथ 'हिंदी जैन भक्ति काव्य और कवि', अध्याय २, से प्राप्त किया जा सकता है।

३. पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख मेरे उपर्युक्त ग्रंथ में क्रमश: पृ० २२५ व २३१ पर हुआ है।

४. महापण्डित राहुलसांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, प्रथमसंस्करण, १९४५ ई० किताबमहल, इलाहाबाद पृ० ५२।

५. एम० विण्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, १९३३ ई०, खण्ड २, पृ० ५३२।

६. देखिए णायकुमारचरित्र, भूमिका भाग, डा० हीरालाल जैन लिखित।

७. सधारु, प्रद्युम्नचरित, पं० चैनसुखदास संपादित, महावीरभवन, सवाईमानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

पद्मिनीचरित्र और रायचन्द्र के सीताचरित्र को पाण्डु-लिपियों के रूप में मैंने पढ़ा है और मैं उन्हें इस युग के किसी प्रबन्ध काव्य से निम्नकोटि का नहीं मानता। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिंदी के नेमिनाथ राजुल से सम्बधित खण्डकाव्य हैं। उनका काव्य सौंदर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रंथ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' में यथा स्थान उनका विवेचन किया है।

इन विविध काव्यों में युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है, प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। संवाद-सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा में लोच और भावों में अनु-भूति की गहराई है। कहीं छिछलापन नहीं, कहीं उद्दाम वासनाओं का नग्न नृत्य नहीं। केवल शांत रस के प्रमुख रस होने से क्या हुआ। प्रबन्ध काव्य में कोई न कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठ भूमि में समूचा मानव जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबंध काव्यों की मूलविधा के जानकारों से छिपा नहीं है। प्रबंध काव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शांत रस का सुनिर्वाह जैन काव्यों की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिप्रेक्ष्य में ही ठीक से समझी जा सकती है। ऐसा होने पर ही उसका आकलन भी ठीक हो सकता है।

---

४. पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, जनवरी १६१७ पृ० ५६।

# उपदेशक पद

## *राग ख्याल*

### कविवर भूधरदास

मन मूरख पंथी, उस मारग मति जाय रे ॥ टेक ॥
कामिनि तन कांतार जहां है, कुच परवत दुखदाय रे ॥ मन मूरख०
काम किरात बसै तिहि थानक, सरवस लेत छिनाय रे।
खाय खता कीचक से बैठे, अरु रावन से राय रे ॥ मन मूरख०
और अनेक लुटे इस पेड़ें, वरनै कौन बढ़ाय रे।
वरजत हों वरज्यो रह भाई, जानि दगा मति खाय रे ॥ मन मूरख०
सुगुरु दयाल दया करि भूधर, सीख कहत समझाय रे।
आगैं जो भावे करि सोई, दीनी बात जताय रे ॥ मन मूरख०

# यशस्तिलक में वर्णित वर्ण व्यवस्था और समाज गठन

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन आचार्य, एम० ए० पी-एच० डी०

यशस्तिलक कालीन भारतीय समाज छोटे-छोटे अनेक वर्गों में बटा हुआ था। आदर्श रूप में उन दिनों भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक मान्यताएं प्रचलित थी। यशस्तिलक से इस प्रकार की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। विभिन्न प्रसंगों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों तथा अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक सामाजिक व्यक्तियों के उल्लेख आये है। सोमदेव ने एकाधिकबार वर्ण शुद्धि के विषय में भी सूचनाए दी है। (पृ० १६, २०८, १८३ उत्त०)

वर्णाश्रम व्यवस्था की वैदिक मान्यताओं का प्रभाव सामाजिक जीवन के रग-रग में इस प्रकार बैठ गया था कि इस व्यवस्था का घोर विरोध करने वाले जैनधर्म के अनुयायी भी इसके प्रभाव से न बच सके। दक्षिण भारत में यह प्रभाव सबसे अधिक पड़ा, इसका साक्षी वहाँ उत्पन्न होने वाले जैनाचार्यो का साहित्य है। सोमदेव के पूर्व नवीं शताब्दि में ही आचार्य जिनसेन ने उन सभी वैदिक नियमोपनियमों का जैनीकरण करके उन पर जैनधर्म की छाप लगा दी थी, जिन्हें वैदिक प्रभाव के कारण जैन समाज भी मानने लगा था। जिनसेन के करीब सौ वर्ष बाद सोमदेव हुए। वे यदि विरोध करते तो भी सामाजिक जीवन में से उन मान्यताओं का पृथक् करना सम्भव न था, इसलिए यशस्तिलक में उन्होंने जैन चिन्तकों के सामने सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित किया है—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः
> जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधाः।
> श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः॥

गृहस्थों के दो धर्म हैं—एक लौकिक दूसरा पारलौकिक लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक आगमाश्रित। जातियां अनादि तथा उनकी क्रियाए भी अनादि हैं, इसलिए इस विषय में श्रुति (वेद) और शास्त्रान्तर (स्मृति आदि) को प्रमाण मान लेने में हमारी क्या हानि है।

इस प्रसंग में आये श्रुति और शास्त्र शब्द को अन्यथा न समझा जाए, इस लिए स्वयं सोमदेव ने उक्त दोनों शब्दों को स्पष्ट कर दिया है।

> श्रुति वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता। (पृ० २७८)

श्रुति वेद को कहते हैं और धर्मशास्त्र स्मृति को।

उपर्युक्त प्रश्न को प्रस्तुत करने के बाद सोमदेव ने अपना निर्णय निम्न लिखित शब्दों में दे दिया है—

> सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥ पृ० ३७३

जिस विधि से सम्यक्त्व की हानि न हो तथा व्रत में दूषण न लगे, ऐसी प्रत्येक लौकिक विधि जैनों के लिए प्रमाण है।

इस पृष्टभूमि पर विकसित होने वाला सोमदेव का चिन्तन उनके दूसरे ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत में अधिक स्पष्ट रूप से सामने आया है। उनके त्रयी समुद्देश में किया गया वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी वर्णन स्मृति प्रतिपादित तत् तत् विषयों का सूत्रीकरण मात्र है। ब्राह्मण आदि चार वर्ण, उनके अलग-अलग कार्य सामाजिक और धार्मिक अधिकार आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है[1]।

जैन सिद्धान्तों के साथ वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर समाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले मन्तव्यों का किसी भी तरह सामंजस्य नहीं बैठता। सोमदेव स्वयं सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान थे। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा किया गया यह वर्णन सिद्धान्तों में अन्तः विरोध उपस्थित करता हुआ प्रतीत होता है।

---

१. तुलना—नीतिवाक्यामृत त्रयी समुद्देश।
मनुस्मृति अध्याय १०

सोमदेव के पूर्वकालीन साहित्य को देखने से पता चलता है कि जैन चिन्तक बहुत पहले से ही सामाजिक वातावरण और वैदिक साहित्य से प्रभावित हो चले थे, उसी प्रभाव में आकर उन्होंने अनेक वैदिक मन्तव्यों को जैन सांचे में ढालने का प्रयत्न किया। यहां तक की बाद के अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों तक पर यह प्रभाव स्पष्ट परलक्षित होता है।

मूल में जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। सिद्धान्त ग्रन्थों के वर्ण और जाति शब्द नाम कर्म के प्रभेदों में आए हैं। वहां वर्ण शब्द का अर्थ रंग है, जिसके कृष्ण, नील आदि पाँच भेद हैं। प्रत्येक जीव के शरीर का वर्ण (रंग) उसके वर्ण-नामकर्म के अनुसार बनता है।२ इसी तरह जाति नामकर्म के भी पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय। संसार के सभी जीव इन पाँच जातियों में विभक्त है। जिसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसकी एकेन्द्रिय जाति होगी। मनुष्य के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, इसलिए उसकी जाति पंचेन्द्रिय है। पशु के भी पाँचों इन्द्रियाँ हैं, इसलिए उसकी भी पचेन्द्रिय जाति है३। इस तरह जब जाति की दृष्टि से मनुष्य और पशु में भी भेद नहीं तब वह मनुष्य—मनुष्य का भेदक तत्त्व कैसे माना जा सकता है? वर्ण (रंग) की अपेक्षा अन्तर हो सकता है, किन्तु वह ऊँच-नीच तथा स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना पैदा नहीं करता।

गोत्र कर्म के उच्च गोत्र और नीच गोत्र दो भेद भी आत्मा की आभ्यान्तर शक्ति की अपेक्षा किए गए है४। ये वर्ण, जाति और गोत्र धर्म धारण करने मे किसी भी प्रकार की रुकावट पैदा नही करते। प्रत्येक पर्याप्तक भव्य जीव चौदहवें गुणस्थान तक पहुच सकता है५। पाँचवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान मुनि के ही हो सकते है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि कोई भी मनुष्य चाह वह लोक में शूद्र कहलाता हो या ब्राह्मण, स्वेच्छा से धर्म धारण कर सकता है।

सैद्धान्तिक ग्रंथों में सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी मन्तव्यों का वर्णन नही है। पौराणिक अनुश्रुति भी चतुर्वर्ण को सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं मानती।

अनुश्रुति के अनुसार सभ्यता के आदि युग मे, जिसे शास्त्रीय भाषा में कर्म-भूमि का प्रारम्भ कहा जाता है, ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य का उपदेश दिया। उसी आधार पर सामाजिक व्यवस्था बनी६। लोगों ने स्वेच्छा से कृषि आदि कार्य स्वीकृत कर लिये। कोई कार्य छोटा बड़ा नहीं समझा गया। इसी तरह कोई भी कार्य धर्म धारण करने में रुकावट नहीं माना गया।

बाद के साहित्य में यह अनुश्रुति तो सुरक्षित रही, किन्तु उसके साथ में वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध जोडा जाने लगा। नवमीं शती में आकर जिनसेन ने अनेक वैदिक मन्तव्यों पर भी जैन छाप लगा दी।

जटासिंह नन्दि (७वी शती, अनुमानित) ने चतुर्वर्ण की लौकिक और श्रौतस्मार्त मान्यताओं का विस्तार पूर्वक खण्डन करके लिखा है कि—कृतयुग में तो वर्ण भेद था नहीं, त्रेतायुग मे स्वामी-सेवक भाव आ चला था। इन दोनों युगो की अपेक्षा द्वापर युग मे निकृष्ट भाव होने लगे और मानव समूह नाना वर्णों में विभक्त हो गया। कलियुग मे तो स्थिति और भी बदतर हो गई। शिष्ट लोगो ने क्रिया विशेष का ध्यान रख कर व्यवहार चलाने के लिये दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प के आधार पर चार वर्ण कहे है अन्यथा वर्ण-चतुष्टय बनता ही नहीं७।

रविषेणाचार्य (६७६ ई०) ने पूर्वोक्त अनुश्रुति तो सुरक्षित रखी, किन्तु उसके साथ वर्णों का सम्बन्ध जोड़ दिया। उन्होंने लिखा है कि—ऋषभदेव ने जिन व्यक्तियों को रक्षा के कार्य में नियुक्त किया वे लोक में क्षत्रिय कहलाये, जिन्हें वाणिज्य, कृषि, गोरक्षा आदि व्यापारों मे नियुक्त किया वे वैश्य तथा जो शास्त्रों से दूर भागे और हीन काम करने लगे वे शूद्र कहलाये८।

---

२. कर्मविपाकनामप्रथमकर्मग्रन्थः गाथा ३६
३. वही, गाथा ३२
४. कषायप्राभृत अध्ययन १, सूत्र ८
५. वही, अध्याय १० सूत्र ८

६. स्वयम्भू-स्तोत्र, आदिनाथ स्तुति, श्लोक २,
७. वरांगचरित २५।६-११
८. पद्मपुराण, पर्व ३, श्लोक २५५-५८

ब्राह्मण वर्ण के विषय में एक लम्बा प्रसंग आया है। जिसका तात्पर्य है कि ऋषभदेव ने यह वर्ण नहीं बनाया, किन्तु उनके पुत्र भरत ने व्रती श्रावकों का जो एक अलग वर्ग बनाया वही बाद में ब्राह्मण कहलाने लगा९।

हरिवंश पुराण में जिनसेन सूरि (७८३ ई०) ने रविषेणाचार्य के कथन को ही दूसरे शब्दो मे दुहराया१०।

इस प्रकार कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन करते रहने के बाद भी उसके साथ चतुर्वर्ण का सम्बन्ध जुड गया और उसके प्रतिफल सामाजिक जीवन और श्रौत-स्मार्त मान्यताए जैन समाज और जैन चिन्तको को प्रभावित करती गई। एक शताब्दी बीतते-बीतते यह प्रभाव जैन जन-मानस में इस तरह बैठ गया कि नवमी शती मे जिनसेन ने उन सब मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया और उन पर जैनधर्म की छाप लगा दी। महापुराण मे पूर्वोक्त अनुश्रुति को सुरक्षित रखने के बादभी स्मृति ग्रथो की तरह चारो वर्णो के पृथक्-पृथक कार्य, उनके सामाजिक और धार्मिक अधिकार, ५३ गर्भान्वय, ४८ दीक्षान्वय और ८ कर्त्रन्वय क्रियाओ एव उपनयन आदि संस्कारों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है११।

जिनसेन पर श्रौतस्मार्त प्रभाव की चरमसीमा वहा दिखाई देती है, जब वे इस कथन का जैनीकरण करने लगते है कि "ब्रह्मा के मुह से ब्राह्मण, बाहुओ से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पैरो से शूद्रो की उत्पत्ति हुई।" वे लिखते है कि ऋषभदेव ने अपनी भुजाओं में शस्त्र धारण करके क्षत्रिय बनाये, उरु द्वारा यात्रा का प्रदर्शन करके वैश्यो की रचना की तथा हीन काम करने वाले शूद्रो को पैरो से बनाया। मुख से शास्त्रों का अध्यापन कराते हुए भरत ब्राह्मण वर्ण की रचना करेगा१२।

एक तरफ समाज में श्रौतस्मार्त प्रभाव स्वयं बढ़ता जा रहा था दूसरे उस पर जैनधर्म की छाप लग जाने से और भी दृढ़ता आ गई।

जिनसेन के करीब एक शती बाद सोमदेव हुए। वे जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ साथ प्रसिद्ध सामाजिक नेता भी थे। उनके सामने यह समस्या थी कि जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त, सामाजिक वातावरण तथा जिनसेन द्वारा तिपादित मन्तव्यों का सामंजस्य कैसे बैठे ? वे यह जानते थे कि जिनसेन द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों का जैन चिन्तन के साथ कोई मेल नहीं बैठता। किन्तु जन-मानस मे बैठे हुए संस्कारों को बदलना और एक प्राचीन आचार्य का विरोध करना सरल काम नहीं था। सोमदेव जैसे जन नेता के लिए यह अभीष्ट भी न था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने यह चिन्तन दिया कि गृहस्थों के दो धर्म मान लिए जाएं—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म के लिए वेद और स्मृति को प्रमाण मान लिया जाए और पारलौकिक धर्म के लिए आगमों को।

सोमदेव के ये मन्तव्य ऊपर से देखने पर जैन-चिन्तन के बिलकुल विपरीत लगते है, क्योंकि एक तो वेद और स्मृतियों की विचारधारा जैन चिन्तन के साथ मेल नहीं खाती। दूसरे जैनागमों में गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म, ये दो भेद तो आते हैं१३। किन्तु गृहस्थों के लौकिक और पारलौकिक दो धर्मों का वर्णन यशस्तिलक के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हुआ।

अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि क्या सोमदेव जैसा निर्भीक शास्त्रवेत्ता लौकिक और वैदिक प्रवाह में बह कर जैनधर्म के साथ इतना बड़ा अन्याय कर सकता है ? यशस्तिलक के अन्त परिशीलन मे ज्ञात होता है कि सोमदेव ने जो चिन्तन दिया, उसका शाश्वत मूल्य है तथा जैन चिन्तन के साथ उसका किंचित् भी विरोध नही आता।

---

९. वही, पर्व ४, श्लोक ९९–१२२

१०. हरिवंशपुराण, सर्ग ९, श्लोक ३३–४०
सर्ग ११, श्लोक १०३–१०७

११. महापुराण, पर्व १६, श्लोक १७९–१९१, २४३-२५०

१२. तुलना—महापुराण, पर्व १६, श्लोक ३४३–३४६
ऋग्वेद, पुरुषसूक्त १०, ९०, १२

महाभारत, अध्याय २९६, श्लोक ५–६।
पूना १९२२ ई०
मनुस्मृति, अध्याय १, श्लोक ३१, बनारस १९३५ ई०

१३. चारित्रप्राभृत, गाथा २०

सोमदेव ने यशस्तिलक में अनेक वैदिक मान्यताओं का विस्तार के साथ खण्डन किया है[१४]। इसलिए यह कहना नितान्त असंगत होगा कि वे वेद और स्मृति को प्रमाण मानते थे।

गृहस्थों के दो धर्म व्रती और अव्रती सम्यग्दृष्टि के द्योतक हैं। अव्रती सम्यग्दृष्टि का चौथा गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व तो होता है, किन्तु चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण कषाय आदि प्रकृतियों के उदय होने से संयम बिलकुल भी नहीं होता। यहाँ तक कि वह इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं होता[१५]। सोमदेव द्वारा प्रतिपादित लौकिक धर्म को प्रमाण मानने वाला गृहस्थ जैन दृष्टि से इसी गुणस्थान के अन्तर्गत आता है।

पारलौकिक धर्म को स्वीकार करने वाले गृहस्थ के लिए सोमदेव ने स्पष्ट रूप से केवल आगमाश्रित विधि को ही प्रमाण बताया है। यह गृहस्थ सैद्धांतिक दृष्टि से पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती सम्यग्दृष्टि माना जाएगा। यहाँ दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व विरोधी प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के साथ चारित्रमोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरण कषायों का भी उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने से जीव देश-संयम का पालन करने लगता है[१६]। इस गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि केवल उसी लौकिक विधि को प्रमाण मानता है जिसके मानने से उसके सम्यक्त्व की हानि न हो तथा व्रत में दोष न लगे। सोमदेव ने भी इस बात को कहा है, जिसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं।

इस तरह सोमदेव ने जिस कुशलता के साथ उस युग के सामाजिक जीवन में प्रचलित मान्यताओं के साथ जैन चिन्तन के मौलिक सिद्धान्तों का निर्वाह किया, उसका शाश्वत मूल्य है। जिनसेन की तरह सोमदेव ने वैदिक मन्तव्यों को जैन साँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं किया; प्रत्युत उन्हें वैदिक ही बताया। सामाजिक निर्वाह के लिए यदि कोई उन्हें स्वीकृत करता है तो करे, किन्तु इतने मात्र से वे जैन मंतव्य नहीं हो जाते।

सोमदेव के चिन्तन की यह स्पष्ट फलश्रुति है कि समाजिक जीवन के लिए किन्हीं प्रचलित लौकिक मूल्यों को स्वीकृत कर लिया जाये, किन्तु उनको मूल चिन्तन के साथ सम्बद्ध करके सिद्धांतों की हानि नहीं करनी चाहिए। सामाजिक मूल्य परिवर्तनशील होते हैं। देश, काल और क्षेत्र के अनुसार उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। यह भी निश्चित है कि सैद्धांतिक चिन्तन व्यवहार की कसौटी पर सर्वदा पूर्णरूपेण सही नहीं उतरता, किंतु इतने मात्र से मूल सिद्धांतों में परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

## चतुर्वर्ण

**ब्राह्मण :** यशस्तिलक में ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण (११६-११८, १२६, उत्त०), द्विज (९०, १०५, १०८, १०४, उत्त०, ४५७ पू०), विप्र (४५७, पू०), भूदेव (८८, उत्त०) श्रोत्रिय (१०३ उ०) वाडव (१३५ उत्त०), उपाध्याय (१३१, उत्त०), मौहूर्तिक) ? (३१६, पू०, १४०, उत्त०), देवभोगी (१४०, उत्त०) तथा पुरोहित (३१६. पू०, ३४५ उत्त०) शब्द आए है। एक स्थान पर (२१०) त्रिवेदी ब्राह्मण का भी उल्लेख है। उन दिनों समाज में ब्राह्मणों की खूब प्रतिष्ठा थी : राजा भी इस बात में गौरव अनुभव करता कि ब्राह्मणों में उसकी मान्यता है[१७]। पितृतर्पण आदि सामाजिक क्रिया-काण्डों में भी ब्राह्मण ही आगे रहता था[३]। श्राद्ध के लिए ब्राह्मणों को घर बुलाकर भोजन कराया जाता था[१८]। विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की प्रथा थी[१९]। श्राद्ध तथा मृत्यु के

---

१४. यशस्तिलक उत्तरार्ध, अध्याय ४

१५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २५-२६-२९

१६. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०

१७. त्रिवेदीवेदिभिर्मान्यः, पृ० २१०

१८. पितृसंतर्पणार्थं द्विजसमाजसत्रसवतीकाराय समर्पमा-मास, पृ० २१८ उत्त०

१९. भुक्ता च श्राद्धामन्त्रितैर्भूदेवैः, पृ० ८८

की अन्य क्रियाएं कराने वाले२० । ब्राह्मणों के लिए भूदेव शब्द आया है२१ । सम्भवतः श्रोत्रिय ब्राह्मण आचार की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे, किन्तु उनमें भी मादक द्रव्यों का उपयोग होने लगा था २२ । बलि आदि कार्य के विषय में पूरी जानकारी रखने वाले, वेदों के जानकार ब्राह्मणों को वाडव कहते थे२३ । दशकुमार चरित मे भी ब्राह्मण के लिए वाडव शब्द का प्रयोग हुआ है२४ । अध्यापन कार्य कराने वाले ब्राह्मण उपाध्याय कहलाते थे२५ । शुभ मुहूर्त का शोधन करने वाले ब्राह्मण मौहूर्तिक कहे जाते थे२६ । मुहूर्त शोधन का कार्य करते समय वे उत्तरीय से अपना मुँह ढंक लेते थे२७ । मन्दिर मे पूजा के लिए नियुक्त ब्राह्मण देवभोगी कहलाता था२८ । राज्य के मांगलिक कार्यों के लिए नियुक्त प्रधान ब्राह्मण पुरोहित कहलाता था२९ । यह प्रातःकाल ही राज्य भवन मे पहुँच जाता था ।

ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण और द्विज बहुत प्रचलित शब्द थे । विप्र श्रोत्रिय, वाडव, देवभोगी तथा त्रिवेदी का यशस्तिलक में केवल एक बार उल्लेख हुआ है । मौहूर्तिक तथा भूदेव का दो दो बार तथा पुरोहित का चार बार उल्लेख हुआ है :

**क्षत्रिय :** क्षत्रिय वर्ण के लिए क्षत्र और क्षत्रिय दो शब्दों का व्यवहार हुआ है । प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म माना जाता था३० । पौरुष सापेक्ष कार्य तथा राज्य संचालन क्षत्रियोचित कार्य माने जाते थे । सम्राट् यशोधर को अहिच्छेत्र के क्षत्रियों का शिरोमणि कहा गया है३१ । पामरोदार नामक एक प्रान्तीय शासक क्षत्रिय नहीं था, इस कारण उसे शासन करने के अयोग्य माना गया३२ । कलिंग में नाई को सेनापति बनाने के कारण असन्तुष्ट प्रजा ने राजा को मार डाला३३ ।

**वैश्य :** व्यापारी वर्ग के लिए यशस्तिलक में वैश्य, वणिक, श्रेष्ठी और सार्थवाह शब्द आए हैं । व्यापारी वर्ग राज्य में व्यापार करने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विदेशों से भी सम्बन्ध रखते थे । सुवर्ण द्वीप जा कर अपार धन कमाने वाले व्यापारियों का उल्लेख आया है३४ ।

कुशल व्यापारी को राज्य की ओर से राज्यश्रेष्ठी पद दिया जाता था३५ । उसे विशांपति भी कहते थे३६ ।

**शूद्र :** शूद्र अथवा छोटी जातियों के लिए यशस्तिलक में शूद्र, अन्त्यज तथा पामर शब्द आए हैं । अन्त्यजों का स्पर्श वर्जनीय माना जाता था३७ । पामरों की सन्तान उच्च कार्य के योग्य नही मानी जाती थी । पामरोदार नामक राजा की माता पामर थी, इसलिए उसे राज्य करने के अयोग्य माना गया३८ ।

**अन्य सामाजिक व्यक्ति**

सामाजिक कार्य करने वाले अन्य व्यक्तियों में निम्नलिखित उल्लेख आए है ।

२०. ददाति दानं द्विजपुङ्गवेभ्यः, ४५७
२१. श्राद्धामन्त्रितैः भूदेवैः, ८८ पू०, कार्यान्तामनयोर्भूदेव-संदोहसाक्षिणी—क्रियाः, पृ० १९२ उत्त०
२२. अशुचिनि मदनद्रव्येनिपात्यते श्रोत्रियो यद्वत्, पृ० १०३, उत्त०
२३. वेदविद्भिर्वाडवैः, पृ० १३५, उत्त०
२४. वाडवाय प्रचुरतरं धनं दत्वा, दशकुमार० ११५
२५. अध्यापयन्नुपाध्यायः, पृ० १३१ उत्त०
२६. राज्याभिषेकदिवसगणनाय मौहूर्तिकान्, पृ०१४० उत्त०
२७. उत्तरीयदुकूलांचलपिहितविम्बिना—मौहूर्तिकममाजेन पृ० ३१६, पू०
२८. समाज्ञापय देवभोगिनम्, पृ० १४०, उत्त०
२९. द्वारे तवोत्सवमतिश्च पुरोहितोऽपि, पृ० ३६१ पू०
३०. भूतसंरक्षण हि क्षत्रियाणां महान्धर्मः, पृ० ९५, उत्त०
३१. अहिच्छत्रक्षत्रियशिरोमणिः, पृ० ५६७, पू०
३२. पृ० ४२९–४३०, पू०
३३. कलिंगेषु-नपतिर्दिवाकीर्तिसेनाधिपत्येन—प्रकुपिताभ्यः प्रकृतिभ्यः—वधमाप, पृ० ४३१, पू०
३४. सुवर्णद्वीपमनुसार । पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यम-चिन्त्यामात्माभिमतवस्तुस्कन्धमादाय, पृ० ३४५ उत्त०
३५. अजमार—राजश्रेष्ठिन्, पृ० २६१, उत्त०
३६. सः विशांपतिरेवमूचे, पृ० २६१, उत्त०
३७. अन्त्यजैः स्पृष्टाः, पृ० ४५७
३८. पामरपुत्रि च यस्य जनयित्रि, पृ० ४३०

१—हलायुधजीवि (५६) :—हल चलाकर आजीविका करने वाले।

२—गोप (३६१) :—कृषि करने वाले।

गोप की पत्नी गोपी या गोपिका कहलाती थी। पत्नी पति के कृषि कार्य में भी हाथ बटाती थी। सोमदेव ने धान के खेतों को जाती हुई गोपिकाओं का उल्लेख किया है। (शालिवप्रेषुयान्त्यः गोपिकाः, १६)। गोप और हलायुधजीवि में सम्भवतः यह अन्तर था कि गोप वे कहलाते थे जिनकी अपनी स्वयं की खेती होती थी तथा हलायुधजीवि उनको कहते थे जो अपने हल ले जाकर दूसरों के खेत जोतकर अपनी आजीविका चलाते थे।

३—व्रजपाल (५६) :—गायें पालने वाले।

४—गोपाल (३४०, उत्त०)—ग्वाला।

ग्वालो की बस्ती को गोष्ठ कहते थे३६। सम्भवतया व्रजपाल उन्हें कहते थे जिनके पास गायो तथा अन्य पशुओं का पूरा व्रज (बड़ा भारी समुदाय) होता था तथा गोपाल वे कहलाते थे जो अपने तथा दूसरों के पशु चराते थे।

५—गोध (१३१, उत्त०)—गडरिया।

बकरियां तथा भेड़ें पालने वाले को गोध कहते थे४०।

६—तक्षक (२७१)।४१ कारीगर या राजमिस्त्री।

७—मालाकार (३६३) माली;

मालाकार या माली की कला का सोमदेव ने एक सुन्दर चित्र खींचा है। मंत्री राजा से कहता है कि राजन्, मालाकार की तरह कंटकितों को बाहर रोककर या लगा कर, घनों को विरले करके, उखाड़ गये को पुनः रोपकर पुष्पित हुए से फूल चुनकर, छोटों को बड़ा कर, ऊँचों को झुकाकर, स्थूलो को कृश करके तथा अत्यन्त उच्छृंखल या ऊबड़-खाबड़ को गिराकर पृथ्वी का पालन करें४२।

३६. गोष्ठीनमनुसृतः, पृ० ३४० उत्त०

४०. तं गोधमेवमभ्यधात्, पृ० १३१, उत्त०

४१. कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यैः, पृ० २७१

४२. वृक्षान्कण्टकिनो बहिर्नियमयन विश्लेषयन्संहिता-
नुत्खातप्रतिरोपयन्कुसुमितांश्चिन्वंल्लघून्वर्धयन्।
उच्चान्संनमयन्पृथूंश्च कृशयन्नत्युच्छ्रितान्पातयन्।
मालाकार इव प्रयोगनिपुणो राजन्महीं पालय। पृ० ३६३

८—कौलिक (१२६) जुलाहा या बुनकर

कौलिक के एक औजार नलक का भी उल्लेख है। यह धागों को सुलझाने का औजार था जो एक ओर पतला तथा दूसरी ओर मोटा जंघाओं के आकार का होता था४३।

६—ध्वजिन् या ध्वज (४३०)

श्रुतदेव ने इसका अर्थ तेली किया है४४। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में सोम या सुरा बेचनेवाले के अर्थ में ध्वज या ध्वजिन् शब्द का प्रयोग हुआ है४५।

ध्वज कुल में उत्पन्न लोगों को निम्नकोटि का माना जाता था। राज्य संचालन आदि कार्यों के वे अयोग्य माने जाते थे। पामरोदार नामक राजा ध्वजकुल में पैदा हुआ था. इसलिए उसे राज्य करने के अयोग्य माना गया४६।

१०—निपाजीव (३६०) : कुंभकार।

निपाजीव निश्चल आसन पर बैठकर चक्र घुमाता तथा उस पर घड़े बनाता था। यशस्तिलक में एक मन्त्री राजा से कहता है कि हे राजन, जिस प्रकार निपाजीव घड़ा बनाने के लिए निश्चल आसन पर बैठकर चक्र घुमाता है उसी तरह आप भी अपने आसन (सिंहासन या शासन) को स्थिर करने दिक्पालपुर रूपी घड़े बनाने के लिए अर्थात् चारों दिशाओं में राज्य करने के लिए चक्र घुमाओ (सेना भेजो)४७।

११—रजक (२५४) : धोबी अर्थात कपड़े धोने वाला।

रजक की स्त्री रजकी कहकाती थी। सोमदेव ने जरा (बुढ़ापे) को रजकी की उपका दी है, जिस तरह रजकी गन्दे कपड़ों को साफ कर देती है, उसी तरह जरा भी काले केशों को सफेद कर देती है४८।

४३. कौलिकनलकाकारे ते जंघे साम्प्रत जाते, पृ० १२६

४४. ध्वजकुलजातः तिलंतुदकुलोत्पन्नः, पृ० ४३०

४५. सुरापाने सुराध्वजः, मनुस्मृति ४।८५, याज्ञवल्क स्मृति १।१४१

४६. ध्वजकुलजातस्तातः, पृ० ४३०

४७. निपाजीव इव स्वामिस्थिरीकृतनिजासन :। चक्रभ्रमय दिक्पालपुरभाजनसिद्धये। पृ० ३६०

४८. कृष्णच्छवि. साद्य शिरोरुहश्रीर्जरारजक्या क्रियतेऽवदाता। पृ० २५-४

**१२—दिवाकीर्ति** (४०३, ४३१) : नाई या चाण्डाल।

सोमदेव ने लिखा है कि दिवाकीर्ति को सेनापति बना देने के कारण कलिंग में अनंग नामक राजा मारा गया था[४९]। मनुस्मृति में चाण्डाल अथवा नीच जाति के लिए दिवाकीर्ति शब्द आया है[५०]। नैषधकार ने नाई के अर्थ में इसका प्रयोग किया है[५१]। यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार श्रुतदेव ने भी दिवाकीर्ति का अर्थ नाई तथा चाण्डाल दोनों किये है[५२]। नाई के लिए नापित शब्द भी आता है। (२४५ उत्त०)

**१३—आस्तरक** (४०३) : शय्यापालक।

**१४—संवाहक** (४०३)—पैर दबाने वाला।

दिवाकीर्ति, आस्तरक और संवाहक ये तीनों अलग अलग राज परिचारक होते थे। सोमदेव ने तीनों का एक ही प्रसंग में उल्लेख किया है। सम्भवतया दिवाकीर्ति का मुख्य कार्य बाल बनाना, आस्तरक का मुख्य कार्य बिस्तर, गद्दी आदि ठीक करना तथा संवाहक का मुख्य कार्य पैर दबाना, तेल मालिश करना आदि होता था। कौटिल्य ने आस्तरक तथा सवाहक दोनों का उल्लेख किया है[५३]। धनवान् परिवारों मे भी ये परिचारक रखे जाते होंगे। चारुदत्त के सवाहक ने अपने स्वामी के धनहीन हो जाने पर स्वयमेव काम छोड़ दिया था।[५४]

**१५—धीवर**—(२१६, ३३५ उत्त०) मछली पकड़ने वाले।

धीवर के लिए कैवर्त शब्द (२१६, उत्त०) भी आया है। इनका मुख्य धन्धा मछली पकड़ना था। कैवर्तों के नव उपकरणों के नाम यशस्तिलक में आए हैं।[५५]

१. लगुड— लाठी या डण्डा।
२. गल— मछली मारने का लोहे का कांटा।
३. जाल—मछली पकड़ने का जाल।
४. तरी—नाव।
५. तर्प—घास का बना घोड़ा।
६. तुवरतरंग—तूंबी पर बनाया गया फलक या पटिया।
७. तरण्ड—फलक या तैरने वाला पटिया।
८. वेडिका—छोटी नाव या डोंगी।
९. उडुप—परिहार नौका।

**१६—चर्मकार** (१२५) : चमार या चमड़े का व्यापार करने वाला।

चर्मकार के साथ उसके एक उपकरण दृति का भी उल्लेख है[५६]। दृति का अर्थ श्रुतदेव ने चर्मप्रसेविका किया है[५७]। दृति का अर्थ प्राय. चमडे का पानी भरने वाला थैला या मसक किया जाता है[५८]। लगता है दृति कच्चे चमड़े को पकाने के लिए थैला बनाकर तथा उसमे पानी और अन्य पकाने वाली सामग्री भरकर टांगे गये चमड़े को कहते थे। इसमें से टपटप पानी झरता रहता है। देहातों में चमड़ा पकाने की यही प्रक्रिया है। सोमदेव के उल्लेख से भी लगभग इसी स्वरूप का बोध होता है[५९]। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क स्मृति के उल्लेखों से भी इसका समर्थन होता।[६०]

**१७—नट या शैलूष** (२२८, उत्त०, २९१)

इसका मुख्य पेशा तरह-तरह के चित्ताकर्षक वेष

---

४९. कलिंगेष्वनंगो नाम दिवाकीर्ते सेनाधिपत्येन-वधमपाप, पृ० ४३१

५०. मनुस्मृति ५।८५

५१. दिनमिवदिवाकीर्तिस्तीक्ष्णै.क्षुरे सवितु.करैः, नैषध, १९।५५

५२. दिवाकीर्तेर्नापितस्य, पृ० ४३१, सं० टी०
दिवाकीर्ति नापितस्य चाण्डालस्य वा, ४०३, सं टी०

५३. अर्थशास्त्र भाग १, अध्याय १२।

५४. संवाहक :—चालित्ताव शेशे च तस्सि जूदोवजीवी म्हि शंवुत्ते।—मृच्छकटिक, अंक २

५५. कैवर्ताः—लगुडगलजालव्यग्रपाणयस्तरीतर्पतुवरतरंग-तरण्डवेडिकोडुपसंपन्नपरिकराः, पृ० २१६, उत्त०

५६. चर्मकारदृतिद्युतिम् पृ० १२५

५७. दृतिश्चर्मप्रसेविकः, वही, स० टी०

५८. आप्टे—सस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

५९. यो कृशोऽभूत्पुरा मध्यो वलित्रयविराजित.
सोऽद्य द्रवद्रसो धत्ते चर्मकारदृतिद्युतिम् पृ० १२५

६०. इंद्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतिन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेपादादिवेदकम्॥ मनुस्मृति, २।९९, याज्ञवल्क ३।२९

धारण करके लोगों को खेल दिखाकर आजीविका चलाना था।६१ नटों के पेशे का एक पद्य में सम्पूर्ण चित्र खींचा गया है। नट के खेल में जोर जोर से बाजा बजाया जाता था (आनकनिनदरम्यः)। स्त्रियां गीत गाती थीं (गीतकान्तः) नट आभूषण पहने होता था, खास कर गले का हार (हाराभिरामः) और जोर जोर से नर्तन करता था। (प्रोतालानर्तनीतिर्नट, २२८ उत्त०)।

१८—चाण्डाल (२५४, ४५७)

एक उपमा में चाण्डाल का उल्लेख है। सफेद केश को चाण्डाल के दण्ड (डण्डे) की उपमा दी गयी है।६२ एक स्थान पर कहा गया है कि वर्णाश्रम, जाति, कुल आदि की व्यवस्था तो व्यवहार से होती है, वास्तव में राजा के लिए जैसा विप्र वैसा चाण्डाल।६३

इसी प्रसंग में 'माल' शब्द का उल्लेख है : श्रुतदेव ने उसका अर्थ चाण्डल किया है।६४ चाण्डाल अछूत माना जाता था और समाज में उसका अत्यन्त निम्न स्थान था। सोमदेव ने चाण्डाल का स्पर्श हो जाने पर मन्त्र जपने का उल्लेख किया है।६५

१९—शबर (२८१, उत्त०, ६०)

शबर एक जंगली जाति थी इसे भी अस्पृश्य माना जाता था।६६ शबर की स्त्री को शबरी कहते थे। शबर परिवार गरीब होते थे। ठण्ड आदि से बचने के लिए उनके पास पर्याप्त वस्त्र आदि नहीं होते थे। सोमदेव ने लिखा है कि ठण्ड में प्रातःकाल शिशु को निश्चेष्ट देखकर शबरी उसे पिलाने के लिए हाथ में फलों का रस लिए उसे मरा हुआ समझकर रोती है।६७

२०—किरात (३२०, उत्त०)

किरात भी एक जंगली जाति थी। इसका मुख्य पेशा शिकार था। यशस्तिलक में सम्राट यशोधर जब शिकार के लिए गये तब उसके साथ अनेक किरात शिकार के विविध उपकरण लेकर साथ में जाते है।६८

२१—वनेचर (५६)

वनेचर शब्द से ही यह स्पष्ट कि यह जंगली जाति थी। किरातार्जुनीय में वनेचर का उल्लेख आया है।६९

२२—मातंग (३२७, उत्त०)

यह भी एक जंगली जाति थी। यशस्तिलक से ज्ञात होता कि विन्ध्याटवी में मातंगों की बस्तियां थी। इनमें मद्य-मांस का प्रयोग बहुत था। अकेला आदमी मिल जाने पर ये उसे भी मद्य-मांस पिला-खिला देते थे।७०

---

६१. शैलूपयोषिदिव ससृतिरेनमेषा, नानाविडम्बयति नित्तकरैः प्रपंचैः। नानावेषैः, पृ० २६१, स० टी०

६२. चण्डालदण्ड, इव पृ० २५४

६३. वर्णाश्रमजातिकुलस्थितिरेषा देव संवृत्तेर्नान्या।
परमार्थतश्चनृपते को विप्रः कश्च चाण्डालः॥ पृ० ४५७

६४. प्रकृतिशुचिर्मालमध्येऽपि, भालमध्ये पि-चाण्डाल-मध्येऽपि, पृ० ४५७ सं० टी०

६५. चाण्डालशबरादिभिः, आप्लुत्य दण्डवत् सम्यग्जपेन्मन्त्र-मुपोषितः पृ० २८१, उत्त०

६६. वही :

६७. प्रातर्डिम्भविचेष्टितुण्डकननान्नीहारकालागमे,
हस्तन्यस्तफलद्रवा च शबरी बाष्पातुरं रोदति पृ० ६०

६८. अनणुकोणोत्कूणितपाणिभिः किरातैः परिवृत्तः पृ० ३२०

६९. स० वर्णिलिगिः विदितः समाययो, युधिष्ठरं द्वैतवने वनेचरः, १।१

७०. विन्ध्याटवीविषये——मातंगरूपवध्य ······ उक्तः पृ० ३२७ उत्त०

# अहार का शान्तिनाथ संग्रहालय

श्री नीरज जैन

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र अहार मध्य प्रदेश के टीकमगढ़ जिले में, टीकमगढ से १५ मील दूर है। इस क्षेत्र की उत्तुंग, सौम्य और सुन्दर शान्तिनाथ प्रतिमा के विषय में अनेकान्त की गत किरण मे आप पढ़ चुके है। मन्दिर से लग कर बने हुए एक भवन में शान्तिनाथ संग्रहालय के नाम से पुरातत्त्व का एक सम्पन्न संग्रहालय स्थित है। उसी का परिचय मैं इस लेख में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मध्ययुग के अन्तिम भाग (तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी) मे यह स्थान अपने उत्कर्ष की सीमा पर रहा है। अमफेर मे बिखरे अवशेषों तथा संग्रहालय में एकत्रित खण्डित प्रतिमाओं तथा कला खण्डों से इस क्षेत्र की तात्कालिक सम्पन्नता का परिचय मिलता है। यहाँ एकत्रित अधिकाश मूर्तियों पर तिथि संवत सहित शिलालेख पाये जाते है। अब तक सौ से अधिक ऐसे लेख पढ़े जा चुके है। इन लेखों की सामग्री से इतिहास के अनेक सन्दर्भों पर प्राभाविक प्रकाश पड़ता है। विक्रम सवत ११२३ से लेकर आज तक की तिथियों के ये शिलालेख बताते हैं कि कला-प्रेमी चन्देल राजाओं की परम सांस्कृतिक छत्रच्छाया में इस क्षेत्र का उद्भव और विकास हुआ। मूर्ति-प्रतिष्ठा का सिलसिला तो यहाँ बारहवी शताब्दी के प्रथम चरण (११२३) मे प्रारम्भ हो गया था; पर तेरहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध इस क्षेत्र का स्वर्णकाल कहा जाने योग्य है। इस काल मे संवत् १२०२, ३, ६, ७, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १६, १८, २३, २५, २८ और ३० की प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ मिली है।

विक्रम संवत् १२३७ में तो भगवान शान्तिनाथ की उस विशाल और चमत्कारिक प्रतिमा की यहाँ प्रतिष्ठा हुई थी जिसके चुम्बकीय आकर्षण के कारण इस स्थान को 'उत्तर भारत का गोम्मटेश्वर" कहलाने का अधिकार प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि पाणाशाह ने इस प्रतिष्ठा के मेले पर एक विशाल पंक्तिभोज दिया था उसकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस भोज में एक एक चुटकी परोसने के लिए भी बावन मन मिरच पिसवानी पड़ी थी।

इस विशाल जिन बिम्ब की तरह इसकी यह प्रतिष्ठा भी विशाल तो थी ही लगभग आखिरी भी थी। इसके उपरान्त पचास वर्ष तक यहाँ किसी नवीन स्थापना के साक्ष्य नहीं मिलते। सवत् १२८८, १३२० और १३३२ के जो एकाध अवशेष मिले है वे अपनी ह्रासोन्मुख कला के कारण इस स्थान के उत्कर्ष की नही अपकर्ष की कहानी कहते है। बाद मे तो उत्तरोत्तर यह स्थान नष्ट, विलुप्त और श्रीहीन होकर एक दिन विस्मृति के गर्भ में लगभग विलीन हो गया। आज से चालीस पचास वर्ष पूर्व इस क्षेत्र का जीर्णोद्धार और पुनर्प्रतिष्ठा जिस प्रकार प्रारम्भ हुई उसकी कथा गतांक मे आप पढ़ चुके है।

कुछ समय पूर्व इस स्थान के आस-पास सैकड़ो मूर्ति-खण्ड यत्र तत्र बिखरे हुए थे। कला के पारखी और भविष्य द्रष्टा दो विद्वानों, सर्वश्री पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और बाबू यशपाल का ध्यान इस बिखरे खजाने की ओर गया और उनके परिश्रम और लगन से अहार मे श्री शान्तिनाथ संग्रहालय की स्थापना हुई। क्रमश. बढ़ते-बढ़ते आज अपने शानदार भवन मे स्थित लगभग पाँच सौ कला खण्डों का यह संग्रहालय दर्शनीय हो गया है।

यहाँ जो सामग्री एकत्रित है उसमे द्वारतोरण, पद्मासन तथा खड्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ, शासन यक्ष, शासन देवियाँ, इन्द्र, अप्सराएँ, गन्धर्व और किन्नर बालाओं के नर्तित रूप तथा भाँति भाँति के सिंहासन, प्रभामण्डल, वेदिका आदि जैन मूर्तिकला के प्रायः सभी आयाम उपलब्ध है। इन अवशेषों से भारतीय कला की सम्पन्नता

में जैन संस्कृति के योगदान पर तो पर्याप्त प्रकाश पडता ही है, बुन्देलखण्ड के मौन और गौण तक्षक की दक्षता और साधना का भी ज्वलन्त उदाहरण इनमें प्राप्त होता है। कला का संग्रहालय, वैसे तो देखने की चीज होता है। शब्दों में उसका सौन्दर्य बांधकर प्रस्तुत करना असम्भव होता हैं, फिर भी कुछेक विशिष्ट कलाखण्डों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

**१. तोरण—**

सफेद बलुवा पत्थर का यह सुन्दर खण्डावशेष किसी बडी वेदिका का ऊपरी भाग है। इसके तक्षण में बड़ी बारीक और सधी हुई छेनी का योगदान रहा है। दोनों ओर मकरमुखी मज्जा के बीच तीन तीन तीर्थंकर तथा मध्य में भी तीन तीर्थंकर हैं। ऊपर गन्धर्वगण को वादित्र बजाते और नृत्यमग्न बताया गया है तथा बीच बीच में कमलनाल को घुमाकर पुष्पाकृति अंकित किया गया है। इसी आकृति को काट-काटकर इस भाग को जाली का रूप दे दिया गया है। चमत्कार की सीमा को छूती हुई इस तोरण की कलागत विशेषताएँ दर्शनीय है और मनोहर गोलाइयों में तथा फूल-पत्तियों की सुकुमारता में दर्शक की दृष्टि को बाँध लेने की अद्भुत क्षमता है।

**२. सरस्वती—**

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की शासन देवी सिद्धायिका या सरस्वती की यह चतुर्भुजी प्रतिमा ललित आसन विराजमान अत्यन्त मनोहर है। एक हाथ में पुष्प-गुच्छक दूसरे में ताडपत्र का ग्रन्थ है। तीसरा हाथ खंडित है तथा चौथे में कलश अकित है। इस देवी के आभरण और अलंकार विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इनमें रत्नमुकुट, शीशफूल, कुण्डल और हथफूल अपनी विशिष्ट बुन्देल-खण्डीय चटक-मटक के साथ अंकित किये गए है। मूर्ति के मुख पर देवता सुलभ गौरव और मारल्य का अकन करने में कलाकार सफल रहा है।

**३. अप्सराएँ—**

नृत्यमग्ना अप्सराओं के अनेक रूप इस संग्रहालय मे देखने को मिलते है पर उनमें दो को भुलाना आसान नही है। एक तो केवल कटि भाग के ऊपर का ही हिस्सा है जिसमें शरीर की आकर्षक त्रिभंग मुद्रा का प्रदर्शन करते हुए मुख-भंगिमा को भी तदनुरूप चित्रित किया गया है। दूसरी मूर्ति का शीष भाग भी खंडित है और पाँव भी आधे टूटे हुए हैं, पर इस अप्सरा के शरीर का लोच, नृत्य की उसकी अत्यन्त श्रमसाध्य मुद्रा और सुदृढ़ तथा सुडौल अंगों पर सुन्दर अलंकारों की शोभा देखते ही बनती है। इसी प्रकार एक मस्तक विहीन यक्ष प्रतिमा भी अपने गले और कटि भाग के सुन्दर तथा बारीक अलंकरण के कारण आँखों में बस जाती है।

**४. सिंहासन—**

सिंहपीठ और शासन देवियों से अलंकृत अनेक सिंहासन इस संग्रहालय में हैं पर यहाँ केवल दो का उल्लेख करना है। हल्के भूरे रंग के सलेटी पत्थर का एक सिंहासन लडवारी के जैन मन्दिर में सन् १९६२ में मैंने देखा था जो बाद मे मेरी विनय पर वहाँ के लोगों ने इस संग्रहालय को भेट कर दिया है। इसमें एक विशेष कलात्मकता तो है ही पार्श्व में खड़ी हुई शासन देवी ने इसे भव्यता प्रदान की है।

दूसरे जिस सिंहासन का उल्लेख मैं करने जा रहा हूँ वह सचमुच अद्वितीय है। सिंह युगल के ऊपर आसन की रचना ही सिंहासन की परम्परा है और यही उसके नाम का व्युत्पत्ति अर्थ भी है, पर इस विशेष सिंहासन में नीचे सिंहों का स्थान दो मदमाते हाथियों ने ले रखा है। इस नाते इसे गजासन कहना अधिक उपयुक्त होगा। इन हाथियों के शरीर की रचना से शक्ति और वेग का स्पष्ट आभास मिलता है।

मैं तो इसे इन्द्र का अथवा इन्द्राणी का आसन मान लेता पर इसमें बीचोबीच अन्तिम तीर्थंकर भगवान महा-वीर की शासन सेविका सिद्धायिनी देवी अपने हाथों में कमल, कलश और ग्रन्थ सहित अपनी समस्त गरिमा से मण्डित ललित आसन मे विराजमान हैं। सम्भव है भगवान महावीर के लिए परम्परा से हटकर इस आसन का निर्माण करते समय कलाकार के अंतस् में कहीं गूंज रहा हो—

**यदर्च्चा भावेन प्रमुदित मना दर्दुर इह**
**क्षणादासीत्स्वर्गी गुण गण समृद्धः सुखनिधिः।**

———

# कारञ्जा के भट्टारक लक्ष्मीसेन

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, मंडला

हमारे संग्रह के छोटे छोटे हस्तलिखित पत्रों का अध्ययन करते समय कारंजा के भट्टारक लक्ष्मीसेन के पट्टाभिषेक के विषय में एक कविता हमें प्राप्त हुई। इसमें कुछ जानकारी नई प्रतीत होने से इस कविता का मूल पाठ यहाँ दे रहे हैं। इस मराठी रचना मे पांच पद्य है और प्रत्येक पद्य में आठ पंक्तियां है। लेखक का नाम मालूम नहीं हो सका।

इसके दूसरे पद्य में कारंजा के भट्टारकों की परम्परा के सात आचार्यों के नाम दिये हैं—सोमसेन, जिनसेन, समंतभद्र, छत्रसेन, नरेन्द्रसेन, शांतिमुनि (शांतिसेन), तथा सिद्धसेन। फिर कहा है कि सिद्धसेन बावन वर्ष तक पट्ट का उपभोग कर दिवंगत हुए। उनके बाद दस वर्ष तक पट्ट खाली रहा तब दिलसुख और पुतलासा नामक सज्जनों ने विचार कर के नये भट्टारक के रूप में लक्ष्मीसेन को चुना। तीसरे पद्य के अनुसार इनका पट्टाभिषेक शक १७५४ की वैशाख शु० ९, मंगलवार को हुआ। पहले पद्य मे कहा गया है कि अजमेर से रत्नभूषण स्वामी कारंजा आये थे तथा उन्होंने भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति से भेट की थी। लक्ष्मीसेन के पट्टाभिषेक में इन दोनों ने सूरिमंत्र देकर नये भट्टारक को पदासीन किया था यह भी तीसरे पद्य से ज्ञात होता है। पांचवे पद्य मे लक्ष्मीसेन द्वारा पठित ग्रन्थों में त्रैलोक्यसार तथा गोमटसार का उल्लेख किया है तथा उनके तत्त्वज्ञान की केवलज्ञान से समानता बतलाई है। पट्टाभिषेक के बाद विहार के लिए उन्हें स्वोला-पुर का निमंत्रण मिला था। पुरानी परम्परा के अनुसार वे जिनकांची और पिनगुंडि के सिंहासनों के भी स्वामी कहलाते थे।

कारंजा में प्राप्त में समाधिलेख के अनुसार लक्ष्मीसेन का स्वर्गवास संवत् १९२२ (शक १७८७) में हुआ था। इस प्रकार वे तेतीस वर्ष पट्टाधीश रहे। उनके बाद तेरह वर्ष फिर पट्ट खाली रहा। इस परम्परा के अन्तिम भट्टारक वीरसेन स्वामी स० १९३६ से १९९५ तक पट्टाधीश रहे थे॥

### "मूल कविता"

लक्ष्मीसेन गुरु झाले कारंजे पटी।
मुलसंघ पुष्करगच्छाचे आहेत अधिपति ॥धृ०॥
अजमेर नगराहुन आले रत्नभूषण स्वामी।
भट्टारक देवेंद्रकीर्ति भेटि घेउनी ॥
मान करुनि सन्मान केला आनन्दे मनी।
गादीवर बसले कि जैसे कि जैसे चन्द्र सूर्य दोनी ॥
धीर जैसे मेरुसमान।
गम्भीर जैसे सिंधु तू जान।
क्षमा ऐसी पृथवि प्रमाण।
ज्ञानाचा भंडार ज्याचे गुण वर्णू किती ॥१॥
सोमसेन जिनसेन भट्टारक समंतभद्र।
छत्रसेन नरेंद्रसेन शांतिमुनि जान ॥
पंचमकाली गुरु अवतरले सिद्धसेन स्वामी।
बावन वर्ष पट भोगोनि झाले निर्वाणी ॥
दस वर्ष गादी सुनी जान।
विचार केला दिलसुख पुतलासान।
माघ सुध त्रयोदशि दिसे सेनीजान।
महाराजाचे ज्ञान पाहुनी मन झाले तृपती ॥२॥
देशोदेशीचे लोक येती पट्टालागोनी।
श्रावक श्राविका मुनि अर्जिका चतुरसंघ मिलोनि ॥
शके सत्रासे चउपन वैशाख शुद्ध नवमी।
भौमवासरे पंचमघटिके मुहूर्त पाहुनी ॥
क्षीरसागर नीर आनुनी।
पंच मुष्टि लोच करोनी।
सूरिमंत्र देतिल भट्टारक दोनी।
अष्टोत्तर से कलस हाती घेउन डालती ॥३॥

# साहित्य में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर

पं० नेमचन्द धन्नुसा जैन, न्यायतीर्थ

(१) श्री शासन चतुस्त्रिंशिका :—१२वीं सदी के उत्तरार्धमें होने वाले श्री मुनि मदनकीर्तिजी ने श्रीपुर पार्श्वनाथ की वंदना की थी। तब उन्होंने इसकी महिमा चित्रित की है कि—आकाश में एक छोटा-सा पत्ता भी एक क्षणभर के लिए अधर नहीं रह सकता पर श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा अंतरिक्ष मे स्थित है यह श्रीपुर में देखकर किसको आश्चर्य नहीं होगा ? यह दिगम्बर शासन का जय-जयकार है। देखिए—

'पत्रं यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातुं क्षणं न क्षमं,
तत्रास्ते गुणरत्नरोहणगिरिर्यो देवदेवो महान्।
चित्रं नाम करोति कस्य मनसो दृष्टःपुरे श्रीपुरे,
स श्रीपार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥

(२) कारंजा, सेनगणमन्दिर के पुराणे पोथी मे अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पूजा अष्टक जयमाल के अंत में यह श्लोक आया है। इससे श्री वादिराज मुनि के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है, उन्होंने इस पावन क्षेत्र का स्मरण करके उसके पुण्य प्रभाव से अपना शरीर विशद (निर्मल)—निरोग किया था। और कवि जगमें मोहतमका नाश-कर प्रभू बने थे। याने उस समय किसी काव्य की रचना उन्होंने की थी। एक बात सब जानते है कि, श्रीवादिराज मुनि ने एकीभाव स्तोत्र की रचना कर अपना कुष्ट दूर भगाया था, तथा शरीर सुवर्ण समान कांतिमान किया था। इसी इतिहास को पुष्ट करने वाला यह श्लोक है :

'इति विशद विदेहः क्षेत्रतीर्थं सुनाम्ना।
स्मरण जनित रागस्तेन पुण्य प्रभावात्।
कवि जगति (वि)मोहध्वात विध्वंसनेनः
लघुयति यतिमानः वादिराजो यतीन्दुः ॥

(३) एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में यह काव्य मिलता है। इससे श्रीपद्मप्रभदेवके जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, कि वे श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का मंदिर बांधते समय श्रीपुर में अवश्य उपस्थित होंगे, और उनके हि हाथ से उस मूर्ति की स्थापना हुई होगी। वे श्लेक इस प्रकार है :—'अथ श्री प्रतिष्ठाणपुरे, मुनि सुव्रतं वंदितात्मा
प्राप्तो देवगिरिसुसंथानं इ (मि) लोरसमि (मी)यं वरम् ॥४॥
आगताना जनानां वा (ऽ) आग्रहान्नृप वांछया।
अस्माच्छ्री श्रीपुरं, गत्वा, श्रीपाद पूज्य खेश्वरम् ॥६॥
विवादी भूतवाद हि त्यक्त्वा श्रीजिनालयम्।
नूतनं विरचय्यासौ, दक्षिणापथगाम्य भूत् ॥६॥

इससे ज्ञात होता है कि, श्री पद्मप्रभदेव को देवगिरि से श्रीपुर बुलाया गया था। उन्होंने वहां जाकर खेश्वर (अंतरिक्ष प्रभु) के श्रीपाद की पूजा की थी। और गाव के बाहर का विवादिभूत मंदिर को छोड़कर प्रतिमा जहा

---

अमविदान नाम ठेविले लक्ष्मीसेन स्वामी।
जिनमुद्रा घेउनी वंदिले पार्श्वनाथ स्वामी ॥
गादीवर बैसले कि जैसे गणधर महामुनि।
श्रावक श्राविका नमोस्तु करिती अवघे मिलोनी ॥
मुनि धर्मवृद्धि देती।
देशोदेशिचे नजरा होती।
कोणि एक शास्त्रदान करती।
बाद्याचा हा गजर ऐकुनि गुण वर्णू मी किती ॥४

ज्ञानायी हे खानि जैसे अमृत रस वानी।
भव्यजन हसती जैसे चंद्र चकोरानी ॥
त्रैलोक्यसार गोमटसार आइकिले श्रवणी।
तत्वातत्व विचारुनि पाहे केवल सन्मानी।
आमंत्रण दिले कोलापुर जान।
जिनकंचि पिनगुंडि सिंहासन।
त्याचे गुरु अधिपति रमासेन।
सेवक अज्ञानी कर जोडोनी करितो विनंति ॥४

स्थित हुई थी वहां ही (गांवमें) प्रतिमा के ऊपर नया मंदिर बंधवाया था।

(४) पार्श्वनाथ स्तवन—अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के प्रतिष्ठा समय या पद्मप्रभदेव वहां जब पहुँचे तब उन्होंने 'लक्ष्मीमहातुल्य मती मती सती इस स्तोत्र से स्तवन किया था। उसमें वे कहते है—

'आश्चर्यमाद्यं सुमना मना मना,
यत्सर्वदेशो भुवि ना विना विना।
समस्तविज्ञानमयो मयो मयो,
पार्श्व-फणे, रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥२॥
*संरक्षितो दिग्भुवने वनं स्वनं,*
विराजितो येषु दिवै दिवै दिवैः।
पादद्वये नूत सुराः सुराः सुराः,
पार्श्वफणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥३॥
रराज नित्यं सकलं कल कलं,
ममारतृष्णोऽवृजिनो जिनो जिनो।
संहार पूज्यं वृषभा सभा सभा,
पार्श्वफणे रामगिरौ गिरौ गिरौ। ७॥

टीका—सुमनाः—आर्तरौद्ररहितमनाः शोभनचित्तः वा, मनामनाः—मनान् यत्(ये) सर्वज्ञान् न मन्यमानाः, तेषां प्रति इदं आद्य प्रथमं आश्चर्य, यत् ते (तव) सर्वदेशः-प्रदेशः अविना (यक्षेण) विना अपि भुवि ना। अथवा देशः-आदेशः अविना (स्वामिना) ते विना भुवि ना, (पुरुषः) प्रधानीक पुरुष। (कस्यापि अन्यत् आदेशः न, इति भावार्थः) अथवा देशः-उपदेशः अविनागणधरदेवेन-विना भुवि ना। यतः इदं समस्तविज्ञानमयः, मयोमयः—समस्तलावण्यकान्ति-सौभाग्यादिभिः शोभितश्च ॥२॥]

दिग्भुवने-अन्तरिक्षे, वने-उद्याने, कानने वा, अवने-ग्रामे, जले वा त्वं संरक्षितः, येषु (यत्र) दिवै-खरदूषण-विद्याधरादिभिः, दिवैः-यक्षेन्द्राभिः, दिवा+ऐः-दिनचारिभिः मुनीन्द्रादिभिः विराजितः। तव पादद्वये नुत-स्तौत सुराः-सुराः-देवमनुष्यादयः सुराः-सुष्ठु राजन्ते रमन्ते इति वा ॥३॥

त्वं, नित्यं सकलाकलाकलां—सम्पूर्णवस्थाकान्तिमध्ये रराज, त्वं ममारतृष्णः-अकामतृष्ण., अवृजिनः-निष्पाप., जिनः-जितेन्द्रिय., जिनः-त्रयोदशगुणस्थानवर्तिन, अर्हत्पर-मेष्ठिः। ते सभा संहारपूज्या-सम्यक् हारेण पूज्या, सं+हार इव वृत्ताकारा पूज्या, वृषभा-वृषणे धर्मेण भाति इति वृषभा, सभा-समवशरणं इत्यर्थः। तदवस्थायां अत्रागमणे रामगिरौ-आत्मारामस्य गिरौ समवशरणे, हे पार्श्वफणे-धरणीन्द्र, गिरौगिरौ-गिरा+औ गिरौः देवदुन्दुभिः दिव्य-ध्वनिश्च इति द्विनादः अभवत्।

आर्त, रौद्र परिणामों से रहित या धर्मध्यान से सहित जीवों को अथवा सर्वज्ञ को न मानने वालों के लिए यह पहला आश्चर्य है कि आपका सब प्रदेश (परमौदारिक शरीर या महामूर्ति) यक्षेन्द्र के बिना भी जमीन पर नहीं है याने अन्तरिक्ष में है। अथवा देश याने आदेश त्रिभुवन के स्वामी ऐसे आपके सिवाय भू पर नही है, याने जैनेन्द्र मुद्रांकित रहना आदि सत्य शासन आपका ही है। अथवा देश याने *उपदेश गणधरदेव के बिना नहीं हो सकता।* आप सर्वज्ञ है तथा अन्तरंग बहिरंग दोनों श्रीलक्ष्मी से सहित हैं ॥२॥ आप अन्तरिक्ष में खरदूषण आदि विद्याधरों के द्वारा, उद्यान में—यक्षेन्द्रादि के द्वारा तथा ग्राम में मुनि या राजा आदि के द्वारा सरक्षित और विराजित है। आपके पादद्वय के स्तुति करने वाले देव हों या मनुष्य सुख को पाते है। यहां एक बात जरूर ध्यान मे लेना चाहिए कि साक्षात् जिनेन्द्र भगवान समवशरण में किसी के द्वारा संरक्षित या विराजित नहीं रहते है। अतः यहां श्रीपार्श्व प्रभु की यह अन्तरिक्ष प्रतिमा कहां और किसके द्वारा संरक्षित और विराजित हुई इसी का ही यह स्पष्ट बिवरण है ऐसा मानने मे बाधा नहीं आती ॥७॥ जब आप जिन याने आत्माराम बनकर यहां आये थे, तब आपके (आत्माराम के) गिरी याने समवशरण में गिरा और औ (ओं) कार ऐसी दो ध्वनि होती थी। याने देव दुन्दुभि बजाते थे या देव, मनुष्य और तिर्यच वाणी के द्वारा गुण-गान करते थे और आप्त ओंकार ध्वनि के द्वारा उपदेश देते थे ॥

इस तरह श्री पद्मनन्दी के शिष्य इन पद्मप्रभदेव ने श्रीपार्श्व प्रभु की स्तुति कर धरणीन्द्र को सचेत किया और उसके द्वारा उस प्रतिमाजी का पूरा इतिहास ज्ञात कर-प्रतिमाजी के ऊपर ही गांव में मन्दिर बंधवाया होगा।

(५) सिद्धान्त चक्रवर्ति१ श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत-प्रतिष्ठा तिलक में श्री अन्तरिक्ष प्रभु का उल्लेख इस तरह मिलता है—

**ओं अथान्तरिक्षो विहरन्विनोदं, वनेषु पश्यन्सुजनोपसर्गम्।**
**नुवन्बृहद्भानु सखोऽन्तरिक्षश्चूर्णं निशामावजमाववातु ॥२७**

(६) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—इसे नवमी सदी के विद्वान विद्यानन्दी की रचना न मान कर खिलजी अला-उद्दीन के समकालीन (संवत् १३४६ से १३७१) के विद्यानन्दी की रचना मानें तो, यह स्तुति श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ को ही लक्ष्य कर की गई है इसमें सन्देह नहीं रहता। क्योंकि अन्तरिक्ष प्रभु की स्थापना इनके तीन शतक पूर्व ही होती है। हां, दक्षिण भारत में अन्य श्रीपुर

**वन्द्यः स्तुत्यो महान्स्त्वं, विभुरसि जगतामेक एवाप्तनाथ ॥**
**देव, श्रीपुरपार्श्वनाथ, भुवनाधीशार्च्यपादाम्बुज··· ॥१४॥**
**जय जय जगतीनत, श्रीपद, श्रीपुरनिलय···॥२८॥ आदि**

हे पार्श्व प्रभो! जो आपके श्रीपाद की भक्ति करेगा वह श्रीपुर का आश्रय लेगा ही। इसमे दो अर्थ हैं—श्रीपुर को आये बिना श्रीपाद ऐसे पार्श्व प्रभु की भक्ति नहीं हो सकती, या श्रीपाद-श्रीपद के भक्ति से श्रीपुर-सिद्धिस्थान को पावेगा। क्योंकि आप श्रीपुर पार्श्वनाथ हैं, श्रीपद हैं और श्रीपुर ही स्थान है जिनका ऐसे है। आदि।

प्रसिद्ध जरूर होगा पर वहां प्रसिद्धि-प्राप्त पार्श्वनाथ नहीं सिद्ध होते, या श्रीपार्श्वनाथ से ही प्रसिद्ध ऐसा वह श्रीपुर नहीं जान पड़ता। जैसाकि विद्यानन्दी ने इस स्तोत्र में कहा है—

**यः श्रीपादं तवेश, श्रयति सपदि सः श्रीपुरं संश्रयेत।**
**स्वामिन् पार्श्वप्रभो, त्वत्प्रवचन वचनोद्दीप्र-दीप-प्रभावैः ॥**
**लब्ध्वा मार्गं निरस्ताखिलविपदमतो, यत्यधीशैः सुधीभिः।**

७. **निर्वाणभक्ति** :—डॉ० जोहरापुर करके कथनानुसार इसकी रचना राजा ईल श्रीपाल (१०सदी) के बाद की ही मानें तो, निर्वाणभक्तिमें उद्धृत 'श्रीपुर पार्श्वनाथ' श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ ही हो सकते है; ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं रहती। क्योंकि निर्वाणभक्ति के रचना समय किसी भी मान्यता के अनुसार 'अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र का उद्धार हुआ ही था। अतः—'पासं सिरपुरि वंदमि, होलागिरि शंख देवम्मि।' यहां श्रीपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ को ही वंदन किया है।

८. **तीर्थ वन्दना** :—निर्वाणभक्ति के समान ही श्री उदयकीर्तिजी ने अपभ्रंश भाषामें यह रचना की है, काल अनिर्णीत है। उसमें यह उल्लेख है—

'करकंडराय निम्मियउ, भेउ, हउं वंदउ अग्गलदेव देउ।
अरु वंदउ शिरपुरपासनाहु, जो अन्तरिक्ख थिउ णाणलाहु॥'

९. भट्टारक ज्ञानभूषण (सं० १५३४-४२) में बलात्कारगण ईडर शाखा के भ० भुवनकीर्ति के उत्तराधिकारी थे। इनके अष्टक जयमाल में इस क्षेत्र का उल्लेख है। अतः ये प्रत्यक्ष श्रीपुर पधारे होंगे ऐसा लगता है। देखो।—

जयमाल :—

काशी देश वाराणसी नगरं, अश्वसेन सुत पार्श्वजिनेशं।
श्रीपुर स्वामी अन्तसुरिक्षं, वंदे अतिशय क्षेत्र पवित्रम्॥२॥

१०. महिपाल (सं० १५३४)—यह भ० ज्ञानभूषण का तथा भ० ज्ञानकीर्ति का भी शिष्य था। भ० ज्ञानकीर्ति बलात्कार गण भानपुर शाखा के भट्टारक थे। इनके साथ महिपाल विदर्भ मे आये तो, इधर ही रमे। महिपाल ने अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ अष्टक, जयमाल, स्तुति, आरत्यादि तथा पद्मावतीदेवी का पूजन साहित्य भरपूर निर्माण किया है। कहीं कहीं इनका उल्लेख महिपत-महिपति के नाम से भी होता है। देखो—

अष्टक—

'सिंधुगंगसुसार सुन्दर रत्न जडित भृंगारकं,
वारि भरिकरिहेमकुम्भ सुश्रीपदद्वय धारकं।
नगर श्रीपुरसिद्ध राजत पार्श्वनाथ जिनेश्वरं,
अन्तरिक्ष नाम सत्यं सत्य श्री जगदीश्वरम्॥ जलम्॥

जयमाल—

'स्वस्ति श्री जिनराज को, सुन्दर धरियो ध्यान।
श्रीपुर नग्र के बीच में, अन्तरिक्ष तुम नाम॥१॥

---

१. प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नहीं थे। यह कोई विद्वान भट्टारक हैं। जो गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भिन्न हैं। —सम्पादक

सिद्ध स्वरूपी श्रीमहाराजा, नित नित वंदहु श्रीजिनराजा ।
श्रीपुर स्वामी पार्श्वजिनेंद्र,नित प्रति पूजत श्रीशत इंद्र ॥२॥
अतिशय सुन्दर जय जयशंकर, पूर्ण दयानिधि श्रीअवतारं ।
धन्य विद्याधर पुण्य विराजे,निर्मिल बिंब जगत्रय साजे ॥
यंत्र प्रतिष्ठा सुद्ध सुभावो विद्याधर घणु घणु सुख पायो ।
काल अनन्त श्री महाराजा, असले पुरि एलच राजा ॥
महिमा मोठा स्वामी तुसारो, दास कहावो प्रभुपद थारो ।
सुन्दर देहरो कलश ध्वजाते, सुन्दर शोभा श्री जगमाते ॥
तोरण द्वारे श्री परसाल,मंडप रचना श्रो चित्र शाल ।
आदि ।

आरती—
जै जै श्रीपुरमो, श्रीपुरमो, राज रहे जगमो,
अन्तरिक्ष स्वामी, जुग जुगमो,सो हम जाने घटमो ॥
जै जै ॥धृ॥
पूर्ण प्रताप बड़ो, स्वामीजी, वर्णत अन्त नही जी ।
देव दिगम्बर है हमके जी, अतिशय सुन्दर जगति ॥१॥
जै जै ॥ आदि

स्तवन—
श्रीपुरा प्रति स्वामी सावले, अन्तरिक्ष श्री स्वामी देखिले ।
ध्यान मी धरूं निन्य अन्तरिं,
वंदना करु स्वामी मन्दिरीं ॥ आदि ।
आरती—जय देव जय देव, जय चिन्तन ते,
चिता सर्व ही हरली, चिंता जे । मनी ते ।
चिंतामणी प्रभुनाम, चिन्मयमूर्ति तूं; चिंता चिंतन ।
आरति चिन्तित दे फल तूं ॥१॥ जयदेवजयदेव ॥……
श्रीपुर नग्र विधान, जय जय वर्तत से ।
ज्ञान सुकीर्ति स्वामी, प्रभुपद पूजत से ॥
तत्पदाचा मी दास, स्वामी जानसि तूं ।
नामे ते महिपाल, नित रंजसि तूं ॥४॥
जयदेव ॥ आदि ।
आरती—जय स्वामी श्री शिरपुरी, अन्तरिक्ष श्री राया ।
सुन्दर मंगल आरति, स्वामी सिंधु तराय, ॥धृ॥
जय जय जय जय, शिरपुर स्वामी,
शिरपुर पार्श्वनाथ स्वामी ।
सावले स्वामी, सावले परब्रह्म ती पाहे ॥आदि॥

जिस तरह विद्यानन्द के श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्रमें 'श्रीपद, श्रीपाद' ऐसे शब्द है उसी तरह यहां भी है । तथा महिपाल श्रीपुर को सिद्ध नगर कहते हैं और प्रभु अन्तरिक्ष होने से सिध स्वरूपी कहा है । आगे है—तीन लोक को भूषण ऐसा यह बिम्ब विद्याधर के द्वारा निर्मित और मंत्र से प्रतिष्ठित है । यहां यह बिंब जल में विराजमान करने की कथा नहीं है, लेकिन एलिचपुर के एल राजा ने तोरणद्वार, मंडप रचना तथा सुन्दर देहरा (मन्दिर) बनाया यह बात स्पष्ट है । आगे आरति में वे स्पष्ट लिखते है कि—ये हमारे देव दिगम्बर है[१] । तथा यह चिन्मयमूर्ति होने से इनका चिंतवन चिता को दूर करने वाला है ।

११. भ० लक्ष्मीचन्द्र (सं० १५५५-८५)—ये बलात्कारगण सूरत शाखा के भट्टारक मल्लिभूषण के शिष्य थे । सं० १५७८ के वैशाख सुदी १२ को श्रीपुर में जो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई, इस समय भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र, श्री सिंहनंदी, श्री श्रुतसागर, ब्रह्म नेमिदत्त, पण्डित (प्रतिष्ठाचार्य) राघव, ब्रह्म महेद्रदत्त (प्रतिष्ठाकार) उपस्थित थे । अतः भ० लक्ष्मीचन्द्र जी ने शायद उसी समय रचे हुए अष्टक से पूजन किया होगा । देखो—

'अर्घ्यं श्रीपुर पार्श्वनाथ चरणांभोजद्वयायोत्तमं,
श्री भट्टारक मल्लिभूषणगुरो. शिष्येण संवर्णितम् ।
तोयाद्यैर्वर नेमिदत्तयतिना स्वर्णादिपात्रस्थितं,
भक्तया पण्डितराघवस्य वचमा कर्मक्षयार्थी ददे ॥

१२. पार्श्वनाथ स्तवनः—उसी प्रतिष्ठा समय श्री सिंहनंदी के प्रेरणा से श्री श्रुतसागर जी ने इस स्तवन की रचना की थी । देखो—

'ज्ञानादिमोहं (दं) परिनष्टमोहं,
रागादिदोषैः रहितं विदेहं ।
सुश्रीपुरस्थं सकलैरनद्य,
श्री पार्श्वनाथं प्रणमामि वद्यम् ॥१॥
श्रीविश्वसेनस्य सुतं पवित्र,
भव्यात्मनां भूरि सुशंभवत्रम् । सुश्रीपुरस्थं०

१. इतना स्पष्ट होने पर भी, श्वेतांबर भाई इस क्षेत्र के सिर्फ इसी एक ही मूर्ति को श्वेतांबर बताकर झगड़ा कर रहे है । अफ़सोस है ।

वाराणसी जालमिनं गुणौघं,
संसार दावानल-नाशमेषम् । सुश्रीपुरस्थं०
सर्वेषुसत्वेषु हितं विरक्तं,
सत्प्रातिहार्याष्टक संप्रयुक्तम् । सुश्रीपुर०
वर्णेन नीलं कमलाभिरामं,
कल्याणयुक्तं सुभगं विरामम् ।
सुवंशतावन्नव हस्तकायं, श्रीशं, सभायां प्रणतेन्द्र जायम् ॥
पद्मावती पं (मं) डित नाग सेव्यं,
देवेंद्रवर्यैः सततं हि काम्यम्यम् ॥ सुश्रीपुर० ।
वि (उ) ध्वस्त लीला कमला सुरेंद्रं,
भक्तया प्रणीतं प्रचुरामरेंद्रम् । सुश्रीपुरस्थं० ॥ ८
सूरिश्री श्रुतसागरात्सुपठितो विद्वद्बुधाधीमतः ।
सत्त्वध्यानयुतो गुरुक्तिनिरतः श्रीसिंहनंदी मुनिः ॥
स्तोत्रं श्रीपुरनायकस्य फणिभृत्पार्श्वप्रभोर्यः पठेद् ।
भुक्त्वा मानवनाथनाथपदवी मुक्तिश्रियं सोम्यगात् ॥६॥

१३. भ० चन्द्रकीर्ति (सं० १६५४-८१)—ये काष्ठा संघ नंदीतटगच्छ के भ० श्रीभूषण के शिष्य थे। इन्होंने अन्तरिक्ष प्रभु का अष्टक रचा है। वे इसे दूसरा मोक्ष-तीर्थ ही मानते हैं। देखो—

अष्टक—'पद्मसौम्य (सोऽन्य) मोक्षतीर्थ दिव्य नीर धारया।
शीरवाब्जपंकताब्जगंधसार सारया॥
वर्भित चक्रि चक्रि चक्र चर्चीतं समर्चये।
श्रीमदंतरिक्ष पार्श्वनाथ, चारुपाद पंकजे॥ आदि।

तीर्थ वंदना—सिरपुर ग्राम जेथे, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ ॥४॥
अष्ट विध पूजा करा,चुके चौरयाशीचा फेरा ॥६॥"

१४. भ० सोमसेन (सं० १६५६-६६)—ये कारंजा के सेनगण के भ० गुणभद्र के शिष्य थे। इन्होंने सं० १६७२ तथा १६६६ में श्रीपुर में प्रतिष्ठा की थी। तथा सं० १६८० में वाशीम के अंबेझर पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा की थी। कारंजा जितूर, अन्जनगांव, नागपुर आदि जगह भी इनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। इनके साहित्य में भी इस क्षेत्र का उल्लेख मिलता है।

अचलमेरु जयमाला—'बावनगज मगसी गोम्मटस्वामी,
अन्तरिक्षादिक पण वंदामि ॥२१॥

इंद्रध्वज पूजान्तर्गत भारतीय तीर्थ क्षेत्र में—

'आर्यखंडे सदा भाति पार्श्वनाथान्तरिक्षकम्
तं यजे भवनाशाय जलाद्यर्घ्यं ददे मुदा ॥३३॥

जयमाल में :—'जय अन्तरिक्ष जिन पार्श्वनमो।
जय विश्रुतनाम जिनेंद्र, नमो ॥३१॥

भ० सोमसेन ने अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ जी के मन्दिर में सेनगण की गुरुगादी स्थापित की। वह ऊपर की मंजिल में है।

१५. भ० विश्वभूषण (सं० १७२२ से ४४) ये बलात्कार गण अटेर शाखा के भ० थे। इन्होंने १०३ श्लोक की कृत्रिमाकृत्रिम तीर्थ जयमाल लिखी है। इसमें प्रायः उस समय प्रसिद्ध सभी तीर्थों का उल्लेख है।

'अन्तरिक्ष वामा सुत मर्च्ये,
अद्भुत महिमा खग सुर म्यर्च्ये।
लक्षेश्वर श्री शंख जिनेश्वर,
शंखसमुद्रं१ नेमिजिनेश्वर ॥६८॥

सं० १७४० के मार्गशीर्ष शुद्ध बीज को उन्होंने अन्तरिक्ष प्रभु की वंदना पूजा की थी। देखो —

'अर्धचंद्र सुहालफेणी पर्पटा शतरंध्रकैः।
मालपूजा चन्द्रचक्रैर्मोदकैर्दधि सद्घटैः॥
अन्तरिक्ष पार्श्वनाथं संयजे गतस्मयं।
क्षुधारोग निवर्तनायभव्याब्जनाथं, धृतास्पदम्
॥ चरूं ॥ आदि ॥

जयमाल—पीठान्तरान्त भाति स पार्श्वनाथो,
यस्याद्भुतं पश्यति सर्वलोकः।
तस्यातिकां वै प्रभुनाथ शीघ्रं,
कैवल्यज्ञानोदय भ्राजमानः ॥१॥
अन्तरिक्ष पीठे प्रप्रतिष्ठं,
पार्श्वमनोज्ञ किल्विषनष्टम्।
मणिमेचक शोभा अभिरामं,
सद्गुण विमल कीर्त्याधामम् ॥२॥ आदि।

मालूम पड़ता है कि, श्रीपार्श्वनाथ के सभी तीर्थों में यह स्वतंत्र ही तीर्थ है। इसका चमत्कार सब देखते है। जैसा कि केवलज्ञान प्राप्त होने पर प्रभुजी समवशरण में ही अधर विराजमान है, ऐसा मालूम पड़ता है। ओड़,

१. शंख समुद्भव, ऐसा भी पाठ है।

होइ, यह तो सद्गुण, श्री [लक्ष्मी] और कीर्ति का साक्षात् धाम ही है। आदि भावपूर्ण यह जयमाल विशेष महत्त्व की है। इसका अंतिम है—
'शून्य वेदरूपी चन्द्र सुवर्षे, मार्गशीर्ष द्वितीया सुत हर्षे ।
विश्वभूषण पूजा कृत प्राप्तं, तेन वंदित दुर्गतिघातम् ॥"

१६. पण्डित गंगादास [सं० १७४२-४३] बलात्कार गण मलयखेडका पाठ कारंजा में स्थापन करने वाले भ० धर्मचन्द्र [द्वितीय] के ये शिष्य थे। इन्होंने कारंजामें रहकर बहुत साहित्य सेवा की है। इनकी जयमाल आरति में।' अन्तरिक्ष प्रभु की वंदना का उल्लेख मिलता है। देखो—

जयमाल 'वर बोध निधान मनंत बलं,
गतजन्म जरामय मोह मलम् ।
प्रयजेऽधरपार्श्वजिनेंद्रपरं
शिव सम्पतिसागरचन्द्रवरम् ॥ आदि ।

आरति—प्रथम नमन माझे, परब्रह्मचरणा,
अश्वसेनराया वामानन्दना ।
अन्तरिक्ष स्वामी त्रिभुवन नन्दना,
मनमोहन महाराज मुक्ति रंजना ॥
जयदेव जयदेव, जय श्रीपुरराया,
सद्भावे आरति अर्पित तव पाया ॥ आदि ॥

१७. भ० कल्याणकीर्ति [स० १७००] ये बलात्कार गण लघुतरशाखा के भ० शांतिकीर्ति के उत्तराधिकारी थे। इन्होंने भी स्वरचित अष्टक जयमाला सेअन्तरिक्ष प्रभु की पूजा की। देखो—

'स्वर्धुनि समुद्भवेन शीतलेन वारिणा ।
चारु चन्द्र मिश्रितेन पापतापहारिणा ॥
भुक्तिमुक्तिसारसौख्य दायिणी सतां यजे,
अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ चारुपादपंकजे ॥ आदि ।

इनके जयमाल में 'श्रीपाद द्वितीयं निरसादुरितं' आदि उल्लेख है।

१८. पामो [सं० अज्ञात] ये काष्टा संघ के भ० वासवभूषण के शिष्य थे। जिनग्रह जयमाला मे वे इन आन्तरिक्ष प्रभु की वंदना करते हैं।

मुनिसुव्रत पैठण अभिरामं, एरंडवेल नेमीश्वर धामं ।
अन्तरिक्ष प्रभु श्रीपुरनाथं, आबुगड नमो जोडी सुहाथ ।३०।

१९. श्रीपाल दर्शन—अज्ञात कर्तृत्व—जलकूप से पार्श्वनाथ की श्रीपाल राजा को प्राप्ति होने पर उसके जो भाव होते है उसका पूर्ण दिग्दर्शन इसमें है।—

'जिन प्रतिबिंब देखियो जबै, जै जै कार उच्चरे तबै ।
जै जै निहकलंकजिन देव, जै जै स्वामी अलख अभेव ॥२
सुरनर पुनि मिली आवै सेव, मुनिजनमरम नजाने भेव ।
जै कंदर्पगज दलनमृगेश, जै जै चारित्र धराधरसेस१। ...
जै जै क्रोधसर्पहतमोर, जै जै अज्ञान रज निहत भोर ॥
जै जै निराभरण शुभसंत, जै जै मुकति कामिनी कंत ।
विनु आयुध कछु अंक न रहै, रागद्वेष ताकें न वहै ॥६
धन्य पाय मेरे भये अबै, तुमलै आनि पहुचों जबै ।
आज धन्य मेरे कर भए,स्वामी जिन प[पा]रस नमए ।।६।।
जाके कुल मारग नहि देव, नहि जाने दस लच्छन भेव ॥१७
जाके गुरु निरग्रंथ न होई, ताको विवेक कहां तै होई ।
याते मैं तुम दरसन लयो, आतम अनुभो मो सौ करयौ ।१८
तुम परमातम सिद्धनिदान, तुम अरहंत मोक्षपद दान ।
तुम चिंतत संसय दुख हरो, तुम सुमिरत अजरापद करो ।१९
भक्ति वीनती करो उछाह, भव नासे मुझ शिवपुर लाहु ।
भव्य जीव श्रीपाल नरेश, हाथ जोरि के अरज करेस ॥२०

२०. झूलना—श्री० न्याहालचन्दकृत [अज्ञात काल] —भट्टारक श्री छत्रसेन [सं० १७५४] कृत झूलने में इसका उल्लेख मिलता है। अतः हो सकता है भ० छत्रसेन जी का हि दीक्षापूर्व नाम न्याहालचन्द होगा। ये श्रीपुर को पारसकूल कहते है; साथ में खरदूषण राजा ने ही प्रभु को जल में लय रखे ऐसा बताते है। देखो—

'सीरपुर म्याने अन्तरिक्ष केहने,
जिसका नाम पारसकूल जगजाने।
श्रीपाल भूपाल का कोड गया,
य तो बात सारी अफरीग ज्याने ॥
खरदूख राजा की खूब पूजा,
प्रभु लय रखे जलम्याने ।
न्याहाल तो हाल तारीफ करे,
य तो जागती ज्योत कल जुगम्याने ॥ (क्रमशः)

---

१. चारित्रधर+अधरसेस (अधर है शैया जिसकी, ऐसा)

# वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ

डॉ० राजकुमार जैन एम० ए० पी-एच० डी०

वृषभदेव तथा शिव दोनों ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव हैं। वैदिककाल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय में दोनों का देव देवताओं के विविध रूपों में अंकन हुआ है। वह अध्ययन का बड़ा मनोरंजक विषय है। प्रस्तुत लेखमें उन्हीं मान्यताओं की विस्तार पूर्वक चर्चा की जा रही है।

उपलब्ध भारती प्राच्यसाहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एवं पूज्यता जैन परम्परा में है। हिन्दू परम्परा में भी वही उसी कोटि की है। जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य एवं संस्तुत किया गया है। हिन्दूशास्त्र एवं पुराण भी उन्हें भगवान् के रूप में मान्य करते है।

श्रीमद्भागवत[१] में भगवान् वृषभदेव का बड़ा ही सुन्दर चरित अकित किया गया है। इसमें भगवान् की स्वयंभू: मनू प्रियव्रत, आग्नींध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पांच पीढ़ियों की वंश परम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नींध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नहीं था। अत. उन्होंने पुत्र की कामना से मरूदेवी के साथ यज्ञ किया भगवान् ने दर्शन दिये। ऋत्विजों ने उनका संस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभिका यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्र लाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है। भगवान् ने उत्तर दिया—मेरे समान तो में ही हूँ, अन्य कोई नहीं। तथापि ब्रह्म वाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिये। अत: मे स्वयं ही अपनी अशकला से आग्नींध्रनन्दन नाभि के यहां अवतार लूंगा इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया।

इसी पुराण में आगे लिखा है--यज्ञ में ऋषियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं श्रीभगवान् 'विष्णु' महाराजा नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्त: पुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण भाषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया[२]।

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीन काल में इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिन्या गया[३]। प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार राम कृष्ण के अवतारों से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है। इस अवतार का जो हेतु श्रीमद् भागवत मे दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असंदिग्ध रूप से भारती साहित्य के प्राचीन तम ग्रन्थ ऋग्वेदसे संयुक्त करा देता है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मो को प्रकट करना बतलाया है। श्रीमद् भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी इस प्रकार बतलाया गया है।

**'अयमवतारो रजसापप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थम्।'**

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जनको कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था, किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रजसे उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना, वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था। जैन साधुओं के आचार में अस्नान अदन्त धावन तथा मल परिषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान

१. श्रीमदभागवत ५, २-६

२. र्बहिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि: प्रसादितो नाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणाम् उर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार:'— श्रीमद्भागवत पञ्चमस्कन्ध।

३. शिवपुराण ७, २, ६,

थे। तथागत ने श्रमणों की आचार प्रणाली में व्यवस्था लेते हुए एक बार कहा था१ 'नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटि धरिणमत्तेन सामाञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजो जल्लिकस्स रजो जल्लिकमत्तेन जटिल कस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि।'

अर्थात् हे भिक्षुओ, मैं संघाटिकके संघाटी धारण करने मात्र से श्रामण्य नही कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटलिक के जटाधारण मात्र से भी श्रामण्य नही कहता।

भारत के प्राचीनतम साहित्यके अध्ययन मे स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजो जल्लिक साधुओ की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है, ऋग्वेद मे उल्लेख है२।

**मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला।**
**वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत।**
**उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।**
**शरीरे दस्माकं यूयं मर्तासो अभिप्यथ।,**

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरसना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, तब वे अपने तप की महिमा से दे दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते है।

वात रशना मुनि प्रकट करते है—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौन वृत्ति मे उन्मत्तवत् 'परमानन्द सम्पन्न' वायुभाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते है। तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो हमारे सच्चे अभ्यन्तरस्वरूप को नही।

वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नाकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे, केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है३—

**'केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।**
**केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥'**

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवलज्ञानी कहलाता है।

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्री मद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है।

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्री मद्भागवत के "वातरशना श्रमणऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं, सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते है जिनकी साधना में मल धारण, मौन-वृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही—

**"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।"**

देवदेवों के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है। वातरशना शब्द में और मल रूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है।

श्रीमद्भागवत में ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है—

'उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश. आत्मन्यारोपिताह्वनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्ध-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूत-वेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत मौन-व्रतः तूष्णीं बभूव·········परागवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केश-भूरिभारोऽवधूत मलिन निज शरीरेण ग्रह गृहीत इवादृश्यत।"

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था, वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेषधारी,

---

१. मज्झिमनिकाय ४०,
२. ऋग्वेद १०, १३६, २–३,
३. ऋग्वेद १०, १३६, १।

बिखरे हुए केशों सहित आह्वनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौन-वृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे······सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हें कोई भूत लगा हो।

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत् में पल्लवित भाष्यरस में प्रस्तुत कर दिया गया है। दोनों में ही वातरसना अथवा गगन-परिधान वृत्ति केश धारण, कपिश वर्ण, मल धारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्णरूप से चली आ रही है। यथार्थत. समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। ऋषभनाथ के केशरियानाथ नामान्तर में भी यही रहस्य निहित मालूम देता है[१]। केसर-केश और जटा—तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं। केसरियानाथ पर जो केसर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नाम साम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं श्रीमद्भागवत के ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है[२]।

१. राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर: श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है।

२. ऋग्वेद १०, १०२ ६।

**ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्,**
**अवावचीत् सारथिरस्य केशी।**
**दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस,**
**ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥**

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो '**मुद्गलस्य हृप्ता गावः**' आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं।

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है; किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है—

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टवेषो वृषभोऽवावचीत् भ्रशमशब्दयत्।" इत्यादि

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उस कथा प्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है[४]।

'मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे। उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।"

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुख थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

### वृषभदेव और वैदिक अग्नि देव

अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूत्रों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही हैं—**जातवेदस** [ जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न ] **रत्न धरतम** [दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप रत्नों को धारण

३. देखो, डा० हीरालाल जैन का "आदितीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी वर्ष ७ अंक १, २, १९५७)।

करने वाला] **विश्व वेदस** [विश्व तत्त्वों का ज्ञाता] **मोक्ष नेता ऋत्विज** [धर्म स्थापक], होता, हव्य, यज्ञ, सत्य, यशवन्त इत्यादि१। वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिए स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र संज्ञा से करते है*। **रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार**—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण है२। अग्निदेव ही सूर्य है३। परम विष्णु ही देवों [आर्यगण] की अग्नि है४। इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभ सूक्त मे होती है, जिसमें ऋषभ भगवान की अनेक विशेषणो द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जात-वेदस् [अग्नि] विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है५।

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतयों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र मे उत्पन्न होने के कारण वह अग्नि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए६। इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्यदेव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्नि का लोक व्यवहृत प्राकृत अथवा अपभ्रंश रूप है जो आर्य-गण के भारत आगमन से पूर्व ही आदि ब्रह्मा वृषभ के लिए प्रयुक्त होता आ रहा था, यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियों को वृषभ की अग्नि संज्ञा 'अग्नि' अर्थमूलक करने के लिए तत्सम्बन्धी श्रुतियों को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द में करनी पड़ी। अन्यथा संस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्र एवं अग्नि शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है।

वैदिक अनुमतियों से सिद्ध होता है कि अग्नि संज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकाश वे क्षत्रिय-जन थे, जो पंचजन के नाम से प्रसिद्ध थे७। इनमें यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातियाँ सम्मिलित थीं, ये लोग ऋग्वैदिक काल में कुरुक्षेत्र, पचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश में बसे थे। जब आर्यगण सप्तसिन्धु देश में से होते हुए कुरुभूमि मे आबाद हुए और यहाँ पचजन क्षत्रियों की धार्मिक संस्कृति के सम्पर्क में आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्य देव वृषभ को अग्नि' संज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया, यह ऐति-हासिक तथा कश्यप गोत्री मरीचि पुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १–६ मे **'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्'** शब्दों द्वारा स्वय व्यक्त किया है।

इस सूक्त के नौ मत्र हैं। इनमे से पहले सात मन्त्रों के अन्त मे ऋषिवर ने उक्त शब्दों को पुनःपुनः दोहराया है। इसका अर्थ है कि—**देवा** (अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) **द्रविणो दा** (धनैश्वर्य

१. 'ऋग्वेद' ११, ११२, अथर्ववेद ६, ४, ३ ऋग्वेद १, १८६, १।

* 'यो वै रुद्रः सोऽग्निः'—शतपथ ब्राह्मण ५, २, ४, १३।

२. (अ) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपति उग्र. अशनिः भवः महादेवः ईशानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही ६, १, ३, १८।
(आ) एतानि वै तेषामग्नीना नामानि यद् भुवपति. भुवनपतिर्भूतानां पतिः, वही १, ३, ३, १६।

३. 'अग्निर्वार्थ.' वही २, ५, १, ४।

४. 'अग्निर्वैदेवानाम् भवो को विष्णु परम्' को तस्य ब्राह्मण ७, १।

५. अथर्व ६ ४, ३।

६. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमस्मृज्यत तस्मादग्निरग्निह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षय—शतपथ ब्राह्मण ६, १, १, ११।
(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्नि राग्रतवै नामैतदद्यदगिरिति' वही २, २, ४, २।
(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभजिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप मे हुआ है (नन्द राजनीतान अगजिनस)।
(ई) 'प्रजापतिः देवतानः सृज्यमान अग्निमेव देवानां प्रथम ममृजत' तैत्तिरीय ब्राह्मण २१, ६, ४।
(उ) 'अग्निनर्व सर्वाद्यम्।' ताण्डव ब्राह्मण ५, ६३।

७. 'जना यदग्नि मजयन्त पञ्च'—ऋग्वेद १०, ४५, ६।

प्रदान करने वाले) **अग्नि** (अग्नि प्रजापति को) **धारयन्** (अपना आराधना-देव धारणा कर लिया)।

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति में गाये जाने वाले ऋक, यजु, साम एवं अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है। जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्यदेव थे। इसके अतिरिक्त इस सूक्त में भगवान् वृषभद्वारा मनुओं की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओं से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानस पुत्र थे। ब्रह्म विद्या देने का भी उल्लेख है। इस सूक्त के निम्नांकित प्रथम चार मंत्रों मे उल्लिखित तथ्यों की स्पष्टत: संपुष्टि होती है।

अपश्चमित्रं (जो संसार का मित्र है) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), सहसा जायमान: (जो स्वयंभू है) सद्य: काव्यानि वडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रोंको धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्य दाता अग्नि को धारण कर लिया)१।

पूर्वतया निविदा काव्यतासो. (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), यमा: प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिससे मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए हैं), देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया)२।

तमीडेत महासार्थं (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्व प्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हतं (सर्व पूज्य है), आरीविश: उब्ज:भृज्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आने वाली प्रजाको बलसे समृद्ध करके), पुत्रं भरत संप्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौप दिया), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया)३। समातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतंत्र है) पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्ववितं (ज्ञान सम्पन्न होकर) तनयाय (पुत्र के लिये) गातं (विद्या), विदद (दे दी), वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है), पवितारोदसयो: (अभ्युदय तथा नि:श्रेयम का उत्पादक है), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को] ग्रहण कर लिया४।

निर्वाण की पुण्य वेला में जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्धलोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक बन कर रह गई। जनता अब अग्निदर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी, उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था। अत: यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महा मानव का प्रतीक बन गई, उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावत उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को संतुष्ट एवं संतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर [मानस पुत्र]ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एवं अर्चना का मार्ग निकाला था। वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे५। उन्होने ही लोक मगल के लिये अभीष्ट सिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोग-निवृत्ति कर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र तन्त्र विद्याओं का सर्व प्रथम प्रकाश किया था, वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन

---

१. ऋग्वेद १,९,१।

२. वही १,९,२।

३. ऋग्वेद १,९,३।

४. वही. १,९,४।

५. [अ] सत्यव्रात सामश्रमी निरुक्तालोचन वि० स० १०५३ पृ० संख्या १५५।
[आ] A.C. Das—Rigvedic Culture P. 113-115
[इ] Dr. Winternitz—History of Indian, Literature Vo.I, 1927 P.120
[ई] 'अग्निर्जातो अथर्वना',—ऋग्वेद १०,२१,५.

परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान् वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे। भगवान् ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्म-विद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था१।

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों [गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्य-गर्भ, जातवेदस् जन्य, उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्ध लोक प्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्य पूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्यश्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है। अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई।

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्व प्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी। इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए२।

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी। अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् वृषभ की पूजा करते है वे उन्हीं के समान अविनाशी अमर पद के अधि-कारी हो जाते है३।

प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ]४, अक्षत (चावल], तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के के लिए किया जाता था और पूजा के समय भगवान वृषभ का सानिध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित स्वात्म-महिमा को ध्यान में रखने के लिए 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था, क्योंकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव में वृषभ भगवान की ही स्थापना करते है। और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि में आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते हैं। वषट् शब्द का उच्चारण किए बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है।

### वृषभ के विविध रूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान में एक महान ऋद्धिधारी देव थे। आयु के अन्त में उन्होंने वहां से चय कर अयोध्या-नरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ में अवतरण किया। इनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही नाभि-राय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया, अतः जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गर्भावतार के समय भगवान की माता ने स्वप्न में एक सुन्दर बैल को अपने मुख में प्रवेश करते देखा था। अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया। जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों से विशिष्ट थे। अतः इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई। बिना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे, इन्होंने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त संसार में स्वयं सत्, ऋत, धर्म एवं मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था। अतः वह स्वयंभू तथा सुकृत नामों से प्रसिद्ध हुए। भोग युग की समाप्ति पर इन्होंने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगों की शिक्षा प्रदान की थी। अतः यह विधाता, विश्वकर्मा एवं प्रजापति नामों से विख्यात हुए। ये ही अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार-शरीर तथा

---

१. [अ] ब्रह्मा देवाना प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठाम-थर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥—मुण्डकोपनिषद् १, १
[आ] 'स्यति तनमाह गातं विदद' ऋग्वेद १,६६,४.

२. [अ] 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञे नेजं तदनुकृत्येमा प्रजायजन्ते'—शतपथ ब्रा० १५,१ ७०.
[आ] जिनसेन कृत आदिपुराण पर्व ४७,३२२,३५१.

३. अथर्ववेद ४, ११, १२

४. "अजैर्यष्टके"—जिनसेन कृत हरिवंशपुराण २७, ३८, १६४

भोगों से निर्विण्ण हुए तथा संयम एवं स्वाधीनता-पथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अतः वशी, यति एवं व्रात्य नामों से प्रसिद्ध हुए।

इन्होंने अपनी उग्र तपस्या, श्रम सहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषों को भस्मसात् किया। अतः यह रुद्र, श्रमण आदि संज्ञाओं से विख्यात हुए। इन्होंने अज्ञान तमस् का विनाश करके अपने अन्तस् में सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवों को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त में देह त्यागकर सिद्ध लोक में अक्षय पद की प्राप्ति की।

जैन परम्परा में जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है और जिन्हें लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की संज्ञा दी गई है। वैदिक परम्परा में वही [१] हिरण्य गर्भ [२] जात-वेदम्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाक्पति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, [५] निगूढ परमपद, परमेष्ठी पद, साध्यपद आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध है।

मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, वेबीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतियाँ, सूक्तियाँ और आख्यान पहुचे है१ वहां भगवान् असुर [असुर], ओसोरिक्ष [असुरशि] अहुरमज्द [असुरमहत्], ईस्टर [ईषतर] जहोव [यह्वमहान्] गौड [गौर गौड] अल्ला [ईड्य स्तुत्य], ए० एम० [अहमस्ति] सूर्यस् [सूर्य] रवि, मिथ [मित्र] वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये। यही कारण है कि इन देशो के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित है, उनमें उपर्युक्त चार वृत्त "१. In carnation २. Suffering and crucification ३. ressurrection और ४. Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार इन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम, तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमे उपर्युक्त संज्ञाओ और विशेषणों से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं।

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आपः (जल), वातः [वायु] और औषधि [वनस्पति]—तीनों एक ही भवन [पृथ्वी] के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों की कविजन "पुरस्थं दर्शतं विश्व चक्षणन् [बहु रूव दिखाई देने वाले] एक विश्वेदस् सहस्राक्ष, सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही वियेतिरे [व्याख्या करते हैं१]।

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मंत्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास—क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है वे मन्त्र निम्न प्रकार है२।

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि द्वितीयं परिजातवेदाः।

तृतीयमप्सु नृपणा अजस्रभिधान एवं जाते स्वाधीः।"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देव-लोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए। तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-सागर मे रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया। तथा—

"विद्या ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्या ते धाम विभृता पुरूत्रा।
विद्या ते नाम परम गुहा यद्विद्या तमुत्सं यत आजगंथ३॥"

अर्थात् हे अग्रनेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते है। इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ परमधाम है, उसको भी हम जानते है। और उच्च-मार्ग को भी हम जानते है जिसमे तू हमें प्राप्त होता है।

उक्त स्मृति से स्पष्टत. प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक मे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। (क्रमशः)

---

१. Dr. H.R. Hall. The Ancient History of Eest १०४, ७७, १५८, २०३, ३६७, ४०२

१. अथर्ववेद १८, १, १।

२. ऋग्वेद १०, ४५, १।

३. वही, १०, ४५, २।

# श्री लालबहादुर शास्त्री

श्री लाल बहादुर शास्त्री का निधन ऐसी अनहोनी घटना है, जिस पर सहज ही विश्वास नही होता। हो भी कैसे ! शाम को ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर किये, रात को रूस के प्रधानमंत्री श्री कोसीजिन द्वारा दिये भोज में शामिल हुए। उसके उपरान्त दिल्ली अपने कुटुम्बीजनों से फोन पर बात की, और आराम मे सोने गए। कौन कल्पना कर सकता था कि उसके कुछ ही समय के भीतर उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी।

शास्त्रीजी में कुछ असामान्य गुण थे, वह गरीब परिवार में जन्मे और गरीबी मे पले, इसलिये सादगी नम्रता और मिलन सारता उनके स्वभाव के अभिन्न अग बन गये। परिवार की अपेक्षा थी कि वह अपनी पढ़ाई लिखाई पूरी करके कार्य मे लग जाएँगे, लेकिन विधि का विधान कुछ और ही था। गाधी की आंधी आई और देश की ललकार पर शास्त्रीजी आजादी की लड़ाई मे कूद पड़े। प्राय. सभी राष्ट्रीय आन्दोलनो मे उन्होंने सक्रिय भाग लिया और उनके जीवन के लगभग ८ वर्ष जेल मे गये।

देश के स्वतत्र होने पर उन्होंने विश्राम नहीं लिया और विविध प्रकार से नये दायित्वों को अत्यन्त निष्ठा और कर्मठता से अपने ऊपर लिया ! वह उत्तर प्रदेश मे गृहमंत्री रहे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महामत्री पद पर आसीन हुए, केन्द्रीय रेल तथा परिवहन मंत्री के भार को वहन किया और अन्त में नेहरू के निधन के पश्चात् प्रधानमत्री बने।

उनके जीवन से दो बातें स्पष्ट है। पहली यह कि उन्होंने कभी दलबन्दी में भाग नही लिया और न कभी अपनी कोई पार्टी बनाई। दूसरी यह कि उन्हे पदों में मोह नहीं हुआ। समय आया और बड़े पद को उन्होंने ऐसे त्याग दिया मानों वह कोई मामूली सी चीज है।

एक और बात है जिसने उन्हे भारत के ही नहीं संसार के महापुरुषों की पक्ति में बिठाया, वह चीज थी शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व, तथा अहिंसा उनकी अविचल श्रद्धा। वह चाहते थे कि सारे संसार में विभिन्नता होते हुए भी एकता रहे। सभी राष्ट्र एक विशाल परिवार की भावना से एक दूसरे के सुख-दुख में काम आवें। लेकिन साथ ही वह यह भी मानते थे कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े राष्ट्र को सम्मान पूर्वक जीने का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कभी किसी भी राष्ट्र को दबाने का प्रयत्न नही किया, लेकिन साथ ही उन्होंने अपने देश को भी दबने नहीं दिया। हाल ही के पाकिस्तान के भारत पर आक्रमण के समय उन्होंने जो दृढ़ता दिखलाई वह इतिहास की एक बे जोड़ मिसाल है।

सबसे अधिक विस्मय की बात यह है कि सैनिक संघर्ष के होते हुए भी उन्होने सदा प्रेम शान्ति और अहिंसा की बात कही। वस्तुत: यह उनके नेतृत्व में यदि भारत युद्ध में संलग्न हुआ तो इस आकाक्षा से कदापि नहीं कि उसे पाकिस्तान को जीतकर अपने में मिलाना था, बल्कि इसलिये कि वह पाकिस्तान के इस वहम को दूर कर देना चाहता था कि वह सशस्त्र सेना के बल पर भारत को जीत सकता है।

शास्त्रीजी गाधीजी के परम अनुयायी थे। गांधीजी की अहिसा वीर की अहिंसा थी उसी रूप मे शास्त्रीजी ने अहिसा को अपनाया।

यह बड़ दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे समय मे जब देश को शास्त्री की आवश्यकता थी, उनका निधन हो गया। हम उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमें और हमारे देश को उनके मार्ग पर चलने की क्षमता प्राप्त हो।

**यशपाल जैन**

—:o:—

# जौनपुर में लिखित भगवती सूत्र प्रशस्ति

श्री अगरचंद भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता

मध्यकालीन जैन इतिहास के साधन अनेक है और वे प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। पट्टावली, वंशावली, प्रशस्ति, काव्य, रास, तीर्थमाला, चैत्यपरिपाटी, प्रतिमा-लेख, ऐतिहासिक गीत आदि फुटकर रूप में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर नया प्रकाश डालते है। अभी ऐसे बहुत से साधन अप्रकाशित हैं। इसीलिए जैन इतिहास का सिलसिला ठीक से नहीं जम पाया। शृंखलाबद्ध इतिहास लेखन के लिए ऐसे साधनों का समग्ररूप से उपयोग किया जाना आवश्यक है। इससे केवल जैन इतिहास ही नहीं, भारतीय इतिहास की भी बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें जानने को मिल सकेंगी। भारत के अनेक ग्राम नगरों एवं वहाँ के शासको सम्बन्धी उल्लेख जैन ऐतिहासिक साधनों में मिलते हैं। किस शताब्दी में कहाँ कौन व्यक्ति प्रसिद्ध हुआ व उसने क्या-क्या काम किये ? इस सम्बन्ध में भी प्रशस्तियों आदि से बहुत ही प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हो जाते है।

कविवर बनारसीदास जौनपुर के निवासी थे। वहाँ और भी बहुत से श्वेताम्बर श्रीमाल वंशीय खरतर गच्छानुयायी हुए है। बनारसीदास जी और उनके पूर्वज भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। सोलहवीं शताब्दी की लिखित कई जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों मे जौनपुर के खरतर गच्छीय श्रावकों के उन प्रतियों को लिखाने एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के करने के उल्लेख मिलते हैं। सचित्र कल्प-सूत्र की प्रशस्ति तो प्रकाशित हो चुकी है, एक दो अन्य प्रशस्तियां भी जौनपुर के श्रावकों से सम्बन्धित मिली थीं पर वे अभी हमारे पास नहीं है। प्रस्तुत लेख में स्वर्गीय कलाप्रेमी पूरणचंद्रजी नाहर की गुलाबकुमारी लायब्रेरी में सुरक्षित भगवती सूत्र मूल की ३९२ पत्रों की प्रति की लेखन प्रशस्ति प्रकाशित की जाती है। ये प्रशस्ति सं १५२६ फाल्गुन वदी १४ की है। सात श्लोकों में ग्रंथ लिखाने वाले श्रीमल्लराज और उनकी गुरु परम्परा का वर्णन है। इसके अनुसार सुप्रसिद्ध जैसलमेर आदि ज्ञान भंडारों के स्थापक श्रीजिनभद्रसूरि के पट्टधर श्रीजिनचन्द्र सूरि के समय में उपाध्याय कमलसंयम के उपदेश से यह प्रति जौनपुर में लिखी गई थी। श्रीमाल वंश के चींचड़ गोत्रीय सहणपाल की पत्नी पूरादेवी के पुत्र श्रीमल्लराज ने इस प्रति को लिखवाया है। मल्लराज का क्षत्रिय कुण्ड राजगृह और उगल्लादि [?] तीर्थो की यात्रा और पंचमी तप के उद्यापन के निमित्त से सिद्धान्त ग्रन्थों के लेखन का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। क्षत्रिय कुण्ड और राजगृह तो प्रसिद्ध तीर्थ है पर उगल्ल नामक कौन सा तीर्थ स्थान था, अन्वेषणीय है। भगवान महावीर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अभी जो दो मत प्रवर्तित है वैशाली के निकटवर्ती स्थान मे भगवान का जन्म हुआ इस बात को मध्यकाल का जैन समाज मान्य करता हो ऐसा प्रतीत नही होता। क्षत्रिय कुण्ड को भगवान महावीर का जन्म-स्थान माना जाता था और वही की तीर्थ यात्रा प्रचलित थी यह मध्यकालीन प्रशस्तियों से स्पष्ट है। मुनि दर्शनविजय (त्रिकुटी) जी का 'क्षत्रिय कुण्ड' ग्रंथ दृष्टव्य है।

**भगवती सूत्र प्रशस्ति**

संवत् १५२६ समये फाल्गुन वदि १४ भौमवासरे।
श्री खरतर गण जलधि प्रोल्लास विधौर्युगप्रधानस्य।
श्री जिनराजमुनीश्वर पट्ट सुपर्वादि कल्पतरोः ॥१॥
देव श्री जिनभद्रसूरि सुगुरोः पट्टोरू पूर्वाचलो।
द्योतद्रव्य मयीकृत त्रिभुवनांभो जन्मिनी स्वामिपु।
श्रीमत् श्री जिनचन्द्रसूरि गुरुषु क्षौणीमिवोर्वीपतौ।
सम्यक् सम्प्रति पालयेत्सु महतीं गच्छस्य राज्य श्रियम्।२।
श्रीकमल संयमोपाध्यायानां श्रमणमौलिरत्नानाम्।
उपदेशाद्भावादपि श्रीयवनपुराभिधे नगरे ॥३॥
धर्म्मैकनिष्ठो जिननायकाज्ञा शिरोमणिः सद्गुरु पादसेवी।

श्रीमालवंशोद्भवशीतभानु. मुक्तोपम इचीचड़ गोत्र शुक्तौ ॥
श्री सहनपाल तनुज. सकल महापुरुष पर्षदा रत्न ।
मातुः पूरादेव्या उदर सरः सरसिजः प्रतिमः ॥५॥
द्रव्यं तदेव सफलं यत् स्यादुपयोगि धर्म्म कार्येपु ।
इति परिभावयमानः श्राद्धः श्रीमल्लराजाख्यः ॥६॥
तीर्थ क्षत्रिय कुण्ड राजगृहकः श्री मद्दुगल्लादि सद्यात्रा ।
कृत्य निरुद्ध सर्व कलुषः पीयूष वाक्यः सुधी. ।
पञ्चम्या स्तपसो विधाय महता व्यासेन चोद्यापनम् ।
सिद्धान्तान् सकलान् क्रमेण विधिनाध्यारोपयन् पुस्तके ।७।
६ २ ५ १
रस नयन समिति विधुमित विक्रम संवत्सरे ।
स पुण्यात्मा श्रीमद्भगवत्यंग सिद्धान्तं लेखयांचक्रे ॥८॥
शुभ मस्तु ॥

जौनपुर मे जैन मन्दिर एवं श्रावकों के घर उस समय कितने थे ? इस विषय में खोज की जानी चाहिए । वहा के श्रावकों ने हस्त लिखित प्रतियाँ लिखवायी है तो सभव है वहां ज्ञान भण्डार भी रहा हो । पीछे से जब श्रावक लोग वहाँ से चले गये तो वहाँ की प्रतियाँ भी यत्र-तत्र बिखर गई होंगी । जौनपुर सम्बन्धी समस्त लेखों को संगृहीत किया जाय तो वहाँ के जैन इतिहास पर अवश्य ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा ।

इस प्रशस्ति मे जौनपुर के लिए यवनपुर शब्द का प्रयोग किया गया है वह अवश्य ही विचारणीय है । संस्कृत विद्वानों ने अनेक स्थानों व व्यक्तियों के देशी नामों का विचित्र ढग से संस्कृतिकरण कर दिया है जो कभी-कभी बहुत ही बेतुका व भ्रमात्मक प्रतीत होता है । जौनपुर के सम्बन्ध मे अन्य ग्रन्थों मे क्या-क्या नाम आये है ? यह नाम क्यों पड़ा ? इत्यादि बातें अन्वेषणीय हैं ।

जिन कमलसयमोपाध्याय के उपदेश से उपर्युक्त भगवती सूत्र लिखा गया है ये अपने समय के प्रभावशाली और प्रसिद्ध विद्वान थे उनके हाथ का लिखा हुआ एक स्वर्णाक्षरी पत्र नाहर जी के संग्रहालय में ३०-३५ वर्ष पूर्व देखा गया था । कविवर बनारसीदास खरतर गच्छ के जिन प्रभसूरि शाखा के अनुयायी थे, उपर्युक्त प्रशस्ति उससे भिन्न जिनभद्र सूरि शाखा की है । इससे खरतर गच्छ की दोनों शाखाओं का वहां प्रभाव मालूम होता है ।

# साहित्य-समीक्षा

**१ जैन सिद्धान्त भास्कर**

सम्पादक . डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन तथा डॉ० नेमिचंद्र जैन, प्रकाशक . देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, पाण्मासिक, दिसम्बर १९६४, भाग २४, किरण १, मूल्य ६ रु० वार्षिक, पृष्ठ १०० ।

'जैन सिद्धान्त भास्कर, एक पुराना शोध पत्र है । अर्थाभाव के कारण अभी बीच में कतिपय वर्ष बन्द रहा । अब पुनः चालू हुआ है । यह प्रसन्नता का विषय है । हम उसका स्वागत करते हैं । हमारी अभिलाषा है कि यह पत्रिका पाण्मासिक के स्थान पर त्रैमासिक निकले, जैसे कि पहले निकलती थी ।

इसमें हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के निबन्ध प्रकाशित हुए है । यह इसकी पुरानी परम्परा के अनुकूल है । किन्तु जहां तक मैं समझा हूँ यदि हिन्दी के ही निबन्ध रहें तो अधिक उत्तम हो । अंग्रेजी के जैन पाठक न्यूनतम है । पहले का समय गुजर चुका है । ऐसा करने से हिन्दी के प्रचार-प्रसार मे भी पर्याप्त सहयोग मिल सकेगा ।

निबन्धो का चयन उत्तम है । किन्तु 'हेमचन्द्राचार्य के व्याकरणोद्धृत अपभ्रंश दोहों का साहित्यिक मूल्यांकन' जैसे निबन्ध कुछ भ्रमोत्पादक बन जाते है। हेमचन्द्र के व्याकरण में आये उद्धरण उनके अपने नही हैं । उन्होंने उनका चयन अन्य ग्रन्थों मे किया था। किन्तु विद्वान् पाठक तक उन्हें हेमचन्द्र का मान बैठते हैं । मुझे स्मरण है कि हिन्दी की एक संगोष्ठी मे एक प्रसिद्ध स्कालर ने इन उद्धरणों को हेमचन्द्र की रचना मानकर बड़ी आलोचना की थी ।

**२ भारतीय जैन साहित्य परिशीलन १**

प्रधान सम्पादक : पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री,

वाराणसी, प्रकाशक : भारतीय जैन साहित्य संसद्, महाजन टोली—१, आरा, अक्टूबर १९६५ पृष्ठ १७५, मूल्य १० रुपया।

'भारतीय जैन साहित्य संसद्' का प्रथम अधिवेशन आरा मे, जनवरी १९६५ में हुआ था। उस समय जैन साहित्य-कला संगोष्ठी और दर्शन-आचार संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया था। इनके अन्तर्गत कतिपय विद्वानों ने जैन शोध-सम्बन्धी निवन्ध पढ़े थे। यहाँ उनका संकलन है। सामग्री ठोस और उपादेय है। जैन अनुसन्धित्सु उनसे अत्यधिक लाभान्वित होंगे, ऐसा हमें विश्वास है। संसद् का यह पहला प्रयास सराहनीय है।

पत्रिका का मुख पृष्ठ, सम्पादन, प्रूफ-रीडिङ्ग, कागज, छपाई सब कुछ आकर्षक है। हम हृदय से स्वागत करते हैं। संसद् अपने इस साहित्यिक अनुष्ठान में रुचि-पूर्वक अग्रगामी रहे, ऐसी हार्दिक भावना है।

**प्रेमसागर**

१ **प्राकृत-प्रबोध**—रचयिता डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्राकृत संस्कृत विभागाध्यक्ष जैन कालेज, आरा, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी। मू० ८) रुपये।

यद्यपि जैन साहित्य की मूलभाषा प्राकृत है। किन्तु दि० जैनों में *प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रायः उठ ही गया है।* इसका कारण जहाँ पाठोपयोगी पुस्तकों का आभाव है वहाँ जैन विद्यालयों में प्राकृत के अध्ययन कराने की भी व्यवस्था नहीं है। विद्वान् लोग संस्कृत छाया पर से प्राकृत ग्रन्थो का अर्थ छात्रों को पढ़ाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का जैसा नाम है, उसके अनुरूप ही उसमें प्राकृत का बोध कराने की क्षमता है। रचना सुबोध शैली में की गई है। प्राकृत भाषा के शब्दों की रूपावली का बोध होने के साथ-साथ प्राकृत भाषा में अनुवाद करने का सुबोध भी सुगम हो जाता है।

डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री ने ज्योतिषाचार्य का परीक्षा के बाद संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी में एम० ए० पास किया और अब आरा कालेज में संस्कृत प्राकृत विभाग के अध्यक्ष हैं। मगध विश्वविद्यालय में इनके कारण प्राकृत भाषा के शिक्षण में बड़ी प्रगति हुई है। शास्त्रीजी ने प्राकृत भाषा के पठनोपयोगी कई पुस्तकों का निर्माण किया है। प्राकृत का व्याकरण भी लिखा है। प्रस्तुत पुस्तक सामने है ही।

इस पुस्तक को खरीद कर अपने पास रखने से प्राकृत भाषा के अध्ययन में विशेष सुविधा रहेगी। प्राकृत भाषा के अध्येताओं को इसे अवश्य मांगना चाहिये।

२. **डा० कामताप्रसाद जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व** 'लेखक शिवनारायण सक्सेना' एम० ए०, प्रकाशक मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत। मूल्य दो रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वर्गीय डॉ० कामताप्रसाद जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। डा० कामताप्रसाद जी साहित्य सेवी व्यक्ति थे। उन्होंने अनेक पुस्तकों का निर्माण किया है, वे धुन के पक्के थे। उनकी कुछ पुस्तकें परिषद् परीक्षा बोर्ड के पठनक्रम में शामिल है। वे अपने अन्तिम जीवन तक साहित्य-सेवा मे संलग्न रहे। उनकी सेवाओं का मूल्य समाज आंके या नहीं, किन्तु उनका साहित्य उनकी सेवाओं का मूल्य सदा आंकता रहेगा। वे स्वयं एक सजीव संस्था थे। उनका अखिल जैन विश्वमिशन उनकी यादगार को अच्छे रूप में प्रस्तुत करता रहेगा। सक्सेनाजी ने इस पुस्तक में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र है। पुस्तक उपयोगी है मंगा कर पढ़ना चाहिये।

३. **प्रतिनिधि रचनाएँ**—लेखक, नानकसिंह प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य ४) रुपया।

पंजाबी साहित्यकार नानकसिंह की स्वसंकलित प्रतिनिधि रचनाओं का यह संकलन सुन्दर हुआ है, लेखक ने स्वयं अपनी रचनाओं के कुछ अंश प्रस्तुत किये है। उनमें कुछ रचना उपन्यासिक ढंग पर लिखी गई है और कुछ कहानी के रूप में भी निबद्ध है। रचनाएँ स्वाभाविक है और उनमें लेखक के अनुभव की पुट है। लेखक के ५० के लगभग उपन्यास प्रकाशित हो चुके है। कई पर पुरस्कार भी मिल चुका है। प्रस्तुत रचनाएँ अच्छी और स्फूर्ति दायक हैं। आशा है वे पाठकों के मन को अनुरंजित करेंगी।

**परमानन्द शास्त्री**

## पं० रूपचन्द जी गार्गीय का स्वर्गवास

पानीपत मे दि० जैन समाज के सुप्रसिद्ध लगनशील कार्यकर्ता श्री पं० रूपचन्द गार्गीय का आकस्मिक स्वर्गवास ११ दिसम्बर को ११॥ बजे हो गया। आपकी आयु ६४ वर्ष की थी। समाज सेवा की आप को सच्ची लगन थी। सभी प्रगतिशील संस्थाओं एवं आन्दोलनो मे आप सदैव सक्रिय सहयोग देते रहे है। आपके स्वर्गवास से एक सच्चा कार्यकर्ता हमसे छिन गया है। अनेकान्त परिवार की आप के इस दुःख मे हार्दिक संवेदना है।

—अनेकान्त परिवार

---

## वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

R. N. 10591/62.

तोरण—शांतिनाथ संग्रहालय, अहार

---

सरस्वती—शांतिनाथ संग्रहालय, अहार (छायाकार श्री नीरज जैन)

द्वैमासिक फरवरी १९६६

# अनेकान्त
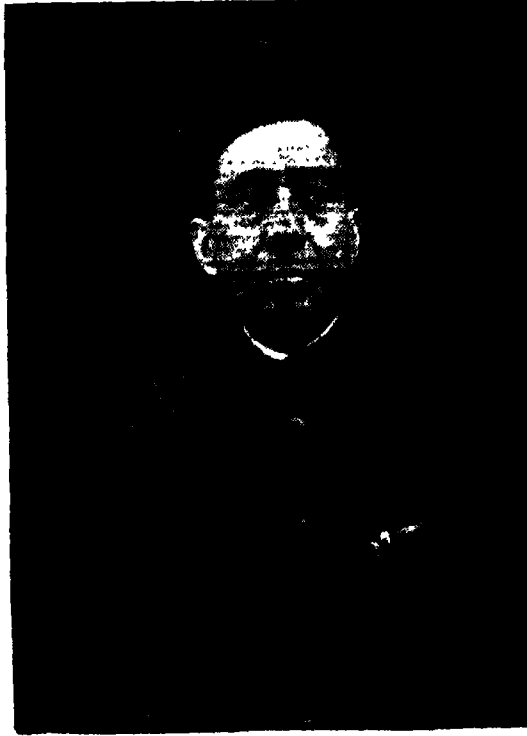
बाबू छोटेलाल जी जैन

जन्म १९ फर्वरी १८९६ मृत्यु २६ जनवरी १९६६

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १. अर्हत्-स्तवन—मुनि पद्मनन्दि | २४१ |
| २. आचार्य मानतुङ्ग—डा० नेमिचन्द शास्त्री एम. ए. पी-एच डी. | २४२ |
| ३. डा० जेकोबी और वासी-चन्दन-कल्प —मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी (द्वितीय) | २४७ |
| ४. गंज-बासौदा के जैनमूर्ति व य यन्त्र-लेख —श्री कुन्दनलाल जैन एम. ए. | २६१ |
| ५. साहित्य में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर —नेमचन्द धन्नुसा जैन न्यायतीर्थ | २६५ |
| ६. भगवान पार्श्वनाथ—परमानन्द जैन शास्त्री | २६६ |
| ७. अनेकान्त का छोटेलाल जैन विशेषांक— | २७५ |
| ८. वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ —डा० राजकुमार जैन एम. ए. पी-एच. डी. | २७६ |
| ९. स्वर्गीय बाबू छोटेलाल जी की अपूर्ण योजनाएँ —नीरज जैन | २८१ |
| १०. बाबू छोटेलाल जी—डा० प्रेमसागर जैन | २८३ |
| ११. वार्षिक विषय सूची | २८७ |


# अनेकान्त को सहायता

७) डा० कस्तूरचन्द जी शास्त्री, एम. ए. पी-एच डी. की सुपुत्री निर्मला और चि० महेशचन्द जी सुपुत्र श्री राजमल जी चादवाड के साथ सम्पन्न होने वाले विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से सात रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए।

**व्यवस्थापक अनेकान्त**

# अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त की १८वें वर्ष की इस छठी किरण के साथ सभी ग्राहको का मूल्य समाप्त हो जाता है। १९वें वर्ष का प्रथमांक 'श्रीछोटेलाल जैन स्मृति अंक' होगा। जा महत्वपूर्ण एवं संग्रहणीय और पठनीय एक बड़ा अंक होगा। इसमें अनेक बहुमूल्य चित्र होंगे। अकेले अक का मूल्य ४) रु० होगा, किन्तु ग्राहक बनने वालों को वह उसी छ. रुपया के मूल्य मे मिलेगा। विशेषांक की प्रतिया भी सीमित परिमाण में छपेगी, अतः अनेकान्त के प्रेमी पाठकों को ६) रुपया मूल्य पहले ही भेजकर ग्राहक श्रेणी में अपना नाम लिखा लेना चाहिये। अकेले विशेषांक पर लगभग ३५ पैसे का पोष्टेज लगेगा। अनेकान्त के पुराने ग्राहको को भी अपना वार्षिक मूल्य शीघ्र मनीआर्डर से भेज देना चाहिये।

—व्यवस्थापक

**अनेकान्त**

**वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।**

**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**

**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०**

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।


| वर्ष १८<br>किरण-६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६<br>वीर निर्वाण सवत् २४९२, वि० सं० २०२२ | फर्वरी<br>सन् १९६६ |
|---|---|---|


## अर्हत्-स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात्,
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥१॥

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रह रूपी राग पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहन्त परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की भी संभावना नही की जा सकती है। इसीलिए राग-द्वेष से रहित हो जाने के कारण उनके समता भाव आविर्भूत हुआ है, और इस समताभाव के प्रकट हो जाने से उनके आत्मावबोध हुआ। उस आत्मावबोध से उनके कर्मों का वियोग हुआ है। अतएव कर्मो के क्षय से जो अर्हन् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणो के आश्रय को प्राप्त हुए हैं। वे अर्हत् परमेष्ठी सदा आप लोगों की रक्षा करें ॥१॥

# आचार्य मानतुङ्ग

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम. ए. पी. एच. डी.

मनुष्य के मन को सांसारिक ऐश्वर्यों, भौतिक सुखों एवं ऐन्द्रियिक भोगों से विमुखकर बुद्धिमार्ग और भगवद्-भक्ति में लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुंग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों मे समान रूप से समादृत है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्त्यात्मिक स्तोत्र-काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्यापूर्तियाँ उपलब्ध है।

आचार्य कवि मानतुंग के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे अनेक विरोधी विचार-धाराएं प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी रायमल्ल कृत 'भक्तामरवृत्ति'१ में जो कि विक्रम सवत् १६६७ में समाप्त हुई है, लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने ४८ सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण कृत "भक्तामरचरित"२ मे है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग को समकालीन लिखा है। इसी आख्यान में द्विसन्धान-महाकाव्य के रचयिता धनञ्जय को मानतुंग का शिष्य भी बताया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका की उत्थानिका मे लिखा है :—

"मानतुंगनामकः शिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवतः परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामर इत्यादि"

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन्! अब मैं क्या करूं? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार भक्तामर-स्तोत्र का प्रणयन किया गया।

वि० स० १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित में मानतुंग के सम्बन्ध मे लिखा है३ :—

ये काशी निवासी धनदेव सेठ के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रसजीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जिनसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था मे भक्तामर की उन्होंने रचना की।

वि० स० १३६१ के मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि ग्रंथ मे लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पंडित थे। वे अपनी विद्वत्ता से एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपनी बहिन से मिलने गया और उसके घर जाकर रात में द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहिन रात में रूठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा प्रातः होने पर मयूर ने कहा—

"हे तन्वंगी! प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा

१. इसका अनुवाद पं० उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२. यह कथा जैन इतिहास-विशारद स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९१६ में बम्बई से प्रकाशित भक्तामर-स्तोत्र की भूमिका में लिखी है।

३. मानतुंगसूरिचरितम्—पृ० ११२-११७—सिंघी ग्रंथमाला, १९४० ई०।

क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्रा के अधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है, अहो ! तो भी तुम क्रोध नही छोड़ रही हो।"

काव्य के तीन पाद बार-बार सुनकर बाण ने चौथा चरण बना कर कहा—'हे चण्डि ! स्तनों के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है'—

**गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव**
**प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।**
**प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो**
**कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम्[१] ॥**

भाई के मुख से चतुर्थ पाद को सुनकर वह लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रातः काल शाल से शरीर ढक कर वह राजसभा मे आया। मयूर ने 'वरकोढ़ी'[२] कहकर बाण का स्वागत किया। बाण ने देवताराधन का विचार किया और सूर्य के स्तवन द्वारा कुष्ठ रोग से मुक्ति पाई। मयूर ने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिका की—"मा भैक्षीर्विभ्रमम्"—स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारपूर्ण दृश्यों के घटित होने के अनन्तर किसी सम्प्रदाय-विद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैन धर्मावलम्बियों में कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहां रहें, अन्यथा उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्य को बुलाकर राजा ने कहा—'अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखलाओ'। वे बोले—हमारे देवता वीतरागी है, उनके चमत्कार क्या हो सकते है। यहाँ उनके किंकर देवताओं का चमत्कार देखा जा सकता है। इस प्रकार कह कर अपने शरीर को चवालीस हथकड़ियों और बेड़ियों से कसवा कर उस नगर के श्री युगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठ गये। भक्तामर-स्तोत्र की रचना करने से उनकी बेड़िया टूट गयी और मन्दिर को अपने सम्मुख परिवर्तित कर शासन का प्रभाव दिखलाया[३]।

मानतुग के सम्बन्धमें एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकर का भी उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामर-स्तोत्रवृत्ति मे, जिसकी रचना वि० सं० १४२६ में हुई है, प्रभावक-चरित के समान ही मयूर और बाण को श्वसुर एव जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।

मानतुंग सम्बन्धी इस परस्पर विरोधी आख्यानो के अध्ययन से निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते है :—

(१) मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि प्रसिद्ध कवियों का एकत्र समवाय दिखलाने की प्रथा १०वीं शती से १६वीं शती तक के साहित्य में उपलब्ध है। बल्लाल कवि विरचित भोज प्रबन्ध मे भी इस प्रकार के अनेक इति वृत्त हैं।

(२) मानतुग को श्वेताम्बर आख्यानों में पहले दिगम्बर और पश्चात श्वेताम्बर माना गया है। इसी परम्परा के आधार पर दिगम्बर लेखकों ने पहले इन्हे श्वेताम्बर और पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदाय-मोह का ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गई और मान्य आचार्यों को अपनी ओर खीचने लगे तो इस प्रकार के विकृत इतिवृत्तों का साहित्य मे प्रविष्ट होना अनिवार्य हो गया।

(३) मानतुग ने भक्तामर-स्तोत्र की रचना की। दोनों सम्प्रदायो ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे अपनाया। आरम्भ मे इस स्तोत्र मे ४८ काव्य-पद्य थे। प्रत्येक पद्य मे काव्यत्व रहने के कारण ही ४८ पद्यों को

१. प्रबन्धचिन्तामणि—सिंघी ग्रंथमाला, सन १९३३ पृ० ४४। प्रभावकचरित के कथानक मे बाण और मयूर को ससुर और दामाद लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि के श्लोक के चतुर्थ चरण में "चण्डि" के स्थान पर "सुभ्रु" पाठ पाया जाता है।

२. 'वरकोढी' प्राकृत पद का पदच्छेद करने पर वरक ओढी—शाल ओढ़ कर आये हो तथा अच्छे कुष्ठी बने हो; ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

३. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंधी ग्रंथमाला, १९३३ ई०, पृष्ठ ४४-४५।

४८ काव्य कहा गया है। इन ४८ पद्यों में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्र और चमर इन चार प्रातिहार्यों के निरूपक पद्यों को ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्यों के विवेचक पद्यों को निकालकर इस स्तोत्र में ४४ पद्य ही माने। इधर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए उक्त चार प्रातिहार्यों के बोधक चार नये पद्य और जोड़कर पद्यों की संख्या ५२ गढ़ ली गयी१। वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्य मे ४८ ही मूल पद्य है।

(४) स्तोत्र काव्यों का महत्त्व दिखलाने के लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानों की योजना की गई है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति कवियों के स्तोत्रों के पीछे कोई-न-कोई चमत्कारपूर्ण आख्यान वर्तमान है। भगवद्भक्ति चाहे वह वीतरागी की हो या सरागी की, अभीष्ट पूर्ति करती है। पूजा-पद्धति के आरम्भ होने के पूर्व स्तोत्रों की परम्परा ही भक्ति के क्षेत्र में विद्यमान थी। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव और कल्याण-मन्दिर प्रभृति जैन स्तोत्रों के साथ भी चमत्कारपूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं। इन आख्यानों मे ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र-पाठ करने से आत्म-शुद्धि उत्पन्न होती है और यही आंशिक शुद्धि अभीष्ट की सिद्धि मे सहायक होती है।

**समय-विचार :—**

मानतुग के समय-निर्णय पर उक्त विरोधी आख्यानो से इतना प्रकाश अवश्य पड़ता है कि वे हर्ष अथवा भोज के समकालीन हैं। अत. सर्व प्रथम भोज की समकालीनता पर विचार किया जाता है। इतिहास में बताया गया है कि सीयक हर्ष के बाद उसका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उपनाम वाक्पति वि० सं० १०३१ (ई० ६७४) में मालवा की गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पति मुञ्ज ने लाट, कर्नाटक, चोल और केरल के साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्य का संरक्षक भी। उसने धारा नगरी में अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभा में पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनाम साहित्यिक रहते थे। मुञ्ज के अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहसांक सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराज के अल्पकालीन शासन के पश्चात् उसका पुत्र भोज परमोरा की गद्दी पर बैठा। इस राजकुल का यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होने का समय ई० सन् १००८ है। भोज ने दक्षिणी राजाओं के साथ तो युद्ध किया ही, पर तुरुष्क एवं गुजरात के कीर्तिराज के साथ भी युद्ध किया। मेरुतुग के अनुसार२ भोज ने पचपन वर्ष, सात मास, तीन दिन राज्य किया था। भोज विद्यारसिक था। उसके द्वारा रचित लगभग एक दर्जन ग्रथ हैं। इन्ही भोज के समय मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपना प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड लिखा है —

"श्रीभोजराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-पदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्री-मत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षा-मुखपदमिदं विवृतमिति"३।

श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने प्रभाचन्द्र का समय ई० सन् १०२० के लगभग माना है। अत: भोज का राज्यकाल ११वी शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुग के भक्तामर स्तोत्र की शैली मयूर और बाण की स्तोत्र-शैली के समान है। अतएव भोज के राज्य मे मानतुग ने अपने स्तोत्र की रचना नहीं की है। अत भोज के राज्य-काल मे बाण और मयूर के साथ मानतुंग का साहचर्य कराना सम्भव नही है।

---

१. अभी एक भक्तामर दि० जैन समाज, भागलपुर (वि० सं० २४६८) मे प्रकाशित हुआ है; जिसमें "वृष्टिर्दिव सुमनसा परित: प्रपात (३५); दुष्णामनुष्य-सहसामपि कोटिसंख्यां (३७); देव त्वदीयमकलामलकेव-लाय (३६) पद्य अधिक मुद्रित है।

श्वेताम्बर मान्यता का एक भक्तामर हमे मिला है; जिसमें 'गम्भीरताररव (३२), मन्दार-सुन्दरनमेरुसुपारि-जात (३३) शुम्भत्प्रभावलय (३४), स्वर्गापवर्ग (३५) पद्य मुद्रित नहीं हैं। ३१वें पद्य के पश्चात् ३६वें पद्य का पाठ ३२वे पद्य के रूप में दिया गया है।

२. पञ्चाशतपञ्चवर्षाणि मासाः सप्त दिनत्रयम्।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौड दक्षिणापथम्॥
—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२, सिंघी ग्रंथमाला १६३३।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ग्रंथान्त-प्रशस्ति।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास विद्वान् डा० ए० बी० कीथ ने भक्तामर-कथा के सम्बन्ध में अनुमान किया है कि कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसारबंधन का रूपक है। उनका कथन है—

"Perhaps the origin of the legend is simply the reference in his poem to the power of the fine to save those in fetters, doubtless meta-phorically applied to the bonds holding men to Carnal life."१

अर्थात्—सम्भवत: इस कथा का मूल केवल उनकी कविता मे पाशों मे आबद्धजनो के बचाने के लिए जिनदेव की शक्ति के उल्लेख में है, जो निश्चय ही मनुष्यो को सासारिक जीवन मे बांधने वाले पाशों के लिए रूपक है।

डा० कीथ ने मानतुग को बाण के समकालीन अनुमान किया है२। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'सिरोही का इतिहास' नामक ग्रन्थ मे मानतुग का समय हर्ष-कालीन माना है। श्रीहर्ष का राज्याभिषेक ई० सन् ६०७ (वि० स० ६६४) में हुआ।

भक्तामर-स्तोत्र के अन्तरग परीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याण-मदिर का पूर्ववर्ती है। कल्याण मन्दिर मे कल्पना की ऊंची उड़ाने हैं वैसी इस स्तोत्र मे नही है। अत: भक्तामर के बाद ही कल्याण-मन्दिर की रचना हुई होगी। अत. भक्तामर की कल्पनाओं का पल्लवन एव उन कल्पनाओं मे कुछ नवीनताओ का समावेश चमत्कारपूर्ण शैली मे पाया जाता है। भक्तामर मे कहा है कि सूर्य की बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबों मे कमलों को विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे पर आपकी नाम-कथा ही समस्त पापो को दूर कर देती है। यथा—

**आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं**
**त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति**
**दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव**
**पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥**

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (९)

कल्याणमन्दिर में उपर्युक्त कल्पना को बीज रूप में स्वीकार कर बताया गया है कि जब निदाघ में कमल से युक्त तालाबकी सरस वायु ही तीव्र आताप से संतप्त पथिकों की गर्मी से रक्षा करती है, तब जलाशय की बात ही क्या? उसी प्रकार जब आप का नाम ही संसार-ताप को दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्र के सामर्थ्य का क्या कहना?

**आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते;**
**नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।**
**तीव्रातपोपहतपान्थ जनान् निदाघे,**
**प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥**

—कल्याणमन्दिर पद्य (७)

भक्तामर-स्तोत्र की गुणगान-महत्त्व-सूचक कल्पना का प्रभाव और विस्तार भी कल्याण मन्दिर में पाया जाता है, भक्तामर स्तोत्र म बताया गया है कि प्रभो! संग्राम में आपके नाम का स्मरण करने से बलवान राजाओ का भी युद्ध करते हुए घोड़ो और हाथियो की भयानक गर्जना से युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अधकार नष्ट हो जाता है। यथा—

**वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-**
**माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।**
**उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं**
**त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥**

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (४२)

उपर्युक्त कल्पना का रूपान्तर कल्याणमन्दिर के ३२वें पद्य में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय में मेघदूत के पाद-सन्निवेश के रहने पर भी कल्पनाओं मे रूपान्तर है। यथा—

**यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम—**
**भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।**
**दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे**
**तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥**

कल्याण मन्दिर स्तोत्र पद्य (३२)

१-२—A history of Sanskrit literature 1941 Page-241-215 (Religious poetry).

इसी प्रकार भक्तामर-स्तोत्र के 'नित्योऽदयं दलित-मोहमहान्धकारं' (पद्य १८) का कल्याण मन्दिर के 'नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन' (पद्य (३७) पर और 'त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्' (पद्य २३) का 'त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्' (पद्य १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपर्युक्त विश्लेषण के प्रभाव में इस स्वीकृति का विरोध नहीं कर सकता है कि भक्तामर का शब्दों, पदों और कल्पनाओं में पर्याप्त साम्य है तथा भक्तामर की कल्पनाओं और पदावलियो का विस्तार कल्याण मन्दिर में हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदन्त के शिवमहिम्न-स्तोत्र से प्राय. मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्रकेसरी स्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शती है। यह शती मयूर, बाणभट्ट आदि के चमत्कारी स्तोत्रों की रचना के लिए प्रसिद्ध भी है।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि ई० सन् की ५वीं शताब्दी मे मन्त्र-तन्त्र का प्रचार विशेष रूप से हुआ है। ५वी शताब्दी में महायान और कापालिकों ने बडे-बड़े चमत्कार की बाते कहना आरम्भ कीं। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कार के युग मे आचार्य मानतुग ने भी भक्तामर-स्तोत्र की रचना की हो। इस स्तोत्र को उन्होंने दावाग्नि, भयंकर सर्प, राज सेवायें, भयानक समुद्र आदि के भयो से रक्षा करने वाला कहा है। जलोदर एवं कुष्ट जैसी व्याधियाँ भी इस स्तोत्र के प्रभाव से नष्ट होने की बात कही गई है। अतः स्पष्ट है कि चमत्कार के युग मे वीतरागी आदि जिनका महत्त्व और चमत्कार कवि ने युग के प्रभाव से ही दिखलाया है। अतएव मानतुग का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

**रचना और काव्य-प्रतिभा :**

मानतुंग ने ४८ पद्य-प्रमाण भक्तामर-स्तोत्र की रचना की है। यह समस्त स्तोत्र बसन्त-तिलका छन्द मे लिखा गया है। इसमे आदितीर्थंकर ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। पर इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थंकर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्य में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार का समावेश किया गया है। इसका भाषासौष्ठव और भाव गाम्भीर्य प्रसिद्ध है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता है कि हे प्रभो ! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा हँसी के पात्र होने पर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। बसन्त में कोकिल स्वयं नही बोलना चाहती, प्रत्युत आम्र-मंजरी ही उसे बलात् कूजने का निमन्त्रण देती है। यथा—

**अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम**
**त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।**
**यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति**
**तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥**

अतिशयोक्ति अलंकार में आराध्य के गुणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन् आप एक अद्भुत् जगत्-प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है न बाती, और न धूम। पर्वतों को कम्पित करने वाले वायु के झोंके भी इस दीपक तक पहुँच नहीं सकते है। तो भी जगत में प्रकाश फैलता है। यथा—

**निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः**
**कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटी करोषि।**
**गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां**
**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥**

भक्तामर स्तोत्र पद्य (१६)

इस पद्य में आदिजिन को सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार का समावेश किया है। अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरण इस स्तोत्र मे और भी कई आये है। पर १७वे पद्य की अतिशयोक्ति बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नही होते, न राहुगम्य है, न आपका महान प्रभाव मेघो से अवरुद्ध होता है एवं आप समस्त लोकों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से अवगत करते है। यथा—

**नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः**
**स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।**
**नाम्भोधरोदरनिरुद्ध महाप्रभावः,**

सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१७)

यहां भगवान को अद्भुत सूर्य के रूप में वर्णित कर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-

त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्

धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्

व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (२५)

इस प्रकार मानतुंग में काव्य-प्रतिभा और इनके इस स्तोत्र काव्य में सभी काव्य-गुण समवेत है।

# डा० जेकोबी और वासी-चन्दन-कल्प

मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी 'द्वितीय'

तेरापथ के चतुर्थ अधिशास्ता श्री मज्जयाचार्य कृत चौबीसियों[1] का सम्पादन कार्य करते समय वासीचन्दन-साम्य का प्रयोग जब सामने आया[2] तो 'उत्तराध्ययन सूत्र'[3] के उन्नीसवें अध्ययन की स्मृति हुई। इस संदर्भ में डा० हर्मन जेकोबी द्वारा अंग्रेजी में अनूदित 'उत्तराध्ययन सूत्र'[3] का अवलोकन किया। उनके द्वारा किया गया विश्लेषण कुछ आश्चर्यजनक लगा।

**उतराध्ययन सूत्र :**

जैन आगम 'उत्तराध्ययन सूत्र' के उन्नीसवें अध्ययन में जैन श्रमण मृगापुत्र के जीवन-वृत्त का सुन्दर चित्रण किया गया। सुग्रीव नामक रमणीय नगर के नृपति बलभद्र और रानी मृगा के बलश्री (मृगापुत्र) नामक युवराज कुमार को, किसी श्रमण को देखकर, पूर्व जन्मों का ज्ञान (जाति स्मरण ज्ञान) होता है। उसे स्मृति होती है, मैं स्वयं पूर्व जन्म में साधु था। सांसारिक दुःखों से मुक्त होने के लिये श्रमणत्व को धारण करना उसे आवश्यक प्रतीत होता है। उसकी आत्मा विरक्ति के पवित्र भावों में रंग जाती है और माता-पिता के साथ एक लम्बे संवाद के पश्चात् उनकी सहमति लेकर राजकुमार मृगापुत्र प्रव्रजित हो जाता है। समस्त सांसारिक आनन्दों को छोड़कर, मृगापुत्र संयम की साधना प्रारम्भ करता है।

निःश्रेयस् की साधना करने वाले साधक के लिये यह अनिवार्य है कि वह अपनी मनःस्थिति में मध्यस्थता की उस वृत्ति का विकास करे, जिससे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में वह समभाव रख सके। साधक मृगापुत्र ने साम्य-योग की इस साधना में अद्वितीय सफलता अर्जित की। उस स्थिति का वर्णन 'उत्तराध्ययन सूत्र' इन शब्दों में करता है—

लाभालाभे सुहेदुक्खे, जीविये मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥
अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पे य उसणे अणसणे तहा[4] ॥

**डा० जेकोबी की व्याख्या**

जर्मन विद्वान् डा० जेकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' की ग्रन्थमाला में 'आचारांग, सूत्रकृतांग, कल्प,' और उत्तराध्ययन, इन चार आगमों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है[5]। मृगापुत्रीय अध्ययन की उक्त गाथाओं का भाषान्तर उन्होंने निम्न प्रकार से किया है :—

१. बड़ी चौबीसी और छोटी चौबीसी।

२. वासीचंदन समपर्ण थिर चित्त जिन ध्याया।
इम तनुसार तर्जीकरी, प्रभु केवल पाया ॥
जयाचार्य कृत चौबीसी (छोटी) ११४

3. Sacred Book of the East Gaina Sutras, To. By Dr. H. Jacobi Vol. XIV.

४. उत्तराध्ययन, सूत्र अध्ययन १९, गाथा ९०,९२

5. Sacred Books of the East, vols. XXII, XIV.

"He was indifferent to success or failure (in begging), to happiness and misery, to life and death, to blame and praise, to honour and insult."

"He had no interest in this world and no interest in the next world, he was indifferent to impleasant and pleasant things, to eating and fasting."1

वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा तथा मान-अपमान में उदासीन था।

उसको (मृगापुत्र को) न तो इस लोक में दिलचस्पी थी, न परलोक में, 'अप्रीतिकर और प्रीतिकर वस्तुओं के के प्रति तथा आहार करने और उपवास करने के प्रति उदासीन था।

'अप्रीतिकर और प्रीतिकर वस्तु',—इन शब्दों की ओर चिन्तन अपेक्षित है। डा० जेकोबी के अनुसार 'वासी' शब्द अप्रीतिकर वस्तु और चन्दन शब्द प्रीतिकर वस्तु के द्योतक हैं। डा० जेकोबी ने 'वासीचन्दनकप्पो' पर एक टिप्पणी भी दी है। उसमें वे लिखते हैं:—

"Vasi Kandana2—Kappo. The author of the Avakuri explains this phrase this he did-not like more a man who anoints himself with sandal than Mason. Apparently he gives to vasa the meaning 'dwelling', but I think that the Juxtaposition of KANDANA calls for a word denoting a bed smelling substance perhaps ordere."3

'वासीचन्दनकप्पो' इसकी व्याख्या करते हुए अवचूरि-कार ने लिखा है: 'वह (मृगापुत्र) अपने पर चन्दन-विलेपन करने वाले को थवई (राजा) से अधिक अच्छा नहीं समझता।' स्पष्टतया, अवचूरिकार ने यहां 'वास' का अर्थ 'रहने का स्थान' (या मकान) किया है, परन्तु मुझे लगता है कि चन्दन के साथ 'वासी शब्द का प्रयोग होने से वासी कोई 'दुर्गन्धयुक्त पदार्थ' या 'विष्ठा' का द्योतक होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकरण का सूक्ष्म अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि डा० जेकोबी और अवचूरिकार१ ने 'वासी' और 'वासीचन्दनकप्पो' की जो व्याख्याएं दी हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। अवचूरिकार ने 'वासी' शब्द को 'वास'—रहने के स्थान के साथ जोड़कर उससे 'थवई' अर्थ निकाला है, जबकि डा० जेकोबी चन्दन के साथ वासी का प्रयोग होने के कारण 'वास' को 'गन्ध' मानकर 'वासी' का अर्थ 'दुर्गन्धयुक्त पदार्थ' या विष्ठा करते है।

**कल्पसूत्र**

इन व्याख्याओं की यथार्थता-अयथार्थता पर चिन्तन करने से पूर्व कल्पसूत्र में प्रयुक्त इसी शब्दावलि को भी देखना आवश्यक है। वहां चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त एवं साधना का क्रम उपलब्ध होता है।

---

1. S.B.E., Vol. XIV, p.p. 98, 99.
२. डा० जेकोबी की संज्ञा पद्धति में 'K' का प्रयोग 'च' के लिये किया गया है।
3. S.B.E. Vol. P.A.A. footnote.

१. यह अवचूरिकार कौन है, इसका उल्लेख डा० जेकोबी ने नहीं किया है। भूमिका में अवचूरि के परिचय में उन्होंने इतना ही लिखा है कि इसकी एक रंगीन प्राचीन पाण्डुलिपि मुझे स्टेस्वर्ग युनिवर्सिटी लायब्रेरी से प्राप्त हुई। यह अवचूरि शान्त्याचार्य की वृत्ति का ही एक संक्षिप्त रूप है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इसके बहुत सारे परिच्छेद देवेन्द्रगणी की टीका से शब्दशः मिलते हैं। (देवेन्द्रगणी की टीका शान्त्याचार्य की वृत्ति पर आधारित है) S. B E Vol XLV. Introduction) हरी दामोदर बेलनकर ने 'जिनरत्नकोष' (पृ० ४४, ४५) मे चार अवचूरिओं का उल्लेख किया है, जिनमें एक तपागच्छ के देवसुन्दर सूरी के शिष्य ज्ञानसागर सूरि (सं० १४४१) की है, दूसरी ज्ञानशीलगणी (?) की है, तीसरी (सं० १४८८) की है, चौथी के रचयिता अज्ञात है। इन चारों अवचूरिओं की पाण्डुलिपि के उपलब्धि स्थानों में स्टेस्वर्ग का उल्लेख नहीं है। अतः यह जानना कठिन है कि जेकोबी द्वारा प्रयुक्त अवचूरि के कर्ता कौन हैं।

भगवान् महावीर की साम्य-योग की साधना का वर्णन करते हुए वहां बताया गया है—"से णं भगवं······वासी-चन्दणसमाणकप्पे समतिण-मणिलेट्ठुकंचणे समदुक्खसुहे······"

डा० जेकोबी ने इन पंक्तियों का अनुवाद करते हुए लिखा है—

"The venerable one......was indifferent to the smell of ORDURE and of sandal, to straw and jewels, dirt and gold, pleasure and pain......."1

'भगवान् (महावीर) विष्ठा की और चन्दन की गन्ध के प्रति, तृण और मणियों के प्रति, धूल और स्वर्ण के प्रति, सुख और दुख के प्रति उदासीन थे······।"

डा० जेकोबी ने यहां पर भी 'वासी' का अर्थ विष्ठा (या दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ) ही किया है। 'वासीचन्दनसमाण-कप्पा' का अर्थ वे "विष्ठा की दुर्गन्ध और चन्दन की सुगन्धि में समभाव वाले" करते हैं।

**मैकडॉनेल का शब्दकोष :—**

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् आर्थर ऐंथनी२ मैकडॉनेल भी 'वासी' शब्द के यथार्थ अर्थ के विषय में संदिग्ध है, ऐसा प्रतीत होता है। प्रस्तुत विषय के अनुसंधान के सन्दर्भ में मैंने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित और मैकडॉनेल द्वारा रचित संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष को देखा। आश्चर्य के साथ मैंने वहां पाया, 'वासी' शब्द का अर्थ दिया ही नहीं गया है। वहां केवल इतना ही उपलब्ध होता है—'वासी Vasi, L. V. Vasi" इसके सामने का स्थान बिना अर्थ के ही रिक्त छोड़ दिया गया है। सहज ही यह अनुमान लगता है; कोषकार या तो इस शब्द से अनभिज्ञ है अथवा वे इसके सही अर्थ के बारे में संदिग्ध है।

1. S.B.E. Vol. XXII. P. 262.
२. आर्थर ऐंथनी मैकडॉनेल, एम० ए०, पी० एच-डी० संस्कृत साहित्य के उच्चकोटि के ज्ञाता और विश्रुत कोषकार हैं। उनकी कई प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

जैन आगमों तथा अन्य आधारभूत ग्रन्थों, टीकाओं, अनुवादों और शब्दकोषों के आधार पर डा० जेकोबी द्वारा की गई व्याख्या की यथार्थता की समीक्षा करना प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य है।

**जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र :—**

जैन आगमों के छट्ठे उपांग४ 'जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति-सूत्र के मूल पाठ में ही इस उक्ति की स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध हो जाती है प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के साधनाक्रम पर प्रकाश डालते हुए वहां बताया गया है :—

"जप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोमलिये मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए तप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोमलिये······णिम्ममे णिरहंकारे, लहुभूए अगंथे 'वासीतच्छणे अदुट्ठे, चंदणाणुलेवणे अरत्ते लेट्ठुंमि कंचणंमि अ समे······विहरइ।"५

पूर्व उद्धृत 'उत्तराध्ययन सूत्र' व 'कल्पसूत्र' के 'वासी-चंदणकप्पो व 'वासीचंदणसमाणकप्पो की तुलना प्रस्तुत पाठ 'वासीतच्छणे अदुट्ठे' 'चंदणाणुलेवणे अरत्ते' के साथ करने से स्पष्ट हो जाता है कि जो बात वहां संक्षेप में बताई गई है, वह यहां विस्तारपूर्वक और स्पष्टता से कही गई है। उक्त पाठ का अनुवाद अपने आप में स्पष्ट और सरल है, फिर भी टीकाकार के शब्दों में वह और अधिक गम्य बन जाता है। प्रसिद्ध वृत्तिकार शान्तिचन्द्र, वाचकेन्द्र६ इसकी वृत्ति में लिखते है :—"वास्या-सूत्रधारशस्त्रविशेषण यत्तक्षणोन्वच उत्खननं तत्राद्विष्टः अद्वेषवान् चन्दनानुलेपनेऽरक्तः—अरागवान्।"७ इस

४. कुछ एक इसे पांचवा उपांग भी मानते हैं।
५. जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र, वक्षस्कार २, सूत्र ३१
६. वि० सं० १६६० में 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' पर 'प्रमेयरत्नमञ्जूषा" नामक वृत्ति लिखी। द्रष्टव्य, हरि दामोदर वेलनकर, जिनरत्नकोष, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना, १९४४, पृ० १३१।
७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र सटीक, शेठ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९२०, वक्षस्कार २, सूत्र ३१ की वृत्ति।

प्रकार वृत्तिकार के अनुसार 'वासी' सूत्रधार या बढ़ई का एक शस्त्र विशेष है, तक्षण का तात्पर्य है—चमड़ी का छीलना। वासी के द्वारा चमड़ी छिले जाने पर वे ((भगवान्) 'अद्विष्ट-द्वेष' नहीं करने वाले थे। और चन्दन से अनुलेपन होने पर वे 'अरक्त-राग' नहीं करने वाले थे। इस व्याख्या के आधार पर उपरोक्त समग्र पाठ का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—जब से ही कोसल निवासी अरिहंत ऋषभ-मुंडित होकर गृहस्थ से साधु अवस्था में प्रव्रजित हुए, तब से कोसल निवासी अरिहंत ऋषभ······ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, लघु-भूत, ग्रन्थी-रहित, वासी (बढ़ई के शस्त्रविशेष-वसूला) के द्वारा उनकी चमड़ी का छेदन (करने वाले) के प्रति द्वेष नहीं रखने वाले, चन्दन के द्वारा लेप करने वाले के प्रति राग नहीं रखने वाले, मिट्टी के ढेले और स्वर्ण के प्रति समभाव रखने वाले······विचरते थे।

वृत्तिकार 'वासी' को बढ़ई का एक शस्त्र विशेष बताते हैं, जो कि वसूला ही है। अन्यान्य प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होगी।

**महाभारत :—**

भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के साहित्य में शब्द-साम्य और उक्ति-साम्य अद्भुत रूप से दृष्टि-गोचर होता है। 'महाभारत', जो कि वैदिक संस्कृति का प्रमाणभूत ग्रंथ है। बहुत स्थानों में जैन आगमों में प्रयुक्त उक्ति व शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत करता है।[1] इस महाकाव्य में एक स्थल पर 'वासीचन्दन' की सूक्ति का प्रयोग भी हुआ है। महाभारत-युद्ध के पश्चात् जब युधिष्ठिर का मन राज्य से विरक्त हो जाता है, तब वे अरण्य में संन्यास-जीवन बिताने की इच्छा प्रकट करते हुए अर्जुन से कहते हैं :—

"साधु गम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥
हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत्तपः।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥
न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥
अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जीजिविषुवत्किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥"[2]

युधिष्ठिर ने साम्ययोगी की कल्पना प्रस्तुत करते हुए इस प्रकाश में कहा है—"मैं ग्राम्यसुखों का परित्याग करके साधु पुरुषों के चले हुए मार्ग पर तो चल सकता हूँ, परन्तु तुम्हारे आग्रह के कारण कदापि राज्य स्वीकार नहीं करूँगा।

मैं गंवारों के सुख और आचार पर लात मारकर वन में रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा। फल-मूल खाकर मृगों के साथ विचरूँगा।

"किसी के लिए न शोक करूँगा, न हर्ष, निन्दा और स्तुति को समान समझूंगा। आशा और ममता को त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करूँगा।

"कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्था में मेरी स्थिति समान होगी। मैं महान तप से संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जिसे जीने और मरने की इच्छा वाले लोग करते हैं।

न तो जीवन का अभिनन्दन करूँगा, न मृत्यु से द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बांह को बसूले से काटता हो और दूसरा दूसरी बाहु को चन्दनमिश्रित जल से सींचता हो तो न पहले का अमंगल सोचूंगा और न दूसरे की मंगलकामना करूँगा। उन दोनों के प्रति समान भावना रखूंगा।"[3]

---

1. द्रष्टव्य महाभारत अने उत्तराध्ययन सूत्र, ले० उपेन्द्रराय जयचंद भाई सांडेसरा, प्र० डा० भोगी-लाल सांडेसरा, बड़ोदरा, १९५३
2. महाभारत (शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व) १२, अध्याय ९, श्लोकर, ४,१४,२४,२५,२५१।
3. महाभारत, अनु० पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, खण्ड ५, पृष्ट ४४४१; तुलना कीजिये, महाभारत, अनु० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, औध (जि०सतारा), १९२९। श्री सातवलेकर ने वासी

'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' और 'महाभारत' में अद्भुत साम्य है। इन दोनों ग्रन्थों ने वासी-चन्दन-तुल्यता की सूक्ति का स्पष्ट प्रयोग कर इसके गूढ़ अर्थ को व्यक्त कर दिया है। ऐसा लगता है, दोनों संस्कृतियों में यह सूक्ति बहुत प्रसिद्ध थी। साधक की उच्च स्थिति का चित्रण करने के लिए दोनों संस्कृतियों का वाङ्मय एक ही सूक्ति को प्रयुक्त करता है। यह समानता जहाँ आश्चर्य को उत्पन्न करती है, वहाँ भारतीय सांस्कृतिक एकता की प्रमाण भी बनती है।

'जम्बूद्वीप और महाभारत' के मूल पाठ अपने आप में इतने स्पष्ट है कि टीका या अनुवाद का आधार लिए बिना ही इनकी व्याख्या सरलतया की जा सकती है। इस प्रकार इन आधारभूत और मौलिक ग्रन्थों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वासी' का अर्थ दुर्गन्धयुक्त पदार्थ, विष्ठा या रहने का स्थान न होकर बढ़ई का एक शस्त्र विशेष (बसूला) है।

**जैन आगमों के टीकाकार**

जैन आगमों में कई स्थानों पर 'वासी' और वासी-चन्दनतुल्यता की सूक्ति का प्रयोग किया है। अनेक टीकाकारों ने इसकी क्या-क्या व्याख्याएँ दी है और उन व्याख्याओं में कौनसी यथार्थ हैं, यह भी आवश्यक है।

१. **उत्तराध्ययन सूत्र** के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभ सूरि[१] ने सम्बन्धित गाथाओं की व्याख्या करते हुए लिखा है—"पुनः कीदृशः? अनिश्रितो निश्रारहित, कस्यापि साहाय्यं न वांछति, तथा पुनरिह लोके राज्यादिभोगे तथा परलोके देवलोकादिसुखेऽनिश्रितो निश्रां न वांछति, पुनः स मृगापुत्रो वासीचन्दनकल्पः?—यदा कश्चिद् वास्या-पर्शुना शरीरं छिनति कश्चिच्चन्दनेन शरीरमर्चयति, तदा तयोरुपरि समान—कल्पसदृशाचारः तथा पुनरशने आहार करणे, तथाऽनशने आहाराऽकरण सदृशः।"[२]

"वह (मृगापुत्र) कैसे थे? आश्रयरहित—किसी की भी सहायता की वांछा नहीं करते थे, इस लोक में राज्यादि भोग के तथा परलोक में देवलोकादि के सुख के आश्रय की इच्छा नहीं रखते थे, वह वासीचन्दनकल्प—कोई 'वासी' अर्थात् परशु द्वारा शरीर का छेदन करता है और कोई चन्दन द्वारा शरीर की अर्चना करता है, उन दोनों के प्रति समान आचरण करने वाले थे तथा आहार और अनशन में भी उनकी समान वृत्ति थी।"

दीपिकाकार ने यहाँ बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया है कि मृगापुत्र अपने शरीर को परशु से छेदने वाले और चन्दन से अर्चा करने वाले के प्रति सम आचार वाले थे। दोनों के प्रति राग द्वेष से विरत थे। यहाँ वासी का पर्यायवाची शब्द 'परशु' दिया गया है; जोकि 'कुठार' का ही पर्यायवाची है। वासी और 'कुठार' में वास्तविक अन्तर थोड़ा ही है। 'वासी' को 'कुठालिका' कहा जा सकता है। इस थोड़े से अन्तर को छोड़कर दीपिकाकार की व्याख्या 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' के साथ पूर्ण रूप से मेल खाती है।

(२) उत्तराध्ययन सूत्र के एक अन्य टीकाकार भावविजयजी[३] ने 'वासी चन्दणकप्पो की व्याख्या करते हुए लिखा है :—"वासीचन्दन व्यापारकपुरुषयोः कल्पस्तुल्यो यः स तथा तत्र वासी सूत्रधारस्य दारुतक्षणोपकरण।"[४]

वासी और चन्दन के कार्य में प्रवृत्त दो पुरुषों के प्रति जो तुल्य है; वासी बढ़ई का काष्ठ को छीलने का उपकरण है।

टीकाकार यहाँ भी उसी अर्थ की पुष्टि करते है कि वासी—काष्ठछेदन के उपकरण द्वारा छेदन-कार्य में प्रवृत्त

---

का अनुवाद कुठार किया है। कुठार भी बढ़ई का एक शस्त्र है, परन्तु बसूले की अपेक्षा में यह बड़ा होता है। विशेष चर्चा इसी निबन्ध में 'विश्वकोष' और शब्दकोष' शीर्षक के अन्तर्गत की गई है।

१. उत्तराध्ययन सूत्र पर उन्होंने 'दीपिका' नामक टीका लिखी है। द्रष्टव्य, हरि दामोदर वेलनकर, पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० ४५

२. उत्तराध्ययन सूत्र दीपिका सहित, प्र० हीरालाल हंसराज, जैन भास्करोदय प्रिंटिंग प्रेस, जामनगर, पृ० ७२६

३. रचना काल वि० सं० १६८६। द्रष्टव्य, हरि दामोदर वेलनर, पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० ४४

४. उत्तराध्ययन सूत्र भावविजयगणी विरचित वृत्ति सहित, प्र० जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १६१८, पृ० १४०३, अध्ययन १६, गाथा ६२

पुरुष और चन्दन द्वारा लेपन-कार्य में प्रवृत्त पुरुष के प्रति जो समान भाव रखता है, वह वासीचन्दनकप्प है।

(३) कल्पसूत्र के एक टीकाकार,१ शान्तिसागर ने प्रस्तुत रूप में प्रयुक्त 'वासीचन्दनसमाणकप्प' की व्याख्या इस प्रकार की है—"काष्ठछेदनोपकरणवासीचन्दनतुल्ययोः छेदनपूजकयो विषये समभावः।"२

टीकाकार ने यहाँ वासी का अर्थ तो 'काष्ठछेदन करने का उपकरण' किया है, किन्तु समग्र सूक्ति का अर्थ पूर्व व्याख्या से कुछ भिन्न किया है। उनके अभिमत में समग्र सूक्ति का अर्थ है—"वासी और चन्दन के तुल्य छेदक और पूजक के विषय में समभाव रखने वाले।" यहाँ वासी और चन्दन शब्द को रूपक समझकर—वासी के समान जो व्यक्ति है अर्थात् छेदक और चन्दन के समान जो व्यक्ति है अर्थात् पूजक—इन दोनों में समभाव रखने वाले 'वासी चन्दन समान कल्प' कहलाते हैं। भावार्थ की दृष्टि से पूर्व व्याख्या और इस व्याख्या में अधिक अन्तर नहीं है, फिर भी इतना अन्तर तो अवश्य है कि यह व्याख्या रूपकात्मक है, जब कि पूर्व व्याख्या शब्दशः है। पूर्व व्याख्या में 'वासी' और 'चन्दन' को रूपक के रूप में ग्रहण न कर सीधे शब्दशः ग्रहण किया गया है। क्योंकि वहाँ वासी का तात्पर्य 'वसूला' (से काटने वाला) और चन्दन का अर्थ चन्दन (से अनुलेपन करने वाला) किया है, जब कि यहाँ 'वासी' का तात्पर्य 'वसूले के समान छेदने वाला' और चन्दन का अर्थ 'चन्दन के समान पूजने वाला' किया गया है।

(४) 'कल्पसूत्र' के अन्य टीकाकार विनयविजयजी३ ने प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या इस प्रकार की है—"वासी सूत्रधारस्य काष्ठच्छेदनोपकरणं, चन्दनं प्रसिद्धं, तयो द्वयो विषये समाणकप्पे-समानकल्पस्तुल्याध्यवसायः।"४

विनयविजयजी की यह व्याख्या प्रायः प्रथम व्याख्या के समान ही है। ये वासी का अर्थ 'बढ़ई का एक उपकरण' करते हैं तथा समग्र सूक्ति का अर्थ "वासी और चन्दन के विषय में तुल्य-अध्यवसाय वाले" ही करते हैं। इस 'विषय में' कहने से यही तात्पर्य निकलता है कि 'वासी से छेदन होने वाले प्रसंग में' और 'चन्दन से लेपन होने के प्रसंग में।' इस प्रकार यह व्याख्या जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की व्याख्या को ही पुष्ट करती है।

(५) लक्ष्मीवल्लभ सूरि, जिनकी 'उत्तराध्ययन' की टीका को उद्धृत किया जा चुका है, 'कल्पसूत्र' की टीका५ में प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या कुछ भिन्न रूप से करते हैं। वे लिखते हैं—"वासी चन्दणसमाणकप्पे—यथा पर्शुना चन्दनवृक्षः छिद्यमानः पर्शुमुखं सुरभीकरोति तथा भगवानपि दुःखदायकेऽपि उपकारं करोति अथवा पूजके छेदके च उभयोरुपरि समानकल्पः।"६

टीकाकार यहाँ वासी का अर्थ 'परशु' करते है तथा समग्र पाठ का अर्थ दो विकल्पों में प्रस्तुत करते है—

[१] कुठार से चन्दन के वृक्ष को काटने पर चन्दन कुठार के मुख को सुगन्धित करता है। भगवान् भी उसी प्रकार दुःख देने वाले पर भी उपकार करते हैं।

[२] पूजक और छेदक—दोनों पर समभाव रखने वाले हैं।

टीकाकार ने यहाँ प्रथम विकल्प में आलंकारिक अर्थ ग्रहण किया है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते है, जिनमें चन्दन की उपमा या रूपक से सज्जन की प्रकृति का चित्रण किया गया है। 'जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र' और 'महाभारत' जैसे ग्रन्थों में प्रस्तुत सूक्त आलं-

---

१. वि० सं० १७०७ में कौमुदी नामक टीका के लेखक, द्रष्टव्य, वेलनकर पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० ७७

२. कल्पसूत्र, कौमुदी टीका सहित, प्र० ऋषभदेव केसरीमल संस्था रतलाम, १६३६, सूत्र ११६

३. वि० सं० १६६६ में सुबोधिका टीका लिखी। द्रष्टव्य, वेलनकर, पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० ७७

४. कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका सहित, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १६१५, सूत्र ११६

५. इन्होंने कल्पसूत्र पर कल्पद्रुमकलिका नामक टीका जिन सौभाग्य सूरि (वि० सं० १८६२) के समय में लिखी है। द्रष्टव्य, वेलनकर, पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० ७८

६. कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका सहित, प्र० वेलजी शिवजी, बम्बई, १६१८, पृ० १३६

कारिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर सीधे ही प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसकी आलंकारिक व्याख्या साहित्य-मान्य होने पर भी मौलिकता के अभाव में यहाँ स्वीकार्य नहीं है।

टीकाकार ने दूसरे विकल्प में जो व्याख्या दी है, वह प्रायः उत्तराध्ययन की टीका की व्याख्या के समान ही है। यद्यपि यहाँ जो व्याख्या दी गई है, वह उतनी स्पष्ट नहीं है, फिर भी इसका भाव वैसा ही है। 'छेदक' से 'वासी से छेदने वाले' और 'पूजक' से 'चन्दन से पूजने वाले' का तात्पर्य है।

[६] प्रथम उपांग 'उववाई सूत्र' में भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग 'भगवान् महावीर के अनगारों की साधना के वर्णन में किया गया है। मूलसूत्र में बताया गया है— से णं भगवती—वासीचन्दणसमाणकप्पा समलेटकचणा—विहरन्ति१।"

इस पाठ की व्याख्या करते हुए नवाङ्गी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि लिखते हैं—"वासीचन्दनयोः प्रतीतयोरथवा वासीचन्दने अपकारोपकारकौ तयो समानौ निर्द्वेषरागत्वात्समः कल्पौ विकल्पः समाचारो वा येषा ते वासीचन्दनसमान कल्पाः२।"

"वासी और चन्दन के समान अपकारी व उपकारी दोनों के प्रति राग-द्वेष रहित होने से समान आचार है, जिनका वे 'वासी चन्दन समान कल्पा है।"

अभयदेव सूरि ने यहाँ आलकारिक अर्थ ग्रहण किया है, किन्तु थोड़े-से भिन्न रूप में। यहाँ 'वासी' से 'वासी के समान अपकारी' और 'चन्दन' से 'चन्दन के समान उपकारी'—ऐसा अर्थ ग्रहण किया है। यहाँ स्पष्ट रूप से 'वासी' शब्द का अर्थ नहीं दिया गया है, फिर भी अपकारी के रूपक के रूप में ग्रहण होने से 'वासी' का तात्पर्य 'वसूला' या 'काष्ठ छेदन का उपकरण' ही ग्रहण करना होगा।

[७] जैन आगमों के नवम् अंग प्रश्न व्याकरण सूत्र में ही 'वासी' शब्द स्पष्ट रूप से 'वसूले' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। एक प्रसंग में वहाँ नारक-जीवों की वेदना का विवरण दिया गया है। वहाँ नरक में प्रयोग होने वाले शस्त्रास्त्रों की भी एक लम्बी सूची मिलती है। मूल पाठ इस प्रकार है :—

"पुव्वकम्मकय संचयोवतत्ता निरयग्गि-महाग्गिसंपलित्ता——इमेहिं विविहेहिं आयुहेहिं किंते ? मोग्गर-मुसुंढि-करकय -सत्ति-हल-गय-मुसल——खग्ग- चाव - नाराय-कणक कप्पणि-वसि-परसु-टंकतिक्ख-निम्मल अण्णेहिय एवमादिएहिं असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसतेहिं अणुबद्ध तिव्वरा परोप्पर वेयणं उदीरेंति अभिहणंता——३"।

"पूर्व कृत कर्म के संचय से संताप पाए हुए भयंकर अग्नि की तरह निरयर स्थान की अग्नि से जले हुए वे जीव . . . इन विविध आयुधों से परस्पर वेदनाओं का उदीरण करते हैं। वे कौन से आयुध हैं ? मुद्गर, मुशुंडि, करवत, शक्ति, हल, गदा, मुसल,—तलवार, धनुष, लोहे का बाण, कणक, (बाणका एक प्रकार) कैंची, वसूला, परसु—ये सभी शस्त्र अग्र भाग पर तीखे और निर्मल हैं और दूसरे-दूसरे अनेक अशुभ कारक वैक्रिय सैकड़ों प्रकार से शस्त्रों से, सदा उत्कट वैर-भाव रखने वाले (नारक जीव) परस्पर वेदनाओं का उदीकरण करते हैं।"

यहां पर दी गई सूची में वासी शब्द परशु के साथ आया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि वासी बढ़ई का एक हथियार है, जिसको 'वसूला' (अंग्रेजी में Adze) कहते हैं४।

(८) उत्तराध्ययन सूत्र में ही एक अन्य स्थान पर वासी शब्द का प्रयोग वसूले के अर्थ में हुआ है। द्वीन्द्रिय जीवों के नामों की सूची में 'वासीमुख' नामक जन्तु विशेष का उल्लेख है५। प्रायः सभी टीकाकारों ने उसका अर्थ 'वासी' अर्थात् वसूले की तरह मुँह वाला (एक

---

१. उववाई सूत्र (अभयदेव सूरि टीका सहित) प्र० राय धनपतसिंह बहादुर, कलकत्ता, १६३६, पृ० १००

२. वही, पृ० १००

३ प्रश्न व्याकरण सूत्र, प्रथम आश्रव द्वारा, ५१४।

४. Bhargva's Illustrated English-Hindi Dictionary, p. 28.

५. किमिणो सुमंगला चेव अलस्सा मायवाहया।
वासीमुहा य सिप्पी य, संखा संखणगा तहा॥
उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।१२६।

कीट)१ किया है। यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं डा० जेकोबी ने 'वासी' का अर्थ वसूला किया है। अवचूरि के आधार पर 'वासीमुख' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"Vasimukha explained: Whose mouth is like a chisel or a dye. There are many insects, e.g. The curculionidal2 which suit this description."3

"जिसका मुंह परसु या वसूले की तरह हो। इस वर्णन के अनुरूप अनेक कीट होते हैं, उदाहरणार्थ—फल आदि में लगने वाला कीड़ा।"

यहां स्पष्ट रूप से 'वासी' का अनुवाद 'Chisel' या 'adze' किया गया है। यह अनुवाद डा० जेकोबी ने अवचूरी के आधार पर किया है४। यह सन्देह अवश्य उत्पन्न होता है कि डा० जेकोबी और अवचूरिकार 'वासी' के इस अर्थ से परिचित होते हुए भी 'वासीचन्दनकल्प' की व्याख्या में इसका आधार क्यों नहीं लेते हैं। सम्भवत: इसका कारण यह हो सकता है कि 'चन्दन' के साथ 'वासी' का प्रयोग होने से प्रस्तुत अर्थ की कल्पना सहज रूप से न हुई हो। कुछ भी हो, यह तो निश्चित हो ही जाता है कि वासी 'बढ़ई के उपकरण वसूले' का ही नाम है।

**शब्दकोष और विश्वकोष**

वासीचन्दनकल्प की सूक्ति ने जिस प्रकार व्याख्याकारों को उलझन में डाला है, कोषकार भी उससे बच नहीं पाये। पाश्चात्य कोषकार आर्थर ऐंथनी मैकडानेल की 'वासी' शब्द के विषय में संदिग्धता स्पष्ट है। भारतीय कोषकारों में 'अमरकोष' के कर्ता अमरसिंह 'वासी' का कोई उल्लेख ही नहीं करते है५। किन्तु अन्य कोषकारों ने वासी शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया है।

(१) 'अभिधान-चिन्तामणि नाममाला'—के कर्ता महान् जैन विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र इस विषय में बहुत, ही विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अभिमतानुसार 'वासी' के पर्यायवाची नाम इस प्रकार हैं—वृक्षभित्, तक्षणी, वासी६।"

हेमचन्द्राचार्य ने 'नाममाला' की स्वोपज्ञ टीका में इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—"वृक्षान् भिनत्ति-वृक्षभित् ॥१॥ तक्ष्यतेऽनया-तक्षणी ॥२॥ वासी हस्ते वासि: कृशृकुटि (उणा—६१९) इति णिदि: ङ्या वासी७ ॥३॥

इस प्रकार 'वृक्षभित्', 'तक्षणि' और 'वासी'; तीनो शब्द काष्ठछेदन मे प्रयुक्त शस्त्र या उपकरण विशेष के घोतक है। जो वृक्षों को भेदता है, वह वृक्षभित्, जिससे वृक्ष की त्वचा का उत्खनन होता है, वह तक्षणी; जो हाथ में रहती है, वह वासी है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के साथ-साथ विद्वान् कोषकार व्याकरण के सूत्रों को उद्धृत कर यह सिद्ध करते हैं कि 'वासि' और 'वासी' दोनों ही रूप बनते है। इस व्युत्पत्त्यात्मक व्याख्या से भी यह निश्चित हो जाता है। कि वासी काष्ठ-छेदन का ही शस्त्र विशेष है। 'नाममाला' के भाषाटीकाकार इसका पर्यायवाची नाम "बांसलो इति भाषायाम्"८ दिया है।

२. **अनेकार्थ संग्रह**—हेमचन्द्राचार्य ने अपने एक अन्य शब्दकोष में भी 'वासी का उल्लेख किया है। अभिधान चिन्तामणि की पूर्ति में रचित अनेकार्थ संग्रह मे उन्होंने 'मुसवा का एक पर्यायवाची शब्द 'वासी' दिया है। मूसा शब्द के अनेक अर्थ बताते हुए लिखते हैं—

१. उदाहरणार्थ देखें, लक्ष्मीवल्लभीय टीका, पृ० १२४४
2. A fruit Weevil.
3. S. B. E., VOL. XLV., p. 219 footnot 4.
४. वही, पृ० २१९, टिप्पणी संख्या १
५. अमरकोष का रचनाकाल ईस्वी ५०० के लगभग माना जाता है। देखें, :—
A History of Sanskrit Literature by Arthur Anthony Mecdanell, p. 433.
६. अभिधान चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड, श्लोक ५८१ : तंवर :
७. अभिधान चिन्तामणि स्वोपज्ञटीका सहित संपा० हरगोविन्ददास और बेचरदास, प्र० नाथालाल लक्ष्मीचन्द वकील, भावनगर, १९१४, पृ० ३६७
८. अभिधान चिन्तामणि (हेम) कोश, रत्नप्रभा व्याख्याविभूषित, प्रमुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, १९२५, पृ० २०७

शतपुष्पामधुर्योश्च मृत्सा वासी सुमृत्तिका ।
रसःस्वादे जहा वीर्ये भृङ्ग गारावादो विषे द्रवे ॥

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार 'मृत्सा' और 'वासी' और 'सुमृत्तिका'; दोनों अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। इस कोष के टीकाकार, ग्रन्थकर्ता के शिष्य महेन्द्रसूरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है। (मृत्सा)

वासी तक्षोपकरम् सुमृत्तिकाय यथा ।
निः शाल्ये संस्कृते तत्र मृत्सारचित वेदिक ॥

इस प्रकार 'मृत्सा' और 'वासी'; दोनों शब्द तक्षण अथवा छेदन के उपकरण विशेष है। 'मृत्सा' का दूसरा अर्थ यहाँ उपयोगी नहीं है, अतः उसकी चर्चा भी अपेक्षित नहीं है।

३. **शब्दकल्पद्रुम**—संस्कृत भाषा के 'महत्त्वपूर्णकोष-शब्दकल्पद्रुम' में 'वासी' शब्द की व्यत्पत्ति व व्याख्या इस प्रकार की गई है—"वासी (स्त्री) वासयतीति वासी अन्त। गोरादित्वाद् डीष्। तक्षणी। वाइस इति ख्याता-स्त्रम्। इति त्रिकाण्डशेष।

वासिः (पु० वस् निकासे+वसिवपियतिसराणीति) उणा ४।१२४ इति इञ्। कुठारभेदः वाइस इति भाषा। इत्यणादि कोषः।"३ कोषकार त्रिकाण्डशेष४ को उद्धृत करते हुए वासी शब्द (स्त्रीलिंग) की व्यत्पत्ति वासपति क्रिया से करते हैं और उसका संस्कृत पर्यायवाची नाम तक्षणी तथा भाषा का पर्यायवाची नाम 'वाइस' देते हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' के कर्ता ने पुल्लिग 'वासि' शब्द को 'वस्-निवासे' क्रिया से सिद्ध किया है और उसका भी अर्थ 'एक प्रकार का कुठार' तथा भाषा में 'वाइस' किया है। 'तक्षणी' अथवा 'कुठार का एक प्रकार' वसूले के ही द्योतक हैं।

४. **अभिधान राजेन्द्र कोष**—प्राकृत के इस जैन विश्वकोष (Encyclopaedia) में अनेक प्रमाणभूत ग्रन्थों के उद्धरण सहित निम्न रूप से 'वासी' शब्द की व्याख्या दी गई है५—

'वासी-वासी-स्त्री। 'वसूला' इति ख्याते लोहका-रोपकरणविशेषे, हा० २९ अष्ट०।६ आचा०७। ज्ञा०८।"

यहाँ विश्वकोष के कर्ता स्पष्ट रूप से 'वासी' का अर्थ 'वसूला' करते हैं और उसको लुहार का एक उप-करण विशेष बताते हैं।

'वासीचन्दनकल्प' की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—वासीचन्दणकप्प-वासीचन्दनकल्प—पु० उप-कार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थ, आव० ५ अ०। वासीव वामी—अपकारी तां चन्दनमिव दुष्कृतं तक्षणहेतुतयोप-कारकत्वेन कल्पयन्तिमन्यन्ते वासीचन्दनकल्पाः हा०। यदाह—

'यो मामपकरोत्येष तत्त्वेनोपकरोत्यसौ।
शिरोमोक्षनद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुजम् ॥

अथ वास्यामपकारिण्या चन्दनस्य कल्प इव च्छेद इव ये उपकारित्वेन वर्तन्ते। वासीचन्दनकल्पाः। आह च—

'अपकारपरेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः।
सुरभीं करोति वासीं मलयजमपि तक्षमाणमपि ॥'

वास्या व चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा।

---

१. अनेकार्थ संग्रह, महेन्द्रसूरि द्वारा रचित वृत्ति महित, संपा० थियोडेर भंकरीया, प्र० आल्फ्रेड होल्डर, वीयेना, १८९३, द्वितीय काण्ड, श्लोक ५७३, पृ० ४३ (सिरीज ऑफ संस्कृत लैक्सीकोग्राफी इम्पीरयल ऐकेडेमी ऑफ सायन्सीस, वियेना, खण्ड १)
२. वही, पृ० ८३
३. शब्दकल्पद्रुम, स्यार राजा राधाकान्त देव बहादुर, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६० काण्ड ४, पृ० ३५७
४. अमरकोष की पूर्ति में पुरुषोत्तम देव द्वारा रचित (अनुमानित रचनाकाल ईस्वी १३००); देखिये—A History of Sanskrit Literature by Arthur A. Macdonell, Williom Herinc monn, London, 1917, p. 433.
५. अभिधान राजेन्द्रकोष (जैन विश्वकोष), प्राकृत मागधी से संस्कृत, ले० विजयराजेन्द्रसूरि रतलाम, १९३४, खण्ड ६, पृ० ११०८
६. हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण, अष्टक संख्या २९
७. आचारांग सूत्र
८. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

अथ वास्यां चन्दनकल्पाश्चन्दनतुल्या ते तथा। भावना तु प्रतीतैव। हा० २९ अष्ट०। आ०१।

यहां पर कोषकार 'आवश्यक' और 'हारिभद्रीय' 'अष्टक' की वृत्तियों को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत शब्द की व्याख्या कर रहे हैं।

'आवश्यकसूत्र की वृत्ति के अनुसार 'वासीचन्दनकल्प' का अर्थ है—'उपकारी और अनुपकारी में मध्यस्थ।'

हारिभद्रीय 'अष्टक प्रकरण' के वृत्तिकार ने 'वासी' का अर्थ तो 'काष्ठछेदन का उपकरण' किया है, पर 'कल्प' शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत करते हुए समस्त शब्द की व्याख्या विभिन्न अर्थों में की है२।

(१) 'कल्प' शब्द की व्याख्या कल्पयन्ति' अर्थात् 'मन्यन्त' हो सकती है। इसके आधार पर समग्र शब्द का अर्थ होता है—जैसे चन्दन वसूले को अपना उपकारी समझता है, वैसे वे (वासीचन्दनकल्पाः) अपने अपकारी को भी उपकारी मानते है। (चन्दन वासी को उपकारी इसलिए मानता है कि वह छेदन के द्वारा चन्दन को अपनी सुगन्ध फैलाने का अवसर प्रदान करता है।) इस व्याख्या के साथ वृत्तिकार एक सुभाषित को भी उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ है जो मेरा उपकार कर रहा है, वह तत्वतः मेरा उपकार करता है, जैसे शिरामोक्ष (नाडी काटकर उसमें से अशुद्ध खून निकालना—एक प्रकार की शल्य चिकित्सा) आदि उपायो के द्वारा किसी को निरोग किया जाता है।'

(२) दूसरे 'विकल्प' में 'कल्प' का अर्थ छेद किया गया है। इसके आधार पर वासीचन्दनकल्पा का अर्थ होता है—वे मनुष्य, जो अपकारी के प्रति भी उपकारिता का आचार रखते हैं, जैसे चन्दन वासी के द्वारा छेदे जाने पर भी।' इस व्याख्या की पुष्टि एक अन्य सूक्ति के द्वारा की गई है, जो इस प्रकार है—जो अपकारी हैं, वे अपकार करते रहते हैं; महान् पुरुष तो उनका उपकार ही करते हैं छीले जाने पर भी चन्दन बासी को सुरभित करता है।'

(३) तीसरे विकल्प में 'कल्प' का अर्थ आचार किया गया है। जिनका आचार वासी के प्रति चन्दन जैसा है, वे 'वासीचन्दनकल्पाः' हैं।

(४) अन्तिम विकल्प में कल्प' का अर्थ तुल्य किया गया है, जो वासी के प्रति चन्दन के समान है, वे 'वासी-चन्दनकल्पा.' हैं।

हारिभद्रीय 'अष्टक' के वृत्तिकार ने इस प्रकार 'कल्प' के विभिन्न अर्थों द्वारा प्रस्तुत शब्द-समुदाय की व्याख्या की है। यहां चारों विकल्पों में भावार्थ तो प्रायः एक ही निकलता है। अभयदेवसूरिने जिस प्रकार आलंकारिक व्याख्या प्रस्तुत की है, उसी प्रकार यहां भी वृत्तिकार 'वासी' और चन्दन को रूपक मानकर ही सारे सूक्त को समझाते है। किन्तु वासी को तो सर्वत्र वसूले के रूप में ही ग्रहण किया गया है।

५. 'पाइअसद्दमहण्णवो' प्राकृत भाषाओं के विश्रुत विद्वान् और आधुनिक कोषकार पं० हरिगोविन्ददास सेठ ने अपने प्राकृत—हिन्दी शब्दकोष 'पाइअसद्दमहण्णवो' (प्राकृत शब्द महार्णव) मे 'वासी' का उल्लेख निम्न रूप से किया है—"वासी स्त्री [वासि (मं)] वसूला, बढ़ई का एक अस्त्र; न हि वासिबड्ढईण इह अभेदो कहंचिदवि (धर्मसंग्रहणी, ४८९) देखो, वासी।"३

'वासी' की व्याख्या इस प्रकार की है—"वासी स्त्री (वासी) वसूला, बढई का एक अस्त्र (पृ० १, १ पउम १४, ७८, कप्प, सुर, १, २८, औप)। वासी मुह, पु० (वासी मुख) वसूले के तुल्य मुंह वाला एक तरह क कीट, द्वीन्द्रिय जन्तुकी एक जाति (उत्त० ३६, १२९)।"

१. अभिधान राजेन्द्रकोष, खण्ड ६, पृ० ११०८, ११०९

२. अष्टक प्रकरण', रचयिता-हरिभद्रसूरि टीकाकार-जिनेश्वरसूरि, पं० मनसुख मगुभाई, अहमदाबाद, वि० सं० १९०८। प्रस्तुत टीका का परिष्कार अभयदेव सूरि ने किया है, ऐसा माना जाता है। इसलिए यहां की गई व्याख्या उनकी व्याख्या से मिलती-जुलती है। द्रष्टव्य जिनरत्नकोष, ले० हरि दामोदर वेलनकर, पृ० १८

३. पाइअसद्दमहण्णवो (प्राकृत शब्द महार्णव) · हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, कलकत्ता, १९८५, पृ० ९४९।

४. वही, पृ० ९४९।

कोषकार यहाँ 'वासि' और 'वासी' दोनों शब्दों को स्त्रीलिंग वाची मानते हैं और दोनों का अर्थ 'वसूला-बढ़ई का एक अस्त्र' करते हैं। 'वासी' शब्द का प्रयोग वसूले के अर्थ में 'धर्मसंग्रहणी'१ में किस प्रकार हुआ है, यह भी कोषकार ने उद्धृत करके बताया है। इसके अतिरिक्त 'वासी' शब्द का प्रयोग जिन प्राकृत ग्रन्थों में प्रस्तुत अर्थ में हुआ है, उसका भी उन्होंने प्रमाण दिया है—जैसे प्रश्न 'व्याकरण सूत्र', 'पउमचरिअ',२ 'कल्पसूत्र', 'सुरसुन्दरी-चरिअ'३ और 'उववाईसूत्र'। प० हरगोविन्ददास सेठ ने 'वासी मुह' (स० वासी मुख) शब्द का उल्लेख भी किया है और बताया है कि 'उत्तराध्ययन'४ सूत्र में इसका प्रयोग 'दो इन्द्रिय वाले प्राणी विशेष' के लिए हुआ है, जिसका मुख 'वसूले' की तरह होता है।

६. 'जैनागमशब्दसग्रह'—एक अन्य महत्वपूर्ण प्राकृत गुजराती-शब्दकोष मे, जिसके कर्ता प्रसिद्ध जैन मुनि शता-वधानी रतनचन्द्र जी है, 'वासी' और 'वासीचन्दनकल्प' की व्याख्या निम्न प्रकार से उपलब्ध होती है—"वासी' (स्त्री) (वासी) बांसलो, फरसी। 'वासीचन्दणकल्प (त्रि०) (वासीचन्दनकल्पः) कोई बासलाथी छेदे अने कोई चन्दनथी लेपकरे, तो पण बन्ने तरफ समभाव राख-नार।"५

यहाँ पर वासी का अर्थ 'वसूला' दिया हुआ है तथा समग्र 'वासीचन्दनकल्प' का अर्थ इस प्रकार किया है—"कोई वसूले से काटे और कोई चन्दन से लेप करे, तो भी दोनों के प्रति समभाव रखने वाला है।"

७. आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोष:—सुप्रसिद्ध आधुनिक कोषकार प्रिंसिपल वामन शिवराम आप्टे ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में वासी शब्द की स्पष्ट व्याख्या दी है। तदनुसार—"वासि mB—An Adze, a small, a hatchet, a chisel [वस् इञ् Un. 4-136]।"6

इस कोष मे 'महाभारत' में प्रयुक्त वासि शब्द का सश्लोक उद्धरण भी दिया गया है।७

आक्सफोर्ड से प्रकाशित इस कोष मे 'वासि' (वासि) का अर्थ इस प्रकार दिया गया है, "वासि—Vasi or Vasi, a carpenter's adze, L. (cf. Vasi)" ।८

कोषकार के अनुसार 'वासि' और 'वासी' स्त्रीलिंग

---

१. धर्म संग्रहणी हरिभद्र सूरि द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थ पं० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, १९१६, गाथा ४८९।

२. यह उल्लेखनीय है कि विमलसूरि द्वारा रचित व डा० जेकोबी द्वारा सम्पादित, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर द्वारा १९१४ में प्रकाशित हुआ है। देखे, सर्ग १४, ७८।

३. सुरसुन्दरीचरिअ, जिसका दूसरा नाम कथा सुरसुन्दरी भी है, धनेश्वर मुनि (वि० स० १९०५) द्वारा लिखित प्रेम कथा है। मुनि श्री राजविजयजी द्वारा सम्पादित, प्र० जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला, बनारस, १९१६, परिच्छेद १, श्लोक २८।

४ किणो सोमगला चेव, अलसा मायवाहया।
वासीमहाय सिप्पीय, सखा सखणगा तहा॥
उत्तराध्ययन, सूत्र ३६।१२९।

५. जैनागमशब्द सग्रह, प्र० सघवी गुलाबचन्द जसराज, लिम्बडी (काठियावाड़) १९२६, पृ० ६८६।

6. The Practical Sanskrit-English Dictionary—by Prin. V.S. Apte, Ed. by P.K. Gode and C. G. Karve, Prasad Prakashan, Poona 1957.

७. जीवितं मरण चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः॥
—महाभारत १२-९-२५, १-११९-१५

8. A Sanskrit English Dictionary (Etymologically and Philologically arranged with special reference to cognate Indo-European languages, By Sir Monier Monier-Williams, New Edition, greatly enlarged and improved with the collaboration of Prof. E. Leumann, Ph. D. and Prof. C. Cappellar Ph. D. and other Scholars (oxford first edition 1899) Pub. in India by Motilal Banarsidass, 1963, P. 948.

के शब्द है और इसका अर्थ 'बढ़ई का शस्त्र—वसूला' होता है। शब्द के अन्त में कोषकार ने जो 'L' संज्ञा का प्रयोग किया है, उसका अर्थ होता है—यह शब्द केवल शब्द कोषों में उपलब्ध होता है, किसी भी मुद्रित ग्रन्थों में नहीं मिलता१।

कोषकार ने 'वासी' का अर्थ तो सही रूप में किया है, परन्तु 'L' का प्रयोग सही नहीं है। जैसे हम देख चुके हैं, प्रस्तुत शब्द का प्रयोग महाभारत जैसे प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। इस प्रकार 'L' संज्ञा के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि कोषकार 'वासी' के साहित्यिक प्रयोग से अपरिचित रहे हैं।

**अर्वाचीन भाषा टीकाकार—**

अर्वाचीन भाषा-टीकाकारों ने हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में आगम-साहित्य पर जो व्याख्याएँ लिखी हैं, उनमें भी 'वासीचन्दनकल्प' की व्याख्या अधिकांशतया 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र' के समान ही मिलती है। कुछ एक महत्वपूर्ण भाषा-टीकाकारों का यहाँ हम उल्लेख करते हैं:—

श्वेताम्बर तेरापंथके चतुर्थ आचार्य श्री मज्जयाचार्य२ जी जैन आगम साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे, 'उत्तराध्ययन सूत्र' के राजस्थानी पद्यानुवाद में प्रस्तुत शब्द-समूह की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:—

**"कोइक बशोले करिने छेदे, कोइक चन्दने लीपे।**
**ए बीहू ऊपर भाव सरीखा, रागद्वेष सुजीपे॥**

वार्तिका—यहाँ पाठ वासीचन्दनकप्पो यो कल्पशब्द ते सदृश अर्थपणौथकी तुल्य। बांसीले छेदै १: चन्दने लेपे २: तुल्य भाव।"३

जयाचार्य ने यहाँ 'वासी' का अर्थ वसूका ही किया है और 'वासीचन्दनकप्पो का अर्थ—"कोई वसूले से छेदे और कोई चन्दन से लेप करे, तब उन दोनों पर समान भाव रखना—राग-द्वेष रहित होकर" किया है।

इसी प्रकार 'उववाई सूत्र' के गुजराती अनुवादकार अमृतचन्द्रसूरि४ तथा 'उत्तराध्ययन सूत्र' के हिन्दी व्याख्याकार उपाध्याय आत्मारामजी५ ने वासी का अर्थ वसूला तथा वासीचन्दनकल्प का अर्थ उपर्युक्त ही किया है।

उववाई सूत्र के एक आधुनिक हिन्दी अनुवाद में विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर विभिन्न अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं—"चन्दन अपने काटने वाले वसूले की धार को भी सुगंधित बना देता है। क्योंकि चन्दन का स्वभाव ही सुगंध देना है। इसी प्रकार अपकारी के प्रति भी उपकार बुद्धि रखना।

"अथवा अपने प्रति 'वासो' के समान बरताव करने वाले अपकारी और चन्दन के समान शीतलता प्रदाता उपकारी के प्रति समान भाव रखना—रागद्वेष नहीं करना।"

"अथवा शस्त्र से दुःख देने वाले और चन्दन से पूजने वाले के प्रति समभाव रखना 'वासीचन्दने-समाणकप्पा' कहा जाता है।"६

यहाँ सर्वत्र 'वासी' का अर्थ 'वसूला' ही किया गया है। पहले दो विकल्पों में आलंकारिक व्याख्या का आधार लिया गया है, जब कि अन्तिम विकल्प शाब्दिक व्याख्या पर आधारित है।

---

1. L—Lexicographers (i.e. a word or meaning which although given in native lexicons, has not yet been met with in any published text.
   —Abbveviations P-XXXV
२. जयाचार्य (वि० सं० १८६०-१९३८) ने राजस्थानी भाषा में जैन-धर्म और दर्शन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की है। इनमें भगवती सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र और ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र का पद्यानुवाद उल्लेखनीय है।
३. उत्तराध्ययन की जोड़ १९।९२।
४. उववाई सूत्र, प्र० राय धनपतसिंह बहादुर, कलकत्ता, १९३६, पृ० १००।
५. उत्तराध्ययन सूत्र, प्र० जैन शास्त्रोद्धार कार्यालय, लाहौर, १९३९, खण्ड २, ।१९।९२।
६. उववाई सूत्र, अनु० प० मुनि उमेशचन्द्रजी 'अणु' प्र० अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (मध्यप्रदेश) १९६३, पृ० १०१।

**इतर ग्रन्थों में** :—'वासी चन्दन' का प्रयोग आगमेतर साहित्य में भी विपुल रूप से उपलब्ध होता है।

**१. हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र**

महायशस्क साहित्यकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'समत्व-साधना' की उच्च स्थिति की व्याख्या करते हुए लिखा है—

**"गोशीर्षचन्दनालेपे वासीच्छेदे च बाहुयोः।**
**अभिन्ना चित्तवृत्तिश्चेत् तदा साम्यमनुत्तरम्१॥"**

हाथों पर गोशीर्ष चन्दन के लेप किये जाने पर और वसूले से काटे जाने पर यदि चित्तवृत्ति समान रहे, तो वह उत्कृष्ट समता है२।"

हेमचद्राचार्य के इस प्रयोग से प्रस्तुत सूक्त के वास्तविक अर्थ को असंदिग्ध रूप से जाना जा सकता है।

(२) 'आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति' भद्रबाहु स्वामी द्वारा रचित 'आवश्यक निर्युक्ति३ की हारिभद्रीय वृत्ति में 'वासीचन्दन तुल्यता' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"वासीचन्दनकल्प उपकार्यपकारिणो मध्यस्थः उक्तं च—'जो चंदणेण बाहुं आलिपइ वासिणा व तच्छेई। संथुणइ जो व निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावो॥"४

"उपकारी और अपकारी में मध्यस्थ जो चन्दन से बाहु का लिंपन करता है या वसूले से बाहु को काटता है, जो स्तुति करता है अथवा निंदा करता है, वहां महर्षिका समभाव होता है।"

इस प्रकार हरिभद्रसूरि ने भी इसी अर्थ को मान्यता दी है।

**यशोविजयजी का अध्यात्मसार**

'अध्यात्मसार' के रचयिता यशोविजयगणी ने समता के परिपाक से वासीचन्दनतुल्यता की स्थिति विशदयोग वालों को बताई है।५ उसकी वृत्ति में गंभीर विजयगणी ने निम्न व्याख्या दी है—

'वासीचन्दनतुल्यता:—वासी-कुठारिका, तथा शरीरस्य च्छेदनं तथा चन्दने-नार्चनं, तयो विषये तुल्यता शोकहर्षाभावात्सादृश्यं स्यात्—रागद्वेषयोरवकाशाभावादित्यर्थः।'६

*'वासी-कुठारिका से शरीर का छेदन तथा चन्दन से अर्चन; दोनों विषयों में तुल्यता-शोक और हर्ष के अभाव से यह सादृश्य होता है या राग और द्वेष के अवकाश के अभाव से।'*

टीकाकार वासी को यहाँ कुठारिका कहते हैं, जिसका अर्थ 'छोटी कुल्हाड़ी' होता। वह 'बसूले' के समान ही होती है। यहाँ प्रस्तुत सूक्त का भावार्थ स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

**४. सुभाषित पद्य** :—संस्कृत वाङ्मय के सुभाषितों के संग्रह-व 'सुभाषित-रत्न-भांडागार' में कुछ एक ऐसे श्लोक उपलब्ध होते हैं, जो वासीचन्दन की सूक्ति पर कुछ प्रकाश डालते है। रविगुप्त द्वारा रचित एक सुभाषित इस प्रकार है—

**'सुजनो न याति विकृतिं, परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।**
**छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य॥'७**

परहित में निरत सज्जन विनाशकाल में भी विकृति (निजस्वभाव में परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होते, छेदे

---

१. योगशास्त्रप्रकाश, आचार्य हेमचन्द्र, प्र० जैनधर्म प्रशारक सभा, भावनगर, १९१५, ४।५४-२

२. तुलना कीजिये—Yogasastra of Hemchandra Ed. S. Tr. into German by E. Windish in Z. D. M. G., Vol. XXVIII. P. 185. *bf. Ch. IV—V. 54-2.*

३. वासीचन्दणकप्पो जो मरणे जीविए य समसणो।
*देहे य अपडिबद्धो काउसग्गो हवइ तस्स॥*
—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १५४८

४. आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति, पृ० ७९९

५. समतापरिपाके स्याद् विषयग्रहशून्यता।
यया विशदयोगनां वासीचन्दनतुल्यता॥
—अध्यात्मसार, प्र० जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, १९१५, ३।३७।

६. आध्यात्मसार पर गम्भीरविजयगणी कृत टीका, (रचनाकाल सं० १९५३), प्र० जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, ईस्वी १९१५, पृ० ७०।

७. सुभाषितरत्नभांडागार, संप० काशीनाथ पाहुरंग परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८३१, तृतीय संस्करण, पृ० ७१ श्लोक ९३

जाने पर भी चन्दन का वृक्ष कुठार के मुख को सुवासित करता है।' एक अन्य सुभाषित में कहा गया है

'धिक् चेष्टितानि परशो परिशोचनीय—
बालप्रवाल मलयाद्रिसह द्रुहस्ते।
निर्भिद्यमानहृदयोऽपि महानुभाव:
स त्वन्मुखं पुनरमी: सुरभी करोति॥'१

हे परसो 'तेरी चेष्टाओं को धिक्कार है। सुगन्ध के समूह—रूप चन्दन के वृक्ष के प्रति तेरा द्रोह शोचनीय है। क्योंकि तेरे द्वारा हृदय भेदे जाने पर भी वह निर्भय महानुभाव (चन्दन) तेरे मुख को सुरभित करता है।'

दोनों सुभाषितों में चन्दन आलंकारिक रूप से सज्जन का प्रतीक है। अति सज्जन मनुष्य के लिये प्रचलित ऐसे सुभाषित पद्यों का बाहुल्य प्रान्तीय भाषाओं में भी उपलब्ध होता है। 'सुन्दरविलास' के कर्ता सुन्दरदासजी ने साधु के लक्षणों को बताते हुए लिखा है—

'कोउक निंदत कोउक बंदत,
कोउक देतहि आइ जु भच्छन।
कोउक आय लगावत चन्दन।
कोउक डारत है तन तच्छन॥
कोउ कहै यह मूरख दिसत,
कोउक कहे यह आहि विचच्छन।
सुन्दर काहु से राग न द्वेष न,
ये सब जानहु साधु के लच्छन।'२

यहाँ चन्दन लगाने वाले और तन का तक्षण करने वाले पर रागद्वेष-विरहित साधु माना है।

### उपसंहार :—

अध्यात्म-प्रधान भारतीय संस्कृत में वीतराग स्थिति का आदर्श और उसकी साधना सर्वत्र प्रतिबिम्बित होती है। जैन और वैदिक वाङ्मय के आधार पर हमने देखा है कि समत्व की उच्च साधना में साधक जब लीन हो जाता है, बाह्य कष्ट और सुविधा को अपेक्षित कर देता है। वासचन्दनतुल्यता की साहित्यिक उक्ति इसी स्थिति की द्योतक है। उक्त विवेचन के आधार पर प्रस्तुत सूक्त की व्याख्याओं को हम प्रमुख चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) वह व्यक्ति, जो विष्ठा (या किसी भी दुर्गन्ध-पूर्ण पदार्थ) की दुर्गन्ध और चन्दन की सुगन्ध में उदासीन हो। (डा० जेकाबी की व्याख्या)।

(२) रूपात्मक व्याख्या—वसूले द्वारा काटे जाने पर भी चन्दन उसको सुगन्धित करता है। उसी प्रकार साधक अपने अपकारी का भी उपकार करता है। (लोक प्रसिद्ध सुभाषितों और अभय देवसूरि आदि टीकाकारों द्वारा स्वीकृत व्याख्या)।

(३) अन्य आलंकारिक व्याख्या वह व्यक्ति, जो वसूले के समान अपकारी और चन्दन के समान उपकारी के प्रति समान भाव रखता है। (अभयदेव सूरि द्वारा दी गई वैकल्पिक व्याख्या)।

(४) शाब्दिक व्याख्या—वह व्यक्ति जो किसी पुरुष के द्वारा वसूले से काटे जाने पर और दूसरे पुरुष के द्वारा चन्दन से लेप किये जाने पर, दोनों पर राग-द्वेष न करता हुआ समवृत्ति रखता है। (जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र और 'महाभारत' के मूल पाठ में दी हुई व्याख्या तथा हरिभद्र सूरि, हेमचंद्राचार्य आदि टीकाकारों व विद्वानो द्वारा स्वीकृत)।

इन चारों व्याख्याओं की तुलना करने के पश्चात् हम असंदिग्ध रूप से इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि 'वासी-चंदनकल्प' की सही व्याख्या उपर्युक्त चतुर्थ व्याख्या है और 'जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र', 'महाभारत' आदि मौलिक ग्रन्थों पर आधारित होने से इसकी यथार्थता निर्विवाद है।

उपर्युक्त सभी व्याख्याओं का भावार्थ एक होने पर भावात्किञ्चित्-अन्तर उनमे दृष्टिगोचर होता है। उसका मूल कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि 'उत्तराध्ययन' 'कल्प' उववाई' आदि सूत्रों में तथा 'हारिभद्रीय अष्टक' ग्रन्थों में१ प्रस्तुत सूक्त का सक्षिप्त रूप 'वासी-

---

१. वही, पृ० ३७८, श्लोक ४८

२. सुन्दरविलास, कर्ता सुन्दरदास (वि० सं० १५५३-१७४६) प्रा० बेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, १९१४, २६।१२ पृ० १३६

१. हरिभद्रसूरि मूल अर्थ से सुपरिचित लगते है, इसीलिए 'आवश्यक निर्युक्ति' की व्याख्या में उन्होंने इसी अर्थ को मान्यता दी है; किन्तु अभयदेव सूरि इस मूल अर्थ से अपरिचित लगते है; इसीलिए 'उववाई-

चन्दनकल्प' अथवा वासीचन्दनसमानकल्पा शुरू हुआ है। सम्भव है, अभयदेवसूरि आदि व्याख्याकार जिन्होंने उपर्युक्त दूसरी तथा तीसरी व्याख्या को स्वीकार किया है। इसी सूक्त के विस्तृत रूप से अवगत न हो, जिसका प्रयोग 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' में "वासीतच्छणे अदुट्ठे चंदणाणुलिवणे अरत्ते" अथवा महाभारत में वास्येक तक्षतो बाहुं चन्दमेनैकमुक्षत:" के सविस्तार शब्द-विन्यास के साथ हुआ है। इन व्याख्याकारों ने सम्भवत: लोक प्रसिद्ध सुभाषितों और सूक्तियों के आधार पर अपनी व्याख्याएं की हैं। यद्यपि दूसरी और तीसरी व्याख्या अयथार्थ नहीं हैं, फिर भी उनमें मूल अर्थ का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है।

जहां तक डा० जैकोबी की व्याख्या का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि वह पूर्णतया अयथार्थ और निराधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डा० जैकोबी जैनधर्म और प्राकृत भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे. फिर भी प्रस्तुत सूक्त की व्याख्या के मौलिक ग्रन्थों में हुए प्रयोग से अपरिचित होने के कारण यहां तो अवश्य ही वे भ्रान्त धारणा के शिकार हुए है।

सूत्र' की वृत्ति में तथा 'हारिभद्रीय अष्टक' की वृत्ति (जिसका परिष्कार अभयदेवसूरि ने किया है) उन्होंने जो व्याख्या की है, वह स्वयं हरिभद्रसूरि की व्याख्या से भिन्न है।

# गंज-वासौदा के जैन मूर्ति व यंत्र-लेख

श्री कुन्दनलाल जैन एम. ए. एल. टी. सा० शा०

गजबासौदा मध्य प्रदेश के विदिशा (भेलसा) जिले की एक तहसील है, जो मध्य रेलवे के बीना-भोपाल सेक्सन पर स्थित है। यहां व्यापार की अच्छी मंडी है। पहले भी यह स्थान अच्छा सम्पन्न रहा है। यहां जैनियों का पुरातन काल में अच्छा प्रभाव था। ऐसा यहा के प्राचीन मन्दिरों, मूर्ति-लेखों यन्त्रों तथा शास्त्र-भंडार के अच्छे सकलन से जान पड़ता है। १५वीं १६वीं शताब्दी में इस नगर की सम्पन्नता का दिग्दर्शन, मूर्तियो की प्रतिष्ठा तथा मन्दिर निर्माण आदि से ज्ञात होता है। यहा पर अब भी ५-७ प्राचीन मन्दिर दि० जैन मन्दिर है जिनमें अनेकों मूर्ति लेख व यंत्र लेख तथा प्राचीन हस्तलिखित ग्रथों का अच्छा सग्रह विद्यमान है। मैंने यहा के मन्दिरों के मूर्तिलेख लिये थे, जिनमें से कुछ का विवरण "सन्मति संदेश" के पिछले अंकों में प्रकाशित हो चुका है। अनेकान्त के पाठकों को बासौदा के धूसरपुरा के मन्दिर में स्थित मूर्ति व यंत्र-लेख प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनका इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इन मूर्ति लेखों मे विविध जातियों के प्रतिष्ठाकारक श्रावक श्राविकाओं और मूल संघादि के विद्वान भट्टारकों एव विद्वानों आदि का परिचय मिलता है।

**मूर्ति-लेख**—

चौबीसी पीतल की—सं० १६७४ जेठ सुदि ९ नवमी चन्द्रे मूल-संघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुण्डकुन्दाचार्यान्वये भ० यश.कीर्ति. तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति उपदेशात् जैसवालान्वये कोटिया गोत्रे चौ० पूरणमल भार्या मानमती तयो पुत्रा: चौ० परमराम भार्या कमलावती पुत्र सुदर्शन भ्रा० राजमल भार्या परभा (प्रभावती) चौ० परमराम प्रणमति।

(२) चौबीसी पीतल की—सं० १५३४ वर्षे आषाढ़ सुदी २ गुरौ श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भ० कमलकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० शुभचद्र देवास्तदाम्नाए अग्रवाल ज्ञातीय संगही भोजू भार्या लखमी देवी तत्पुत्रा: त्रया. सं० महणसींह भार्या रतनपालही पुत्र साधारण:। स० भोजू द्वितीय पुत्र: स० जिणदास भार्या दोगोहलाही तयो: पुत्रा: चत्वार: सं० दिनू भार्या ज्ञानचद ही पुत्र लखणसींह दि० भार्या अमरादे पुत्र हारलु, सं० जिणदास

दि० पुत्र आल्हा भार्या साधुही पुत्र करमसिंह, तृतीय पुत्र खेमलु भार्या रूपचंद ही पुत्र धनेसरु। चतुर्थ पुत्र हरु भार्या मेघाही। सं० जिणदास भार्या होलाही पुत्र विमलदास भार्या घ्योराजही। सं. भोज् तृतीय पुत्र सं० नानिगु भार्या पद्मसिरि एतेषां मध्ये सं० जिणदासः तस्य पुत्रः सं० दिनू एतौ द्वावपि श्री जिन चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठार्थ[प्य] नित्यं प्रणमंति।

(३) चौबीसी पीतल की—सं० १५२१ वर्षे माघ सुदी २ शनौ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भानु (भुवन) कीर्ति उपदेशात् बडनात्र उत्तरे स्तर [श्वर] गोत्र[त्रे] श्रेष्ठि केहि भार्या धाऊ सुत श्रेष्ठि धना भार्या पाणी सुत गामी एते श्री रतन जी चतुर्विंशति विवान प्रणमंति।

(४) खड्गासन पार्श्वनाथ मूर्ति—सं० १६८७ वर्षे वैसाख सुदी ५ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे भ० श्री ललितकीर्ति तत्पट्टे भ० धर्मकीर्ति तत्पट्टे भ० जगत्कीर्ति इदं प्रतिमा ब्र. खेतासूर्पितं निम्नं सं. रामदास प्रतिष्ठतं।

(५) पीतल की खड्गासन मूर्ति—सं. १६६ माघ सुदी ६ शुक्रे श्री मूल संघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दान्वये भ. ललितकीर्ति भ. पद्मकीर्ति उपदेशात् पांडे गुणदासोपदेशात् गोलापूरब ज्ञातीय बाई रायमती एतेषां नित्यं प्रणमति।

(६) पार्श्वनाथ खड्गासन मूर्ति—सं. १६८७ वैसाख सुदी ५ श्री मूलसंघे भ. धर्मकीर्ति तत्पट्टे भ. जगत्कीर्ति उपदेशात् सा० दमनु भार्या सहोदरा तयोः पुत्राः तेजपाल सं. रामदास प्रतिष्टत मध्ये इमां प्रतिमां प्रतिष्ठितं।

(७) शांति कुंथु व अरः नाथ की पीतल की मूर्ति—सं. १६६१ वर्षे वैसाख सुदी ७ भ. जगत्कीर्ति उपदेशात् गुलगए (गंज?) ग्रामे पंचायती प्रतिमा करायितं।

(८) कलापूर्ण पार्श्वनाथ की पीतल की प्रतिमा—सं. १७४६ सावन सुदी ६ मूलसघे भ. जगत्कीर्ति तदाम्नाए बघेरवालान्वये मद्या गोत्रे सा. श्री नेपूसी भार्या नौलादे तयोः पुत्राः सं. श्री किशनदास प्रतिष्ठा करापिता डूंगासी छीलू नित्यं प्रणमति।

(९) सं. १५४४ जेठ १ अमवतकल गणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दान्वये श्रीपद्मनंदी देवास्तत्पट्टे [भ.] देवेन्द्रकीर्ति [तत्पट्टे भ.] श्रीत्रिभुवनकीर्ति देवेन प्रतिष्ठिता सं. भिरभजं तस्य पुत्र सं. रौसभजंनयो तस्य पुत्र वैद्य भर्ज जमनी मं परवाम्यती(?)।

[१०] पार्श्वनाथ की पद्मासन पीतल मूर्ति—सं० १५७७ वर्षे माघ सुदी ९ बुधे श्रीमूलसंघे भ० श्रीत्रिभुवनकीति तदाम्नाए णोला पुत्र साहु उगणा भार्या जैसिरि पुत्र सकमा पदमदिउपरक? सकमा भार्या विजैसिरि पुत्र वैदू संपदम् भार्या महासिरि पुत्र नरसिंह ······ भार्या सा···

[११] पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति—सं० १५११ वर्षे चैत्रसुदी ६ शनौ मूलसंघे भ० जिनचंद सं० मसी की सं० खाकसी वारसेलास्य नरसिंघु भार्या विजो पुत्र······

[१२] सफेद पाषाण की पद्मासन महावीर प्रतिमा—सं० १६६६ वर्षे श्रीमूलसंघे कुदकुंदाम्नाए भ० जसकीर्ति भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्ति उपदेशात् अग्रोतकान्वये साह ताराचन्द भार्या तारणदे तत्पुत्रास्त्रयाः ज्येष्ठ सा० रूपचंद भार्या महेशदे पुत्र पदारावा, १ द्वि० पुत्र डोगरसी भार्या कमनी तत्पुत्र खरगसेन, किसुनदास सं०···तिलोकचंद भार्या सद्धम्मी नित्यं प्रणमति। श्रीरस्तु परश्वपाल।

६ मूर्तियां पाषाण की है जिनमें सं० १५८६, १६६४, १५४३ आदि लिखे है परन्तु लेखों के शेष भाग पढ़े नहीं जाते।

[१३] सं० १७२५ श्री सकलकीर्ति उपदेशात्।

[१४] सं० १४९६ वर्षे वैसाख सुदी ११ बुधे श्री मूलसंघे भ० श्री सकलकीर्ति सा० हरला भार्या गाविन सुत धर्मा भार्या श्रीपति पुत्र तोला एते श्री आदिनाथं प्रतिष्ठापिता।

[१५] सं० १५२९ फागुन सुदी ९ मूलसंघे आ० त्रिभुवनकीर्ति············।

[१६] सं० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी १५ सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे नंदिसंघे श्री कुंदकुदाचार्यन्वये भ० पद्मनंदी तत्पट्टे भ० देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे त्रिभुवनकीर्ति देवः प्रतिष्ठिता पौर पट्टान्वय·········सं० जिणदास।

[१७] सं० १५०७ वर्षे फागुन सुदी ६ भौमे रायसेणि दुर्गे श्रीमूलसंघे पौरपट्टे सा० परसराम भार्या

पदमसिरि पुत्र रानु भार्या सासैनऊ पुत्र बैल्हा प्रणमति प्रतिष्ठा सं० आल्हाथी।

[१८] चौबीसी पीतल की—सं० १५६५ वर्षे जेठ वदी ५ बुधे श्रीमूलसंघे भ. श्री ज्ञानभूषण श्री विजयकीर्ति तद्गुरुभ्राता ब्र० शांतिदासोपदेशात् बुरहानपुर वास्तव्य: साह गुणराज सा० रागदेऊ सा० नागदे पं० पासु पुत्र नेमिदास भगिनी बाई चांदू सा० धनराज सा० पासू नागसेठिया ··· एते श्री आदिनाथं प्रणमति।

[१९] सं० १५१५ फागुन सुदी ९रवौ श्री मूलसंघे भ० जिनचंद्रदेवास्तदाम्नाए गोलापूर्व नोरा······।

[२०] सं० १३१६ जेठ वदी ५ सोमे गोलापूर्व गोत्रे पं० काल्हामाह भार्या गीडलनी पुत्र चौ० चाकलिया सं० लोटा भार्या बालदे पुत्र गंगा पुत्री भान्ती नित्यं प्रणमति।

[२१] सं० १५०० वर्षे फागुन सुदी ८ श्री मूलसंघे बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे······।

[२२] सं० १७११ अगहन वदी ११ शुक्रे श्रीमूलसंघे बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे भ० धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति, सकलकीर्ति उपदेशात् ठा० साहि प्रणमति।

[२३] सं० १५२२ वैसाखसुदी ६ रवौ मूलसंघे भ० देवेन्द्रकीर्ति तच्छिष्य देवनंदि सा० भौगिणु भार्या खेमा पुत्रदासु पुत्र खेमधरा पुत्र भुवनपति।

[२४] सं० १५२४ चैत्र वदी १ शुक्रे भ० श्री सिंह-कीर्ति तदाम्नाए गोलापूर्वान्वये साह लजेड़ा भार्या—दौसिरि पुत्र पटवारी चांदनभ्राता सायमा पटवारी भादे तस्य भार्या साध्वी दिउला पुत्र सा० नेनसी पुत्र कौरसी सा० लाहा भार्या साध्वी वनसिरि प्रणमति।

[२५] सं० १६८७ वैसाख सुदी ६ मूलसंघे भ० जगत्कीर्ति सा० लखमी भार्या करमी पुत्र भीमसेनि भार्या प्रानमती सिंघई रामदास प्रतिष्ठा मध्ये प्रतिष्ठितं नित्यं प्रणमति।

[२६] सं० १४०१ वैसाख सुदी १५ श्री काष्ठासंघे भ० क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति तच्छिष्य मुनि पद्मकीर्ति देवा-देशेन सा० धामा पुत्र सा० दूह भार्या कल्हो आत्मकर्म विनाशार्थ प्रणमति।

[२७] शांति-कुंथु-अर नाथ की खड्गासन पीतल की छोटी मूर्ति—सं० १७४६ में भ० सुरेन्द्रकीर्ति ने प्रतिष्ठा कराई।

[२८] सं० १५३५ मूलसंघे श्री भ. भुवनकीर्ति पट्टे भ० ज्ञानभूषण उपदेशात्।

[२९] शांति कुंथु अर नाथ की पीतल की मूर्ति—सं० १४८४ आषाढ़ वदी ८ भौमे श्री मूलसंघे श्री देवेन्द्र-कीर्ति श्री पौरपाटान्वये सा० सिण भार्या उदा पुत्र नैनसिंह भार्या सेणू पुत्र पीड: नित्यं प्रणमति।

[३०] सं० १५३७ वैसाख सुदी १० मूलसंघे बारह सेणी सं. बप्पऊ भार्या हीरा पुत्र सं० अमर छै भार्या बील्हा पुत्र सं० राम भार्या जसो वैदिहरा पुत्र मनसुख···।

## यंत्र लेख

(१) सं० १७१० माघसुदी ५ श्री मूलसंघे भ० श्री नरेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाए भालपुरनग्रे खंडेलान्वये पाटणीगोत्रे सं० श्री नांदाकारगोत्रे श्री साह शंभू द्वाभ्यां प्रतिष्ठापितं सा० गोधामुछप्रणमति।

(२) सं०१५९६ जेठ सुदी ९ गुरौ मूलसंघे भ० श्री ज्ञानभूषण आ० नेमिचंद आ० श्री अभयचंद भ० रत्नकीर्ति उपदेसात् अयोध्यापूर्वे सा० देल्हा भार्या हीरा पुत्र पं० देव-दाए शिवदाए सामहणू सुता रत्नसिरी आ० श्रीअभयकीर्ति शिष्य ब्र० माणिक चंद एते नित्यं प्रणमंति।

(३) सं० १६५८ मूलसंघे भ० ललितकीर्ति उपदे-सात् गोलालारे सा० रुपनु भा० रुकमनी पुत्र सा. चतुर्भुज भा० हीरा पुत्र भाउने हर्गिवंस मनोहर नित्यं प्रणमंति।

(४) सं० १६७४ फा० सु० १० मूलसंघे बलात्कार-गणे सरस्वती गच्छे कुंदकुंदान्वये भ० ललितकीर्ति भ. धर्म-कीर्ति उपदेशात् पौरपट्टे अष्टसाखा एवं सा० चन्द्रपाल भा० मती पुत्र ४, ज्येष्ठ पुत्र यम भा० आगरा पुत्र दुस्तर द्वि-उरदु भा० जमुनी आठसखा।

(५) सं० १७१४ वर्षे जगत्कीर्ति उपदेसात् पौरपट्टे राजान्वये पेछोरामूर गोयलगोत्रे सिं० कलेरा नित्यं प्रणमति।

(६) सं० १६६४ वैसाख सुदी ६ गुरौ भ० ललित-कीर्ति भ० धर्मकीर्ति उपदेसात् तस्य शिष्य पं० गुनदास

गोलापूर्वान्वये कोठिया गोत्रे सं० नेमिदास भार्या कुठरि पुत्र ४, जेठा पुत्र खड्गसेन भा० माउनदे, द्वि० पु० सं० कासोरदास भा० लालमति पुत्र प्रताप भा० सेमावति, तृ० पुत्र सं० हरलौल भा० मायादे पुत्र मानसिंह, च० पुत्र सं० जगपति नित्यं प्रणमति।

(७) सं० १७७७ मगसिर सुदी २ भा० श्री राजकृतेन प्रणमति।

(८) सं० १७६८ माघवदी १२रवौ श्री सुरेन्द्रकीर्ति शिष्य पं० भीमसेन प्रणमति।

(६) सं० १७२६ माघ सुदी १३ रवौ पद्मनंदी सकलकीर्ति उपदेसात् गोलालारे सेठि गोत्रे सि० लछे भा० कपूरा पुत्र खाडेराय भा० बसंती पुत्र ३ जेठा विसुनदास, भा. लालमती, द्वि० पु० श्रीराम भा० सुवंसी, तृ० पुत्र भगवान दासेन यंत्र प्रतिष्ठितं वरहनाग्रामे।

(१०) सं० १७१२ वर्षे भ० पद्मकीर्ति भ० सकलकीर्तितच्छिष्य पं० धनश्याम नित्यं प्रणमति।

[११] सं०, काष्ठासंघे माथुरगच्छे भ० क्वारसेन।

[१२] सं० १५७६ कार्तिक सुदी ८ सोमे मूलसंघे कुंदकुंदान्वये श्री भ० प्रभाचन्द्राम्नाए खंडेलान्वये वाकलीवाल गोत्रे सा० बाला भा० बालमिरि पुत्र नाथलाहारेज नाथू भा० धमिलि पुत्र पीया प्रणमति।

[१३] सं० १५३६ कार्तिक सुदी ८ शनौ मूलसंघे भ० जिनचन्द लंबकंचुकान्वये···स०···

[१४] सं० १५०६ जेठ सुदी—शुक्रे महाराजाधिराज रामचन्द्र देव सुत राज्य पदाधिष्ठित तत्पुत्र प्रतापदेव राज प्रवर्तमाने—श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्कर गणे भ० हेमकीर्ति भ० कमलकीर्ति पांडे—प० रैधू तदाम्नाए अग्रोतवंशे वंसिल गोत्रे सा० क्षेमधर पुत्री माथिरु महाराज नामानौ पुत्रा ४ सं० गजे सा भौल्हि ल्हरत् महाराज पुत्र गोपा प्रणमति?

[१५] सं० १४७१ जेठ सुदी ११ मूलसंघे पद्मनंदी देव शिष्याणी अर्जिका कमलश्री सोलहकारण यंत्र काराप्य प्रणमंति अग्रोतकान्वये सारददेव पुत्री बाई काल्ही अर्जिका जाता।

[१६] सं० १५६६ माघ सुदी ५ मंगल काष्ठासंघे वागड गच्छे पुष्कर गण भ० श्री प्रतापकीर्ति मुनि सांतिनाथ उपदेसात् अग्रवाल ज्ञातिय वंशलगोत्रे माडु सा० अंबाई पुत्र हासू भा० विगाई पुत्र काल्हा करापिता।

[१७] सं० १५७१ जेठ सुदी २ मूलसंघे कुंदकुंदाचार्यान्वयं प्रभाचन्द्राम्नाए बघेरवाल वंशे रतन···।

[१८] सं० १४७४ माघ सुदी १३ गुरौ मूलसंघे गोलाराडान्वये सा० लम्पू पुत्र नरसिंह इदं यंत्रं प्रतिष्ठापितं।

[१९] सं. १६६६ माघ सुदी १३ रवौ काष्ठासंघे माथुर गच्छे भ० क्वारसेन तदाम्नाए जैसवालवंसे सा. मनोरथु भा. माडनदे पुत्र ३, सा० कीर्ति भा. रायमती सा० भावेत भ० लालमती, सा. वीरसाहु, सा. कीर्ति के पुत्र ५ बुधसेन भा. चंपा सा० धनराजु भा० माडनदे, सा० मतो, सा० आसकरन, सा० भीमसेन श्री मूलसंघे भ० विश्वभूषण प्रतिष्ठित।

(२०) सं० १५०३ वर्षे मूलसंघे सरस्वती गच्छे भा० पद्मनंदी तच्छिष्य श्री शुभचंद, जिनचंद तदाम्नाए सा० वच्छराज भा. हीरा तयोः पुत्र सा० काकुलि भा० लखा पुत्र बीधुहि—संघपति तन्मध्ये भा० काकुलि प्रणमति।

(२१) १५३७ फागुन सुदी १३ मूलसंघे भ० पद्मनंदी भ० शुभचंद भ० जिनचंद तदाम्नाए मंडलाचार्य श्री सिंह नंदी तदाम्नाए गोलापूर्वान्वये सा० पसा भा० रजा तस्याः कुक्षी समुत्पन्ने पुत्र. अरुहदासः भा० घोला, कनिष्ठ भदूचंद भा० धोमा, अरुहदास पुत्र ५ ···। अरुहदास प्रणमति।

# साहित्य में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर

नेमचन्द धन्नूसा जैन, न्यायतीर्थ

(२१) मुनि श्री सुमतिसागर (सं० १५७५ से १६५२) यह सूरतशाखाके बलात्कारगणके भ० अभयचंद्र शिष्य अभयनंदीके शिष्य थे। इन्होंने षोडशकारणपूजा, दशलक्षण-पूजा, जम्बूद्वीप जयमाला, व्रतजयमाला, तीर्थजयमाला आदि पूजन साहित्य निर्माण किया है। तीर्थ जयमाला—

'अन्तरिक्ष वंदे सुख थाय, संखजिनेश्वर छायाराय।
डुंगरपुरवर सांभलोदेव, जटामहितआदि देव सुसेव।।१६।
जम्बूद्वीप जयमाला—
'माणिकस्वामी गोम्मट ए, अन्तरिक्ष सखेस।
महामुनि जिन कहिया, केवल ज्ञान-सुचन्द्रप्रकाश जेह कहिया।

(२२) भट्टारक धर्मचंद्र (सं० १६०७ से २२) ये बलात्कार गण कारंजा-शाखा के भ० देवेंद्रकीर्ति के शिष्य थे। इनके द्वारा निर्मित आरति मे शिरपुर-जिनका उल्लेख हुआ है।

'करुणानिधि, परमावधि, रसवारिधिभेषा,
व्रतद्धरिधर नरकरि, 'वरजिन शिरपूर केशा।
जित वर्मक, धृतशमंक, शतशर्म करेशा,
गुणभद्रक, धृतचद्रक, 'वृषचंद्रक भेषा।।
जयदेव जयदेव, जय वामा तनया, आरति करूं,
तारक गुरु, शिवराया तनया।।१।। आदि।

(२३) पं० मेघराज [सं० १५७५ से १६७०] ये हुंबड ज्ञातिके थे। इनके जसोधर रास, तीर्थवंदना, पार्श्व-नाथ भवांतर ये ग्रंथ उपलब्ध है। तीर्थवंदना—

'श्रीपुर पारसनाथ, गोम्मट स्वामी वेलगुले ए।
तेरे पुरे वर्धमान, पोधनापुरे वंदु बाहुबलिए।।१६।।
पार्श्वनाथ–भवान्तर 'अनेक अतिसयो सुभ गुणसागरु।
अन्तरिक्ष श्रीपुरी परमेश्वरु। वांछितदायक पास।
जिनेश्वरु। ब्रह्म शांतिप्रसादे मेघाम्हणे।
कर जोडुनि वंदना करु।।४७।।

[२४] भ० महीचन्द्र [स० १६७४ से ८५] ये बलात्कार गण सुरत शाखा के भ० वादिचंद्र के शिष्य थे। इन्होंने ४७ छंद की गुजराती में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ विनंति की रचना सं० १६७४ चैत्र सुदी पंचमी, रविवार को व्यारा नगर में की थी। जान पडता है यह रचना समय उनके पास श्वे० मुनि लवण्य समय की कृति होगी। इसका सविस्तर वर्णन हम आगे करने वाले हैं।

इस काव्य मे बताया है की, खरदूषण राजा ने भोजनोत्तर वह प्रतिमा जलकूप में डाली और बहुत काल बाद एलिचपुर के एलच राजा को वह कैसे प्राप्त हुई। तथा जहाँ प्रतिमा अन्तरिक्ष रही वहाँ श्रीपुर नाम का विख्यात नगर बसाया। पहले वह प्रतिमा इतने ऊँचाई पर थी की, उसके नीचे से एक घुड़ सवार निकल जाता था। मगर कलियुग प्रभाव से अब दोर प्रमाण हि अधर है। देखो—

'अन्तरिक्ष प्रतिमा रहि जाम, नगर बसायो तेनो नाम।
श्रीपुर नामे छे विख्यात, जेहनी अथी कहिये वात।।३८।।
जब एलचपुर राजकुमार,तहि यों जानो दिवो असवार।
ए कलियुग महा दोर प्रमाण, 'अन्तरिक्षजिन कह्या बखान।

[२५] भ० रत्नभूषण [स० १६७४] ये काष्ठा-संघ नंदीतटगच्छके भ० त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने पंचमेरु की जयमाला में श्रीपुर-जिनका उल्लेख किया है—

विद्युन्माली जयमाल—
अन्तरिक्ष पूजो शंखजिनेन्द्र, तारंग पूजो महामुनीद्र।।१२।।

[२६] जयसागर—ये भ० रत्नभूषण के शिष्य थे। इन्होंने 'सर्वतीर्थ जयमाला मे श्रीपुर पार्श्वनाथ का उल्लेख किया है। देखो—

'सु अन्तरिक्ष वन्दू जिनपास,
सिरपुर नगर पुरवि मन आस।
होलपुरि वन्दूं शंख जिनंद,
सु तारंगो पूजा मुनिवृंद।।१४।।

[२७] ब्रह्म ज्ञानसागर [सं० १६७६ से ८१] यह काष्ठासंघ चंद्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने भारत भर में

प्रवास करके 'तीर्थावली' में ७८ दिगम्बर जैन क्षेत्रों का वर्णन किया है। उसमें इस क्षेत्र का उल्लेख है—

'श्रीपुर नगर प्रसिद्ध देश दक्षिण सुसिद्ध सह।
महिमावंत वसत अन्तरिक्ष जिन पासह॥
देश देशना संघ नित नित बहुतर आवे।
पूजा स्तवन करेवि, मन वांछित बहु पावे॥
सकल लोक मन मानता, परता पूजें जिनपति।
अन्तरिक्ष जिन वंदिये, कहत ज्ञान सागरयति॥

[सन्मति से संगृहीत]

[२८] अर्जुन सुत यमासा [सं० १७६० से १८२०] कारंजा सेनगणके भ. शांतिसेन [सं० १८०८ से १७१६] का समाधिमरण अं० पा० श्रीपुरमें हुआ तब यमासा ने यह आरति गाई थी—

'बार बार बलिहार आरति, करूं तुम्हारी राजाजी।
अगड धूं अगडधूं, धुडघडाधड, तीडभीड झडा गबाजाजी॥
सरसर सर्नाट परन्तु, कडकड फड कड काजी।
रिगरिग रिगरिग ताल गर्जलो, अणहतबीण बजावेजी॥
कारंजा श्रीपुर बिचये छाया अजब छबिलाजी।
निराकार निर्धूत निरंजन आई सब घट नीलेजी॥
पीर बादशा बल्लीलला, बारबार रंगीलाजी।
बारबार बलिहार······॥१॥
अजर अमरपद, अधरअसनधर, निराधार प्रभु बैठेजी।
बड़े बड़े ब्रह्मांड काल पर, मारे चक्र चपेटाजी॥२॥
चन्द्रसूरज बिन ज्योति जगाऊं, कोटि सूरज उजियालाजी।
बिन धरती तुज आरति, गाऊँ जपू जाप जयमालाजी॥

[२९] भ० सकलकीर्ति शिष्य दास 'बिहारी' इस अं० पारसनाथ को वंदना करते हुए—

वंदना जकड़ी—

'अन्तरिक्ष पारस मन ध्याउं, राम गिरि शांति नाथोजी।१

तथा तीर्थ वंदना—

'अन्तरिक्ष पारस मन वंदु, राम- टेक शांतिनाथजी।

[३०] ब्रह्म श्रीहर्षजी [सं० १८५० से १९५०]

यह ईडर शाखा के भ० रामकीर्ति तथा कारंजा के सेनगण भ० लक्ष्मीसेन के शिष्य थे। इनका वास बहुत समय तक सिरपुर में था। स. १८८१ जेष्ठ वदी १० को इन्होंने भंडार गिना और संस्थान के पौलकरों की झड़ती थी। इस समय भ० रामकीर्ति भी थे। वे जयमाल में कहते हैं—

'श्रीपुर नगर सुहामणो, पार्श्वनाथ भगवंत।
प्रभुपद वंदन कीजिए, धन धन स्वामी श्रीसंत॥

आदि।

जेष्ठे सुमासे नरनारी पूजा करिती, चिंतामणी उग्रवंशी।
शरीर नीलं धनधान्यपूर्ति, पुत्रं कलत्रं ब्रह्महर्ष चित्ती॥

(३१) भ० गुणकीर्ति (१५वी सदी)—ये मूलसंघ बलात्कारगण के भट्टारक थे। इन्होंने 'धर्मामृत' इस मराठी गद्य ग्रंथ में चतुर्थकाल से प्रसिद्ध ऐसे अनेक क्षेत्र को वंदन किया है। उसमें श्रीपुर पार्श्व को भी वदन है—

'श्रीपुर नगरी अतिशयवंतु, श्रीपार्श्वनाथु अन्तरिक्षु।
त्या देवासि नमस्कारु माझा। (पृष्ठ ७४)

(३२) ब्रह्म जिनदास (सं० १४५४ से १५३०) ये भ० सकलकीर्ति के शिष्य थे। इनका साहित्य हिन्दी, गुजराती और मराठी में भी पाया जाता है। वे शिरपुर जब पधारे थे, तब यहाँ की प्रचलित भाषा में एक आरति गायी थी। जिसका मान प्राचीन मराठी साहित्य में शुद्धता की दृष्टि से ऊँचा ही है।

देखो—'जाईन मी शिरपुरा, मज लगन्न छद।
धरणि वेगला हो, आहे पार्श्वजिनंद॥ धृ०॥
सप्तफणि मंडप, नया लंछनी नाग।
शिरपुरी अन्तरिक्ष आहे पासु जिनंद॥१॥ आदि।

(३३) कवीन्द्रसेवक (सं० १६२५)—इन्होंने विदर्भ में रहकर एक अभंग-संग्रह रचा है। वह हिराचन्द नेमचंद सोलपुर वालों ने प्रकाशित किया है। उसमें ११वें परिच्छेद में क्रमांक २०७, तथा २११वे अभंग में अन्तरिक्ष प्रभु को वंदन है। देखो—

(२०७)—'पदमासनीं अन्तरिक्ष, तेथे जडले हे लक्ष।१
लक्ष अलक्षी मिलले, ध्यानपुर चिता आले।२
प्रभारूप पाहोनिया, बाटे कवलवे पाया।३ आदि

(२११)—अंतरिक्ष दाता देतां, मल काय उणे आतां।१
देव जिनेन्द्र तोषवी, कृपा हाताने पालवी।२
माझे हाली घेतो सेवा, मुख्य त्रैलोकिचा बापा।३
आदि।

इसके अलावा इन्होंने एक 'सुमति प्रकाश' ग्रंथ लिखा है। उसकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीलालचंद जिनदास

जोगी, एडवोकेट वाशीम के पास है। उसमें उन्होंने 'सम्यक्त्व महात्म्य' वर्णन में इस प्रकार लिखा है कि—
'पहा त्या खरदूषण राजानं, देवाकार केला उत्तम पण।
मग घेतले आहार भोजन, सम्यक्त्व वर्म त्या नाव।

इसका सीधा अर्थ यह भी होता है कि, उस खरदूषण राजा ने—पार्श्वप्रभु की—मूर्ति करने का उत्तम पण (नियम या प्रतिज्ञा) किया था। उसकी पूर्ति होने पर ही उसने भोजन किया। सारांश प्रतिज्ञा पूरी करना हि सम्यक्त्व की महिमा बढ़ाना है।

(३४) बापु (अज्ञात काल)—इनकी एक तीर्थ वंदना मिलती है, जिसमें अलग अलग तीर्थों की वंदना, वहाँ जाकर करने की प्रेरणा है। देखो—
'चल सीरपुराल जाऊ, देव अंतरिक्ष पाहू।१
आम्ही देवाच्या मालणी, शब्द हारासी गुफूनी।२
आले विकाया देउली, फुका घ्या हो सभामोली।३
नका देउ कपर्दिका, अरिहंत बोल मुखा।४
···पहा त्या श्रीपाल राजाचा, तीर्थे कोड गेला त्याचा।१०
···बापु म्हणे श्रावकासी, चल सिरपुर यात्रेसी।१२

इसमें बताया है कि देखो—उस श्रीपाल राजा का कोड तीर्थ से याने गंधोदक जल से गया, (१०) अतः 'बापु' कहते हैं शिरपुर यात्रा को चलो।

(३५) तीर्थ वंदना—(अज्ञात कर्तृत्व-काल)
'धर्म वासना हृदयी राहविजे,
अंतरिक्षस्वामी मनांत ध्याइ जे।
प्रसन्न प्रत्यक्ष जनामध्ये होय,
सिरपुरांत नग्रांत आनंद होय ॥२॥ आदि

[३६] पंडित चिमण—(१९वीं सदी) ये एक उत्कृष्ट कवि और कीर्तनकार थे। तथा मांत्रिक भी थे। कहते हैं उन्होंने कारंजा के बलत्कारगण मंदिर के मूलनायक श्री १००८ चंद्रप्रभु को एक कीर्तन में हँसाया था, और पंचो की अनुमति पाकर उस मूर्ति को पैठण [पट्टण] में मुनिसुव्रत स्वामी के पास रखा था। इनके सुप्रभाली में—
'सिरपुर नगर अति थोर ग्राम,
तेथे बाग बगिचे फुलवाडी विश्राम।
तेथे अन्तरिक्ष असे पार्श्वनाथ,
सदा वंदितो कर जोडोनि हाथ ॥१॥
महाराज तेथे श्रीपुरी अन्तरिक्ष,
सदा जो देखिला असे मी प्रत्यक्ष।
असे पावले स्वामी राया श्रीपाल,
असे पार्श्वजी देखिले आजि डोल ॥२॥

तथा उन्होंने प्रत्यक्ष प्रभु के सामने जो गीत गाया था, उसमें बताया है की राजा ने श्रीपुर में स्वामी की अच्छी रचना की है। स्वामी श्रीपाल को प्रसन्न याने प्राप्त होने पर प्रभु पूजन से उसका कोड गया। तब राजा ने कच्चा सूत से गुफा हुवा एक रथ बनाया, उस पर प्रभु विराजमान हुए। रथ पर बैठकर राजा भी रथ हांकने लगा, लेकिन राजा ने खड़े होकर पीछे देखा तो प्रभुजी की जगह पर ही रथ रह गया। यह देखकर राजा चिंतित हुआ और धावा करने लगा कि, हे प्रभो, अंतरिक्ष, आपने यह क्या किया? हे अंतरिक्ष मुझे तारो और भव-भव में आपकी सेवा करने की संधि दो। आदि देखो—
'पासोबा तुझे रूप मी नित्य पाहूँ,
तुझे स्थान कि नित्य नाथाची राहु।
सिरपुर हे स्थान कस्तूरि पाहे,
बरी मूर्ति अंतरिक्षाची आहे ॥१॥
मनीं मानसीं दिसते शिरपूर,
बरी रचना केली स्वामीची थोर।
श्रीपालसी स्वामी प्रसन्नचि झाला,
स्वमी पूजता कोड निघून गेला ॥२॥
त्या कालसी तो रथहि करवितो,
कच्चा सूताने रथहि गुंफवितो।
रथावर तो स्वामी बैसोनि बोझे,
सूर्याहूनि ते रूप अधिक साजे ॥३॥
वरे बैसले स्वामी श्रीपाल राजे,
बरे चालवी रथ तो पार्श्वसाजे।
उभा राहुनि पाहतो राय मागे,
रथ राहिले स्वामी रायाची जागे ॥४॥
असे पाहुनि स्वामी चिंतीत झाले,
स्वामी अंतरिक्षा असे काय केले। आदि।

[३७] गुरु दयालकीर्ति [सं० १८३०-३२] ये बलात्कारगण लातूर शाखा के भ० चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनका एक पद नीचे दे रहा हूँ।

'दर्शन दे श्रीपुरी राया, दर्शन दे ।।धृ।।
स्थल मंदिरी रहिवास तुमचा, शेष धरितो छाया ।।१।
अंतरिक्ष स्वामी आधर शोभतो, पूजो आष्ट द्रव्या ।२।
सभेमध्ये दास 'दयाल' उभा, आठवितो तव पाया ।।३।।

[३८] श्री ज्ञानयति [१८५०-७५] ये बलात्कारगण कारंजा शाखा के भ० पद्मनंदी के शिष्य थे—

पद—'सुंदर सावल स्वरूपाचा, सुन्दर स्वामी आमुचा ।
पार्श्वप्रभु स्वामी शिरपुरीचा, अधांतरी महात्म्याचा ।।
मोहनमुद्रा श्रीध्यानस्थ, पद्मासनी व्दयी हस्तक ।
यंत्र मंत्र साधना करी 'ज्ञानयति' देवी देव असो स्फूर्ति ।

[३९] श्री नागेन्द्र कीर्ति [स० १९२५-५०] ये लातूर गादी के आज के भ० विशालकीर्ति के गुरु आगमिक विशालकीर्ति के शिष्य थे। भ० विशालकीर्ति ने शिरपुर में प्रतिष्ठादि महोत्सव किये हैं, तब नागेन्द्रकीर्ति ने इस पद की रचना की थी। देखो—

'आवडतो मनि देव जिनपति,
श्रीपुरांत, स्वामीनाथ, मात तात,
तो मनांत, करी सनाथ, पार्श्व जिनपति ।।१।। आवडतो
···पद्मासनी शोभे मनोहर, अंतरिक्ष, तो प्रत्यक्ष, ध्यानदक्ष, सर्वसाक्षी, मार्ग मोक्ष, दावि मजप्रति ।।३। आवडतो ।

[४०] 'देव इन्द्र' ये अगर श्रीपुर के पौली मंदिर में पद्मावती की स्थापना करने वाले भ० देवेन्द्रकीर्ति हो तो इनका सं० १८७९ से १९४१ है और ये बलात्कारगण कारंजा शाखा के भ० पद्मनंदी के पट्टशिष्य है।

अभंग—'अन्तरिक्ष हो राया, तुझे पाय चित्तती ।।धृ।।
···माझी या जीवासी, हेचि पैं भूषण,
तुझे पायीं पेण, अन्तरिक्ष ।।२।।
···पद्मावती देवी, भली से प्रसन्न,
तुझे व्रत करून, अन्तरिक्ष ।।४।।
···देव इन्द्र म्हणे, तुझे पदीं लक्ष,
पावला प्रत्यक्ष, अन्तरिक्ष ।।७।।

(४१) लक्ष्मण (सं० १६७६)—ये काष्ठा संघ के भ० चद्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्होने भी श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ इस क्षेत्र की स्थापना विषय में एक गीत रचा है। उसमें बताया है कि 'यह प्रतिमा रावण काल से ही एक जलशय में पड़ी थी, एजलपुर (एलिचपुर) के ईल राजा ने वहाँ स्नान करने से उसका कुष्ट रोग दूर हुआ। फिर उसने इस मूर्ति का शोध करके प्रति स्थापना की। आदि। ऐसा विवरण 'सन्मति' के १९६० के अगस्त अंक में डा० विद्याधरजी जोहरापुर करजी ने दिया है। और वहाँ उन्होंने यह भी लिखा कि, ईल राजा १०वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ है[१]।

(४२) द्विज विश्वनाथ [अज्ञात-काल]—बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में, एक गुटका है उसमें द्विज विश्वनाथ की एक रचना है उसमें १३ छप्पय छन्द है, पर उसका नाम कुछ नही है। उसमें गिरनार, शत्रुंजय, मगसीमण्डन पाश्र्वनाथ, अन्तरिक्ष, चम्पापुरी, पावापुरी, हस्तिनापुर, पैठन-मुनिसुव्रत, कुण्डलगिरि, पालो-शान्तिजिन, गोपाचल [ग्वालियर] और तुंगीगिरि के छप्पय है। (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४३५)

ऐसे अनेक साहित्यिक प्राचीन उल्लेख हैं जो अप्रकाशित है, या हमारे नजर मे नहीं आये हों। आशा है पाठकगण उन्हें मेरे पास भेजें, या सूचित करें। इस ५० साल में भी भगवानदास कन्हैयालाल आदि जैसे की अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध है। अन्त में एक अज्ञात कर्ताकी प्रभाती लिखकर इसे पूरा करता हूँ।

'उठा उठा सकाल झाली, अरिहताची वेल झाली।
सूर्य बिंब उगवल, यात्रा जाऊ शिरपुराला ।।
अंगोल करूँ पवलींत, गध उगालू केशरांत ।
टिकी पार्श्वनार्था देऊ, सदा अन्तरिक्षां ध्याऊँ ।।

[स्थानीय जन-पाठ से]

---

१. जब की वे दिसम्बर १९६३ के अनेकान्त मे लिखते हैं कि, एल [ईल] राजा का समय इ० सं० ९१४-२२ के इन्द्रराज [तृ०] के समकालीन ठहरता है। आदि। लेकिन वह समय इन्द्रराज [चतुर्थ] इ० स० ९७४-८२ के समकालीन ही निश्चित होता है।

# भगवान पार्श्वनाथ

परमानन्द जैन शास्त्री

भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वे जैनियों के तेवीसवें तीर्थङ्कर हैं। उनकी ऐतिहासिकता के प्रमाण विद्वानों द्वारा मान्य किए जा चुके हैं। भारत में उनके सर्वाधिक जैन मन्दिर और प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। उनकी ऐतिहासिकता जैन साहित्य से ही नहीं; किन्तु प्राचीन बौद्ध साहित्य से भी प्रमाणित होती है। बुद्ध ने स्वयं पार्श्वनाथ के शिष्य पिहितास्रव मुनि से दीक्षा ग्रहण की थी[१] और कठोर तपश्चरण भी किया था, अपनी उस तपश्चर्या के सम्बन्ध में बुद्ध ने जो कुछ कहा है उसकी जैन तपश्चर्या से तुलना करने पर दोनो में समानता दृष्टिगोचर होती है[२]। बुद्ध ने कुछ समय के बाद उस कठोर तपश्चरण का, जो शरीर को कष्टकर था परित्याग कर दिया था। बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम-संवर को अपने आर्य अष्टांगिकमार्ग में समाविष्ट किया था। 'अंगुत्तर निकाय में 'वप्प' को निर्ग्रन्थश्रावक बतलाया है[३]। और उसकी 'अट्ठकथा' में वप्प को बुद्ध का चाचा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय कपिलवस्तु में भी पार्श्वनाथ के अनुयायी रहते थे। और उनका धर्म शाक्य क्षेत्र में भी था। भगवान महावीर के माता पिता और वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक आदि सब पार्श्वापत्तिक थे। कलिंग के राजा जितशत्रु भी पार्श्वनाथ की परम्परा के थे, किन्तु उस समय पार्श्वापत्तिकोंकी सख्या बहुत कुछ विरल हो गई थी। इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है। और पार्श्वनाथ के शासन में बहुत शैथिल्य आ गया था।

### पार्श्वनाथ का जन्म और उनके पिता विश्वसेन

महाजनपद युग में बनारस में लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा से ८०० वर्ष पहले जैनियों के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर से २५० वर्ष पहले जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म क्षत्री कुल में हुआ था। इनका वंश उरग–उग्र या उग्ग (नाग) था। नागवंश भारत का प्राचीन क्षत्रिय राजवंश है, जिसमें अनेक राजाओं ने भूमण्डल पर शासन किया है। यह नागवंश इक्ष्वाकु वंश की एक शाखा था। बनारस में प्रस्तुत नागवंशी पार्श्वनाथ के समय तो थे ही; किन्तु उसके बाद बुद्ध और महावीर के युग में भी वहाँ नागवंशी थे। पार्श्वनाथ के पिता का नाम विस्ससेन या विश्वसेन था और माता का नाम वम्ही, वामा या ब्राह्मीदेवी था, जो महीपालपुर के राजा महीपाल की पुत्री थी। भगवान पार्श्वनाथ के पिता के सम्बन्ध में जैन साहित्य में विश्वसेन, अस्ससेण या अश्वसेन और

---

१. सिरि पासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुद्धो बुड्ढकित्ती मुणी ॥६
तिमि पूरणासणेहिं अहिगम पव्वज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तबरं धरिता पवट्ठियं तेण एयं तं ॥७॥ दर्शनसार

२. "मज्झिमनिकाय के महासिंहनाद सुत्त (पृ० ४८-४९) में बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवन का उल्लेख करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये हैं, जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया था—तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विता अर्थात् अचेलक–नग्न रहना, हाथ से ही भिक्षा भोजन करना, केश और दाढ़ी के बालों को लोचना-उखाड़ना और कटकाकीर्ण स्थल पर शयन करना। रूक्षता—शरीर पर मैल धारण करना, स्नान न करना, अपने मैल को न अपने हाथों से परिमार्जित करना, और न दूसरे से परिमार्जित कराना, जुगुप्सा—जल की बिन्दु पर भी दया करना। प्रविविक्तता—वनों में एकाकी रहना। इन चारों तपों का अनुष्ठान निर्ग्रन्थ श्रमणों में होता था।

३. एक समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं। अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठ सावगो।'—अंगुत्तर निकाय, चतुष्कनिपात, वग्ग ५।

हयसेण नाम मिलते हैं। जब कि बनारस के राजाओं के नामों मे अस्ससेण या अश्वसेन हयसेण नाम नहीं मिलता। हिन्दू पुराण ग्रन्थों में भी अश्वसेन नाम नहीं उपलब्ध नहीं होता। यहां उस पर कुछ विचार किया जाता है:—

"श्री पंडित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने जैन साहित्य इतिहास की पूर्वपीठिकाके पृष्ठ १६५ में लिखा है—कि जैन साहित्य में पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन या अस्ससेण बतलाया है। यह नाम न तो हिन्दू पुराणों में मिलता है और न जातकों में किन्तु गत शताब्दी में रची गई पार्श्वनाथ पूजा में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन दिया है, यथा—'तहां विश्वसेन नरेन्द्र उदार।' हम नही कह सकते कि कवि के इस उल्लेख का क्या आधार है।"

मालूम होता है कि पंडित जी ने अपने ग्रन्थो का अवलोकन नहीं कर पाया, या उत्तरपुराण आदि के उल्लेखों पर उनकी दृष्टि नहीं गई। अन्यथा उन्हें उसके आधार का ठीक पता चल जाता। यदि उक्त वाक्य कवि बखतावरमल ने स्वयं दिया है, तो उसका आधार पौराणिक साहित्य है। पर उनका वाक्य अश्वसेन है जिसका उक्त पूजा मे दो बार उल्लेख है। दिगम्बर साहित्य में विश्वसेन और अश्वसेन या अस्ससेन दोनों ही नाम मिलते हैं! यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ती में और अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में 'हयसेण' नाम मिलता है, जो अश्वसेन का ही पर्यायवाची है। हां, श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में अस्ससेण या आससेन और अश्वसेन नाम उपलब्ध होता है।

दिगम्बरीय विद्वान् गुणभद्राचार्य, वादिराज, पुष्पदन्त पंडित आशाधर, पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार, योगिराट पंडिताचार्य भ० सकलकीर्ति और श्रुतसागर सूरि ने पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन ही प्रकट किया है—

१. वाराणस्यामभूद्विश्वसेनः काश्यपगोत्रजः।
ब्राह्मस्य देवी सम्प्राप्तं वसुधारादि पूजनम्॥
—उत्तर पुराण ७५ पृ० ४३४।

२. कासी देसि णयरिवाणारसि,
जहिं धवल हरहिं पहमेल्लइ ससि।
घत्ता—तहिं अत्थि णरिंदु विस्ससेणु गुण मंडिउ।
बंभा देवीए भुयलयहिं अवरुंडिउ॥
—महापुराण ६४ सं० १२।

३. विश्वसेन नृपतेर्मनः प्रियाम्—पार्श्वनाथ चरित ६–६५

४. ततोऽत्रैत्य सकाशीश विश्वसेन तुजो भवत्।
षोडशाब्दवया. प्राप्तो वनं श्वभ्रादुपेत्यतम्॥
—त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्र २३ पृ० १४३

५. "काशी विषये वाराणसी पुर्य्यां विश्वसेन महाराजस्य ब्राह्मीदेव्याश्च सूनुः पञ्चकल्याणाधिपतिः पार्श्वनाथ नाम"।

योगि. पंडिताचार्य–पार्श्वाभ्युदय काव्य टीका कथा वातारः।

६. तत्पति विश्वसेनाख्योप्यभूद्विश्व गुणैकभूः।
काश्यपाख्य सुगोत्रस्य इक्ष्वाकु वंशरवांशुमान्॥
—सकलकीर्ति पार्श्वपुराण १०–३६।

७. वमीष्टो विश्वसेनः शतमखरुचितः काशिवाराणसीशः।
प्राप्तेज्यो मेरु श्रृंगे मरकतमणिरुक्पार्श्वनाथो जिनेन्द्रः।
—पार्श्वनाथ स्तवन श्रुतसागर सूरि अने० वर्ष १२ कि. ८

१. हयसेण वम्मिलाहिं जादोहि वाणारसीए पास जिणो।
—तिलो० प० ४–५०८ गा०।

२. तहां वसइ हेम मन्दिर सुधाम,
वाणारसि णयरि मणोहिराम।
धवल हर धवल धवलिय विहाइ,
सुरसरि सेविय हर मुत्तिणाइ।
हयसेणु तत्थ राणउ सुमंति,
जसु जेण निहिउ विग्धयहु बंति॥
देवचन्द्र, (पासणाहचरिउ १–११ पत्र ५)

३. वाराणसी विशाखा च पार्श्वो वर्माधवो प्रियः।
अश्वसेनश्च ते राजन विशंतु मनसोधृतिः॥
रविषेण पद्मचरित २०–५६।

४. अश्वसेन नृपः पार्श्वः। (हरिवंश पु० ६०–२०४)

५. अस्ससेणु णामें तहिणरवइ। (रइधू पा० पु० १–१०

६. अश्वसेन भूपति बडभाग, राज करै तहां अतुल सुहाग।
काशिपगोत्र जगत परशंस, वंश इक्ष्वाकु विमल सरहंस।।
भूधरदास पार्श्वपुराण।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थकारों मे आससेण, अस्ससेण या अश्वसेन नाम मिलता है। यथा—

१. वाणारसी विसाहा पासो वम्मीय आससेणो य।
अहिछत्ता वाहिरओ तुहमंगल कारयाणि सया॥
—पउमचरिउ २०–४६।

२. भारहेवासे वाणारसीए नयरीए आससेणस्स रण्णो वामाए देवीए। —कल्पसूत्र ६–१५०

३. आचार्य हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र में पार्श्वनाथ के माता-पिता का नाम वामादेवी और अश्वसेन दिया है।

उक्त नामों में से हयसेन या अश्वसेन नाम का समर्थन हिन्दू पुराणों और बौद्ध जातकों से भी नहीं होता। अतः यह नाम इतिहास सम्मत नहीं है बौद्ध जातकों में बनारस के राजाओं के नाम मिलते है। जिनमे ब्रह्मदत्त के सिवाय छह राजाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—उग्गसेन, धनंजय, महासीलव, संयम, विस्ससेन और उदयभद्द। विष्णुपुराण और वायुपुराण में ब्रह्मदत्त के उत्तराधिकारी योगसेन, विश्वकसेन और भल्लाट नाम का उल्लेख मिलता है। जातकों का विस्ससेन और पुराणों के विश्वकसेन संभवतः एक ही है। काशी के इतिहास में डा० मोतीचन्द जी ने उक्त नामों का उल्लेख किया है।

रही पार्श्वनाथ पूजा में प्रयुक्त विश्वसेन नाम के आधार की बात, सो उसका आधार ऊपर बतलाया जा चुका है किन्तु वह पूजा जिन संग्रहों में छपी है उसके पाठों में एक रूपता नहीं है। कलकत्ता अमरतल्ला स्ट्रीट से प्रकाशित 'श्री जिन स्तोत्र पूजादि संग्रह में पृ० ५६७ पर प० कमलकुमार जी शास्त्री कलकत्ता के सम्पादकत्व में प्रकाशित बखतावर मल की पार्श्वनाथ पूजा में पार्श्वनाथ के पिता का नाम एक स्थान पर अश्वसेन और दो स्थानों पर विश्वसेन छपा है। जो विचारणीय है।

**'वर स्वर्ग प्राणत को विहाय सुमात वामा सुत थये।**
**अश्वसेन के पारस जिनेश्वर चरण जिनके सुर नाये।'**

× × × ×

**'हैं विश्वसेन के नंद भले गुण गावत हैं तुमरे हरषाए।'**

× × × ×

**'तहां विश्वसेन नरेन्द्र उदार, करैं सुख वाम सु दे पटनार।'**

भारतीय ज्ञान पीठ काशी प्रकाशित से 'ज्ञानपीठ पूजांजलि के पृष्ठ ३७१ पर भी ऊपर लिखे अनुसार पाठ मुद्रित है। जबकि तीनों स्थलों पर एक जैसा पाठ चाहिए था। ऐसी स्थिति में पाठक जन किस पाठ को ठीक समझें, यह विचारणीय है। सर्व साधारण में इतनी वृद्धि तो नहीं होती कि वे उन पाठों का संशोधन कर सकें। अन्य एक संग्रह में उक्त तीनों स्थलों पर 'अश्वसेन' नाम का ही उल्लेख मिलता है।

जब बनारसमें भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ, उनका गोत्र काश्यप था। उस समय देश की स्थिति बड़ी ही विषम और डामाडोल हो रही थी। श्रमण संस्कृति के साथ वैदिक संस्कृति का प्रचार बंगाल और बिहार में होने लगा था। लगभग उसी समय में 'शतपथ ब्राह्मण' की रचना पूर्ण हो रही थी। ऐसे विषम समय में भगवान पार्श्वनाथ ने बनारस में अवतार लिया। वे जन्म से ही मति-श्रुत और अवधि तीन ज्ञान संयुक्त थे। उनके शरीर का नील वर्ण अत्यन्त शोभनीक था। धीरे-धीरे भगवान का शरीर वृद्धि को प्राप्त होता गया। माता-पिता ने अनेक वार उनसे विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु उन्होंने उसे हँस कर टाल दिया। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्ठि शला का पुरुषचरित्र' के ६वे पर्व के तीसरे सर्ग के २१०वें पद्य के निम्न चरण में—'भोग्यं कर्म क्षपयितुमुद्वाह प्रभावतीम्" उल्लिखित वाक्य द्वारा पार्श्वनाथ को विवाहित सूचित किया है। जब कि उसी चरित के वासुपूज्य चरित में महावीर को छोड़ कर शेष चार तीर्थंकरों को—मल्लि, नेमि, पार्श्व और वासुपूज्य को अविवाहित सूचित किया है[१]। हेमचन्द्राचार्यका पार्श्वनाथको एक जगह विवाहित और दूसरी जगह अविवाहित लिखना किसी भूल का परिणाम जान पड़ता है। अन्यथा एक ही ग्रन्थ में ऐसा विरुद्ध कथन नहीं होना चाहिए। पार्श्वनाथ को विवाहित बतलाना स्थानांग तथा समवायांग के सूत्र १६ की मान्यता के विरुद्ध है, आवश्यक निर्युक्ति की मान्यता के भी विरुद्ध है। दिगम्बर परम्परा मे पार्श्वनाथ को अविविवाहित ही माना गया है। पंच तीर्थंकरों को बाल ब्रह्मचारी माना है जैसा कि आवश्यक निर्युक्ति मे

१. (क) मल्लिर्नेमिः पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिन.।
अकृतोद्वाह साम्राज्याः प्रव्रजिष्यंति मुक्तये ॥१०३
श्रीवीरश्चरमश्चार्हन्नीषद् भोग्येन कर्मणा।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्य प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ॥१०४,
त्रि० ष० पु० च०।

माना गया है१।

**प्रव्रज्या और उपसर्ग—**

एक समय कुमार गंगा नदी के तट पर घूम रहे थे। वहां कुछ तपस्वी अग्नि जला कर तप कर रहे थे। उनका यह तप 'पंचाग्नि तप' कहलाता था। यह शरीर शोषक होने के साथ-साथ जीव हिंसा का भी कारण है। इसी से इसे मिथ्या तप कहा जाता है, वास्तव में पंचाग्नितप काम, क्रोध, मद, माया और लोभ रूप पञ्च अग्नियों का सहन करने वाला, अथवा इन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही पञ्चाग्नितप साधक कहला सकता है२। परन्तु वहां आत्म-साधनाका लेशभी नहीं है केवल हिंसा और शरीर शोषण क्रिया का ही अवलम्बन है। अस्तु, कुमार उनके पास पहुँच कर बोले—इन लक्कड़ों को जला कर क्यो जीव हिंसा कर रहे हो। कुमार की यह बात सुन कर तापसी बहुत क्रोधित हुए और झल्लाए तथा कहने लगे— 'यदि तुम्हें इतना ज्ञान है तो तुम ही हरि हर ब्रह्मा हुए। इनमें जीव कहां है? तब कुमार ने उन लक्कड़ो की ओर इशारा किया और तापसी कुल्हाड़ी उठा कर उस लकड़ी को फाड़ने लगा। तब कुमार ने कहा इसे मत फाड़ो, इसमें नाग युगल हैं; किन्तु तापसी नहीं माना और उसने लकड़ी फाड़ ही डाली, तब उसमें से अधजला हुआ नाग-नागिनी का जोड़ा निकला। कुमार ने उन्हें मरणोन्मुख जान कर उनके कान में नमस्कार मंत्र दिया१। और दुखी होकर वे वहां से वापिस चले गये। इस घटना से कुमार के दयालु सुकुमार हृदय पर बड़ी चोट लगी और जीवन की अनित्यता के साथ देह-भोगों की अनित्यता से उनका चित्त अत्यन्त उदास हो गया और वे विचारने लगे कि—

सामान पुरुष जन जैसे, हम खोए ये दिन ऐसे।
संयम बिन काल गमायो. कछु लेखे में नहिं आयो।
ममतावश तप नहिं लीनों, यह कारज जोग न कीनो।
अब खाली ढील न कीजै, चारित चिन्तामणि लीजै॥

यह सोच कर तीस वर्ष की भरी जवानी में राजसुख का परित्याग कर वे दीक्षित हो गए। तपश्चरण में अनुरक्त हो आत्म-साधना में तत्पर हो गये। उनका तपस्वी जीवन बड़ा ही कठोर और उग्र था, वे कष्ट सहिष्णु, और क्षमाशील तथा परिषह विजयी थे। उनकी आत्म-साधना कठोर थी वे वर्षा, शीत और ग्रीष्म की तपन की परवाह नही करते थे। वे सम्यभावी, धैर्य और गुणों

(१) वीरं अरिट्ठनेमिं, पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥२४३
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिय कुलेसु।
न च इच्छियाभिसेया कुमारवासमि पव्वइया॥
आ० नि० २४४।

× × × ×

गामायारा विसया निसेविया ते कुमार वज्जेहिं।
गामागराइयाएसु य केसि(सु) विहारो भवे कस्स॥
२४५

टीका—ग्रामाचारा नाम विपया उच्यन्ते ते विपया निसेविता—आसेविताः कुमारवर्जै.—कुमार भाव एव ये प्रव्रज्या गृहीतवन्तः तान् मुक्त्वा शेष. सर्वैस्तीर्थकृद्धि.। किमुक्त भवति? वासुपूज्य-मल्लिस्वामि-पार्श्वनाथ-भगवदरिष्टनेमि व्यतिरिक्तैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिरासेविता विपयाः न तु वासुपूज्य प्रभृतिभि, तेषां कुमार भाव एव व्रतग्रहणाभ्युपगमात्।
—टीकाकार मलयगिरि।

२. भो तपसी यह काठ न चीर, यामें युगल नाग हैं वीर।
सुन कठोर बोलो रिस आन, भो बालक तुम ऐसो ज्ञान।
हरि हर ब्रह्मा तुमही भए, सकल चराचर ज्ञाता ठए।
मनै करत उद्धत अविचार, चीरो काठ न लाई वार।५५
ततखिण खण्ड भए जुगजीव, जैनी बिन सब अदय अतीव।
यही भाव महाकवि पुष्पदन्त की निम्न पंक्तियों में अंकित है—
भो भो तापस तरु म-हणु म-हणु,
एत्थच्छइ कोडरि णाय-मिहुणु।
ता भणइ तवसि कि तुज्झणाणु,
कि तुहु हरिहर चउवयणु भाणु।
इय भणि वि तेण तहिं दिण्ण घाउ,
संक्षिण्णउ सहु णाइणिइ णाउ।
जिएा वयणे विहि मि समहि जाय,
को पावइ धम्महु तणिय छाय।
—महापुराण ६४–२१

के अनन्त भण्डार थे। तपश्चरण से उनका मांस और खून शुष्क हो गया था। शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, किन्तु आत्म-तेज बढ गया था। उनके तपस्वी जीवन की याद आने ही रोंगटे खडे हो जाते हैं। वे स्व-पर-तत्त्वज्ञानी समता-साधकों मे अग्रणीय थे।

एक समय वे वन मे एक शिला पर ध्यानस्थ थे। उस समय उनकी आत्म-चिन्तन मे निमग्न सौम्य मुद्रा देखते ही बनती थी। वे साम्यभाव मे अवस्थित थे और ध्यानाग्नि द्वारा कर्म पुज को जलाने की शक्ति-संचय मे संलग्न हो रहे थे। उनकी सुस्थिर मुद्रा से कोई रोम भी इधर-उधर नही मटकता था, उनकी उस निश्चल ध्यान-मुद्रा का कवि देवचन्द्र ने पार्श्वनाथचरित मे निम्न रूप से अंकन किया है :—

**"तत्थ सिलायले थक्कु जिणिंदो, संतु महंतु तिलोयहो वंदो।
पंच महव्वय उद्दय कंधो, णिम्ममु चत्त चउव्विह बंधो।
जीव दयावह संग विमुक्को, णं दहलक्खणु धम्मु गुरुक्को
जम्म-जरा-मरणुज्झिय दप्पो, बारस भेय तवस्स महप्पो।
मोह-तमंध-पयाव-पयंगो, खंतिलयारुहणे गिरितुंगो।
संजम-सील-विहूसिय-देहो, कम्म-कसाय-हुयासण मेहो।
पुप्फंधणु वर तोमरधंसो, मोक्ख महासरि कीलण हंसो।
इंदिय-सप्पह-विसहर मंतो, अप्पसरूव-समाहि सरंतो।
केवलणाण-पयासण-कंखू, घाण पुरम्मि णिवेसिय चक्खू।
णिज्जिय सासु पलंबिय बाहो, णिच्चल-देह-विसज्जिय वाहो
कंचण सेलु जहां थिर चित्तो, दोधकछंद इमो बुह वुत्तो॥"**

भगवान पार्श्वनाथ एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए है। वे सन्त-महन्त और त्रिलोकवर्ती जीवो के द्वारा वन्दनीय हैं। पञ्च महाव्रतों के धारक है, निर्ममत्व है और प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकार के बन्ध से रहित है। दयालु और सग (परिग्रह) विमुक्त है, दश लक्षण धर्म के धारक है, जन्म-जरा और मरण के दर्प से रहित है। तप के द्वादश भेदों के अनुष्ठाता है, मोह रूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य समान है। क्षमारूपी लता के आरोहणार्थ वे गिरि के समान उन्नत हैं। जिनका शरीर संयम और शील से विभूषित है, जो कर्मरूपी कषाय हुतासन के लिए मेघ है, कामदेव के उत्कृष्ट बाण को नष्ट करने वाले तथा मोक्षरूप महा सरोवर में क्रीड़ा करने वाले हंस है। इन्द्रिय रूपी विषधर सर्पों को रोकने के लिए मत्र है, आत्म-समाधि मे चलने वाले हैं, केवलज्ञान को प्रकाशितकरने वाले सूर्य हैं, जिनेश्वर हैं नासाग्रदृष्टि है, श्वास को जीतने वाले हैं, जिनके बाहु लम्बायमान है और जिनका शरीर व्याधियों से रहित है, जो सुमेरु पर्वत के समान स्थिर चित्त हैं।"

भगवान पार्श्वनाथ की यह ध्यान-स्थिति स्वात्म-स्थिति को प्राप्त करने की एक कसौटी है। जो क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो रहे है। उनकी इस साम्यावस्था के समय उनके पूर्व जन्म का बैरी कोई सम्बर नाम का देव आकाश मार्ग से कही जा रहा था, सहसा उसका विमान अटक गया और उन्हें ध्यानस्थ देखते ही उसका पूर्व संचित वैर-भाव भड़क उठा, उसने पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया, ईंट पत्थर, धूलि आदि की वर्षा की, भयानक कृष्ण मेघों मे सर्वत्र अन्धकार छा गया, अपार जलवृष्टि हुई, मेघो की भीषण गर्जना और विद्युत की दमकन से दिल दहलने लगा, पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देने लगा। ऐसा घोर उपसर्ग करके भी वह पार्श्वनाथ को ध्यान से रञ्चमात्र भी विचलित न कर सका। उसी समय वे दोनों नाग नागिनी जो धरणेन्द्र और पद्मावती हुए थे अपने उपकारी पर भयानक उपसर्ग जान कर तुरन्त पाताल लोक से आये। पद्मावती ने अपने मुकुट के ऊपर भगवान को उठा लिया और धरणेन्द्र ने सहस्र फण वाले सर्प का रूप धारण कर, और अपना फण फैलाकर उनकी रक्षा की। उसी समय पार्श्वनाथ ने पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त किया।

**महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना—**

भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने के लिये इन्द्रादिदेव आने लगे। उनकी दिव्य देशना को सुनकर उस ज्योतिषी सम्बरदेव ने उनके चरणों मे अपने अपराध की क्षमा-याचना की और मिथ्यात्व का वमन कर सम्यक्त्व प्राप्त किया। इतना ही नही किन्तु उस वन मे रहने वाले अन्य तपोधन साधुओं ने भी, जो अज्ञान मूलक तपश्चरण द्वारा अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर रहे थे। पार्श्वनाथ की शरण में आकर वास्तविक तपस्विता अंगीकार की ये तपस्वी उस समय के अच्छे विद्वान् थे। पार्श्वनाथ के जीवन की इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का उल्लेख

विक्रम की तीसरी शताब्दी के विद्वान् आचार्य समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्र के पार्श्वनाथ स्तवन में निम्न रूप से व्यक्त किया है :—

"यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं,
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-बुद्धयः,
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥"

इस पद्य में बतलाया गया है कि—विधूत-कल्मष—घातिकर्म रूप पाप-कर्म से रहित—शमोपदेश—मोक्ष-मार्ग के उपदेशक और ईश्वर—सर्वलोक के प्रभु के रूप में उन पार्श्वनाथ प्रभु को देखकर वनवासी तपस्वी भी शरण में प्राप्त हुए—मोक्षमार्ग में लगे—जो अपने श्रमको पंचाग्नि तपरूप अनुष्ठान को—अवन्ध्य (विफल) समझ गए थे और भगवान पार्श्वनाथ जैसे होने की इच्छा रखते थे ।

इस महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण में और महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण में पाया जाता है । और उनमें इन साधुओं की संख्या सात सौ बतलाई गई है१ ।

भगवान पार्श्वनाथ ने कोरे वैदिक क्रियाकाण्डोंका भारी विरोध किया था, और तत्कालीन क्रिया काण्डी विद्वानों पर उनके उस अहिंसक उपदेशका बहुत प्रभाव पडा था और वे हिंसक क्रिया काण्डों को छोड़कर अहिंसा धर्मके धारक बने थे, उनका हृदय अनुकम्पा से द्रवित हो गया था । इतना ही नहीं किन्तु उनके अनेक अनुयायी भी अहिंसा के पथिक बने थे । उस समय के इतिहास लेखकों ने उस पर प्रकाश डाला होगा । बंगीय साहित्य के इतिहास में भी कुछ लिखा गया है । उस समय अंग-बंग और कलिंगादि प्रदेशों में वैदिक संस्कृतिका प्रचार नगण्य-सा रह गया था । इससे रुष्ट होकर कुछ विद्वानों ने अंग-बग-कलिंगादि की यात्रा पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया था और सौराष्ट्र से लेकर वृहत् जनपद को आर्य मंडल से बहिर्भूत कर दिया था और यात्रा करने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता था जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

अंग-बंग-कलिंगेषु सौराष्ट्रे मगधेषु च ।
तीर्थयात्रा विनागच्छन् पुनः संस्कारमर्हति ॥

इससे पाठक सहज ही जान सकते है कि उस समय भगवान पार्श्वनाथ का उन देशों में कितना प्रभाव अंकित था । उन्होंने लोककल्याण के लिए जो उपदेश दिया था वह सम्प्रदायातीत था । और वह वही था जिसे पहले अजितादि तीर्थंकरों ने दिया था ।

इस तरह पार्श्वनाथ ने लोक-कल्याण का भारी कार्य किया, उससे श्रमण संस्कृति को बल मिला । और उसका प्रचार और प्रसार भी हुआ । पार्श्वनाथ ने जिस अहिंसा का प्रचार किया और वैदिक शुष्क क्रिया काण्डों का प्रतिषेध किया उससे अहिंसा को पूर्ण प्रश्रय मिला ।

भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम कहा जाता है । जिसका अर्थ है छेदोपस्थापना को छोड़कर शेष सामायिक आदि चार चारित्रों का विधान, उसमें आवश्य-कता होने पर प्रतिक्रमण की व्यवस्था थी । इसके सम्बन्ध में फिर कभी स्वतन्त्र लेख द्वारा विचार किया जायगा ।

---

१. प्राप्तसम्यक्त्व शुद्धिं च दृष्ट्वा तद्वनवासिनः ।
(क) तापसास्त्यक्त्वमिथ्यात्वाः शतानां सप्तसंयमम् ॥
—उत्तरपुराण

(ख) सम्मत्तलयउखल संवरेण, उवसंते ववगयमच्छरेण ।
तव्वणवासिहिं संपत्तवत्त, इसिजायइं तवसिहिं समइ सत्त ।
—महापुराण पुष्पदन्त सं० ९४ पृ० २१२

# अनेकान्त का छोटेलाल जैन विशेषांक

**श्रद्धा संस्मरण**

१. श्रद्धाञ्जलियाँ
२. संस्मरण

**जीवन-वृत्त**

१. जन्म और बचपन
२. शिक्षा
३. वैवाहिक जीवन
४. व्यापार
५. धर्म-रुचि
६. माता-पिता का प्रभाव

## कृतित्व

**क. साहित्यिक**

१. जैन सन्दर्भ ग्रन्थ
२. जैन मूर्तिलेख संग्रह
३. विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख
४. खण्डगिरि—उदयगिरि पर खोज
५. दक्षिण भारतीय शिला-लेख संग्रह (सम्पादन)
६. बाबू जी के द्वारा प्रोत्साहित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

**ख. सामाजिक**

७. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
८. स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
९. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१०. वीर शासनसंघ, कलकत्ता
११. बाला विश्राम आरा

## दर्शन साहित्य और पुरातत्त्व

**क. दर्शन**

१. अनेकान्त का सैद्धान्तिक विश्लेषण
२. आधुनिक विश्व में अनेकान्त का स्थान
३. जैन अहिंसा का सार्वभौमिक महत्व
४. अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में महावीर और गान्धी
५. आधुनिक विज्ञान और जैनदर्शन
६. जैनदर्शन का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन
७. जैन और बौद्ध दर्शन
८. जैन तत्ववाद की पृष्ठभूमि
९. मानव जीवन और जैन अध्यात्मवाद
१०. अणुव्रत और नैतिकता
११. जैनदर्शन में ज्ञान और भक्ति
१२. जैन न्याय
१३. जैन तत्वज्ञान में सर्वोदयी विचारधारा

**ख. साहित्य**

१. प्राकृत भाषा और साहित्य
२. प्राकृत भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन
३. प्राकृत भाषा में राम-काव्य
४. प्राकृत का हिन्दी पर प्रभाव
५. जैन संस्कृत के महाकाव्य
६. प्राकृत शब्दकोष
७. अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध
८. अपभ्रंश के महाकाव्य
९. रासा काव्य
१०. जैन अपभ्रंश का हिन्दी के सन्त काव्य पर प्रभाव
११. योगीन्दु और कबीर
१२. भविसयत्तकहा और पदमावत का तुलनात्मक अध्ययन
१३. अपभ्रंश का गीति-काव्य
१४. जैन हिन्दी काव्य का साहित्यिक मूल्याङ्कन
१५. मध्यकालीन जैन हिन्दी महाकाव्य
१६. मध्यकालीन निर्गुण सम्प्रदाय और जैन पद काव्य की निष्कल-भक्ति
१७. जैन परिप्रेक्ष्य में नाथ सम्प्रदाय

**ग. पुरातत्त्व**

१. भारतीय संस्कृति में जैन पुरातत्त्व का महत्व
२. राजस्थान का जैन पुरातत्त्व
३. अजन्ता की गुफाओं का जैन पुरातात्त्विक मूल्याङ्कन
४. उदयगिरि—खण्डगिरि की गुफाएँ
५. दक्षिण भारत का जैन पुरातत्त्व
६. श्रवणबेलगोल
७. जैन मन्दिर और चैत्य
८. जैन मूर्तिकला
९. जैन मूर्ति-लेख
१०. पुरातात्त्विक दृष्टि से जैन देववाद
११. जैन पुरातत्त्व-साहित्य

विशेष—उपर्युक्त स्तम्भों के अन्तर्गत किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है।

# वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ

डा० राजकुमावार जैन एम० ए० पी-एच० डी०

**वैदिक रुद्र के विकसित रूप**

शतपथ ब्राह्मण १ मे रुद्र के जो—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये नौ नाम हैं, वे अग्निदेव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं और 'ऋषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' में उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव को ही वैदिक काल मे अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था, फलतः रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि ऋषभदेव के ही नामान्तर है।

वैदिक परम्परा में वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है। जब कि जैन परम्परा में भगवान ऋषभदेव को ही शिव, उनके मोक्ष मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है। यहां रुद्र के उन समस्तक्रम-विकसित रूपों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रणी के देवता हैं उनकी स्तुति में तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं१ इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले छह मन्त्र रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में२ एक अन्य सूक्त में रुद्र और सोमका साथ स्तवन किया गया है३ अन्य देवताओं की स्तुति में भी जो सूक्त कहे गये हैं उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तों में रुद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीकों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताए हैं। रुद्र का शाब्दिक अर्थ, मरुतो के साथ उनका संगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप इन सबको दृष्टि मे रखते हुए कुछ विद्वानों की धारणा है कि रुद्र झझावात के 'ख' का प्रतीक हैं,४ जर्मन विद्वान वेबर ने रुद्र के नाम पर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झझावात के 'ख' का प्रतीक है।५ डा० मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं; अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप में झझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है६। श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक माना है६। अंग्रेज विद्वान म्यूर की भी यही मान्यता है७। विल्सन ने ऋग्वेद की भूमिका में रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है८। प्रो० कीथ ने रुद्र को झझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नहीं९। इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानो ने उन्हे मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन मे उन्होने ऋग्वेद का यह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमे रुद्र का केशियो के साथ उल्लेख किया गया है।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन' है१०। जिसका अर्थ है जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलीकिन्'११ जिसका अर्थ है, दहकने वाला, दोनों की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप में हो जाती है।

अपने सौम्यरूपों में रुद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है जिसकी औषधियाँ ठण्डी और व्याधिनाशक होती है। रुद्र सूक्त में रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है१२ 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ,

---

१. ऋग्वेद : १, ११४, २, ३३, ७, ४६

२. ऋग्वेद १, ४३

३. वही : ६, ७४

४. वेबर इन्दीश स्टूडीन, २, १६-२२

५. मेकडौनल : वैदिक माईथोलोजी, पृष्ठ सं० ७८

६. भाण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म

७. म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स,

८. विल्सन : ऋग्वेद भूमिका

९. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ सं० १४७

१०. ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५

११. वही : १, ११४; ५

१२. एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृर्णिषे न हसि ऋग्वेद : २, ३३, १५

हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।" इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है१—"हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भय विनाशक औषधि हम चाहते है।' विशुद्ध आत्मतत्त्व ज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्त कर रुद्र भक्त संसार जयी और सुखी होने की कामना करता है। प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मन्त्र में उसकी जीवन-साधना देखिए। वह प्रार्थना करता है२।

'हे वज्र संहनन रुद्र तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों मे सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियो मे सर्वोत्तम बलशाली हो। तुम मुझे पापो से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूँ।'

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है३। और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है४। रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है५। और एक स्थल पर उन्हें "मेधापति" की उपाधि से विभूषित किया गया है६। एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप मे भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है— "अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं७।

ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवन-स्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को८ यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मंत्रों में केशी की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते है और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द साहित्य) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों को जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है।९

अथर्ववेद में भी रुद्र का व्याधि-विनाश के लिए आह्वान किया गया है।१० कुछ मन्त्रों मे रुद्र 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है।११ इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया, व्रात्य ईशान बन गया है।१२ तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन मे प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी।१३

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है— *कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशील विश्वसामान्यं कर्म परैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्ट व्रात्यमनुलक्ष्यवचनमिति मन्तव्यम्'* अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है जो विद्वानों मे उत्तम, महाधिकारी पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते है।

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होने के कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान, द्वारा सब ओर से घेर कर रहने वाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से

---

१. या वो भेषजः मरुतः शुचीनि या शान्त मा वृषणो या मयोभु। यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ताशं च योश्च रुद्रस्य वश्मि—वही २, ३३, १३
२. श्रेष्ठो जातस्य रुद्रः श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि। वही २, ३३, ३
३. ऋग्वेद . ६, ७४
४. वही : ६, ७,३
५. वही : २, १६; ३, २, ५
६. वही : १, ४३, ४
७. वही : १, ११४, ६
८. ऋग्वेद : १, १७२, १; ', ६४, ८ तथा ६, ५, ३३, ५, ६१, ४ आदि
९. ऋग्वेद : १०, १३६, २-३
१०. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १९. १०, ६
११. वही : ११, २, ७
१२. वही : १५, १, ४, ५
१३. व्रात्य आसी दीयमान एव स प्रजापति समैरयत्, अथर्ववेद १५, १

अभिहित किये जाते थे।[१]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है[२] कि व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[३] कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक महान् राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ रहे थे उनको सैन्यदल की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया, और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिए तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाण स्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्माण की ही पुष्टि करते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एवं मोहन जोदणों तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशों से होते हुए त्रेतायुग के आदि में लगभग ३००० ई० पूर्व में इलावर्त और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे। उस समय पहले से ही द्राविड़ लोग गान्धार से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण के मयदेश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जनपदों में निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। ये जहाजों द्वारा लघु एशिया तथा उत्तर पूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार करते थे।

ये द्राविड़ लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग में लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामों से विख्यात थे। श्यामवर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभा शीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामों से पुकारते थे। व्रतधारी एवं वृत्त का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओं के जानकार होने से द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड़' शब्द का ही रूपान्तर है। ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव, एवं ईश्वर के नामों से अभिहित करते थे। जीवन-शुद्धि के लिये ये अहिंसा संयम एवं तपो मार्ग के अनुगामी थे। इनके साधुदिगम्बर होते थे और बड़े-बड़े बाल रखते थे। अन्य लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे।[४]

यजुर्वेद में एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[५] (ध्वंसक या हानिकर) के रूप में उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौव्रात्य' शब्द[६] का प्रयोग किया गया है। भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्छृंखल आचरण किया है, इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है।[७] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर[८]। भिषक रूप मे उनका

१. वृत्रो हवा इदं सर्वं कृत्वाशिश्यो यदिदमंतरेणद्यावा-पृथिवीय यदिदं सर्वं वृत्वाशिश्ये तस्माद वृत्रो नाम "शतपथ ब्राह्मण" ११, ३, ४
२. हौएर : दर व्रात्य (Vratya)
३. एन० एन० घोष : इण्डो आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर (argin) १९३४ ई०
४. "ये नात रन्भूतकृनोति मृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण"—अथर्ववेद : ४, ३५
५. यजुर्वेद: (वाजसनेयी संहिता) १०, २०
६. वही : (वाजसनेयी संहिता) ३९, ९, तथा महेश्वर का भाष्य-दुष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतम्।
७. वही : (तैत्रिरीय संहिता) ४, ५, १
८. वही : ( ,, ,, ) १, २, ४

स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है।१ यहाँ रुद्र का पशुपति रूप में उल्लेख मिलता है।२

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'३ सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है। इन्हें 'कृत्तिवासा': कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृततत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है। उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञ भाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है। मूषक जैसे धरती के नीचे रहने वाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहने वाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था। कृत्तिवासा:" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था।

"शत रुद्रिय स्तोत्र"४ में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जो रुद्र के यजुर्वेद कालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं। रुद्र को यहाँ पहली बार 'शिव' 'शिवतर' तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है। 'गिरिशत' 'गिरित्र' 'गिरिश' 'गिरिचर' 'गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है। 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक' भी निर्दिष्ट किये हैं। प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिए कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है। अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करने वाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज), वंचक, स्तायूनां पति (ठगों का सरदार), तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति [गलकटों का सरदार] कुलुंचानां पति, आदि। इसके अतिरिक्त इनमें 'सभा', 'सभापति' 'गण' 'गणपति', आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात', 'व्रातपति', तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और 'महादेव' कहा जाने लगा था।५ जैमनीय ब्राह्मण में कहा गया है६ कि देवताओं ने प्राणिमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया।

श्वेताश्वतर उपनिषद् से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रंथों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था। इसमें उन्हें सामान्यत: ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है।७ वह मोक्षाभिलाषी योगियों के ध्यान के विषय हैं और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है।८ इस काल में वह केवल जन सामान्य के ही देवता नहीं थे, अपितु आर्यों के सबसे प्रगति शील वर्गों के आराध्यदेव भी बन चुके थे। इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एकमात्र साधन माना था। अपरवैदिक काल में योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप में जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी। श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को ईश, शिव और पुण्य कहा गया है। लिखा है कि प्रकृति, पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की

---

१. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६
२. वही : (वाजसनेयी संहिता), ६, ३, ६, ३, ६, ८ (तैत्रिरीय) १, ८, ६
३. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६ (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३
४. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १
५. कौशीतिकी : २१, ३
६. जैमिनीय : ३, २६१, ६३
७. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३०-११-४-१०, ४, ११, ५, १६
८. वही : ३, २-४, ३, ७, ४, १०-२४

सृष्टि करता है।१ पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में काम करता है।२ इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्यदेव बन गये थे जो सांख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे। प्रश्नोपनिषद् में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है।३ मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र की 'शम्भु' (अर्थात् शान्तिदाता) उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ।४

श्रौत-सूत्रों में रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता का है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामों का उल्लेख है।५ महादेव, पशुपति, भूपति आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया है।६ रुद्र से मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।७ उन्हें रोगनाशक औषधियों का दाता८ और व्याधि निवारक९ कहा गया है। गृह्य सूत्रों में रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियों का उल्लेख मिलता है।१० यद्यपि इनके 'शिव' और शंकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे है।११ यहाँ उन्हें श्मशानों, पुण्यतीर्थों एवं चौराहों जैसे स्थलों में एकान्त विहारी के रूप में चित्रित किया गया है।१२

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्र पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शक्ति मत का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धु घाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई। परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था। इस प्रकार भारत में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव धर्म का एक अंग बन गई। दूसरी ओर उपनिषदों से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचार-धारा के प्रवर्त्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे। सूत्र युग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिककाल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु काल क्रम से यह स्मृति लुप्त हो गयी और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा।

उपनिषत्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार में युगान्तर उपस्थित कर दिया। कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरों के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार में रुद्र-मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ हो गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोक प्रचलित हो गया।

पाणिनी के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र है, जिन्हें 'माहेश्वर'१ बतलाया गया है। वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में रुद्र, भव और शर्व शब्दों का भी उल्लेख मिलता है।२　　　(क्रमशः)

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १
२. वही : ४-५
३. प्रश्नोपनिषद् २, ९
४. मैत्रायणी उपनिषद् १५. ८
५. शांखायन श्रौतसूत्र : ४. १९, १
६. वही : ४. २०, १४
७. वही : ४, २०, १ आश्वलायनः ३, ११, १
८. लाणयन श्रौतसूत्र : ५, ३, २
९. शांखानन श्रौतसूत्र : ३, ४, ८
१०. आश्वलायन गृह्यसूत्र : ४, १०
११. वही : २, १, २
१२. मानव गृह्यसूत्र २, १३, ६, १४

१. महेश्वर सूत्र इस प्रकार है—अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, ह ल्।
२. अष्टाध्यायी : १, ४९, ३, ५३, ४ १००

# स्वर्गीय बाबू छोटेलाल जी की अपूर्ण योजनाएँ

**श्री नीरज जैन**

सत्तर वर्ष की आयु मे एक दीर्घ और कष्टदायक बीमारी के बाद गत छब्बीस जनवरी को कलकत्ता के मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी अस्पताल मे बाबू जी ने इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

बाबू छोटेलाल जी ने अपनी इस पर्याय का अधिकाश भाग जैन पुरातत्व, इतिहास तथा साहित्य का शोध और प्रकाशन में व्यतीत किया था। उन विषयो की विपुल शोध-सामग्री और एक अच्छा पुस्तकालय वे छोड गये है।

खण्डगिरि उदयगिरि की सवा दो हजार वर्ष प्राचीन जैन गुफाओ की खोज तथा प्रकाशन सभवत: उनके जीवन की विशालतम सफलता थी। इसके अतिरिक्त जैन बिबलियो ग्राफी का प्रकाशन, सैकडों भूले-बिसरे जैन मंदिरों मूर्तियों की शोध एवं व्यवस्था, वीर-शासन सघ की स्थापना और उन्नति, वीर-सेवा-मंदिर की उन्नति आदि दर्जनों ऐसे कार्य है जो उनकी जीवन व्यापिनी मूक साधना के फल के रूप में हमारे समक्ष है।

उनकी इन योजनाओं की उनके बाद क्या व्यवस्था हो तथा उनकी सामग्री का क्या उपयोग हो इसकी एक रूप-रेखा उन्होंने बना रखी थी। समय-समय पर मिलने वालों से इस बारे में चर्चा भी वे किया करते थे। इतना ही नहीं, उस रूप रेखा पर कार्य करना भी उनके जीवन काल में ही प्रारम्भ हो गया था।

बेलगछिया मंदिर के एक विशाल कक्ष मे जैन पुरातत्व का संक्षिप्त परन्तु समग्र परिचय देने वाली एक चित्र प्रदर्शनी लगाने तथा उनके ग्रन्थ भण्डार को एक नियमित पुस्तकालय का रूप देने का कार्य उनके सामने ही प्रारम्भ हो गया था जो यथा शीघ्र पूर्ण हो जाने की आशा है। अपनी शेष सम्पत्ति के सदुपयोग के लिए भी "जैन ट्रस्ट" की स्थापना वे अपने सामने ही कर गये है।

धवल जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की मूल ताड़-पत्रीय प्रतियों के वृहदाकार चित्र भी स्वर्गीय बाबू जी ने अथक परिश्रम करके और बहुत व्यय करके तैयार कराये थे। इन चित्रों तथा निगेटिव का संग्रह भी इसी कक्ष में प्रदर्शनार्थ रखा गया है।

पूज्य वर्णी जी महाराज के टेपरिकार्ड किये हुए भाषणों का संग्रह तथा टेप मशीन दो वर्ष पूर्व ही उन्होंने मुझे सौंप दी थी। इन भाषणों की सुरक्षा, प्रसार और अतिरिक्त प्रतियां तैयार करा कर रखाने की व्यवस्था मैं कर रहा हूँ।

शेष सामग्री की व्यवस्था और योजनाओं के संचालन के सम्बन्ध मे विचार करने मैं और प्रोफेसर खुशालचन्द्र गोरावाला कलकत्ता गये थे। श्रीमान् साहु शांतिप्रसाद जी से विचार विमर्श करने का भी अवसर अनायास मिल गया। रविवार ६-३-६६ को श्रीमान् साहु जी एव श्री लक्ष्मीचन्द जी ने बेलगछिया पधार कर समस्त सामग्री का निरीक्षण किया। पूज्य भगत जी, सर्व श्री बाबू नन्दलाल जी, जुगमदर दास जी, बशीधर जी शास्त्री, नन्दलाल जी (जवाहिर प्रेस), नेमिचन्द पटौरिया और भाई अमरचन्द जी, भाई शांतिनाथ जी का भी सहयोग और मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ। इस प्रकार जो सामयिक व्यवस्था करना निश्चित हुआ है वह इस प्रकार है—

१. साहित्य के क्षेत्र में जैन बिबलियो ग्राफी का प्रकाशन स्वर्गीय बाबू जी का सही स्मारक होगा। लगभग एक हजार पृष्ठ के इस ग्रन्थ की पाण्डु लिपि लगभग तैयार है। डा० श्री ए०एन० उपाध्ये और डा० सत्यरंजन बनर्जी जी इसे अन्तिम रूप दे रहे हैं। इसके प्रकाशन का कार्य यथा शीघ्र प्रारम्भ किया जाय। जैनाचार्यों पर जो शोध कार्य बाबू जी ने प्रारम्भ किया था उसकी सम्भावनाओं पर श्री गोरावाला प्रारम्भिक खोज और विचार करेंगे।

२. बेल गछिया की चित्र प्रदर्शनी को समृद्ध और पूर्ण बनाया जाय। ऐसी ही एक प्रदर्शनी वीर सेवामन्दिर

दिल्ली मे तैयार की जाय; तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी चित्र संग्रह (एलबम) तैयार कराये जावे।

३. पुरातत्त्व सम्बन्धी उनकी योजना को गतिशील रखने, कार्यान्वित करने तथा समूचे देश के जैन पुरातत्व का एक चित्रमय परिचय प्रकाशित करने के प्रयास किये जायें। इस दिशा मे कार्य करने के लिए बाबू जी के संग्रह के चित्र, निगेटिव, नोट्स आदि मैं अपने साथ सतना ले आया हूँ और शक्ति भर प्रयत्न करके श्रद्धेय बाबू जी के इस स्वप्न को साकार करने का संकल्प मैंने किया है।

४. इन्होंने कतिपय तीर्थ क्षेत्रों के स्लाइड भी तैयार कराये थे जिन्हें मेजिक लेन्टर्न पर दिखाकर वे समाज को उसके गौरवशाली अतीत का और पुरातत्व के विपुल भण्डार का परिचय कराया करते थे। बाबू जी के इस संकलन में खजुराहो, देवगढ़, मथुरा, जयपुर, चित्तौड़, श्रमण बेलगोला, सित्तन्न वासल, जिन कांची, मूड़ बिद्री, ऐलौरा आदि स्थानों को लगभग तीन सौ स्लाइड है। जो स्थान या जो विशेष पुरातत्व इसमें शामिल नहीं है उनके स्लाइड बनाने का प्रयास भी उन्हीं के आदेशानुसार मैं गत दो वर्षों से कर रहा हूँ और लगभग अस्सी स्लाइड तैयार भी हो गये हैं। कुछ और भी शीघ्र बन जाएंगे।

इनके सार्वजनिक प्रदर्शन की व्यवस्था भी बाबू जी की योजनानुसार प्रवर्तमान रहेगी। जहां का भी समाज किसी उत्सव, मेला, पर्व या अन्य विशेष अवसरों पर इस प्रदर्शन से लाभ उठाना चाहेगी, मैं वहां व्यवस्था करने का प्रयास करूँगा।

एक कर्मठ व्यक्ति के कार्यों को आगे बढ़ाना ही उसके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होती है और वही हमें स्व० बाबू जी को अर्पित करनी है।

---

## 'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में


| | |
|---|---|
| प्रकाशन का स्थान | वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागंज, दिल्ली |
| प्रकाशन की अवधि | द्विमासिक |
| मुद्रक का नाम | प्रेमचन्द |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | २१, दरियागंज, दिल्ली |
| प्रकाशक का नाम | प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | २१, दरियागंज, दिल्ली |
| सम्पादक का नाम | डा० आ. ने. उपाध्याये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर<br>डा० प्रेमसागर, बड़ौत<br>यशपाल जैन, दिल्ली |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली |
| स्वामिनी संस्था | वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली |

मैं, प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-६४ ह० प्रेमचन्द (प्रेमचन्द)

# बाबू छोटेलाल जी

**डा० प्रेमसागर जैन**

लोग धन कमा सकते है और उसके आधार पर यश भी, किन्तु साथ-ही विद्वत्ता निरहंकार और त्याग संजोना आसान नहीं। वह बिना साधना के नहीं आता। बाबू छोटेलाल जी एक साधक थे। व्यापारी कुल में जन्म लेकर भी उनके हृदय का मूल स्वर सरस्वती की आराधना में ही रम सका। बहुत पहले कलकत्ता के लोगों ने एक युवा व्यापारी को पब्लिक लायब्रेरी में दिन-रात पढ़ते देखा होगा। उन्होंने वहाँ सहस्रशः पत्र-पत्रिकाओ और पुस्तकों का अध्ययन किया। उस आधार पर सन् १६४५ ई० मे भारती परिषद्, कलकत्ता से 'जैन बिब्लियोग्राफी' के प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ। 'रायल एशियाटिक सोसायटी' के विद्वानों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। जैन विद्वानो के लिए तो वह एक कोश-ग्रंथ है। अनेक अनुसन्धित्सु उससे लाभान्वित हुए है। इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड भी रफ-पेपर्स पर बिखरा पड़ा है। बाबू जी ने उसे भी अत्यधिक परिश्रम से तैयार किया था। उनकी इच्छा थी कि वह विगत 'इण्टर नेशनल ओरियण्टल कान्फ्रेंस' के अवसर पर प्रकाशित हो जाता। किन्तु जर्जर होते स्वास्थ्य ने साथ न दिया। उनकी एक बलवती अभिलाषा दिल में ही रह गई। बाबू जी के उत्तराधिकारी या वीर-सेवा-मन्दिर इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने का प्रबन्ध करें, ऐसा मैं चाहता हूँ। बाबूजी ने मुझे अनेक देशी और विदेशी विद्वानों के पत्र दिखाये, जिनमें उनका स्नेह-भरा आग्रह था—इसे शीघ्र प्रकाशित करने का ऐसा होने से जैन अनुसन्धान का एक अध्याय पूरा हो जायेगा।

जैन ही नहीं समूचे भारतीय पुरातत्त्व के सम्बन्ध में बाबू जी का ज्ञान अप्रतिम था। उन्हें इसकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी थी। भारतीय पुरातत्त्व के प्रसिद्ध स्तम्भ श्री शिवराम मूर्ति और श्री टी० एन० रामचन्द्रन बाबूजी को अपना गुरु मानते थे। मैंने उन्हें बाबूजी के चरण-स्पर्श करते देखा है। डा० मोतीचन्द्र जैन का बाबूजी से परम स्नेह था। यदि वे कलकत्ता या दिल्ली आये और वहाँ बाबू छोटेलाल जी हुए तो उनके दर्शन किये बिना नहीं लौटते थे। उनमें घण्टों पुरातत्त्व पर मार्मिक चर्चा होते मैंने देखा है। जैन मूर्ति, मन्दिर, चैत्य, मानस्तम्भ, शिलालेख, गुफाएँ आदि की टेक्नीकल जानकारी के वे एक सन्दर्भ ग्रन्थ थे। काश! वे उसे किसी ग्रन्थ रूप में परिणत कर पाते। जैन पुरातत्त्व का ऐसा पारखी अब ढूंढ़े भी न मिलेगा।

मोहन जोदड़ों की खुदाइयों में कुछ खड्गासन मूर्तियाँ प्राप्त हुई। बनारस विश्वविद्यालय के डा० प्राणनाथ ने उन पर उत्कीर्ण अक्षरों को जैसे-तैसे पढ़ा, लिखा था—श्री जिनाय नमः। उनकी दृष्टि मे ये मूर्तियाँ जिनेन्द्र की थी। बाबू छोटेलाल जी ने इसका सप्रामाणिक खण्डन किया। आज तक उस कथन को किसी ने काटा हो, मुझे स्मरण नही है। इसी भाँति दक्षिण के एक अवकाश प्राप्त विद्वान एक प्राचीन जिनेन्द्रमूर्ति (तीर्थंकर) का फोटो लाये। उनके चेहरे पर एक ललक थी। वे अपनी उपलब्धि के प्रति सगर्व थे। लम्बी खासी से उभर कर बाबू जी ने आगन्तुक का स्नेह-भीना आतिथ्य किया। यह बाबूजी का स्वभाव था। वे स्नेह के भण्डार थे। चित्र देखा तो दो मिनट तक देखते ही रहे। फिर तकिये के सहारे बैठते हुए कहा, "वैसे तो अच्छा, बहुत अच्छा है, किन्तु एक कमी भी है। आपको अपना फोटो तीर्थंकर की प्रतिमा के साथ नहीं खिचवाना चाहिए था। जैन मूर्ति-कला का यह एक प्रारम्भिक नियम है।" आगन्तुक के सधे, तपे, मंजे पुरातात्त्विक ज्ञान पर एक विनम्र चोट लगी, तो कुछ समय तक तो वे बोल ही न सके। फिर फीकी मुस्कान के साथ कहा, "अच्छा, जैन दायरे की यह बात मुझे मालूम न थी। वैसे मैंने कहीं सुना तो नही।" बाबूजी ने कुछ हवालों के साथ उन्हें आश्वस्त किया।

जैन प्रतिमाओं पर खुदे लेखों को पढ़ने की एक पृथक् विद्या होती है। बाबूजी उसमें पारंगत थे। अपने युवाकाल में, व्यापार करते हुए भी उन्होंने, कलकत्ता के मन्दिरों में स्थित जैन प्रतिमाओं के लेखों को पढ़ा था। उसी समय उनकी एक पुस्तक 'जैन-प्रतिमा लेख संग्रह' प्रकाशित हुई थी। आज भी अनुसन्धान के क्षेत्र में वह एक मौलिक ग्रन्थ है। शोध-खोज में लगे लोग उसका मूल्य आँक पाते हैं। बाबूजी ने वीर-सेवा-मन्दिर के पं० परमानन्द शास्त्री को आदेश दिया था कि वे दिल्ली के जैन मन्दिरों के मूर्ति-लेख संकलित करें और उनका नियमित प्रकाशन अनेकांत के अंकों में हो। यह कार्य एक वर्ष तक चला भी। बाबूजी जिस किसी भी जानकार व्यक्ति को देखते, उससे मूर्ति-लेख संकलन की बात कहते थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के 'प्राचीन इतिहास और संस्कृति' विभाग के अध्यक्ष डा० आल्टेकर मूर्ति-लेखों को भारतीय इतिहास और संस्कृति का प्रामाणिक अध्याय मानते थे। यदि आज भारत के जैन पुरातात्त्विक स्थानों के मूर्ति-लेख-संकलन का काय सम्पन्न हो सके तो जैन संस्कृति का एक अनूठा ग्रन्थ रचा जा सकता है। उससे भारतीय संस्कृति के नये परिच्छेद प्रकाश में आयेंगे। क्या कोई जैन संस्था इस उत्तरदायित्व को सहन करेगी। यदि ऐसा हो सके तो वह दिवंगत बाबूजी के प्रति सही श्रद्धांजलि होगी।

बाबू छोटेलाल जी को बिब्लियोग्राफी की वैज्ञानिक जानकारी थी। उनके पास गुफाओं, मन्दिरों, चैत्यों, मूर्तियों, शिलालेखों और भित्तिचित्रों के शतश फोटो थे। उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफाओं में तो वे एकाधिक बार गये और वहाँ के प्रत्येक भाग का फोटो लिया, चप्पे-चप्पे को देखा और अपनी कसौटी पर कसकर विश्लेषण किया। एक बार इन चित्रों को मुझे दिखाते हुए उन्होंने जैसी मार्मिक, सधी हुई व्याख्या की थी, वह तद्विषयक विद्वत्ता के बिना कोई नहीं कर सकता। इन गुफाओं पर, वे कतिपय संकलनों का सम्पादन कर रहे थे। अब भी उनके घर पर सब सामग्री होगी। कोई मनस्वी जुटकर इस काम को सम्पन्न कर डाले, तो पुरातत्त्व जगत का उपकार होगा।

विद्वत्ता प्राप्त करना और उस आधार पर बड़े-बड़े ग्रंथों का निर्माण करना असाधारण बात नहीं है। असाधारण है विद्वानों का बनाना। ऐसे विद्वान जो लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में भटक रहे है। जिन्हें थोड़े सहारे की जरूरत है। ऐसा सहारा जो साहस बंधादे—डगमगाते कदमों को मजबूती दे। इसमें स्वार्थ से अधिक परार्थ मुख्य होता है। जो परार्थ-प्रधान होते हैं, वे ही ऐसा कार्य कर सकते हैं। बाबूजी के पास अनेक युवा विद्वान आते ही रहते थे प्रत्येक किसी-न-किसी समस्या से प्रपीडित। यहाँ उन्हें समाधान मिलता था और प्रोत्साहन। बाबूजी कल्पवृक्ष थे। उस पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों रहती थीं। वहाँ लक्ष्मी तो मिलती ही थी, सरस्वती-साधना का मार्ग भी प्रशस्त होता था। विगत 'ओरियण्टल इण्टरनेशल-कान्फ्रेंस' के अवसर पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक बंगाली विद्वान वीर-सेवा-मन्दिर में ठहरे थे। उन्होंने कहा कि बाबू छोटेलाल जी के दिये धन और ग्रंथ-प्रबन्ध से ही मैं अपने मार्ग पर बढ़ सका हूँ। वह एक प्रतिभाशाली युवक थे। उन्होंने कान्फ्रेंस में, 'नाथयोगी सम्प्रदाय' पर एक शोध-पत्र अंग्रेजी भाषा में पढ़ा था। वह शोध-पत्र ख्याति-प्राप्त बना। विदेशी विद्वानों ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। बाबूजी की दृष्टि अन्तर्भेदिनी थी। वे एक नजर में ही प्रत्येक व्यक्ति को ठीक-ठीक जान लेते थे। उन्होंने जितने युवकों को प्रश्रय दिया वे सब संयमी, प्रतिभावान् और महत्त्वाकांक्षी थे।

बाबूजी एक संस्था थे। उन्होंने न-जाने कितनी संस्थाओं को जन्म दिया, कितनों को बनाया, कितनों को सहायता दी। उनकी बुद्धि रचनात्मक थी। जिस कार्य को हाथ में लेते, योजना-पूर्वक पूरा करते। वीर-सेवा-मन्दिर को सरसावा से दिल्ली लाना और उसकी एक आलीशान बिल्डिंग खड़ी करना बाबूजी के ही बलबूते की बात थी। उसमें एक शानदार पुस्तकालय का आयोजन, महत्त्वपूर्ण प्रकाशन और शोध-पत्र का संचालन आदि कार्य भी बाबूजी की ही देन हैं। जिसके कारण वीर-सेवा-मन्दिर समूचे भारत में ख्याति प्राप्त कर उठा था। अकस्मात् एक दुखद घटना घटी, जिससे बाबूजी के मर्म पर आघात पहुँचा और उनका कोमल हृदय टूट गया।

इसको लेकर उन्हें ऐसी बेचैनी थी, इतनी घुमश थी कि उनके जीवन का उल्लास ही चुक गया था। उनके निकट-वर्ती यह जानते हैं। घटना ने वीर-सेवा-मन्दिर की गति को भी अवरुद्ध कर दिया। अन्यथा आज वीर-सेवा-मन्दिर के मुकाबले की दूसरी संस्था न होती। यद्यपि अन्तिम समय में उस घटना की कसक से छुटकारा देने के प्रयत्न किये गए, किन्तु घाव इतने गहरे थे कि शायद न पूरे हों। यदि पुर गये हों तो यह बाबूजी की महानता थी। काश ऐसा हुआ हो। उनकी सद् आत्मा को शान्ति मिली हो। कल्पना ही सुखदायक है।

बाबूजी वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय को आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। उसके छात्र जब-जब कलकत्ता परीक्षा देने गये, बाबू जी का असीम स्नेह प्राप्त किया। आचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी के प्रति बाबू जी के हृदय में कितना सम्मान था, इसे मैं भली भाँति जानता हूँ। उनके प्रति पं० जी का भी श्रद्धाभाव कम नहीं है। उनका पुत्र कलकत्ता में उच्च पदस्थ है; किन्तु पण्डितजी सदैव ही बाबूजी के पास ही ठहरे। दो बड़ों का प्रेम जितना गौरवपूर्ण था उतना ही अनुकरणीय भी। बाबू जी ने समय समय पर स्याद्वाद महाविद्यालय की आर्थिक सहायता स्वयं की या अपने प्रभाव से करवाई, इसे वहाँ के अधिकारी जानते है। बाबू जी का निधन स्याद्वाद महाविद्यालय के लिए भी एक बृहद् क्षति है, ऐसा मैं अनुमान लगा पाता हूँ।

बाबू जी भारतीय ज्ञानपीठ के डायरेक्टर्स मे से एक थे। इस सम्बन्ध में मेरी उनसे बहुत बाते हुई हैं। उनसे ही मुझे विदित हो सका कि ज्ञानपीठ का मूल उद्देश्य जैन वाङ्मय की शोध-खोज और उसका प्रकाशन-भर था। उसके प्रथम संचालक प० महेन्द्रकुमार जी न्याया-चार्य की नियुक्ति बाबू जी की सम्मति से ही हुई थी। पण्डित जी की गम्भीर विद्वत्ता और सम्पादन-कला सर्व-विदित थी। उस समय भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा अनेक प्रसिद्ध जैन ग्रंथों का उद्धार और सम्पादन हुआ। किन्तु आर्थिक सन्तुलन ठीक रखने के लिए केवल जैन ग्रन्थों के विक्रय पर निर्भर नही किया जा सकता। हमारी दशा ऐसी है कि विद्याभिलाषी होते हुए भी, न-जाने क्यों ग्रंथों को अपने पैसे से नही खरीदना चाहते। विद्वान चाहता है भेंट में मिले, विद्यार्थी चाहता है पुस्तकालय से मिले, धनवान चाहता है मन्दिर में स्वाध्याय के समय मिले। फिर शतशः ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मुफ्त बाँटा जाय, कब तक चल सकता है। अतः भारतीय ज्ञानपीठ जब घाटे से भरने लगा, तब हिन्दी के सृजनात्मक साहित्य की बात चली। इसी समय लक्ष्मीचन्द्र जैन मन्त्री बने और लोकोदय ग्रन्थमाला की प्रतिष्ठा हुई। हिन्दी का विपुल साहित्य ज्ञानपीठ से निकला, निकल रहा है। उससे धन मिला, ख्याति भी बढी। संस्था मूर्धन्य हो गई। किन्तु जैन ग्रंथों के प्रकाशन का स्वर दूर-दूर तक होता गया। इससे बाबू छोटेलाल जी अतीव प्रपीड़ित थे। वे चाहते थे कि भारतीय ज्ञानपीठ से जैन ग्रथो का प्रकाशन उसी प्रकार हो जैसे हिन्दी के ग्रन्थों का होता है। उन्होंने लक्ष्मीचन्द्र जी को दो-चार बार कडे शब्दों में कहा। बाबू जी अब नहीं हैं; किन्तु लक्ष्मीचन्द्र जी उनके दिल की बात जानते हैं। क्या ध्यान देंगे ?

बाबू जी आरा के बाला-विश्राम को बहुत चाहते थे। बाबूजी ने उसकी गतिविधि का सदैव ध्यान रक्खा। मान-नीया चन्दाबाई जी से उनका पत्र-व्यवहार होता ही रहता था। वैसे उसकी प्रगति से वे पूर्ण सन्तुष्ट थे। उनकी तीव्र आकांक्षा थी कि जैन कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा उत्तम हो; किन्तु सहशिक्षा और पाश्चात्य शैली का उन्होने सदैव विरोध किया। भारतीय नारी की विशुद्ध भारतीय रूपरेखा ही उन्हे रुचती थी। किन्तु इस मामले में उन्हें कट्टर नहीं कहा जा सकता। इसी कारण जीवन के अन्तिम वर्षों में उनकी इस मान्यता मे शिथिलता आई थी। मैंने उन्हें अनेक गरीब किन्तु प्रतिभाशालिनी छात्राओं की मदद करते देखा है। एक बार मद्रास, आंध्र और गुजरात की तीन छात्राओं के तीन पत्र आये। तीनों एम० ए० के प्रथम भाग में उत्तीर्ण हो चुकी थीं। तीनों आर्थिक संकट में थीं। बाबू जी बहुत देर तक तीनों पत्र पढ़ते रहे, फिर आंध्र की छात्रा को सहायता देने का निश्चय किया। आगे चलकर इस लड़की ने विश्वविद्या-लय में टोप किया। मुझे आश्चर्य था कि पत्रों के माध्यम से ही वे प्रतिभा का आकलन कैसे कर सके। एक बार

फिर कहता हूँ कि उनकी परख पैनी थी, सूक्ष्मान्वेषिणी।

बाबू जी स्वयं कर्तव्य-निष्ठ थे और ऐसा ही दूसरों को चाहते थे। कभी-कभी ऐसा होता है कि बड़े पद पर पहुँचते ही व्यक्ति कर्तव्य-पालन में ढील डाल उठता है। उन्हें यह पसन्द न था। एक बार ऐसे ही एक सज्जन ने पत्रों के उत्तर न देने का रवैया डाल लिया। बाबू जी के पास शिकायतें आने लगीं। उन्होंने मुझसे जिक्र किया। एक दिन वे साहब स्वयं बाबू जी के पास पहुँच गये। बाबू जी ने जिस दबंगता से उन्हें फटकारा, देखने का दृश्य था। उस दुर्बल शरीर में तेजस्विता भरी पड़ी थी। यह उसी को मिलती है, जिसकी आत्मा निर्मल होती है। उनकी मान्यता थी कि मेरे जीवनकाल में मेरे देखते-देखते लोग अधिकाधिक कर्तव्य-शिथिल होते जा रहे है। इसका कारण खोज-खोज कर वे सचिन्त हो उठते थे।

प्रबन्ध-कुशलता में उनका सानी नहीं था। उन्हें छोटी से लेकर बड़ी बात तक का बहुत ध्यान रहता था। वे अपने ध्यान को तन्मय कर लेते थे, तभी ऐसा कर पाते थे। निजी लाभ के बिना सेवा-कार्य में तन्मय होने की उनकी प्रवृत्ति थी, स्वभाव हो गया था। कलकत्ता की की न जाने कितनी सभाओं और संस्थाओं का वे प्रबन्ध करते थे। जैन समाज की बड़ी-बडी सभाओं के आयोजन का उत्तरदायित्व उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। समय-समय पर उनके स्वागताध्यक्ष होने की बात तो अनेक लोग जानते है। सभापति के पद से सभाओं का संचालन भी वे खूब निभा पाते थे। कलकत्ता से पूर्वी उत्तरप्रदेश तक और दिल्ली उनका मुख्य कार्यक्षेत्र था। इस प्रकार उनकी समाज-सेवा सर्वविदित थी। उन जैसा निरीह, उन जैसा विद्वान्, उन जैसा समाज-सेवी और उन जैसा मददगार पैदा होने में समय लगेगा।

---

### *जैन समाजके नेता पुरातत्व विशेषज्ञ*

# बाबू छोटेलाल जी के निधन पर वीर-सेवामंदिर में शोक सभा

जैन धर्म और जैन संस्कृति के अनन्य प्रेमी और प्रमुख समाज सुधारक बाबू छोटेलाल जी जैन कलकत्ता का २६ जनवरी को प्रातःकाल साढ़े छह बजे देहावसान हो गया है। आप साहित्यिक इतिहास तथा पुरातत्व के विशेषज्ञ थे। वीरसेवामन्दिर का विशाल भवन उनकी सेवाओं का सजीव स्मारक रहेगा। रविवार ३० जनवरी को शाम को साढ़े सात बजे देहली (वीर सेवा मन्दिरों के हाल) में बाबू छोटेलाल जी के निधन पर जैन समाज के गण्य मान्य व्यक्तियों की शोक सभा हुई। जिसमें बाबू जी की सेवाओं, जैन धर्म और जैन साहित्योद्धार की भावना एवं वीर सेवा की लोकोपयोगी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते श्रद्धाजंलि अर्पित की गई और निम्नलिखित प्रस्ताव पास कर उनके परिवार के प्रति भेजा गया।

**शोक प्रस्ताव**

वीर-सेवा-मन्दिर की यह आम सभा जैन-धर्म और जैन-समाज के अनन्य सेवी तथा पुरातत्व के विद्वान् बाबू छोटेलालजी जैन के निधन पर गहरा शोक प्रगट करती है बाबू छोटेलाल जी उन इने-गिने व्यक्तियों मे से थे। जिन्होंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष सेवा में व्यतीत किये थे। वीर सेवा मन्दिर को वर्तमान रूप देने का श्रेय मुख्यतः उन्ही को है। इस संस्थान के द्वारा उन्होने अनेक लोकोपयोगी प्रवृत्तियों का संचालन किया। बाबू छोटेलाल जी के निधन से जैन समाज की विशेषकर वीरसेवामन्दिर की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। यह सभा दिवंगत आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है और प्रभु से प्रार्थना करती है कि उनकी आत्मा शांत उच्च पद प्राप्त करे। उनके परिवार के साथ यह सभा सहानुभूति प्रकट करती है।

प्रेमचन्द मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर

# अनेकान्त के १८वें वर्ष की विषय-सूची


| क्र० | विषय | पृ० |
|---|---|---|
| १. | अडतीसवे (३८वे) ईसाई तथा ७वे बौद्ध विश्व-सम्मेलन की श्री जैन संघ को प्रेरणा—कनकविजय | ७०, १४० |
| २. | अतिशय क्षेत्र अहार—श्री नीरज जैन | १७७ |
| ३. | अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर तथा श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—पं० नेमचन्द धन्नुसा जैन | ६६ |
| ४. | अनेकान्त का छोटेलाल जैन विशेषांक— | २७५ |
| ५. | अपभ्रंश भाषा की दो लघुरासो रचनाएँ—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री | १८४ |
| ६. | अपराध और बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध—साध्वी श्री मंजुला | १६२ |
| ७. | अप्रावृत और प्रति संलीनता—मुनि श्री नथमल | १६० |
| ८. | अरहंत-स्तवनम् (धवला से) | ६९ |
| ९. | अर्थ प्रकाशिका : प्रेमयरत्नमाला की द्वितीय टीका—पं० गोपीलाल अमर एम. ए. | ६८ |
| १०. | अर्हत्-स्तवन—मुनि पद्मनन्दि | २४१ |
| ११. | अहार का शान्तिनाथ संग्रहालय—श्री नीरज जैन | २२१ |
| १२. | अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान श्री काका कालेलकर | ३६ |
| १३. | आचार और विचार—डा० प्रद्युम्न कुमार जैन ज्ञानपुर | १०३ |
| १४. | आचार्य परमेष्ठी (धवला से) | १६३ |
| १५. | आचार्य मानतुङ्ग—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम. ए. पी-एच. डी. | २४२ |
| १६. | आत्म दमन—मुनि श्री नथमल | ४३ |
| १७. | कल्पसिद्धान्त की सचित्र स्वर्णाक्षरी प्रशस्ति—कुन्दनलाल जैन एम. ए. | १७५ |
| १८. | कारंजा के भट्टारक लक्ष्मीसेन—डा० विद्याधर जोहरापुरकर | २२३ |
| १९. | क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द—श्री पं० मिलापचन्द कटारिया | ९६७ |
| २०. | खजुराहो का जैन संग्रहालय—श्री नीरज जैन | १८ |
| २१. | गंज-बासौदा के जैन मूर्ति व यन्त्र लेख—कुन्दनलाल जैन एम. ए. | २६१ |
| २२. | जयपुर की संस्कृत-साहित्य को देन श्री पुण्डरीक विट्ठल ब्राह्मण—डा० श्री प्रभाकर शास्त्री | ८७ |
| २३. | जीव का अस्तित्व जिज्ञासा और समाधान—मुनि श्री नथमल | १३२ |
| २४. | जैन तंत्र साहित्य—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल | ३३ |
| २५. | जैन दर्शन में अर्थाधिगम चिन्तन—पं० दरबारीलाल कोठिया | ६१ |
| २६. | जैन दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावनाएँ—पं० दरबारीलाल कोठिया | २ |
| २७. | जैन दर्शन में सप्तभंगीवाद—उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द | २० |
| २८. | जैन धर्म और जातिवाद—श्री कमलेश सक्सेना एम. ए. मेरठ | ६३ |
| २९. | जौनपुर में लिखित भगवती सूत्र प्रशस्ति—श्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा | २३८ |
| ३०. | डा० जेकोबी और वासीचन्दन कल्प—मुनि श्री महेन्द्रकुमार (द्वितीय) | २४७ |
| ३१. | तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा—ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा एम. ए. | १५७ |
| ३२. | दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा मे महाव्रत अणुव्रत समिति और भावना—मुनि श्री रूपचन्द्र | १११ |
| ३३. | दो ताड़पत्रीय प्रतियों की ऐतिहासिक प्रशस्तियाँ—श्री भंवरलाल नाहटा | ८५ |
| ३४. | निश्चय और व्यवहार के कषोपल पर षट् प्राभृत: एक अध्ययन—मुनि श्री रूपचन्द्र | १८८ |
| ३५. | परीक्षामुख के सूत्रों और परिच्छेदों का विभाजन: एक समस्या—पं० गोपीलाल अमर | ५६ |

३६. प्रतिहार साम्राज्य में जैनधर्म
—डा० दशरथ शर्मा एम. ए. डी. लिट् १७
३७. बोध प्राभृत के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द
साध्वी श्री मंजुला १२८
३८. ब्रह्मा नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ
—परमानन्द शास्त्री ८२
३९. भगवान पार्श्वनाथ—परमानन्द शास्त्री २६६
४०. भ० विश्वभूषण की कतिपय अज्ञात रचनाएँ
—श्री अगरचन्द नाहटा १५८
४१. भूधरदास का पार्श्व पुराण—एक महाकाव्य
श्री सलेकचन्द जैन एम. ए. ११६
४२. भूपालचौबीसी की एक महत्वपूर्ण सचित्र प्रति
—अगरचन्द्र नाहटा ५९
४३. मोह विवेक युद्ध: एक परीक्षण
—डा० रवीन्द्र कुमार जैन तिरुपति १०७
४४. मध्यकालीन जैन हिन्दी-काव्य में शान्ताभक्ति
—डा० प्रेमसागर जैन १९४
४५. महर्षि बाल्मीकि और श्रमण सस्कृति
—मुनि विद्यानन्द ४३
४६. यशस्तिलक कालीन आर्थिक जीवन
—डा०गोकुलचन्द जैन ५०
४७. यशस्तिलक में चर्चित आश्रम व्यवस्था और
संन्यस्त व्यक्ति—डा० गोकुलचन्दजैन १४९
४८. यशस्तिलक मे वर्णित वर्ण व्यवस्था और समाज-
गठन—डा० गोकुलचन्द जैन २१३
४९. बजरंग गढ़ का विशद जिनालय श्री नीरज जैन ६५
५०. वर्णीजी का आत्मसमालोचन और समाधि संकल्प
—श्री नीरज जैन १२५
५१. विदर्भ में जैनधर्म की परम्परा
—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर १४६
५२. वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ
डा० राजकुमारजैन २३०, २७६
५३. शब्द चिन्तन: शोध दिशाएँ
—मुनि श्री नथमल ८
५४. शोध-कण—परमानन्द शास्त्री ९०
५५. शोध-कण—(महत्वपूर्ण दो मूर्ति लेख)
—नेमचन्द धन्नूसा जैन १४७
५६. श्रावक प्रज्ञप्ति का रचयिता कौन ?
—श्री बालचन्द्र सि० शास्त्री १०
५७. श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रंथ
—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ३७, ७८
५८. श्री बाबू छोटेलाल जैन का संक्षिप्त परिचय
—डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ७७
५९. श्रीपुर पार्श्वनाथ मन्दिर के मूर्ति-यन्त्र लेख
संग्रह—प० नेमचन्द धन्नूसा जैन २५, ८०
६०. श्रीपुर निर्वाणभक्ति और कुन्दकुन्द
—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर १४
६१. श्री लाल बहादुर शास्त्री—यशपाल जैन २३७
६२. श्री मोहनलाल जी ज्ञानभंडार सूरत की ताड़-
पत्रीय प्रतियाँ—श्रीभंवरलाल नाहटा १७९
६३. श्री सम्मेदशिखर तीर्थरक्षा—प्रेमचन्द जैन ४८
६४. श्री सिद्धस्तवनम् (धवला मे) १४५
६५. सम्यग्दर्शन—साध्वी श्री संघ मित्रा १६९
६६. साहित्य मे अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर
—प० नेमचन्द धन्नूसा जैन २२४, २६५
६७. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री ४५, ९५, १९२,
२४०
६८. साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर २३९
६९. सेनगण की भट्टारक परम्परा
—श्री पं० नेमचन्द धन्नूसा १५३
७०. सुपार्श्वनाथ जिनस्तुति—समन्तभद्राचार्य ४९
७१. सुमति जिनस्तवन—समन्तभद्र १
७२. सोलहवीं शताब्दी की दो प्रशस्तियाँ
—परमानन्द शास्त्री २९
७३. हेमराज नाम के दो विद्वान
—परमानन्द शास्त्री १३५

## एक महत्वपूर्ण पत्र

अनेकान्त पत्र के १८वे वर्ष के मैंने दो-तीन अंक पढ़े हैं। प्रत्येक अंक में विषय चुने हुए है। लेख मार्मिक और विद्वानों के द्वारा पठनीय है। छपाई सुन्दर है। जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में इससे पर्याप्त जानकारी मिलती है। शोध-खोज का कार्य करने वाले विद्वानों को अनेकान्त मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए। अनेकान्त का भाषा साहित्य उच्च कोटि का है। हां, एक बात जरूर खटकती है और वह यह कि इस पत्र में सर्व साधारण के लिए कुछ नहीं रहता। संचालकों को चाहिए कि वे इसमें कोई सुन्दर कहानी और जन-साधारण के लिए सरल भाषा का लेख भी दिया करे। ऐसा होने पर जन-साधारण भी इस पत्र को अपनायेगा। जैन-समाज को चाहिए कि ऐसे प्रतिष्ठित पत्र को सहयोग दे और अधिक से अधिक ग्राहक बन कर जैन साहित्य के विकास में योग-दान करे।

—डा० आर. सी. जिन्दल

---

## वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५० ) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१० ) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) , सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रतन सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

---

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।